CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हिन्दी
वैशेषिकदर्शन
प्रशस्तपादभाष्य

आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री

Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila [illegible] Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
१७३

श्रीमन्महर्षिकणादविरचिते

वैशेषिकदर्शने

श्रीमन्महर्षिप्रशस्तदेवाचार्यविरचितं

प्रशस्तपादभाष्यम्

'प्रकाशिका' हिन्दीव्याख्याविभूषितम्

व्याख्याकार
आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री

वैशेषिकसूत्रव्याख्याकार
श्रीनारायण मिश्र एम.ए.
संस्कृत तथा पालिविभाग
भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस ग्रन्थ का मूल-पाठ तथा टीका परिशिष्ट एवं हिन्दी भाषा का सर्वाधिकार प्रकाशन-प्रकाशक के अधीन है। इसका किसी भी भाषा में अनुवाद एवं किसी भी माध्यम से प्रकाशक की अनुमति के बिना पुनर्मुद्रण व प्रकाशन अवैधानिक होगा।

प्रकाशक
चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पोस्ट बाक्स नं. 1139
के. 37/116, गोपाल मन्दिर लेन, गोलघर (समीप मैदागिन)
वाराणसी - 221001 (उ0प्र0) भारत
टेलीफोन : 0542-2333445,2335930
E-mail : cssvns@gmail.com

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन
संस्करण : पुनर्मुद्रण, वि0 सं0 2073
मूल्य : ₹ 250.00

शाखाएं :
चौखम्भा पब्लिकेशन्स
4262/3 अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002 (भारत)
टेलीफ़ोन : 011-23268639, 23259050
E-mail : chaukhambhapublication@gmail.com, cpub@vsnl.net

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
692/93, रविवारपेठ, कापड़गंज
समीप डी. एस. हाउस, पुणे - 411002 (महाराष्ट्र) भारत
टेलीफोन : 020-24493955, मोबाइल : 09970193955
E-mail : hn.shah@rediffmail.com

मुद्रक : मित्तल ऑफसेट, वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
173

VAIŚESIKADARŚANA

WITH

PRAŚASTAPĀDABHĀSYA

OF

Maharsi Praśastadevāchārya

with

The 'Prakāśikā' Hindī Commentary

By

ĀCHĀRYA DHUNDHIRĀJA ŚĀSTRĪ

and

Edited with Introduction and Hindi-Translation of the Vaiśeṣika Sūtras By

Śrī Nārāyana Miśra

Bhārati Mahāvidyālaya, B.H.U., Varanasi

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
VARANASI

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

All rights reserved by the publishers. No part of this work may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior written permission of the copyright owner.

Publisher :
CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
Post Box No. 1139
K. 37 / 116, Gopal Mandir Lane, Golghar (Near Maidagin)
Varanasi-221001 (U.P.) India
Telephone : 0542-2333445, 2335930
E-mail : cssvns@gmail.com

All rights reserved

Edition : Reprint, 2016
Price : ₹ 250.00

Branches :
CHAUKHAMBHA PUBLICATIONS
4262/3, Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi-110002 (India)
Telephone : 011-23268639-23259050
E-mail : chaukhambhapublication@gmail.com, cpub@vsnl.net

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
692/93, Raviwar Peth, Kapadganj
Near D.S. House, Pune - 411002 (Maharashtra) India
Telephone : 020-24493955, Mobile No. 09970193955
E-mail : hn.shah@rediffmail.com

Printed by : Mittal Offset, Varanasi

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रस्तावना

अन्तकः पर्यवस्थाता जन्मिनः सन्ततापदः ।
इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जनः ॥ (भारवि–११।१२)

इस विषम संसार में जन्म से मरण पर्यन्त दुःख ही दुःख है। मानव अपनी साधारण दृष्टि से जिसे सुख समझता है वह भी वस्तुस्थिति में क्षणिक, दुःख अथवा दुःखमूल ही है। अतः भव्य-जन दुःख के ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निरास के लिए सदा सचेष्ट रहते हैं। दुःख का सर्वथा निरास कैसे सम्भव है—यही उपाय या मार्ग बतलाना दर्शन का लक्ष्य है। भारतवर्ष के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय—चाहे ऋजु हों या कुटिल—इसी लक्ष्य के साधन में पर्यवसन्न हुए हैं। प्रकृत वैशेषिक-दर्शन भी उन्हीं सम्प्रदायों में एक है। परमाराध्य महेश्वर के प्रसाद से दिव्य-ज्ञान को प्राप्त कर महर्षि कणाद ने लोकानुग्रहार्थ इस मार्ग को प्रस्तुत किया है ताकि साधारण जिज्ञासु संसार में रहकर भी संसार के दुःख से अपने को विमुक्त कर सकें।

यद्यपि प्रायशः सभी विशिष्ट दार्शनिक अपनी अन्तिम आस्था अद्वैत-दर्शन में ही रखते हैं तथापि वैशेषिक-दर्शन का महत्त्व कम नहीं है। साधारण लोगों के लिए तो यही प्रशस्त-मार्ग है। जन-साधारण को यह विश्वास नहीं होता कि मुक्ति नाम की भी कोई चीज है और उसकी प्राप्ति मनुष्य के लिए सम्भव है। यद्यपि आस्तिक्य के कारण व्याखयान अवश्य ही दिया करते हैं कि ऐसे मुक्ति मिलती है, मुक्ति मिलने से ये ये लाभ होते हैं इत्यादि तथापि यदि सच पूछा जाय तो उन व्याख्याताओं के हृदय में भी विश्वास नहीं सा रहता। जन-साधारण की मनोवृत्ति में केवल ऐहलौकिक उत्कर्ष का ही स्थान रहता है। अतः महर्षि कणाद ने साधारण-जन-मनोवृत्ति का ध्यान रखकर अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों ही के अधिगम के निमित्त अपने सम्प्रदाय को उपयोगी सिद्ध किया है।

यदि सूक्ष्म-दृष्टि से विचार किया जाय तो यह वैशेषिक-दर्शन अद्वैत-दर्शन से भिन्न भी नहीं प्रतीत होता। केवल साधारण अधिकारी के आकर्षण के लिए इसकी प्रतिपादन शैली में थोड़ा सा अन्तर अवश्य किया गया है। अद्वैत-दर्शन के मुख्य सिद्धान्त ये हैं—"ब्रह्म सत्यम्, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः"। इनमें पहले हम लोग 'जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त को ही देखें। अद्वैत-दर्शन के अनुसार संसार मिथ्या अवश्य है परन्तु पारमार्थिक-दृष्टि से, न कि व्यावहारिक-दृष्टि से भी। तात्पर्य यह है कि मुक्तात्मा के लिए जगत् मिथ्या है परन्तु अमुक्तात्मा के लिए सिद्धान्ततः मिथ्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होकर भी यह जगत् व्यवहारतः सत्य ही है। वैशेषिक-दर्शन में भी सकल-विशेष-गुणोच्छेद रूप मुक्ति के बाद मुक्तात्मा के लिए यह संसार शब्दतः सत्य होकर भी अर्थतः मिथ्या ही हो जाता है। जब आत्मा सांसारिक भोग से विमुख हो जाती है और ज्ञान-हीन हो जाने के कारण इस संसार का उसे ज्ञान भी नहीं रहता तो फिर उसके लिए संसार सत्य हो या मिथ्या—दोनों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस तरह यह स्पष्ट है कि प्रतिपादन-प्रकार में अन्तर होने पर भी दोनों दर्शनों का सिद्धान्त एक ही है। वैशेषिक ने जो जगत् को सत्य कहा है वह तो केवल साधारण व्यक्ति की दार्शनिक पद्धति में सम्भावित अनास्था को रोकने के निमित्त ही।

उपर्युक्त विषय के सिद्ध हो जाने पर 'ब्रह्म सत्यम्' का सिद्धान्त तो सत्य ही हो जाता है, कारण, आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं; अतः यदि आत्मा सत्य है तो ब्रह्म सत्य ही होगा। वैशेषिक-दृष्टि में आत्मा त्रिकालाबाध्य तत्त्व होने के कारण सत्य है और सत्य होने से ब्रह्म तो अवश्य ही है। इसी प्रकार जब मुक्तावस्था में आत्मा के सभी विशेष गुण को वैशेषिक भी उच्छिन्न ही मानते तो अद्वैत दर्शन के नैर्गुण्यवाद से क्या अन्तर रह जाता? संसार-काल में तो अद्वैत-दर्शन की आत्मा भी व्यवहारतः निर्गुण नहीं है, आत्मा का नैर्गुण्य तो केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहता है। एवञ्च यदि संसार काल में वैशेषिक की आत्मा सगुण है भी तो अद्वैतवाद से वैशेषिक-दर्शन कुछ भिन्न नहीं है। आत्मा को स्वभावतः सगुण मानना तो वैशेषिकों को भी अभीष्ट नहीं है, यदि ऐसा होता तो फिर 'स्वभावो दुरतिक्रमः' के उद्घोषक वैशेषिक मुक्तावस्था में गुणों का उच्छेद कैसे मानते?

'जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः' का सिद्धान्त तो कणाद को हृदय से पसन्द था; तभी तो उन्होंने ईश्वर (ब्रह्म) का आत्मा से अलग निर्देश नहीं किया है। परवर्त्ती आचार्यों ने जो ईश्वर-वाद की स्थापना की है उसका उद्देश्य यही है कि मानव में उच्छृङ्खलता कहीं न आ जाये। यदि मनुष्य को यह दीक्षा दी जाय कि वही सब कुछ है, उससे ऊपर कोई देख-रेख करने वाला नहीं है, तो साधारण व्यक्ति में उच्छृङ्खलता आ जाने की शत-प्रतिशत सम्भावना बनी रहेगी। अतः परवर्ती आचार्यों की ईश्वर-स्थापना समन्वय का प्रतिबन्धक नहीं है।

अब प्रश्न है कि अद्वैत दर्शन के अनुसार आत्मा एक ही है पर वैशेषिक के अनुसार अनेक (व्यवस्थातो नाना) है; फिर दोनों में तो महान् अन्तर है। परन्तु जब हम विचार करते हैं तो दोनों में कुछ अन्तर नहीं प्रतीत होता। अद्वैत-दर्शन में भी संसारावस्था में आत्मा (जीव) अनेक है और मुक्तावस्था में एक है; और वैशेषिक के मुक्तात्मा के लिए भी कोई भेदसाधक तत्त्व नहीं रह जाता है। व्यवस्था का सिद्धान्त तो केवल व्यावहारिक है, क्योंकि मुक्तात्मा जब निर्गुण हो जाता है तो फिर उसके लिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यवस्था का क्या उपयोग है ? संसारकाल में आत्मा को अनन्त बतलाने में वैशेषिक का उद्देश्य मनुष्य की सम्भावित अकर्मण्यता, उच्छृङ्खलता आदि का निवारण ही है।

इस प्रकार अद्वैत दर्शन और वैशेषिक-दर्शन में तात्त्विक-दृष्टि से कोई भेद नहीं है, केवल प्रतिपादन-प्रकार कुछ भिन्न है। अतः वैशेषिक-दर्शन का महत्त्व अद्वैत-दर्शन से कम नहीं माना जा सकता प्रत्युत यदि जन-साधारण के अभ्युदय के लक्ष्य को ध्यान में रखकर इस सम्प्रदाय को अद्वैत-दर्शन से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण भी कहें तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी।

वैशेषिक-दर्शन के प्रतिष्ठापक

इस दर्शन के प्रतिष्ठापक परमर्षि के कणाद, काश्यप, उलूक आदि नाम पाये जाते हैं।

इनका नाम कणाद क्यों पड़ा—इस विषय में आचार्यों के मत नीचे दिये जाते हैं—

आचार्य व्योमशिव ने कणाद शब्द की सप्रमाण व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

"कणान्[1] अत्तीति कणादः, तमिति। विशिष्टाऽऽहारनिमित्तसंज्ञोपदर्शनेन असच्चोद्य-निरासः। तच्च—"कणान् वा भक्षयेत् कामं म (मा) हिषाणि दधीनि च" इत्यादि युक्तिसिद्धम् ॥"

श्रीधराचार्य[2] ने भी कुछ ऐसा ही अर्थ किया है। उनका मत इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—

"कणादमिति तस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठतः रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादाय प्रत्यहं कृताऽऽहारनिमित्ता संज्ञा। अतएव 'निरवकाशः कणान् वा भक्षयतु' इति (तत्र तत्र) उपालम्भः तत्रभवताम्।"

कुछ लोग[3] इनके परमाणु-वाद के आधार पर इन्हें कणाद कहने के पक्ष में हैं। उनकी दृष्टि में कणाद शब्द की यह व्युत्पत्ति हो सकती है—

"कणान् परमाणून् अत्ति सिद्धान्तत्वेन आत्मसात्करोतीति कणादः।"

व्योमशिवाचार्य ने तो कुछ[4] व्युत्पत्तियों का निरास भी किया है। जैसे—

"अन्ये तु असच्चोद्यनिरासार्थम् कणान् ददाति इति, दयते इति वा व्युत्पत्त्यन्तर-

---

१. व्योमवती—पृ० २० (छ) (चौखम्बा-प्रकाशन)
२. न्याय-कन्दली—पृ० ४ (सं० वि० वि० वाराणसी)
३. Ui-vaisheshika philosophy P. 6 (चौखम्बा-प्रकाशन)
४. व्योमवती—पृ० २० (छ)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माश्रियन्ते ××× चिन्त्यमेतत् प्रसिद्ध्यपरिज्ञानार्थं चोपात्तमिति अलमसद्-व्याख्यानैः।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि यह संज्ञा उनके आचार या सिद्धान्त से सम्बद्ध है न कि उनका यह व्यक्तिगत नाम है। यही कारण है कि यत्र तत्र इन्हें कणभुक्, कणभक्ष, कणव्रत आदि कहा गया है।

पदार्थधर्मसंग्रह (प्रशस्तपाद भाष्य) तथा किरणावली में इन्हें काश्यप जो कहा गया है उसका मूल कश्यप के गोत्र में इनकी उत्पत्ति ही है।

'वायु-पुराण' में इन्हें प्रभास-क्षेत्रवासी सोमशर्मा का शिष्य और भगवान् शङ्कर का अवतार बतलाया गया है। इस विषय में विशेष विवरण म० म० पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद जी की 'न्याय-कन्दली' की भूमिका में दिया गया है।

इन्हें उलूक क्यों कहा जाता है—इस विषय में अधोनिर्दिष्ट मत प्रचलित हैं—

(अ) डा०[१] उई के द्वारा प्रस्तुत आर्यदेव के शत-शास्त्र के व्याख्याकार चीनी विद्वान् 'चित्सान' के अनुसार इनका नाम 'उलूक' इसलिए पड़ा कि ये दिन में ग्रन्थ-रचना करते थे और रात में जीविकोपार्जन उलूक के समान किया करते थे।

(आ) व्योमशिवाचार्य किसी कारण का उल्लेख किये विना ही इनका उलूक[२] नाम बतलाते हैं।

नैषधीय चरित के व्याख्याकार चास्त्यणभट्ट भी उलूक को कणाद का पर्याय मात्र मानते हैं।

'वाचस्पत्यम्' इन्हें उलूक ऋषि की सन्तान मानकर 'औलूक्य' कहने के पक्ष में हैं। सम्मति-तर्क की व्याख्या में जैनाचार्य [४]अभयदेव सूरि ने भी इसी का अनुमोदन किया है।

जैन विद्वान् राजशेखर ने[५] 'उलूक' रूपधारी शंकर भगवान् के द्वारा इस शास्त्र

---

१. Ui-V. Phil. P. 3

२. व्योमवती—पृ० ११४ "अन्ये तु धर्मैः सह धर्मिणः उद्देशः कृतः। केनेति—विना = पक्षिणा = उलूकेन·····"

३. "वैशेषिकमपि उलूकापरनाम्ना कणादमुनिना प्रोक्तम्" नै० च० प्रकाश, २२।३६ मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित वै० सू० वृत्ति में तो इन्हें उलूकवेषधारी कहा गया है—द्रष्टव्य वै० द० वृ० २।१।१२

४. सम्मति-तर्क-व्याख्या—"एतदेवोक्तम् भगवता परमर्षिणा औलूक्येन।" पृ० १४०

५. "मुनये कणादाय स्वयमीश्वरः उलूकरूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्यगुणकर्मसामान्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का उपदेश कणाद को मिला है—ऐसा बतलाया है। इस दृष्टि से कणाद तथा इनके दर्शन को भी औलूक कहा जाता है।

कहीं-कहीं [1]इनके परमाणुवाद के आधार पर इस सम्प्रदाय तथा इसके आचार्यों को 'पैलव' कहा गया है, जिसमें पीलु शब्द का परमाणु अर्थ है।

उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर यह स्पष्ट है कि इस दर्शन के प्रतिष्ठापक को 'कणाद', 'काश्यप', 'उलूक', 'औलूक्य' तथा 'औलूक' आदि शब्दों से और इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय को 'काणाद', 'काश्यप', 'औलूक', 'औलूक्य' तथा 'पैलव' आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया जाता है।

परन्तु इस दर्शन का सबसे प्रसिद्धतम नाम 'वैशेषिक-दर्शन' है।

'वैशेषिक' नामकरण का आधार

इस दर्शन को वैशेषिक-दर्शन क्यों कहा जाता है—इस विषय में विभिन्न मत हैं—

(क) चीनी विद्वान् की एक [2]परम्परा के अनुसार विशिष्ट उपदेष्टा कणाद के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण ही इसका नाम वैशेषिक पड़ा है। डाक्टर उई ने एक अन्य तथ्य का[3] भी उल्लेख किया है जिसमें 'दशपदार्थशास्त्र' के प्रणेता आचार्य चन्द्र को भी चीनी भाषा में 'विशिष्ट उपदेशदायक' कहा गया है। उक्त दोनों परम्पराओं की दृष्टि में 'वैशेषिक' के मूलभूत 'विशेष' शब्द का अर्थ 'बौद्धिक-विशेष' है।

किन्तु उपर्युक्त विवरण में डाक्टर[4] उई ने असन्तोष व्यक्त किया है, कारण केवल वैशेषिक की ही बुद्धि विशिष्ट होती है अन्य किसी दार्शनिक की नहीं—यह आत्माऽभिमान मात्र है। अतः उपर्युक्त आधार पर किसी सम्प्रदाय का नामकरण उचित नहीं प्रतीत होता।

(ख) वैशेषिक दर्शन के अर्वाचीन भाष्यकार चन्द्रकान्त[5] का मत है कि अन्य दर्शनों की अपेक्षा इस दर्शन में विशिष्ट तत्त्वों के व्याख्यान से ही इस दर्शन का नाम

विशेषसमवायलक्षणम् पदार्थषट्कम् उपदिदेश" 'राजशेखर' (न्यायलीलावती-भूमिका पृ० २ में उद्धृत)।

१. "पैलुकेन कणादशिष्येण" धर्मोत्तराचार्य—न्यायबिन्दु टीका (चौखम्बा प्रकाशन) पृ० ८८।

२. Ui–v phil, p. 5

३. ४. वही पृ० ९

५. "यदिदम् वैशेषिकं नाम शास्त्रमारब्धम् तत्खलु तन्त्रान्तरात् विशेषस्यार्थस्य अभिधानात्" चन्द्रकान्तभाष्य—पृ० ५ (गुजराती प्रेस)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैशेषिक पड़ा है। 'प्रो० उई ने भी एक चीनी परम्परा का ऐसा ही मत प्रस्तुत किया है। (आगे प्रतिपाद्यमान उदयन-मत कुछ इसी प्रकार का है)। परन्तु यह मत भी पूर्वोक्त प्रकार से ही बहुत उपादेय नहीं प्रतीत होता।

(ग) षड्दर्शनसमुच्चय की व्याख्या में[२] मणिभद्रसूरि ने नैयायिकों की अपेक्षा द्रव्यगुणादितत्त्व को लेकर कणाद के सिद्धान्तों के उत्कर्ष के कारण ही इसे वैशेषिक माना है।

(घ) प्रो० उई ने एक[३] अन्य चीनी परम्परा का निर्देश किया है जिसके अनुसार सांख्य-शास्त्र से विशिष्टतर होने के कारण ही इस सम्प्रदाय को वैशेषिक माना गया है। किन्तु यह व्याख्या बहुत उपयुक्त नहीं है।

(ङ) नैषधीयचरित महाकाव्य के प्रसिद्ध व्याख्याकार[४] नारायण भट्ट ने द्रव्य गुण आदि पदार्थों को ही विशेष माना है और इन पदार्थों के तत्त्वज्ञ होने के कारण ही इस दर्शन का 'वैशेषिक' नाम बतलाया है। म० म० कालीपद तर्काचार्य की चतुर्थ व्याख्या भी इस मत से अंशतः तुल्य है।

(च) अत्यन्त प्रसिद्ध तथा बहुमत[५] व्याख्या के अनुसार 'विशेष' नाम के नवीन पदार्थ की कल्पना के कारण हो इस दर्शन को 'वैशेषिक' माना गया है। अपनी "न्यायलीलावती" में "श्लाघ्या विशेषस्थितिः"[६] कहकर आचार्य श्रीवल्लभ ने भी कदाचित् इसी विषय का संकेत किया हो। डाक्टर राधाकृष्णन् आदि अर्वाचीन विशिष्ट विद्वान् भी[७] इसी के समर्थक हैं।

(छ) किरणावली में[८] उदयनाचार्य ने तत्त्वनिश्चयपूर्वक व्यवहार करने वालों को वैशेषिक कहा है। उनके मत में विशेष शब्द व्यवच्छेद अर्थात् तत्त्वनिश्चय का पर्याय

१. Ui–v. phil p. 5

२. "नैयायिकेभ्यो द्रव्यगुणादिसामग्र्या विशिष्टमिति वैशेषिकम्" षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति पृ० ४

३. Ui–v. phil. p. 4

४. नैषधीयचरितप्रकाश—२२।३६

५. "शास्त्ररूपार्थे वैशेषिकशब्दव्युत्पत्तिः विशेषम् पदार्थभेदमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः"। (न्यायकोश)

६. न्यायलीलावती श्लोक २

७. Radhakrishnan—Indian Philosophy—P. 176
Ui—Vaisheshika Philosophy P. 7
प्रशस्तपादभाष्यभूमिका (कालीपद तर्काचार्य)

८. "विशेषो व्यवच्छेदः तत्त्वनिश्चयः तेन व्यवहरतीत्यर्थः।" किरणावली पृ० ६११ (Asiatic Society)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। किन्तु तत्त्वनिश्चयपूर्वक व्यवहार केवल कणाद तथा उनके अनुयायियों का ही होता है—यह आत्माभिमान मात्र है।

(ज) वस्तुतः वैशेषिक शब्द के मूलभूत विशेष शब्द का व्यवच्छेद नहीं प्रत्युत व्यवच्छेदक अर्थ है। इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए विशेष शब्द की व्युत्पत्ति इस तरह करनी चाहिए—"विशिष्यते सर्वतो व्यवच्छिद्यते येन स विशेषः।" और जहाँ तक व्यवच्छेदक का प्रश्न है—साधर्म्य और वैधर्म्य ही उचित रूप में किसी भी विषय का व्यवच्छेदक हो सकता है। केवल साधर्म्य या केवल वैधर्म्य में व्यवच्छेद शक्ति नहीं रहती यह व्यवहारसिद्ध है। अतः "विशेषाभ्याम् व्यवच्छेदकाभ्याम् साधर्म्य-वैधर्म्याभ्याम् (चतुर्थी) प्रभवतीति वैशेषिकम् शास्त्रम् वैशेषिकश्च दार्शनिकः" अथवा "विशेषाभ्याम् साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम् व्यवच्छेदकाभ्याम् (तृतीया) व्यवहरतीति वैशेषिकं दर्शनम्, वैशेषिकश्च दार्शनिकः" यह व्याख्या अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। विशेष विचार परीक्षकों के ऊपर निर्भर है।

वैशेषिक-दर्शन (सूत्र) का समय

यद्यपि वैशेषिक-दर्शन का मूल स्रोत वेद ही है अत एव यह दर्शन अपनी सूक्ष्मा-वस्था में वैदिक युग से ही अनुवर्त्तमान है तथापि इसका क्रमबद्ध रूप वैदिकोत्तर युग में ही सम्पन्न हुआ है—यही ऐतिहासिकों का मत है। वैशेषिक के विषय में सर्व-प्रथम उल्लेख बौद्ध साहित्य के 'मिलिन्दपण्ह'[१] में मिलता है। राजा मिलिन्द का समय १५० बी० सी० माना जाता है। डा० उई ने अपने ग्रन्थ—वैशेषिक फिलासफी—में जैन ग्रन्थों में भी वैशेषिक के प्राचीन संकेत का उल्लेख किया है। बौद्ध और वैशेषिक ही ऐसे भारतीय दर्शन हैं जिनका चीन की प्राचीन परम्परा में उल्लेख पाया जाता है। एवञ्च वैशेषिक-दर्शन की प्राचीनता असन्दिग्ध है। न्यायदर्शन की अपेक्षा भी यह प्राचीनतर माना[२] जाता है। इतना होने पर भी वैशेषिक-सूत्र की रचना का कोई निश्चित समय बतलाना कठिन है। कुछ विद्वानों ने तर्क वितर्क के आधार पर कुछ मत प्रस्तुत किये हैं जो नीचे दिये जाते हैं—

(क) जर्मन विद्वान्[३] डा० याकोबी ने २०० ए० डी० से ५०० ए० डी० के बीच न्याय-सूत्र का समय माना है और वैशेषिक-सूत्र को न्याय-सूत्र से कुछ प्राचीन-तर बतलाया है।

---

१. Randle—Indian Logic in Early Schools P. 12

२. Garbe—The Philosophy of Ancient Indians—P. 20
Randle—I. L. in early Schools—P. 177

३. Journal of the American Oriental Society. vol. xxxi.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ख) डा० उई ने[1] वैशेषिक-सूत्रों के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग परीक्षण के बाद इन सूत्रों को नागार्जुन से पूर्ववर्ती सिद्ध कर ५० से १५० ए० डी० के बीच या उसके आस-पास वैशेषिक-दर्शन की रचना मानी है ।

(ग) म० म० डा० कुप्पू स्वामी[2] शास्त्री जी ने ईस्वीय पूर्व चतुर्थ शतक के मध्य से भी पहले वैशेषिक-सूत्रों का निर्माण-काल माना है ।

वैशेषिक सूत्रों का स्वरूप

कणाद के बाद प्रशस्तपाद तक वैशेषिक-परम्परा के लुप्त-प्राय हो जाने के कारण वैशेषिक सूत्रों का यथार्थ स्वरूप ठीक-ठीक उपलब्ध नहीं होता । भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में कुछ हेर-फेर के साथ सूत्र उद्धृत किये गये हैं । अतः मौलिक रूप को समझना बहुत कठिन है । तथापि गुरुवर श्री अनन्तलाल ठाकुर जी ने बड़ौदा से अभी-अभी चन्द्रानन्द वृत्ति के साथ प्रकाशित वैशेषिक दर्शन की भूमिका (Introduction) में बहुत कुछ मार्ग-प्रदर्शन किया है जो जिज्ञासुओं के लिए अत्यधिक उपयोगी है । स्वरूप की तरह इसकी सख्या के विषय में भी कोई निर्णय नहीं किया जा सकता । पन्द्रहवीं शताब्दी के व्याख्याकार शङ्कर मिश्र के अनुसार वैशेषिक-सूत्रों की संख्या ३७० है जबकि मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित वैशेषिक-दर्शन के अनुसार इनकी संख्या नवम अध्याय के प्रथमाह्निक तक ३२४ और उसके बाद शङ्कर मिश्र के आधार पर सूत्रों के संकलन से ३५३ ही होती है ।

वैशेषिक-दर्शन का प्रधान-विषय

वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ माने गये हैं । इनमें छह भाव पदार्थ हैं, जिनके नाम द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय हैं । एक पदार्थ अभाव है । प्रथम छह अर्थात् भाव पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य-ज्ञान निःश्रेयस का प्रयोजक होता है । इसका प्रमाण निम्नलिखित वै० सू० ही है—

"धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानाम्पदार्थानां तत्त्व-ज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमः"

(वै० सू० १।१।२)

कुछ-लोग कणादाभिमत अभावपदार्थ के उद्देश से रहित होने के कारण इस सूत्र की प्रामाणिकता को स्वीकृत नहीं करते । इसके उपोद्बलक के रूप में वे मिथिला विद्यापीठ तथा बड़ौदा से प्रकाशित प्राचीनवृत्तियुक्त वैशेषिक-दर्शन के दो संस्करणों में उपर्युक्त सूत्र की अनुपलब्धि को भी प्रस्तुत करते हैं । किन्तु जब प्रशस्त-पाद भी अपने पदार्थधर्मसंग्रह में उस सूत्र की ओर संकेत करते हैं और उनके

---

१. Ui—Vaisheshika Philosophy—P. 65

२. Primer of Indian Logic. P. xii (Introduction).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्वान् व्याख्याकार व्योमशिवाचार्य आदि इसका समर्थन करते आ रहे हैं तो फिर प्रशस्तपाद के परवर्ती वृत्तिकारों के आधार पर उक्त सूत्र को अप्रामाणिक मान लेना उचित विचार नहीं है।

वैशेषिक-दर्शन में अभाव पदार्थ

उपर्युक्त 'धर्मविशेषप्रसूतात्०' सूत्र को प्रामाणिक मान लेने पर अभाव पदार्थ के विषय में झमेला खड़ा हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि उक्त सूत्र को प्रामाणिक मान लिया जाय तो उस सूत्र में अभाव पदार्थ का उद्देश नहीं होने से अभाव पदार्थ को कणाद सम्मत नहीं माना जा सकता। इस समस्या के समाधान के प्रसंग में कुछ आलोचक अभाव पदार्थ को कणादसम्मत मानते ही नहीं। इन आलोचकों के अनुसार सप्त-पदार्थी के रचयिता शिवादित्य मिश्र के द्वारा ही सप्तम पदार्थ-अभाव—की कल्पना वैशेषिक-सम्प्रदाय में सर्वप्रथम हुई है।

परन्तु विचार करने पर इस मत में तथ्य नहीं दीखता। दुःखाभाव रूप निःश्रेयस या अपवर्ग, जो मनुष्य का[१] चरम लक्ष्य है, की सिद्धि अभाव के अस्वीकार से कैसे सम्भव हो सकती है? दूसरी बात यह है कि कणाद ने धर्मविशेषप्रसूतात् आदि सूत्र में निःश्रेयस को माना है, और निःश्रेयस तो[२] स्वतः अभाव स्वरूप ही है; अतः निःश्रेयस को मानने वाले अभाव को न मानें यह कैसे हो सकता है? एवञ्च निःश्रेयसोपयोगितया[३] अथवा निःश्रेयसस्वरूपतया अभाव तो अवश्य ही कणादसम्मत पदार्थ है।

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है—यदि अभाव पदार्थ भी कणादसम्मत रहा तो फिर उन्होंने अपने उक्त सूत्र में इसका उद्देश क्यों नहीं किया?

इस प्रश्न के समाधान के लिए सभी प्राचीन आचार्य प्रयत्नशील रहे हैं। न्यायवार्त्तिककार आचार्य [४]उद्योतकर का मत है कि अभाव की अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्येण नहीं होती किन्तु अपने प्रतियोगी के सापेक्ष ही, अतः अभाव का पृथक् उपदेश आवश्यक नहीं है। प्रतियोगी के रूप में सम्भाव्यमान भाव पदार्थों के निरूपण के साथ साथ ही अभाव का निरूपण निसर्गतः हो जाता है। इनकी व्याख्या

---

१. ४. "प्रमेयेषु अपवर्ग एव मूर्धाभिषिक्तः" न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ० ३५ (चौखम्बा)

२. "तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः"। वै० द० ५।२।१८। "वस्तुतो मोक्षस्याभावरूपतया सोऽभ्यर्हितः" वर्धमान—न्यायलीलावतीप्रकाश पृ० १७ (चौखम्बा)

३. "अभावश्च वक्तव्यः निःश्रेयसोपयोगित्वात्" न्यायलीलावती—पृ० १६।

४. "तत्र स्वातन्त्र्येण असद्भेदा न प्रकाशन्ते इति नोच्यन्ते × × × भावोपदेशादभावप्रपञ्च उद्दिष्टो भवतीति। अतश्च नोच्यन्ते" न्यायवार्त्तिक—पृ० ११।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने[1] इस विषय को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—"निषेध्यनिषेधाऽधिकरणाऽधीननिरूपणत्वादसद्भेदानाम् भावभेदतन्त्रम् प्रकाशनम् इति भावभेदकथनेनैव अभावभेदाः अपि गम्यन्ते"। पदार्थधर्मसंग्रह (प्रशस्तपाद-भाष्य) के प्रसिद्ध व्याख्याकार [2]व्योमशिवाचार्य; [3]उदयनाचार्य तथा श्रीधराचार्य[4] ने इसी मार्ग को अपनाया है।

न्यायलीलावतीकार का समाधान कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि जैसे वैशेषिक के मानसेन्द्रियत्ववाद का नैयायिकों ने अभ्युपगम करके न्याय-दर्शन में मन को इन्द्रिय सिद्ध करने के निमित्त पुनः प्रयास नहीं किया है वैसे ही न्याय सिद्धान्त में अभाव पदार्थ के विधिवत् प्रतिपादन (न्या० द० २।२।७–१२) को देखकर "परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्भवति" की युक्ति से वैशेषिक-दर्शन ने उसकी स्थापना के लिए प्रयास अर्थात् उसका उद्देश (धर्मविशेषप्रसूतात्०) सूत्रमें नहीं किया है। अतः उद्देश नहीं होने से अभाव पदार्थ सम्प्रदायसिद्ध नहीं है—ऐसा नहीं कहना चाहिए।[5] पद्मनाभ[6] मिश्र ने भी पदार्थधर्मसंग्रह की 'सेतु' व्याख्या में इसी मत का अनुसरण किया है।

परन्तु विवेचन करने पर इस मत में अनुपपत्ति दीखती है। यदि यह मान लिया जाय कि कणाद के मानसेन्द्रियत्व सिद्धान्त का गौतम ने अभ्युपगम किया है तो कणाद को गौतम से पूर्ववर्त्ती अवश्य ही मानना होगा। एवञ्च पूर्ववर्त्ती कणाद के मत का अभ्युपगम परवर्त्ती गौतम के लिए उपयुक्त होने पर भी परवर्त्ती गौतम के सिद्धान्त का अभ्युपगम पूर्ववर्त्ती कणाद के लिए कैसे सम्भव हो सकता? यदि इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिए गौतम को ही यथाकथञ्चित् पूर्ववर्त्ती मानें और

---

१. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका–पृ० ३४।

२. "अथाऽभावः कस्मान्नोपसंख्यायते? भावोपसर्जनतया प्रतिभासनात्। तथा हि—नाऽप्रसिद्धभावसद्भावस्य नारिकेरद्वीपवासिनः तदभावप्रतीतिरिति भावपरिज्ञानापेक्षितत्वात् अभावस्य न पृथगुपसंख्यानम्" व्योमवती–पृ० २० (ज)।

३. "अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः, प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् न तु तुच्छत्वात्। उत्पत्तिविनाशचिन्तायाम् प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः वैधर्म्ये च इतरेतरात्यन्ताभावयोः तत्र तत्र दर्शयिष्यमाणत्वात्"—किरणावली–पृ० ५।

४. "अभावस्य पृथगनुपदेशो भावपारतन्त्र्यात् नत्वभावात्" न्यायकन्दली—पृ० १८।

५. अभावस्य समानतन्त्रसिद्धस्याऽप्रतिषिद्धस्य न्यायदर्शने मानसेन्द्रियतासिद्धिवदत्राप्यविरोधात्। न्या० ली० पृ० ३६।

६. 'सेतु'–पृ० ३२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कणाद को परवर्ती तो फिर परवर्त्ती कणाद के मानसेन्द्रियत्वसिद्धांत का अभ्युपगम पूर्ववर्ती गौतम के लिए कैसे सम्भव हो सकता ? यदि कोई यह कल्पना करे कि न्याय या वैशेषिक सिद्धान्त का आरम्भ गौतम या कणाद से ही नहीं हुआ है प्रत्युत वैदिक साहित्य में ही ये सिद्धांत पाये जाते हैं, इसलिए परस्पर अभ्युपगम में कालकृत आपत्ति नहीं आती, तो इस स्थिति में अधिगम होगा न कि अभ्युपगम, कारण सभी वैदिक दार्शनिक-सम्प्रदाय वेद को अपनी पैतृक सम्पत्ति मानते; एवञ्च उससे कुछ लेने का अर्थ किसी दर्शन विशेष के सिद्धांत का अभ्युपगम नहीं हो सकता। वैदिक युग के अनन्तर तथा कणाद एवम् गौतम के पूर्व इन सम्प्रदायों के किन्हीं अन्य प्रचारकों की कल्पना का कोई मूल नहीं मिलता। अतः अभाव के अनुद्देश का समाधान उपर्युक्त रीति से बहुत उचित नहींप्रतीत होता है।

कुछ लोगों का यह भी कथन है कि कणाद ने अभावनिरूपण की प्रतिज्ञा ही नहीं की थी। इसके प्रमाण में संयोगप्रकरण के पदार्थधर्मसंग्रह के "तस्मान्नास्त्यजः संयोगः" वाक्य की व्याख्या के प्रसंग में व्योमशिवाचार्य की "प्रतिज्ञातं च महर्षिणा-यद्भावरूपं तत्सर्वमभिधास्यामि" उक्ति को और उदयनाचार्य की—"महर्षिणा प्रतिज्ञातं हि तेन—'यद्भावरूपं तत्सर्वमभिधास्यामः" उक्ति को प्रस्तुत करते हैं। परन्तु, जैसा कि प्रसङ्ग से भी स्पष्ट हो जाता है, यहाँ भावशब्द पदार्थभेदवाचक नहीं है अपितु वर्तमानार्थक है, और अभाव भी वर्तमान अवश्य ही है अतएव 'अभावः अस्ति' यह प्रतीति होती है; इसलिए उपर्युक्त वाक्यों के द्वारा तो अभाव निरूपण की भी सामान्य रूप से प्रतिज्ञा ही सिद्ध होती है न कि अप्रतिज्ञा। यही कारण है कि सामान्यतः प्रतिज्ञात अभाव के निरूपण नहीं होने के कारण सूत्रकार की सम्भावित न्यूनता के प्रतीकार के लिए व्योमशिवाचार्य आदि ने उपर्युक्त समाधान दिया है। संयोग-निरूपण-क्रम में 'यद्भावरूपं तत्सर्वमभिधास्यामि' के निर्देश का तात्पर्य यह है कि यदि अजसंयोग भी वर्तमान होता तो सूत्रकार अन्य प्रकार के संयोग के समान इस प्रकार का भी निर्देश अवश्य करते, किन्तु उन्होंने किया नहीं है; अतः अज संयोग सूत्रकारसम्मत नहीं है।

वै० सू० के ऊपर वैदिक-वृत्ति के निर्माता आधुनिक विद्वान् पं० हरिप्रसाद शास्त्री जी ने पृथक्त्व में अभाव का अन्तर्भाव मानकर कणाद की न्यूनता का समाधान करने का प्रयास किया है। उनका मत इस प्रकार है—

"अभावत्वञ्च भावभिन्नत्वमिति केचित्। निषेधमुखप्रतीतिविषयत्वमित्यपरे। द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वम् इति अन्ये। समवायान्यत्वे सति असमवायित्वम् इति 'मानमनोहर'कारः। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नभावत्वावच्छिन्नभावनिष्ठप्रतियोगितानिरूपिता-

---

१. व्योमवती—पृ० ४९२

२. किरणावली—पृ० २२६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नुयोगिताविशेषवत्त्वम् इत्यर्थाद्भः। वैशेषिकाणाम्मते चत्वारः (अभावाः) पृथक्त्वभेद विशेषत्वात् गुणे तस्मिन् अन्तर्भवन्ति। नातो वैशेषिकाचार्यैः एषोऽभावपदार्थः पृथगुद्दिष्टः। पृथक्त्वमयोगः वैलक्षण्यम् अनेकता चेत्यनर्थान्तरम्। तेनाऽयोगरूपे तस्मिन् प्रागभावादित्रयस्य, वैलक्षण्यरूपे च अन्योन्याभावस्य तुरीयस्य अन्तर्भाव इति द्रष्टव्यम्।"

वै० सू० वैदिकवृत्ति—पृ० ५–६ (बम्बई संस्करण १६६१)

परन्तु पृथक्त्व की प्रतीति प्रतियोग्यनुयोग्युभयनिरूपणाधीन है जब कि अभाव की प्रतीति प्रतियोगिमात्राधीन है; अतः अभाव और पृथक्त्व को एक मानना कहाँ तक उचित है—यह विचारणीय है। किञ्च स्वयम् वृत्तिकार ने "नातो वैशेषिकाचार्यैः एषोऽभावपदार्थः पृथगुद्दिष्टः" लिखा है, और यदि यहाँ अभाव और पृथक्त्व को पर्याय मानें तो "नातः ××× अभावपदार्थः अभाववानुद्दिष्टः" यह उपर्युक्त वाक्य का पर्याय होगा; ऐसी स्थिति में वाक्यार्थ क्या होगा? और भी, गृह में देवदत्त के रहने पर भी "देवदत्तः गृहात् पृथक्" यह प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है, किन्तु "देवदत्तः गृहे नास्ति अथवा गृहम् देवदत्ताभाववत्" यह प्रतीति किसी को नहीं होती। तथापि अभाव और पृथक्त्व को एक मानना कैसे सम्भव हो सकता है? यदि फिर भी "गृहम् अन्योन्याभाववत्" इस प्रतीति का उपपादन करें तथापि अन्योन्याभाव और पृथक्त्व एक तत्त्व नहीं हो सकता—यह विमर्श प्राचीन[1] ग्रन्थों में देखना चाहिए।

एक मत है धर्मविशेषप्रसूतात्० सूत्र में कणाद ने जो अभाव का उद्देश नहीं किया उसका कारण कुछ और है। प्रकृत सूत्र में सूत्रकार ने षड्विध भाव पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान से निःश्रेयस की सिद्धि बतलायी है। यहाँ साधर्म्य का अर्थ है इतरपदार्थसाधारणधर्म (अनुगतो धर्मः साधर्म्यम्) और वैधर्म्य का अर्थ इतरपदार्थ-व्यावृत्तधर्म है। भाव पदार्थ सधर्मक हैं अतएव उनके साधर्म्य और वैधर्म्य भी होंगे तथा उनके साधर्म्य वैधर्म्य का ज्ञान भी सम्भव हो सकता है। परन्तु जहाँतक अभाव पदार्थ का प्रश्न है, यहाँ साधर्म्य वैधर्म्य का सम्भव ही नहीं है क्योंकि अभाव स्वतः निर्धर्मक तत्त्व है। एवञ्च अभावमात्र का ज्ञान निःश्रेयस का प्रयोजक है जब कि भावपदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के ज्ञान में प्रयोजकता है। इसी अन्तर के कारण कणाद ने साधर्म्य-वैधर्म्य के ज्ञान के प्रसङ्ग में अभिमत अभाव का शब्दतः निर्देश नहीं किया है। अभाव ज्ञान का उपदेश तो सूत्रकार ने इसी सूत्र में कर दिया है। यदि अभाव का ज्ञान नहीं हो तो वैधर्म्यज्ञान कैसे होगा। अतः वैधर्म्यज्ञान का उपदेश देनेवाला व्यक्ति अवश्य ही अभावज्ञान का समर्थन करेगा। वस्तुतः न्यायवैशेषिक मत में अभाव निर्धर्मक नहीं; अतः अभाव (निःश्रेयस) के साध्य और षट्पदार्थ साधर्म्यवैधर्म्यज्ञान के साधन होने के कारण ही एक साथ अभाव का निर्देश सूत्र में नहीं किया गया है। इस मत की अन्य कल्पनायुक्त है।

---

१. उपस्कार—वै० सू० ७।२।२ आदि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतः यह स्पष्ट है कि अभाव की भी पदार्थरूप में स्वीकृति तथा उसके ज्ञान का भी निःश्रेयससाधनत्वेन वर्णन सूत्रकार ने स्वयं किया है न कि किसी अन्य व्यक्ति की इसमें कुछ देन है। संक्षेप में निर्देश करना तो सूत्रकार का धर्म है।

वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर

कणाद ने अपने दर्शन में कहीं भी ईश्वर का निर्देश नहीं किया है। यद्यपि कुछ सूत्रों में (जैसे—तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् १।१।३, संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्, प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः २।१.१८–१९ तथा सामयिकः शब्दादर्थ-सम्प्रत्ययः ७।२।२० आदि) व्याख्याकार शङ्कर मिश्र आदि ने ईश्वर का निर्देश माना है तथाऽपि कणाद की सम्मति इसमें कहाँतक है—यह विचारणीय है, कारण अन्यथा भी इन सूत्रों का व्याख्यान उपपन्न हो सकता है।

आजकल वैशेषिक सम्प्रदाय में जो ईश्वर की स्थापना हुई है उसका कारण जैसा पहले भी बतलाया गया है, मानव-मनोवृत्ति में सम्भावित उच्छृङ्खलता का अवरोध ही है।

इतना होने पर भी ईश्वर के स्पष्ट निर्देश का आरम्भ कहाँ से हुआ है[1] यह कहना कठिन है। वर्तमान ग्रंथों के आधार पर प्रशस्तपाद को ही इसका श्रेय दिया जा सकता है, कारण सृष्टि प्रक्रिया में इन्होंने स्पष्ट रूप से ईश्वर को स्वीकार किया है।

ईश्वर का स्वीकार, प्रमाणत्रित्वाभ्युपगम आदि कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जिनका समावेश पाशुपत दर्शन के प्रभाव से हुआ है— ऐसा गुरुवर अनन्तलाल ठाकुर जी ने मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित वै० दर्शन की प्रस्तावना में सप्रमाण सिद्ध किया है।

ये ईश्वर शरीरधारी हैं या नहीं—इस विषय में प्रशस्तपाद[2] तथा उनके अनुयायिगण[3] द्वितीय पक्ष अर्थात् शरीरधारी नहीं हैं, का समर्थन करते आ रहे हैं।

वैशेषिक सूत्र की टीकाएँ

वै० सू० के ऊपर 'वाक्य' नाम की एक टीका का संकेत जैन लेखक महातार्किक मल्लवादी ने अपने द्वादशार नय-चक्र में किया है। इसका अनुवाद बड़ौदा से प्रकाशित वै० द० के परिशिष्ट में किया गया है, अतः पृष्ठसंख्या तथा ग्रन्थ की प्रामाणिकता,

---

१. Prof. A. S. V. Pant—The doctrine of ईश्वर in early Nyaya-Vaisheshika Works–All India Oriental conference, Madras—1924

२. "तन्मात्रात्' न तु तदीयशरीरमप्यपेक्षणीयम् इति मात्रशब्दस्य अर्थः" सूक्ति—पृ० ५१।

३. व्योमवती—पृ० ३०४–५
न्यायकन्दली—पृ० १३८–३९

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुवादक के ऊपर ही है। नयचक्र में एक पंक्ति है—"असत्सम्बन्धपरिहारार्थं निष्ठासम्बन्धयोरेककालत्वात्' इति वाक्यं सभाष्यम् प्रशस्तोऽन्यथा[1] व्याचष्टे।" इसके व्याख्याकार सिंहसूरि ने भी भाष्य को 'अस्य वाक्यस्य [2]व्याख्याग्रन्थः' कहकर वाक्य की सत्ता को प्रमाणित किया है। 'वाक्य' इस नामकरण से ही इसका संक्षिप्तत्व और सारयुक्तत्व स्पष्ट होता है। अभी 'वाक्य' शब्द से किसी भी सम्प्रदाय में कोई व्याख्या प्रसिद्ध नहीं है, अतः यह ग्रन्थ व्याख्या है—या कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ है या सूत्र का ही पर्याय है—यह निर्धारण कठिन है, क्योंकि वै० सू० की चिरागत दुरवस्था के कारण यह सूत्र सूत्रपाठ में उपलब्ध नहीं होता यह भी कल्पना हो सकती है।

इस वाक्य के ऊपर भाष्य तथा इन दोनों पर प्रशस्तमति की टीका, जिसका नाम भी प्रशस्तमति ही सम्भावित है, की सत्ता तो उपर्युक्त उद्धरणों से तथा अधोलिखित उद्धरण—[3]"कारणसमवेतस्य वस्तुनः उत्तरकालं सत्तासम्बन्धं इति बहूनाम्मतम्। वस्तूत्पत्तिकाले एवेति तु वाक्यकाराऽभिप्रायोऽनुसृतो भाष्यकारैः, सिद्धस्य वस्तुनः स्वकारणैः सत्तया च सम्बन्ध इति प्राशस्तमतोऽभिप्रायः" से स्पष्ट हो जाता है।

बड़ौदा से प्रकाशित वै० द० के परिशिष्ट में अनूदित दिङ्नागाचार्य के प्रमाण समुच्चय तथा जिनेन्द्रबुद्धि की विशालामलवती नाम के विवरण के आधार पर कुछ अन्य व्याख्याओं का भी संकेत मिलता है।

प्रमाणसमुच्चय में एक पंक्ति है—"केचित्[4] प्रमाणात फलमर्थान्तरमिच्छन्तः असाधारणकारणत्वात् इन्द्रियार्थसन्निकर्षं प्रमाणमामनन्ति।" इसकी व्याख्या में जिनेन्द्रबुद्धि ने केचित् का विवरण 'आयस्कादयः'[5] किया है जिससे वै० दर्शन के आयस्क व्याख्याकार का पता चलता है। प्रायः इनके कुछ उपव्याख्याता भी रहे जिनका निर्देश जिनेन्द्रबुद्धि ने 'आदि' पद से किया है। इन आयस्क प्रभृति व्याख्याताओं के विषय में और कुछ कहना कठिन है।

इसी प्रकरण में आचार्य दिङ्नाग ने एक मतान्तर का भी उपन्यास किया है—"अन्ये तु प्रधानत्वादात्ममनः[6]सन्निकर्षम्प्रमाणमाहुः।" जिनेन्द्रबुद्धि ने इस पक्ष का सम्बन्ध रावण से जोड़ा है। उनका कथन है—"आत्ममनसोः प्रधानत्वात् तत्सन्नि-

---

१. नयचक्र पृ० १५०

२. न० च० वृत्ति–पृ० १५२

३. न० च० पृ० १५२

४. प्रमाणसमुच्चय—पृ० १६९

५. विशालामलवती—पृ० १७४

६. प्र० स० पृ० १६९

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्षस्यापि प्रमाणत्वम्[1] रावणादयो मन्यन्ते" इत्यादि। इस रावणभाष्य का निर्देश ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की रत्नप्रभा[2] व्याख्या में भी किया गया है। उदयनाचार्य ने अपनी किरणावली में जिस विस्तृत भाष्य का (भाष्यस्य चातिविस्तृतत्वात्–पृ० ५) निर्देश किया है वह किरणावली के व्याख्याकार पद्मनाभ मिश्र के मत में रावण-भाष्य ही है।

नयचक्र की न्यायागमानुसारिणी[3] वृत्ति में एक 'कटन्दी' नाम की टीका का उल्लेख है। मुरारि मिश्र ने अपने '[4]अनर्घराघव' में रावण के मुख से यह वाक्य कहलाया है—"वैशेषिककटन्दीपण्डितः जगद्विजयमानः पर्यटामि"। इसकी व्याख्या में रुचिपति उपाध्याय ने स्वकृतकटन्दी का ही पण्डित रावण को माना है। अतः कुछ लोग कटन्दी को ही रावणभाष्य मानते हैं। परन्तु इस एकता में विश्वास नहीं होता, कारण रावण का भाष्य है और कटन्दी टीका है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि भाष्य भी टीका ही है तथापि उसकी प्रसिद्धि टीका शब्द से नहीं सी होती है। उपर्युक्त वृत्ति में ही एक जगह "कटन्द्यां [6]टीकायाम्" लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि यह कटन्दी टीका रही न कि भाष्य। कहीं भी भाष्य को टीका शब्द से संकेत करने की किसी भी ग्रन्थकार की शैली सामने नहीं आयी है। दूसरी बात यह है कि अनर्घ-राघव के "कटन्दीपण्डितः" का स्वारस्य अन्यकर्तृककटन्दीपण्डित में भी हो सकता है। अतः रावणभाष्य और कटन्दी टीका को एक मानने में सन्देह का अवसर अवश्य ही है।

कुछ विद्वान्[7] इस रावणभाष्य को प्रशस्तपाद से परवर्ती मानते हैं, परन्तु उदयनाचार्य के द्वारा संकेतित भाष्य यदि रावण-भाष्य हो, जैसा पद्मनाभ मिश्र का कथन है, तब तो रावणभाष्य को प्रशस्तपाद से परवर्ती मानना असम्भव होगा। उपर्युक्त रत्नप्रभा में भी रावणमत को 'चिरन्तन वैशेषिक दृष्टि' की प्रतिष्ठा दी गई है।

---

१. वि० म० पृ० १७४

२. "द्वाभ्यान्द्व्यणुकाभ्याम् आरब्धे कार्ये महत्त्वं दृश्यते, तस्य हेतुः प्रचयो नाम प्रशिथिलावयवसंयोग इति रावणप्रणीते भाष्ये दृश्यते इति चिरन्तनवैशेषिकदृष्ट्या इदम्।" शां० भा० रत्नप्रभा० ब्र० सू० २।२।११।

३. न० च० वृ०–पृ० १४९–५० आदि।

४. अनर्घराघव पृ० १९१ (काव्यमाला संस्करण)

५. कुप्पूस्वामी शास्त्री Journal of Oriental Research, Madras Vol. III PP. 1–5

६. न० च० वृ०–पृ० १४७

७. Bodas–Introduction to the तर्कसंग्रह, पृ० ३३।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इससे कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है कि रावणभाष्य प्रशस्तपाद से प्राचीनतर ही है।

प्रमाणसमुच्चय की वृत्ति में एक अन्य भाष्य[१] का भी उल्लेख है। यह भाष्य उपर्युक्त वाक्यभाष्य से भिन्न है, कारण यह भाष्य वै० सूत्रों की स्वतन्त्र व्याख्या है जबकि उपर्युक्त वाक्यभाष्य वै० सूत्र की स्वतन्त्र व्याख्या प्रायः नहीं है। इस भाष्य की एक पंक्ति प्र० स० वृत्ति में उद्धृत की गई है—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षः[२] प्रत्यक्षम् आत्ममनःसन्निकर्षो वा"। इसमें पूर्वोक्त आयस्क तथा रावण के मतों का समावेश किया गया है। इस भाष्य से आयस्क तथा रावण ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपने-अपने पक्ष का परिग्रह किया है या इन दोनों के मतों का समावेश भाष्यकार ने किया है—यह पौर्वापर्य-निर्धारण कुछ असम्भव सा है, क्योंकि किसी भी पक्ष का समर्थक प्रमाण उपलब्ध नहीं हो रहा है।

एक आत्रेय भाष्य का संकेत यत्र[३] तत्र मिलता है। यह भाष्य और उपर्युक्त भाष्य भिन्न है या अभिन्न इसका भी कोई निश्चय नहीं हो सका है। स्याद्वादरत्नाकर, मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित वै० सू० वृत्ति में इसके कुछ उद्धरण या मत भी प्रस्तुत किए गये हैं।

म० म० पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री जी ने न्यायकन्दली की भूमिका में एक भारद्वाज वृत्ति का निर्देश किया है। डा० राधाकृष्णन्[४], प्रो० दासगुप्ता[५] आदि नवीन विद्वानों के ग्रन्थों में प्रायः शास्त्री जी के आधार पर ही इसका उल्लेख किया गया है। शास्त्री जी ने यह भी लिखा है कि किसी संन्यासी के पास मिथिलाक्षर में एक छिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रति (इस भारद्वाज वृत्ति की) एक समय उन्हें देखने को मिली थी, पर बाद में वे संन्यासी पुनः मिल नहीं पाये। कलकत्ता (१९६९) तथा बहरामपुर से (१९७८) एक गङ्गाधर कविरत्नकृत भारद्वाजवृत्तिभाष्य का प्रकाशन हुआ है, पर यह वस्तुतः भारद्वाजवृत्ति की व्याख्या नहीं है प्रत्युत एक स्वतन्त्र निबन्ध है। अतः इसके आधार पर भारद्वाजवृत्ति का पता लगाना कुछ असम्भव सा है। सम्भव है कि शंकरमिश्र के कणादरहस्य

---

१. प्र० स० वृ०—पृ० १७४, १९५

२. वही—पृ० १७४

३. डा० वी० राघवन्—"Works and authors quoted in Shridevas स्याद्वाद-रत्नाकर"—

Nathuram Premi Commemoration Volume, PP. 429–438

Prof. Ananlal Thakur—Atreya–The Bhāshyakāra–Indian Culture, xiii PP, 185–188.

४. Dr. Radhakrishnan—Indian Philosophy–P. 180.

५. Prof. Dasgupta–History of Indian Philosophy–p. 306.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के समान ही यह भी भारद्वाजवृत्ति की भाष्य हो। शङ्कर मिश्र ने अपने 'उपस्कार में ११ बार वृत्तिकार के मत प्रस्तुत किये हैं, परन्तु ये वृत्तिकार भारद्वाजवृत्तिकार रहे या अन्य—इसके निर्णय के लिए कोई अन्तरङ्ग प्रमाण नहीं मिलता है।

अभी-अभी बड़ौदा से एक चन्द्रानन्दवृत्ति का प्रकाशन हुआ है। सम्पादक के अनुसार ये वृत्तिकार लगभग ७०० ई० के आस-पास के रहे। यह वृत्ति वैशेषिक सिद्धान्त तथा सूत्रतात्पर्य समझने के लिए बहुत उपयुक्त है।

बड़ौदा से प्रकाशित वैशेषिक दर्शन की प्रस्तावना में श्रद्धेय गुरुवर अनन्तलाल ठाकुर जी ने भट्टवादीन्द्ररचित बृहदाकार 'वै० सू० वार्तिक' का उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हो पाया है परन्तु इसका हस्तलेख मिथिला विद्यापीठ, मातृका-विभाग में सुरक्षित है।

१९५७ ई० में मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से एक संक्षिप्त वृत्ति के साथ वै० द० का प्रकाशन गुरुवर अनन्तलाल ठाकुरजी के सम्पादकत्व में हुआ है। यह वृत्ति नवम अध्याय के प्रथम आह्निक तक ही उपलब्ध है। वैशेषिक सूत्रों के आशय को समझने में इसका महत्त्व कम नहीं है। भट्टवादीन्द्र के उपर्युक्त वार्त्तिक के साथ अर्थसाम्य के कारण इसे वादीन्द्र या उनके किसी शिष्य की रचना माना जा सकता है। इसका रचनाकाल १३०० ई० के लगभग माना गया है।

चिरकाल से अद्य यावत् प्रचलित व्याख्या शङ्कर मिश्र का उपस्कार है। शङ्कर मिश्र का समय १५०० ई० के आस-पास है। इन्होंने नव्य-न्याय के पुट के साथ वैशेषिक सूत्रों का युक्तियुक्त तात्पर्य अपने उपस्कार में दिखलाया है। वै० सू० की व्याख्याओं में इसका स्थान आजकल अद्वितीय है। इनके समय तक वै० द० पर एक वृत्ति, जिसका महत्त्व इनकी दृष्टि में कुछ अधिक नहीं था, वर्तमान थी, जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है।

इन प्राचीन व्याख्याओं के अतिरिक्त जयनारायण की विवृति, चन्द्रकान्त का भाष्य, रघुदेव का व्याख्यान और हरिप्रसाद शास्त्री की वैदिकवृत्ति आदि नवीन व्याख्यायें भी बहुत हैं। इनमें जयनारायण की विवृति और चन्द्रकान्त-भाष्य अधिक उपादेय हैं।

पदार्थधर्म-संग्रह का महत्व

इस प्रकार से समृद्ध तथा विशिष्ट वैशेषिक दर्शन के क्षेत्र में प्रशस्तपाद तथा उनके पदार्थधर्म-संग्रह का महत्त्व बहुत ही अधिक है। महादार्शनिक वाचस्पति मिश्र जी ने अपनी तात्पर्यटीका में प्रशस्तपादाचार्य को 'पदार्थविदः'[2] और इनके वाक्यों को

१. उपस्कार—वै० सू० १।१।२; १।२।३ (दो बार); १।२।६; ३।१।७; ४।१।७; ६।१।५; ६।१।१२; ७।१।३; ९।२।८; १०।१।३।

२. तात्पर्यटीका—पृ० ८१ (कलकत्ता)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"पारमर्षम् वचनम्' कहा है। व्योमशिवाचार्य[2] ने तो यहाँ तक इस ग्रन्थ की प्रशंसा की है कि उनकी दृष्टि में हम लोगों को इस शास्त्र के द्वारा प्रतिपाद्य ज्ञान की प्राप्ति केवल इसी ग्रंथ के अध्ययन से संभव है। वे तो सूत्र से भी अधिक महत्त्व पदार्थ-धर्मसंग्रह को ही देते। उदयनाचार्य[3] के शब्दों में सूत्र की अपेक्षा विषय प्रतिपादन की स्पष्टता, दीर्घकालसाध्य बृहदाकार भाष्य की अपेक्षा लघुता और सभी विषयों के वर्णन में सफलता—ये तीन गुण ही इस ग्रन्थ के महत्त्वाश्रयक हैं। इस ग्रन्थ में "उद्देशो लक्षणम् परीक्षा चेति त्रिधा व्याख्या" के सिद्धान्त का अक्षरशः पालन हुआ है। कोई भी असम्बद्ध या अनावश्यक विषय नहीं समाविष्ट किया गया है। इन सभी गुणों से आकृष्ट होकर ही श्रीधराचार्य ने—"तदुपनिबन्ध[4]वैशिष्टस्य मन्वादि-वाक्यवन्महाजनपरिग्रहादेव प्रतीतेः" कहा है। जैन महातार्किक मल्लवादी, जिनके विषय में हेमचन्द्र की 'अनुमल्लवादिनं तार्किकाः'का उद्घोष है, वाक्य, भाष्य के साथ इनके मतों का[5] भी आदरपूर्वक उल्लेख करते हैं, जिससे जैन आचार्यों की दृष्टि में भी प्रशस्तपाद का क्या स्थान है—यह स्पष्ट है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इनके बुद्धिवैभव के आधार पर ही जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों में भी इन्हें 'प्रशस्तमति' कहा गया है। अतः पदार्थधर्म-संग्रह को स्वयं जो प्रशस्तपाद ने 'महोदय.' कहा है इसमें कुछ आत्म-प्रशंसा नहीं है। सम्भवतः कणाद-दर्शन, जो निरीश्वर होने के निमित्त साधारण-जन-परम्परा से उपेक्षित हो गया था, जिसके फलस्वरूप ही उसके प्राचीन व्याख्यान तथा उपव्याख्यान—यहाँ तक कि साक्षात् सूत्रों के स्वरूप भी—नष्ट-भ्रष्ट से हो चुके थे, प्रशस्तपाद के पदार्थ-धर्म-संग्रह के द्वारा ही पुनरुज्जीवित हुआ है।

अतः वैशेषिक-दर्शन के क्षेत्र में प्रशस्तपाद के पदार्थ-धर्म-संग्रह का महत्त्व वस्तुतः अनिर्वचनीय है। इसका विशेष महत्त्व वैशेषिक-दर्शन में इसके अवदान को देखने से और भी स्पष्ट हो जायगा।

---

१. तात्पर्यटीका-पृ० ४५८

२. "अल्पवेदितया वा अस्मदादेः तत्त्वज्ञानं न स्यादिति प्रशस्तपादसंक्षेपता" व्यो०-पृ० १९

"अस्मदादेः संग्रहादेव तत्त्वज्ञानम्" वही पृ०-३३

३. "वैशद्यं लघुत्वं कृत्स्नत्वञ्च प्रकर्षः" किरणावली-पृ० ५

४. न्यायकन्दली-पृ० ४

५. नयचक्र-पृ० १५०, १५२ आदि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पदार्थधर्मसंग्रह के रचयिता

पदार्थधर्मसंग्रह के रचयिता के प्रशस्तपाद, प्रशस्तदेव,[२] प्रशस्तदेवपाद,[३] प्रशस्तकर,[४] प्रशस्तदेवकर,[५] प्रशस्तमति[६] और प्रशस्त[७] आदि नाम भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि सम्मतितर्कप्रकरण आदि ग्रन्थों में 'प्रशस्तमति' के नाम से उद्धृत[८] उद्धरणों में से प्रायः एक भी उद्धरण के पदार्थधर्मसंग्रह में नहीं पाये जाने के कारण प्रशस्तमति और प्रशस्तपाद की एकता सन्दिग्ध है और इसी सन्देह से 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' के सम्पादक आचार्य महेन्द्र कुमार जी ने प्रशस्तमति[९] तथा प्रशस्तपाद को भिन्न-भिन्न मान भी लिया है तथाऽपि नयचक्र में प्रशस्त और प्रशस्तमति दोनों शब्दों से उल्लेख होने के आधार पर प्रशस्त, प्रशस्तपाद और प्रशस्तमति की एकता ही माननी चाहिए। यहाँ भी यह सन्देह सम्भव है कि नयचक्र में भी दोनों शब्दों से दो व्यक्तियों का संकेत है न कि एक ही व्यक्ति का; परन्तु ग्रन्थ के अध्ययनक्रम मे वाक्य-भाष्य-टीकाकार के ही रूप में कभी प्रशस्त[१०] और कभी प्रशस्तमति[११] शब्द के प्रयोग से यह भी सन्देह दूर हो जाता है।

यद्यपि तत्त्वसंग्रहपञ्जिका में उद्धृत एक-आध उद्धरण[१२] पदार्थसंग्रह के वाक्यों से

---

१. व्योमवती–पृ० १९, कणादरहस्य–पृ० १

२. न्या० क०–पृ० ४; उपस्कार–१।१।८; ४।१।२

३. उपस्कार–९।२।६

४. स्याद्वादरत्नाकर–पृ० ९२०

५. राजशेखर न्या० क० पञ्जिका (न्या० ली० भूमिका पृ० २ में उद्धृत)

६. न० च०–पृ० १५२, सम्मतितर्क पृ० ७१६, प्रमेयकमलमार्तण्ड–पृ० २७०, नयचक्रवृत्ति–पृ० १४८, तत्त्वसंग्रह पृ० ४३

७. न० च०–पृ० १५०, उपस्कार–९।२।३; १०।१।१

८. संकेत संख्या–७३ को देखें

९. प्र० क० मा० भूमिका–पृ० ८

१०. नयचक्र–पृ० १५०

११. वही–पृ० १५२

१२. "प्रशस्तमतेरत्रोत्तरमाशङ्कते–स ह्याह–यथा श्वमांसादीनां स्वत एवाशुचित्वम् तद्योगाच्चान्येषाम् तथेहापि तादात्म्यादन्त्येषु विशेषेषु स्वत एव व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वम्, तद्योगात् परमाणुषु" त० सं० प० पृ० २६४ तुलना कीजिये—

"यथा गवाश्वमांसादीनां स्वत एवाशुचित्वम् तद्योगाच्चान्येषाम्, तथेहापि तादात्म्यादन्त्यविशेषेषु स्वत एव प्रत्ययव्यावृत्तिः (व्यावृत्तिप्रत्यय.) तद्योगात् परमाण्वादिष्विति" पदार्थधर्मसंग्रह पृ० ७७१

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिलता-जुलता है तथापि हमें ऐसा लगता है कि यह उद्धरण मूलतः प्रशस्तमति की प्रशस्तमतिटीका (जो वाक्य-भाष्य पर है) से ही लिया गया है नकि पदार्थधर्मसंग्रह से; कारण बौद्ध और जैन परम्परा में पदार्थधर्मसंग्रह से जो उद्धरण लिए गए हैं उनके मूलग्रन्थ के रूप में पदार्थप्रवेशक[1] शब्द का प्रयोग किया गया है। दूसरी बात यह है कि प्रशस्तपाद की वाक्य-भाष्य-टीका का नाम भी 'प्रशस्तमति'[2] ही है और प्रशस्तमति के नाम से उद्धरण भी दिया गया है; इस कारण भी उन ग्रन्थों में उपलब्ध उद्धरणों का आकरग्रन्थ प्रशस्तमति-टीका को ही मानना उचित होगा ।

अतः अवतरण साम्य के आधार पर प्रशस्तपाद और प्रशस्तमति को अभिन्न मानना दृढ़तर नहीं है प्रत्युत नयचन्द्र के उपर्युक्त उद्धरण के प्रामाण्य पर ही दोनों की अभिन्नता निश्चित करना युक्ततर है ।

प्रशस्तपाद का समय

यद्यपि प्रशस्तपाद के द्वारा किसी स्पष्ट निर्देश के नहीं किये जाने के कारण उनका समय-निर्धारण कठिन है तथाऽपि विद्वानों ने यथामति परीक्षण के फलस्वरूप जो सिद्धान्त बनाए हैं उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :—

बोडास[3] ने प्रशस्तपाद को न्यायभाष्यकार वात्स्यायन से पूर्ववर्त्ती सिद्ध किया है। इस मत के विरुद्ध फैडेगन[4] वात्स्यायन को ही पूर्ववर्त्ती मानते हैं। डा० [5]कीथ तथा श्चेरवात्स्की ने[6] प्रशस्तपाद को दिङ्नाग का ऋणी माना है, परन्तु श्चेरवात्स्की ने तो बाद में अपना मत बदलकर पुनः प्रशस्तपाद को दिङ्नाग से पूर्ववर्त्ती मान लिया है। प्रो० दास गुप्त ने प्रशस्तपाद का समय षष्ठ शतक माना है। सूत्रकार के समकालिक[7] ही प्रशस्तपाद थे— ऐसा भी एक मत है। आचार्यध्रुव ने उपर्युक्त मतों के परीक्षण के बाद निम्नलिखित निष्कर्ष किया है—

"In view of the evidence which has been collected and discussed above I am of the opinion that the balance of probability is in

---

१. तत्त्व सं० पञ्जिका-पृ० १९२, प्रमेयकमलमार्तण्ड–५३१, न्यायकुमुदचन्द्र–पृ० ३६४, सम्मतितर्कप्रकरण–पृ० ६६१

२. नयचक्र-वृत्ति–पृ० १४९ ।

३. Bodas : Historical Survey of Indian Logic P. 40. (Royal Asiatic Society, Bombay, Vol XIX)

४. Vaisheshika System P. 605.

५. Indian Logic and automism P. 27

६. Introduction to Nyayapravesha by A. B. Dhruva P. XVIII

७. "सूत्रकारस्य समये भाष्यकारोऽप्यजायत । इति केचित्" । प० धर्म सं० भूमिका श्लो० १५–१६ (ढुण्ढिराज शास्त्री)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

favour of Prashastapada's priority to Dinnaga—a view which Stcherbatsky has urged against his own theory of an earlier date."

Introduction to the न्यायप्रवेश P. XXI.

इस मतों में प्रो० ध्रुव के मत में हमारी अधिक आस्था है, कारण, उनका परीक्षण तर्कपूर्ण है।

प्रशस्तपाद की रचनाएँ

अभी तक प्रशस्तपाद की केवल दो रचनाओं का पता चल सका है। उनकी एक रचना तो पूर्वोक्त वाक्य-भाष्य टीका और दूसरी रचना प्रकृत-ग्रन्थ (पदार्थधर्मसंग्रह) ही है। वाक्य-भाष्य-टीका का नाम प्रशस्तमति रहा—ऐसी सम्भावना है, जैसे पहले निर्दिष्ट हुआ है। बहुत सम्भव है कि वाक्य-भाष्य-टीका इनकी पहली कृति रही हो और बाद में उसकी विशालता के कारण उसीका संक्षिप्त रूप पदार्थधर्मसंग्रह के रूप में प्रस्तुत किया गया हो। वाक्य-भाष्य-टीका का लुप्त हो जाना कुछ अंश में इस बात का प्रमाण हो सकता है कि अतिविशालता के कारण लोग उसको अधिक उपादेय नहीं मानते थे। कुछ भी हो, उसका महत्त्व कम नहीं हो सकता।

इनकी दूसरी कृति प्रकृत ग्रन्थ ही है, जिसके पदार्थधर्मसंग्रह से अतिरिक्त 'पदार्थसंग्रह,[1] पदार्थप्रवेश[2] या पदार्थप्रवेशक[3] आदि नाम मिलते हैं। किन्तु आजकल इसका सबसे प्रसिद्ध नाम प्रशस्तपादभाष्य है; अतः नीचे यह भाष्य है या नहीं यह विचार प्रस्तुत किया जाता है :—

पदार्थधर्मसंग्रह भाष्य है या नहीं ?

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में 'भाष्य' शब्द का प्रयोग प्रधान तथा गौण अर्थ में भी प्रचलित था। पराशरोपपुराण में भाष्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते 'भाष्यम्' भाष्यविदो विदुः॥"

यही भाष्य का पारिभाषिक और प्रधान अर्थ है। अप्रधान अर्थ में भी 'भाष्य' शब्द के प्रयोग का संकेत वर्धमान के न्यायनिबन्धप्रकाश (उदयनाचार्य की तात्पर्य-

---

१. व्योमवती (सर्वत्र प्रकरणान्त में)

२. न्या० क० (प्रकरणान्त में), उपस्कार-७।२।२६; ६।२।६।

३. स० त० प्र०—पृ० ६६१, प्र० क० मा०—पृ० ५३१, तत्त्वसंग्रहपञ्जिका—पृ० १९२ आदि।

४. "सूत्रम्बुद्धिस्थीकृत्य तत्पाठनियमम् विनाऽपि तद्व्याख्यानम् भाष्यम्" वर्धमान-न्या० नि० प्र० (गङ्गानाथ झा द्वारा वै० द० में पृ० २ पर उद्धृत)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिशुद्धि की व्याख्या) में मिलता है। वर्धमान का कथन है—सूत्रों के तात्पर्य को ध्यान में रखते हुए किया गया व्याख्यान वह चाहे सूत्रपाठक्रम सापेक्ष हो या निरपेक्ष—भाष्य है।

उपर्युक्त दोनों अर्थों से परिचित तथा सहमत आचार्यों ने पदार्थधर्मसंग्रह को प्रधानतया भाष्य-भिन्न होने के कारण स्वतन्त्र निबन्ध और अप्रधानतया यत्र तत्र भाष्य भी कहा है। व्योमशिवाचार्य ने इस ग्रन्थ को वारम्वार संग्रह[1] कहकर भी कहीं-कहीं भाष्य[2] कह दिया है। श्रीधराचार्य की भी यही पद्धति है। उन्होंने अपनी इस उक्ति[3]—"इदं हि तस्य नामेति तच्छब्दसंकीर्तनं कृतम् प्रशस्तदेवेन, न तु तदुपनिबन्धख्यापनाय युक्तिरभिहिता तदुपनिबन्धवैशिष्ट्यस्य मन्वादिवाक्यवन्महाजनपरिग्रहादेव प्रतीतेः" के द्वारा पदार्थधर्मसंग्रह को स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर भी गौणार्थ में 'भाष्य' शब्द के प्रयोग को ध्यान में रखकर यत्र[4]तत्र 'भाष्य' नाम से भी इसका निर्देश किया है। उदयनाचार्य की 'भाष्यस्य चातिविस्तरत्वात्' उक्ति की व्याख्या में "भाष्यस्य रावणप्रणीतस्य" कहनेवाले पद्मनाभ मिश्र और अन्य व्याख्याकार ने भी इसी तरह इस ग्रन्थ को कहीं स्वतन्त्र निबन्ध और कहीं भाष्य[5] कहा है।

परन्तु "भाष्यस्य चातिविस्तरत्वात्" कहनेवाले उदयनाचार्य इसे भाष्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में 'भाष्य' शब्द का गौण-प्रयोग उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि यदि गौण अर्थ में भी भाष्य शब्द का प्रयोग साम्प्रदायिक हो तो फिर भाष्य और साधारण व्याख्यान में लोग अन्तर कैसे समझ सकेंगे। सभी प्रकार के सूत्रानुगुण व्याख्यान को भाष्य मानना मर्यादा का उल्लङ्घन ही है। अतः प्रशस्तपाद का प० ध० सं० भाष्य नहीं है।

यद्यपि पं० विन्ध्येश्वरी प्रसादजी ने न्यायकन्दली तथा किरणावली की भूमिका में प० ध० सं० को पारिभाषिक रूप में भी भाष्य सिद्ध करने का प्रयास किया है तथापि उससे उन्हें भी प्रायः सन्तोष न हुआ होगा कारण, जिस पद्धति का अनुसरण कर

१. व्योम० पृ० ३३

२. वही० पृ० २० (च) "सर्वस्मिन् व्याख्याने सूत्रितत्त्वोपदर्शनम् भाष्यस्य इष्यते एव"।

३. न्या० क०–पृ० ४

४. वही पृ० ६९६ "तेनास्माभिरिह भाष्यतात्पर्यमात्रं व्याख्यातम्"।

५. प० ध० सं० सेतु पृ० ३; ११८; ("अग्रिमभाष्यानुरोधेन" पृ० ३; "भाष्यकृता कृतः" पृ० ११८)

"पदार्थधर्मसंग्रहो भाष्यनामा ग्रन्थः" जगदीश-सूक्ति पृ० १

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उन्होंने इसे भाष्य कहने का प्रयत्न किया है उस पद्धति को उचित मानने पर प्रकरणादिग्रन्थों को भी भाष्य नहीं कहने का कोई आधार नहीं रह जाता है।

इसे पारिभाषिक भाष्य मानने में एक और भी आपत्ति दीखती है कि परम्परागत जितने भी भाष्य उपलब्ध हैं उनमें किसी का संज्ञाविशेष नहीं है प्रत्युत तत्तत् शास्त्र या तत्तत् व्यक्ति के साथ भाष्य शब्द से अभिहित किया गया है, जैसे—व्याकरण-महाभाष्य, न्याय-भाष्य, योग-भाष्य, शाबर-भाष्य, शाङ्कर-भाष्य आदि। इस परम्परा के अनुसार इसके भी प्रशस्तपाद-भाष्य या वैशेषिक-भाष्य इन दो ही नामों को प्रसिद्ध होना चाहिए था यदि यह वस्तुतः भाष्य होता। परन्तु, जैसा पहले बतलाया जा चुका है, इसकी प्रसिद्धि अधिकतः पदार्थप्रवेश, पदार्थधर्मसंग्रह, पदार्थसंग्रह आदि शब्दों से ही है। इस कारण भी इसे भाष्य कहना साम्प्रदायिक-शैली-सिद्ध नहीं प्रतीत होता है।

इतना होने पर भी इसे पारिभाषिक रूप में भाष्य कहने का जो दुराग्रह पण्डित-परम्परा में है उसका कारण है न्याय-कन्दली आदि में जो 'भाष्य' का प्रयोग हुआ है उसके मूलभूत भाष्यशब्द के गौणार्थत्व से अपरिचय। आजकल लोगों की दृष्टि में भाष्य का पारिभाषिक लक्षण ही है गौणलक्षण नहीं। एवञ्च प्रसिद्ध ग्रन्थों में इसके लिए 'भाष्य' शब्द के प्रयोग को देखकर बलात् इसे पारिभाषिक रूप में ही भाष्य सिद्ध करने को उद्यत हो जाते हैं।

अब यह प्रश्न है कि यदि यह पारिभाषिक भाष्य नहीं है तो इसका पारिभाषिक-स्वरूप क्या है। शङ्कर[1] मिश्र इसे प्रकरण मानते हैं। प्रकरण की परिभाषा यह है—

"शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥"

परन्तु इस परिभाषा के अर्थ और प० ध० सं० के स्वरूप को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रकरण नहीं है। इस तथ्य का संकेत उदयनाचार्य ने अपनी किरणावली (पृ० ५) में पहले ही "प्रकरणादीनां चैकदेशत्वात्" शब्द से कर दिया है।

निष्कर्ष यही है कि पारिभाषिक दृष्टि से प० ध० सं० संग्रह ही है। संग्रह का लक्षण इस प्रकार है—

"विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः।
निबन्धो यः समासेन संग्रहन्तं विदुर्बुधाः॥"

इसे 'पदार्थधर्मसंग्रहः' कह कर स्वयम् ग्रन्थकार ने ही इसके स्वरूप का निर्देश

---

१. उपस्कार—वै० सू० ७।२।२६; ६।२।६।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किया है। इसके प्रसिद्ध व्याख्याकार व्योमशिव[1], उदयन[2], श्रीधर[3] ने भी इसका स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से समर्थन किया है।

अतः पारिभाषिक रूप में इस ग्रन्थ को 'संग्रह' मानना उचित है और गौणदृष्टि से भाष्य भी।

पदार्थधर्मसंग्रह की व्याख्यायें

प० ध० सं० जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की ओर विद्वानों का आकर्षण अत्यन्त स्वाभाविक है। इसके अर्थगाम्भीर्य को प्रकाशित करने के लिए इसकी अनेक प्रामाणिक व्याख्यायें लिखी गईं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

व्योमवती (व्योमशिवाचार्य)—अभी उपलब्ध व्याख्याओं में व्योमवती प्राचीनतम है। व्योमशिवाचार्य की प्राचीनता राजशेखर के द्वारा प० ध० सं० के व्याख्याताओं में इनके सर्वप्रथम उल्लेख से भी सिद्ध होती है। इनके समय की पूर्वावधि षष्ठ शतक या सप्तम शतक का पूर्वार्ध है, कारण इन्होंने व्योमवती में नाट्यशास्त्र[4], भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद,[5] कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक,[6] धर्मकीर्ति,[7] प्रभाकर[8] और श्री हर्ष (हर्षवर्धन)[9] का उल्लेख किया है। ये सभी व्यक्ति प्रायशः सप्तम शतक के पूर्वार्ध के हैं। अतः व्योमशिवाचार्य के समय की पूर्वावधि सप्तम शतक के पूर्वार्ध को मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

इनकी उत्तरावधि जयन्त भट्ट को माना जा सकता है। क्योंकि जयन्त ने व्योमशिव के मत को वि० न० सं० सी० के पृ० ७८ और चौखम्बा संस्करण के पृ० ७२ में इस तरह उद्धृत किया है—"अव्यवच्छेद्यान्तरमव्यपदेश्यपदस्य वर्णयाञ्चक्रुराचार्याः—शब्दार्थेषु..............उभयजमिदं ज्ञानम् व्यपदेशाज्जातमिति व्यपदेश्यम् उच्यते

---

१. "पदार्थधर्माणां संग्रह इति निबन्धान्तरे(रैः) विस्त(स्ता)रोक्तानां संक्षेपेणाभिधानम्—" व्योमवती—पृ० २० (छ) तथा ३३

२. "शास्त्रे नानास्थानेषु वितताः एकत्र सङ्गृह्य कथ्यन्ते इति संग्रहः" किरणावली—पृ० ५

३. "अन्यत्र ग्रन्थे विस्तरेण इतस्ततोऽभिहितानाम् इहैकत्र तावतामेव पदार्थानां ग्रन्थे संक्षेपेणाभिधानम्" न्या० क०—पृ० ६

४. व्यो० पृ० ५५७

५. वही पृ० २० (च)

६. „ „ ५९०–९१

७. „ „ ३०६–७ (प्रमाणवार्त्तिक के पद्य)

८. „ „ ३९९

९. „ „ ३९२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत् अव्यपदेश्यपदेन व्युदस्यते।" यद्यपि न्यायमञ्जरी के प्रथम संस्करण (वि० न० सं० सी०) के सम्पादक पं० श्री गङ्गाधर शास्त्री जी ने इस प्रसंग में 'आचार्याः' की टिप्पणी में 'तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः' लिखा है तथापि तात्पर्यटीका को उलटने पर यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि वाचस्पति का यह मत नहीं है। वाचस्पति की उक्ति इस प्रकार है :—"अथायमप्यैन्द्रियक एव; तत्र गुरूपदिष्टा गाथा पठितव्या—

शब्दजत्वेन शाब्दं चेत् प्रत्यक्षञ्चाक्षजत्वतः।
स्पष्टग्रहणरूपत्वात् युक्तमैन्द्रियकं हि तत्॥

तस्मान्नोभयजं ज्ञानम् यद्वारणाय अव्यपदेश्यपदम् कैश्चिदुक्तम्" ता० टी० पृ० १४८ (चौ० सं०)। अतः यह मत व्योमवती से ही लिया गया प्रतीत होता है। व्योमवती टीका के पृ० ५५५ पर स्पष्टतः उभयजज्ञान का समर्थन कर उसके परिहारार्थ प्रत्यक्षसूत्र में अव्यपदेश्य पद की सार्थकता बतलायी गई है। उसका वर्णन इस प्रकार है :—अव्यपदेश्यम् अशब्दजन्यं ज्ञानम् इति। नन्वक्षमप्राप्य नोत्पद्यते शाब्दज्ञानम् इत्यनेनैव व्यवच्छिन्नम्? न; इन्द्रियसहकारिणा यज्जन्यते तस्य व्यवच्छेदार्थत्वात् × × × कथमुभयजं ज्ञानम्? × × × भवत्येवोभयजं ज्ञानम्" इत्यादि। (व्यो० पृ० ५५५) आचार्य शब्द से व्योमशिव की प्रसिद्धि तो वैशेषिक सम्प्रदाय (उदयन-श्रीधर) में है ही।

इसी प्रकार न्यायमञ्जरी के प्रथम संस्करण के पृ० ३१२ और चौखम्बा संस्करण के पृ० २८५ पर आचार्य के मत के रूप में "जातं च सम्बद्धं च इत्येकः कालः" का सिद्धांत जाति निरूपण प्रसङ्ग में उद्धृत है। गंगाधर शास्त्री जी इसे भी वाचस्पति का ही मत मानते हैं। परन्तु यह वाक्य वाचस्पति में नहीं पाया जाता प्रत्युत न्यायवार्तिक में "साध्यत्वादवयविनि सन्देहः" सूत्र की व्याख्या में "न पुनः कार्यं कारणासम्बद्धं[1] विद्यते—जातः सम्बद्धश्चेत्येकः कालः" का उल्लेख है और जयन्त ने इसी का उद्धरण किया है। न्यायवार्तिक में लेखकप्रमादवश नपुंसक के स्थान पर पुंल्लिग का प्रयोग है, पर 'कार्यम्' को देखने से स्पष्ट ही न्यायमञ्जरी-गत पाठ को ही वार्तिक में भी शुद्ध पाठ मानना अच्छा प्रतीत होता है।

न्यायमञ्जरी के प्र० स० पृ० ६६ तथा चौखम्बा संस्करण के पृ० ६२ पर "आचार्यस्तावदाचक्षते" आदि वाक्यों में प्रतिपादित मत का "यदा ज्ञानमालोचनं वा विकल्पो वा आदि" (ता० टी० पृ० १०२ चौ० सं०) वाक्यों में प्रतिपादित वाचस्पति-मत के साथ सम्बन्ध जोड़ने का गंगाधर शास्त्री तथा सूर्यनारायण शुक्ल जी का प्रयास भी उपयुक्त नहीं है, कारण, यह मत व्योमवती में भी—"ननु द्रव्यादिज्ञानोत्पत्तौ अनेक-

१. न्या० वार्तिक–पृ० २३८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कालव्यवधानेन ×× ×× पारम्पर्येणेति आदि" (व्यो-पृ० ५६१) वाक्यों में प्रतिपादित है।

अतः जयन्त भट्ट अवश्य ही वाचस्पति से पूर्ववर्ती थे। इसीलिए वाचस्पति ने—

"अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्"

प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥ (न्यायकणिका-३ श्लोक)

इस श्लोक में जयन्त की न्यायमञ्जरी का ससम्मान निर्देश किया है। यही कारण है कि उदयनाचार्य ने भी अपनी परिशुद्धि में आगे (जो अंश अद्यावधि अप्रकाशित था परन्तु सौभाग्यवशात् मिथिला-विद्यापीठ से गुरुवर अनन्तलाल ठाकुरजी के सम्पादकत्व में 'न्यायचतुर्ग्रन्थिका' के नाम से भाष्य, वार्त्तिक, तात्पर्यटीका के साथ प्रकाशित हो रहा है) 'जयन्तमतमाह' करके अवतरण किया है, जैसा गुरुवर ठाकुरजी ने मुझे बताया है।

इस तरह यह निःसन्दिग्ध है कि जयन्त भट्ट वाचस्पति मिश्र के पूर्ववर्ती थे। वाचस्पति मिश्र का समय उनके "वस्वङ्कवसुवत्सरे" (न्यायसूची निबन्ध का अन्तिम श्लोक) के आधार पर ८९८ वर्ष सिद्ध है। पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद जी इससे शक संवत् समझते हैं। परन्तु वाचस्पति के व्याख्याकार उदयनाचार्य के तर्काम्बराङ्कप्रमित (९०६) शकाब्द (९८४ ई०) को देखने से वाचस्पति के वस्वङ्कवसुवत्सर को विक्रमाब्द अर्थात् ८४१ ई० मानना ही उचित है—ऐसा डा० विद्याभूषण[1] का मत है।

इस प्रकार वाचस्पति से पूर्ववर्त्ती जयन्त भट्ट का समय सप्तम शतक का अन्त अथवा अष्टम शतक का आदि होगा और जयन्त से पूर्ववर्त्ती व्योमशिवाचार्य का समय सप्तम शतक का अन्तिम भाग (अधिक से अधिक) माना जा सकता है।

व्योमवती व्याख्या अत्यन्त प्रामाणिक, प्रमेयबहुल और प्रसन्न-गम्भीर है। इसमें अभी कुछ अशुद्धियाँ हैं, जो अध्ययन में कभी-कभी बाधा उपस्थित कर देती हैं। आशा है, विद्वानों की कृपा से इसका विशुद्ध संस्करण उपलब्ध हो सकेगा।

शालिकनाथकृत व्याख्या—पदार्थधर्म-संग्रह की एक व्याख्या प्रभाकर मीमांसक शालिकनाथ मिश्र की थी, परन्तु यह अभी उपलब्ध नहीं है। "केचित्तु संसर्गिद्रव्यतया निःसरदेव नायनं तेजः" (किरणावली चौ० सं० पृ० ७५) की व्याख्या में वर्धमान ने 'शालिकमतन्दूषयति—' ऐसा अवतरण दिया है, जिससे इसकी सत्ता का निश्चय होता है। तर्कभाषाप्रकाशिका में चिन्नम्भट्ट ने भी—मृत्पिण्डपाषाणादिलक्षणः शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तः विषय इति शालिकनाथः प्रशस्तपादभाष्यव्याख्याने न्यरूपयत्—लिखा है। अतः उक्त व्याख्या की सत्ता निश्चित ही है।

---

१. History of Indian Logic P. 133

२. History of Navya-Nyaya in Mithila-PP. 34–35.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किरणावली—उदयनाचार्य की किरणावली व्याख्या का महत्त्व-वर्णन अनावश्यक है। उदयनाचार्य की विद्वत्ता से आबालवृद्ध जनसमूह परिचित है। किरणावली के अर्थगौरव के कारण वर्धमान, वादीन्द्र और पद्मनाभ मिश्र जैसे महातार्किकों ने इसकी व्याख्यायें लिखी हैं। उदयन का समय तो लक्षणावली के आधार पर ९०६ शकाब्द अर्थात् ९८४ ई० सिद्ध ही है। यह व्याख्या केवल बुद्धि प्रकरणपर्यन्त अभी तक प्रकाशित हुई थी, परन्तु इधर अग्रिम भाग के प्रकाशन की भी चर्चा सुन रहे हैं।

न्यायकन्दली—श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली टीका भी अत्यधिक प्रशस्त तथा ग्रन्थाशयाभिव्यञ्जक है। श्रीधर की न्यायकन्दली उदयनाचार्य की किरणावली पर निर्भर है—ऐसा विन्ध्येश्वरीप्रसाद का मत था। पर अन्तरङ्ग प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि श्रीधर की कन्दली ही किरणावली से प्राचीनतर[1] है।। तथापि दोनों के समय में अधिक अन्तर नहीं होने के कारण दोनों व्याख्याकारों के परस्पर परिचय की प्रतीति उनकी व्याख्याओं के देखने से होती है। कन्दली के ऊपर राजशेखर की न्यायकन्दली-पञ्जिका और पद्मनाभ मिश्र की न्यायकन्दलीसार-व्याख्या प्रसिद्ध है।

न्यायलीलावती : श्रीवत्साचार्य—राजशेखर ने "चतुर्थी तु लीलावतीति ख्याता श्रीवत्साचार्यो बबन्ध" लिखकर एक न्यायलीलावती व्याख्या का संकेत किया है, पर यह व्याख्या अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। इसका संकेत भी अन्यत्र नहीं पाया जाता। परिशुद्धि में उदयनाचार्य ने अपने गुरु के रूप में एक श्रीवत्साचार्य[2] का सङ्केत किया है परन्तु उनके द्वारा न्यायलीलावती नाम की प्रशस्तपाद की व्याख्या का कोई भी उल्लेख नहीं है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि 'कणादरहस्य' के समान किसी समय श्रीवल्लभ की न्यायलीलावती को भी लोग प्रशस्तपाद की व्याख्या मानते होंगे। राजशेखर ने भी उसी परम्परा के अनुसार इसका उल्लेख टीका के रूप में किया है। लेखक के प्रमाद से श्रीवल्लभ के स्थान में श्रीवत्स शब्द की शत-प्रतिशत सम्भावना है।

अभिनवगुप्त-व्याख्या—परात्रिंशिकावृत्ति में अभिनवगुप्तकृत पदार्थप्रवेशनिर्णय की टीका के उल्लेख के कारण गुरुवर अनन्तलाल ठाकुरजी ने इसके विषय में पदार्थ-प्रवेश शब्द से बहुत्र प्रसिद्ध पदार्थधर्मसंग्रह की व्याख्या होने की सम्भावना व्यक्त[3] की है।

कणादरहस्य : शङ्कर मिश्र—इसे भी बहुत लोग पदार्थधर्मसंग्रह की व्याख्या

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिए :—
History of Navya-Nyaya in Mithila PP. 8–11.

२. वै० द० प्रस्तावना पृ० २५ (मिथिला विद्यापीठ)।

३. वै० द० प्रस्तावना पृ० २५ (मिथिला विद्यापीठ)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानते हैं, परन्तु यह व्याख्या नहीं है जैसा शङ्कर मिश्र ने स्वयम् "प्रशस्तपादवाक्य-व्याख्याच्छलेन" शब्द से स्पष्ट कर दिया है।

भाष्यनिकष : मल्लिनाथ—मल्लिनाथकृत एक भाष्य-निकष[1] व्याख्या भी थी, पर उपलब्ध नहीं है।

सेतु : पद्मनाभ मिश्र—पद्मनाभ मिश्र की 'सेतु व्याख्या' जो केवल द्रव्यग्रन्थ तक उपलब्ध है, बहुत ही विशाल तथा पाण्डित्यपूर्ण है। इसमें प्राचीन व्याख्याकारों के मत का भी सूक्ष्म विवेचन किया गया है। पद्मनाभ मिश्र का समय १६ वीं शताब्दी है।

सूक्ति : जगदीश तर्कालङ्कार—महानैयायिक जगदीश तर्कालंकार की सूक्ति व्याख्या वस्तुतः सूक्ति ही है। इनकी विद्वत्ता जैसे नव्यन्याय में है उसी प्रकार प्राचीन न्याय-वैशेषिक में भी है। यह व्याख्या भी द्रव्य ग्रन्थ तक ही प्रकाशित हुई है। आगे का अंश उपलब्ध नहीं है।

पदार्थधर्मसंग्रह के अवदान (Contributions)

यद्यपि वैशेषिक सूत्र से परवर्त्ती और प्रशस्तपाद से पूर्ववर्त्ती सभी ग्रन्थों के लुप्त हो जाने के कारण सम्प्रति प्रचलित किन्तु वैशेषिक सूत्र में अनुपलब्ध नवीन सिद्धान्तों के प्रतिष्ठापक का अवधारण करना कठिन हो गया है, और इसीलिए प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसंग्रह के कुछ नवीन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा प्रशस्तपाद ने ही की या इनके पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने ही—यह भी निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता तथापि अभी वैशेषिक सूत्र में अनुलब्ध और पदार्थधर्मसंग्रह में उपलब्ध सिद्धान्तों को इसके अवदान के रूप में मान सकते हैं।

(अ) द्रव्य, गुण और कर्म से अधिक पदार्थों की कल्पना पदार्थधर्मसंग्रह की देन है, क्योंकि कणाद ने केवल तीन ही पदार्थ माने हैं—ऐसा बोडास ने तर्कसंग्रह की भूमिका में लिखा है। बोडास के मत में "धर्मविशेषप्रसूतात्०" आदि सूत्र मौलिक नहीं माना गया है। परन्तु, जैसा पहले बतलाया गया है, यह सूत्र मौलिक ही है। एवञ्च पदार्थविषयक अवदान का निर्धारण उचित नहीं प्रतीत होता। यदि कथञ्चित् उस सूत्र को अमौलिक भी मानें तब भी ये पदार्थ कणादसम्मत थे—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं होना चाहिए, कारण वैशेषिक सूत्रों में महर्षि कणाद ने सभी पदार्थों का निरूपण किया है।

(आ) कणाद ने केवल १७ गुण बतलाये हैं, परन्तु प्रशस्तपाद ने अपने प० ध० सं० में अतिरिक्त ७ गुणों की कल्पना कर गुणों की सख्या को २४ कर दिया है।

(इ) कणाद की दृष्टि में सामान्य तथा विशेष पदार्थ बौद्ध माने जाते थे पर

---

१. भारतीयदर्शन-उपाध्याय—पृ० २७१ (षष्ठ संस्करण)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पदार्थधर्मसंग्रह में इनकी 'बाह्य सत्ता सिद्ध की गई है—ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं। परन्तु इस कथन का कुछ अर्थ नहीं है।

(ई) 'विशेष' पदार्थ के विशद विवेचन को भी एक अवदान माना जाता है परन्तु यह भी महत्त्वहीन कल्पना है।

(उ) शब्द श्रवण की प्रक्रिया का विशेष विवेचन प० धर्म संग्रह का अवदान है।

(ऊ) ईश्वर की स्थापना का श्रेय भी इसी को दिया जाता है।

(क) द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि की व्याख्या भी प्रशस्तपाद में ही पायी जाती है वैशेषिक सूत्र में नहीं; अतः इसे भी अवदान माना जाता है।

(ख) इसी प्रकार संख्या का विशद विवेचन, सृष्टि-प्रक्रिया तथा लय-प्रक्रिया का स्पष्ट निरूपण भी प्रशस्तपाद में ही मिलता है वै० सू० में नहीं। इसके अतिरिक्त और भी बहुत अवदान हो सकते हैं परन्तु अवदान का निश्चय अध्येता की दृष्टि से ही होना उचित है न कि अन्य दृष्टि से। तात्पर्य यह है कि हमारे यहाँ जब "सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वम् यद्वृत्तौ यच्च वार्त्तिके" तक की भी भावना वर्त्तमान है, तब सूत्रकार के अतिरिक्त अन्य किसी व्याख्याकार या निबन्धकार का क्या अवदान हो सकता है? अतः अध्येता यथामति अवदानों का स्वयं निर्णय करें।

जो कुछ भी हो, उदयनाचार्य जैसे तार्किक द्वारा अनुमोदित पदार्थधर्मसंग्रह के महत्त्व का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता है। इस अर्थगुरु ग्रन्थ का अध्ययन प्रत्येक संस्कृतज्ञ के लिए आवश्यक है। व्यवहार का भी निर्वाह इस ग्रन्थ के अध्ययन के बिना सुचारु रूप से सम्भव नहीं है, कारण व्यावहारिक पदार्थों का भी विशद विवेचन यहीं प्रस्तुत किया गया है। परन्तु कठिन होने के कारण आज संस्कृत भाषा के ह्रास के युग में इस ग्रन्थ का राष्ट्र-भाषा में व्याख्यान चिरकाल से अपेक्षित था। श्रद्धेय गुरुवर आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्रीजी ने अपने सम्पूर्ण जीवन में न्याय-वैशेषिक शास्त्र के अध्ययनाध्यापन से सम्प्राप्त प्रामाणिक अनुभव का इस ग्रन्थ के व्याख्यान में संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप में समावेश कर इस अपेक्षा की पूर्ति की है। यह भाषा-भाष्य न केवल छात्र के लिए प्रत्युत विद्वद्वर्ग के लिए भी परम उपादेय है। छापे में कहीं कहीं कुछ अशुद्धियाँ अवश्य हैं, किन्तु इस ग्रन्थ के प्रकाशन जैसे कठिन कार्य की तुलना में उनका कोई स्थान नहीं है।

वस्तुतः चौखम्बा प्रकाशन के अध्यक्ष संस्कृत तथा राष्ट्रभाषा के माध्यम से जो हम संस्कृतज्ञों का उपकार वर्षों से करते आ रहे हैं तदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं। यदि इन लोगों की प्रवृत्ति नहीं होती तो कदाचित् संस्कृत-साहित्य आज के युग में नाशोन्मुख सा हो जाता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आशा है, विद्वद्वर्ग इस नवीन परन्तु अत्यन्त उपादेय संस्करण का स्वागत कर "चौखम्बा प्रकाशन" को प्रोत्साहित करेंगे ताकि और भी विशाल-विशाल ग्रन्थरत्न का इसी तरह प्रकाशन होता रहे।

विहिताः त्रुटयोऽत्र याः मया
मतिमान्द्यादथवाऽर्थगौरवात्।
विबुधः स्वगुणोच्चयेन ताः
व्यपनीय श्रममर्थयिष्यति ॥

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी
७-९-१९६६

विद्वद्विधेयः
श्री नारायणमिश्रः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आमुख

पुरुषार्थप्रदातारं विद्वन्मानसरञ्जनम् ।
वन्दे गुरुपदद्वन्द्वमवाङ्मनसगोचरम् ॥

मैं अपने द्वारा सम्पादित सविवरण प्रशस्तपाद की पद्यमयी भूमिका में भाष्यकार प्रशस्तदेवाचार्य के मन्तव्य को स्पष्ट कर चुका हूँ। वह संस्करण सन् १९२३ में चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय से छप चुका है। उस संस्करण में मैंने एक संकलनांक देकर यह भी उल्लेख किया है कि प्रशस्तपादभाष्य में वैशेषिक सूत्रों का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, वरन् वैशेषिक मतों का सार भाष्य में प्रतिपादित है। जिज्ञासुओं को वह संस्करण अवश्य पठनीय है।

प्रस्तुत हिन्दी संस्करण में प्रशस्तपादभाष्य की हिन्दी व्याख्या करते समय मैंने यह ध्यान रखा है कि भाष्य के प्रतिपद तथा प्रतिवाक्य का भाव सुस्पष्ट हो जाय। यद्यपि आज की राष्ट्रभाषा की अपेक्षा मेरी भाषा की शैली प्राचीन है तथापि भावाबोध का जहाँ तक प्रश्न है, मुझे विश्वास है कि उसमें दोष कम होंगे। ग्रन्थ लगाने के लिये यह व्याख्या छात्रों तथा जिज्ञासुओं को बड़ी उपयोगी तथा सहायक सिद्ध होगी।

मेरे वार्द्धक्यजन्य असामर्थ्यवश कतिपय त्रुटियों का रह जाना सम्भव है, आशा है सुधीजन सुधारकर पढ़ लेंगे तथा लाभान्वित होंगे।

इस ग्रन्थ के स्वत्वाधिकारी, चौखम्बा संस्थान के सञ्चालक श्रेष्ठिवर्य को हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ जिनकी ऐसे कार्यों के प्रति सदा ही विशेष आस्था रही है।

श्रीरुक्मिणीपाण्डुरङ्गार्पणमस्तु

अनन्तचतुर्दशी, २०२३
वाराणसी

—ढुण्ढिराज शास्त्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय-सूची

		पृ०
ग्रन्थप्रयोजन	प्रकरण	१
उद्देश	,,	३
साधर्म्य-वैधर्म्य	,,	६
पृथिवीनिरूपण	,,	१५
जलनिरूपण	,,	२०
तेजोनिरूपण	,,	२२
वायुनिरूपण	,,	२४
सृष्टिसंहार	,,	२९
आकाश	,,	३६
काल	,,	४१
दिक्	,,	४५
आत्म	,,	४७
मनः	,,	५६
साधर्म्य	,,	६०
रूप	,,	६८
रस	,,	७०
गन्ध	,,	,,
स्पर्श	,,	,,
पाकज	,,	७१
संख्या	,,	७४
परिमाण	,,	८६
पृथक्त्व	,,	९५
संयोग	,,	९७
विभाग	,,	१०७
परत्वापरत्व	,,	१२४
बुद्धि	,,	१३६
संशय	,,	१४०
विपर्यय	,,	१४२
अनध्यवसाय	,,	१४७
स्वप्न	,,	१४९
प्रत्यक्ष	,,	१५१
अनुमान	प्रकरण	१८२
अवयव	,,	१८६
अपदेश	,,	१८८
हेत्वाभास	,,	१८९
निदर्शन	,,	१९७
निदर्शनाभास	,,	१९८
अनुसन्धान	,,	२००
प्रत्याम्नाय	,,	२०१
स्मृति	,,	२०७
आर्षज्ञान	,,	२०८
सिद्धदर्शनान्तर्भाव	,,	२०९
सुख	,,	२११
दुःख	,,	२१३
इच्छा	,,	,,
द्वेष	,,	२१५
प्रयत्न	,,	२१६
गुरुत्व	,,	२१७
द्रवत्व	,,	२१८
स्नेह	,,	२२१
संस्कार	,,	,,
धर्म	,,	२२५
अधर्म	,,	२३३
संसारापवर्ग	,,	२३४
शब्द	,,	२३६
उत्क्षेपणादिकर्म	,,	२४१
गमन	,,	२४५
सत्प्रत्ययकर्म	,,	२५५
असत्प्रत्ययकर्म	,,	२६४
सामान्य	,,	२७६
विशेष	,,	२८४
ग्रन्थसमाप्ति	,,	२८८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

॥ श्रीः ॥

वैशेषिक-दर्शनम्

प्रथमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

योग्य शिष्य की जिज्ञासा के कारण अब धर्म की व्याख्या करेंगे।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ २ ॥

जिससे अभ्युदय अर्थात् ऐहलौकिक सुख किंवा जीवन्मुक्ति और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो वही 'धर्म' है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ ३ ॥

(उपर्युक्त धर्म के प्रतिपादक) वेदों की प्रामाणिकता उनके धर्मप्रतिपादक वचन होने के कारण ही है।

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ ४ ॥

धर्मविशेष से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय के साधर्म्य (समान धर्म=अनुगत धर्म) और वैधर्म्य (विपरीत धर्म) के ज्ञान के द्वारा उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥५॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल (समय), दिशा, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शाः सङ्ख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥ ६ ॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और (गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, शब्द) ये चौबीस गुण हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥ ७ ॥

उत्क्षेपण (ऊपर की ओर गमन), अवक्षेपण (नीचे की ओर गमन), आकुञ्चन (सिकुड़ना) और गमन—ये पाँच प्रकार के कर्म हैं।

सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुण-कर्मणामविशेषः ॥ ८ ॥

सत्ता से युक्त होना, अनित्य होना, (समवायिकारणीभूत) द्रव्य से सम्बद्ध होना, उत्पन्न होना, (किसी अन्य कार्य के प्रति) कारण होना, सामान्ययुक्त होना और विशेषयुक्त होना—ये द्रव्य, गुण तथा कर्म के लिए सामान्य धर्म (साधर्म्य) हैं।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥ ९ ॥

अपने सजातीय (एकजातीय) पदार्थान्तर को उत्पन्न करना साधर्म्य है।

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥ १० ॥

द्रव्य अपने सजातीय दूसरे द्रव्यों को और गुण अपने सजातीय दूसरे गुण को उत्पन्न करते हैं।

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥ ११ ॥

एक कर्म दूसरे कर्म से उत्पन्न होता है—इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

न द्रव्यं कार्यं कारणं च भवति ॥ १२ ॥

द्रव्य अपने कार्य या अपने कारण से विनष्ट नहीं होता है।

उभयथा गुणाः ॥ १३ ॥

गुण दोनों प्रकार से (अर्थात् अपने कार्यगुण और कभी-कभी अपने कारणभूत गुण से भी) नष्ट होते हैं।

कार्यविरोधि कर्म ॥ १४ ॥

कर्म अपने कार्य से विनष्ट हो जाता है।

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ १५ ॥

क्रिया एवम् गुण से युक्त होना तथा (अवयविद्रव्य, गुण एवम् क्रियाका) समवायि-कारण होना द्रव्य का लक्षण है।

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण-लक्षणम् ॥ १६ ॥

संयोग-विभाग के अनपेक्ष कारण से भिन्न, द्रव्य में आश्रित, गुणशून्य पदार्थ को गुण कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥ १७ ॥

एकद्रव्य समवेत, गुणशून्य एवं संयोग-विभाग के लिए अनपेक्ष कारणीभूत पदार्थ कर्म हैं।

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥ १८ ॥

द्रव्य, गुण और कर्मों का द्रव्य ही (समवायि-) कारण है—इस अंश में समानता है। (यह साधर्म्य-प्रकरण है)।

तथा गुणः ॥ १९ ॥

वैसे ही गुण भी (द्रव्य, गुण तथा कर्म का असमवायिकारण) है।

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥ २० ॥

संयोग, विभाग और वेग का (असमवायि) कारण कर्म ही है।

न द्रव्याणां कर्म ॥ २१ ॥

कर्म द्रव्यों का कारण नहीं होता है।

व्यतिरेकात् ॥ २२ ॥

(द्रव्योत्पत्ति से पूर्व ही कर्म के) अन्त हो जाने के कारण (द्रव्य का कारण नहीं होता है)।

द्रव्याणां द्रव्यं कार्य्यं सामान्यम् ॥ २३ ॥

(दो या दो से अधिक अवयव) द्रव्यों का यह साधर्म्य है कि वे अवयविद्रव्यरूप कार्य को उत्पन्न करें।

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥ २४ ॥

(द्रव्य तथा) गुण से विपरीत धर्म से युक्त होने के कारण कर्मों का कर्मान्तरोत्पादकत्व साधर्म्य नहीं है।

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ॥ २५ ॥

द्वित्व से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या, पृथक्त्व, संयोग और विभाग (अनेक द्रव्य से उत्पन्न होते हैं)।

असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥ २६ ॥

(दो द्रव्य या अनेक द्रव्यों में) एक कर्म के समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं होने के कारण कर्म को अनेक द्रव्यों का कार्य मानना प्रमाण सिद्ध नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संयोगानां द्रव्यम् ॥ २७ ॥

अनेक संयोगों का कार्य एक द्रव्य होता है।

रूपाणां रूपम् ॥ २८ ॥

(अनेक अवयवद्रव्यगत) अनेक रूपों का एक रूप कार्य होता है।

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ॥ २९ ॥

गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग का उत्क्षेपण एक कार्य है।

संयोगविभागाश्च कर्मणाम् ॥ ३० ॥

संयोग और विभाग कर्म के कार्य हैं।

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥ ३१ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकम्।

कारणसामान्य के प्रकरण में यह कहा गया है कि द्रव्य और गुण का कारण कर्म नहीं हो सकता है।

प्रथम अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त।

प्रथमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

कारणाभावात् कार्य्याभावः ॥ १ ॥

कारण का अभाव होने से कार्य का भी अभाव होता है, (अतः कार्य की सत्ता कारण की सत्ता का नियामक है)।

न तु कार्य्याभावात् कारणाभावः ॥ २ ॥

किन्तु कार्य का अभाव होने पर भी कारण का अभाव नहीं होता है।

सामान्य विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ ३ ॥

(सामान्य पदार्थ) बुद्धि की अपेक्षा से सामान्य और विशेष—इन दो प्रकारों का होता है (अर्थात् अनुवृत्तिमात्र बुद्धि से सम्बद्ध सामान्य केवल सामान्यशब्दवाच्य ही होता है—जब कि अनुवृत्ति तथा व्यावृत्ति-उभयविधबुद्धि से सम्बद्ध सामान्य सामान्य तथा विशेष इन दोनों पदों से व्यवहृत होता है)।

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥ ४ ॥

भाव (द्रव्यगुणकर्मत्रयवृत्तिसत्ता) अनुवृत्ति बुद्धिमात्र के कारण होने से केवल सामान्यशब्दवाच्य ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ॥ ५ ॥

द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व—ये (अनुवृत्ति-बुद्धि के हेतु होने के निमित्त) सामान्य-शब्दवाच्य भी हैं और (व्यावृत्तिबुद्धि के कारण होने से) विशेषशब्दवाच्य भी हैं।

अन्यत्राऽन्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥ ६ ॥

अन्त्य विशेष पदार्थ को छोड़ कर (सामान्य के विषय में) सामान्य और विशेष शब्द का प्रयोग किया गया है।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥ ७ ॥

जिसके कारण 'द्रव्य सत् है", "गुण सत् है" और "कर्म सत् है" इस प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं वही सत्ता है।

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥ ८ ॥

किन्तु यह सत्ता द्रव्य, गुण तथा कर्म से भिन्न पदार्थ है।

गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ॥ ९ ॥

(और भी) गुण एवं कर्म में सत्ता के वर्त्तमान होने से यह सत्ता गुण भी नहीं और कर्म भी नहीं हो सकती है (कारण गुण में दूसरा गुण नहीं रहता और कर्म में भी दूसरा कर्म नहीं रह सकता)।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १० ॥

सत्ता में सामान्यविशेषद्रव्यत्वादि के नहीं रहने के कारण भी (सत्ता द्रव्य, गुण या कर्म से अभिन्न नहीं हो सकती, क्योंकि द्रव्य आदि में द्रव्यत्वादि सामान्य-विशेष वर्त्तमान रहते हैं)।

अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥ ११ ॥

द्रव्यमात्र में रहने वाले धर्म को द्रव्यत्व कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १२ ॥

द्रव्यत्व में सामान्यविशेषात्मक द्रव्यत्व के नहीं रहने के कारण (द्रव्यत्व को भी द्रव्य से अभिन्न नहीं माना जा सकता)।

तथा गुणेषु भावाद्गुणत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

सभी गुणों में रहने वाले धर्म को गुणत्व कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १४ ॥

गुणत्व में भी सामान्यविशेषरूप दूसरे गुणत्व के अभाव के कारण (गुणत्व को गुण से अभिन्न नहीं माना जा सकता)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ॥ १५ ॥

सभी प्रकार के कर्मों में रहने वाले धर्म का कर्मत्व कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १६ ॥

कर्मत्व में भी सामान्यविशेषभूत कर्मत्व के अभाव के कारण (कर्मत्व को कर्म से अभिन्न नहीं माना जा सकता है)।

सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैकोभावः ॥ १७ ॥

इति प्रथमाध्याये द्वितीयाह्निकम्।

(द्रव्य, गुण तथा कर्म में) सत है—इस प्रतीति में किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं होने से तथा भेदक चिह्न अथवा अनुमान के भी अभाव में (द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहने वाली) सत्ता एक ही सिद्ध होती है।

प्रथम अध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त।

प्रथमाध्याय समाप्त।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वितीयाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥ १ ॥

रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य पृथिवी है।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥ २ ॥

रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व तथा स्नेह गुणों से युक्त द्रव्य जल है।

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥ ३ ॥

(शुक्ल भास्वर) रूप तथा उष्ण स्पर्श से युक्त द्रव्य तेज है।

स्पर्शवान् वायुः ॥ ४ ॥

(अपाकज अनुष्णाशीत) स्पर्शगुणयुक्त द्रव्य वायु है।

त आकाशे न विद्यन्ते ॥ ५ ॥

ये (रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नाम के चार) गुण आकाश में उपलब्ध नहीं होते।

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥ ६ ॥

(पृथिवी के भेद) घृत, लाख और मोम में तो तेजःसंयोग से द्रवत्व उत्पन्न होता है (जब कि जल का द्रवत्व स्वाभाविक = सांसिद्धिक होता है; अतः) केवल द्रवत्व अंश में ही साम्य है (पूर्णतः नहीं, कारण पृथ्वी का द्रवत्व पाकज है और जल का स्वाभाविक)।

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ।७॥

इसी प्रकार रांगा, सीसा, लोहा, चांदी और सुवर्ण (तेजोविशेष) का भी द्रवत्व अग्निसंयोग से उत्पन्न होने वाला है (और जल का द्रवत्व तो स्वाभाविक है; इसलिए) केवल द्रवत्व अंश में ही पृथ्वी, तेज तथा जल में साम्य है (पूरे अंश में नहीं, कारण पृथ्वी तथा तेज का द्रवत्व पाकज है जबकि जल का द्रवत्व सांसिद्धिक है)।

विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेबालधिः सास्नावान् इति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम् ॥ ८ ॥

(जिस प्रकार) गोत्वविशिष्ट गो की अनुमिति में सींग से युक्त होना, कूबड़ से विशिष्ट होना, अन्त में ही बड़े-बड़े बाल से युक्त पूंछ से संयुक्त होना तथा सास्ना (गले के नीचे लटकता हुआ चर्मवेष्टित मांस) से युक्त होना (आदि) लोकव्यवहारसिद्ध हेतु हैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्पर्शश्च वायोः ॥ ९ ॥

(वैसे ही अपाकज अनुष्णाशीत) स्पर्श वायु की अनुमिति में भी हेतु है।

न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः ॥ १० ॥

(क्योंकि) उपर्युक्त स्पर्श प्रत्यक्षसिद्ध पृथिवी, जल और तेज का नहीं होता है; अतः (वायु के साथ प्रत्यक्ष व्याप्तिग्रहशून्य अतएव) अदृष्टहेतुभूत स्पर्श के आश्रय के रूप में (जिस पदार्थ की सिद्धि होती है वही पदार्थ) वायु है।

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ॥ ११ ॥

द्रव्य में अनाश्रित होने के कारण वायुपरमाणु भी द्रव्य है।

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥ १२ ॥

और क्रियाश्रय एवं (स्पर्श आदि) गुणों के आश्रय होने के कारण भी (वायु-परमाणु द्रव्य ही है)।

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

किसी अन्य अवयव द्रव्य से उत्पन्न नहीं होने के कारण वायु-परमाणु को नित्य कहा गया है।

वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम् ॥ १४ ॥

(तृण आदि के ऊर्ध्वक्षेपण के द्वारा अनुमीयमान) पूर्वीय तथा पश्चिमीय आदि वायुओं के परस्पर संघट्टन से भी वायु के अनेकविधत्व की अनुमिति होती है।

वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥ १५ ॥

वायु के साथ (उसके अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्शरूप हेतु के) स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) का प्रत्यक्ष नहीं होता है; अतः वायु की अनुमिति में दृष्ट (अर्थात् प्रत्यक्षगृहीत-व्याप्तिक) लिङ्ग नहीं उपलब्ध है।

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ॥ १६ ॥

सामान्यतोदृष्ट (सादृश्यमूलक) अनुमान से तो केवल (अनुभूयमान स्पर्श के आश्रयभूत एक द्रव्य की) सामान्यरूप से सिद्धि होती है (न कि वायु—इस द्रव्य-विशेष की)।

तस्मादागमिकम् ॥ १७ ॥

अतः उस द्रव्य के लिए वायु शब्द का प्रयोग (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता आदि) आगम (वेद) प्रमाण से सिद्ध माना जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम् ॥ १८ ॥

(इन अदृष्ट पदार्थों का) नामकरण ही हम लोगों से विशिष्ट (परमेश्वर और योगी) की अनुमिति में हेतु है।

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥ १९ ॥

क्योंकि नामकरण की प्रवृत्ति अभिधेय वस्तु के प्रत्यक्ष होने पर ही होती है, (जैसा लोकव्यवहार से भी सिद्ध है)।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिंगम् ॥ २० ॥

निष्क्रमण अर्थात् बहिर्निर्गमन और अन्तर्गमन आकाश की सिद्धि में हेतु हैं (ऐसा सांख्य का मत है)।

तदलिंगमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः ॥ २१ ॥

परन्तु यह हेतु नहीं हो सकता, कारण कर्म एक ही द्रव्य में समवेत होता है (एवञ्च कर्तृभूत चैत्र आदि अपने एक कर्ता में ही कर्मसमवेत होगा और वही कर्त्ता उसका समवायिकारण होगा, आकाश उसका समवायिकारण तो नहीं हो सकता। इसलिए निष्क्रमण आदि कर्म अपने समवायिकारण के रूप में आकाश का अनुमापक हेतु नहीं हो सकता)।

कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ॥ २२ ॥

असमवायिकारण के लक्षण का तो आकाश द्रव्य में समन्वय ही नहीं होता (अतः असमवायिकारण के रूप में भी निष्क्रमण आदि कर्म आकाश का साधक नहीं हो सकता है)।

संयोगादभावः कर्मणः ॥ २३ ॥

और अशून्य स्थान में सञ्चरण आदि कर्मों का अभाव भी तो मूर्त्त पदार्थ के संयोग से जन्य (कर्मकारणीभूत वेग आदि के नाश से ही होता है न कि आकाश के अभाव से, क्योंकि आकाश तो व्यापक द्रव्य है, उसका अभाव तो कहीं भी नहीं हो सकता। इसलिए निष्क्रमणादि कर्म अपने निमित्त कारण के रूप में भी आकाश के साधक नहीं हो सकते) हैं।

कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः ॥ २४ ॥

पृथिव्यादि कार्य पदार्थ के विशेष गुण तो उनके कारणभूत पदार्थ के गुण से जन्य देखे जाते हैं (परन्तु शब्दरूप विशेष गुण तो कारणगुणपूर्वक नहीं होता है अतः शब्द को पृथिवी, जल, तेज, तथा वायु में से किसी में भी वर्तमान गुण नहीं माना जा सकता है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥ २५ ॥

(और भी,) पृथिव्यादि चार कार्यद्रव्यों के गुण में कारणद्रव्य के गुण से कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता (परन्तु शब्द के कभी मन्द, कभी मन्दतर, कभी तीव्र, तो कभी तीव्रतर होने से स्पष्ट है कि इसमें अन्तर होता है) अतः यह स्पर्शवान द्रव्य का गुण नहीं हो सकता है।

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः ॥ २६ ॥

आत्माभिन्न द्रव्य में शब्द के समवेत होने से शब्द को आत्मा का (विशेष) गुण नहीं माना जा सकता और श्रावण प्रत्यक्ष के विषय होने के कारण शब्द को मन (दिक् तथा काल) का भी गुण नहीं माना जा सकता।

परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य ॥ २७ ॥

अतः परिशेषानुमान की प्रक्रिया से शब्दरूप विशेषगुण अपने आश्रय के रूप में आकाश का अनुमापक हेतु होता है।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २८ ॥

आकाश के द्रव्यत्व तथा नित्यत्व को (निरवयव) वायु (परमाणु) के द्रव्यत्व और नित्यत्व की तरह समझना चाहिए।

तत्त्वम्भावेन ॥ २९ ॥

किन्तु द्रव्यादित्रिकवृत्ति सत्ता के समान यह आकाश भी एक है (न कि वायु के परमाणुओं के साथ उनके आनन्त्य अंश में भी आकाश की समता है)।

शब्दलिंगाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्च ॥ ३० ॥

(यदि अनेक आकाश की भी अनुमिति करेंगे तब भी हेतु तो शब्द ही होगा अतः) शब्दरूप हेतु की साधारणता के कारण भी (आकाश को वस्तुदृष्टि से एक ही मानना उचित है) और भेदसाधक लक्षण के अभाव के कारण भी आकाश का एकत्व ही सिद्ध होता है।

तदनुविधानादेकपृथक्त्वं चेति ॥ ३१ ॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निकम्।

एकपृथक्त्व नियमतः एकत्व का अनुसरण करता है अतः एकत्वयुक्त आकाश का एकपृथक्त्व भी सिद्ध है।

द्वितीय अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वितीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिंगम् ॥ १ ॥

केतकी पुष्प और वस्त्र का संयोग होने पर भी उस गन्ध की वस्त्र के कारणीभूत तन्तु से अनुत्पन्नता ही उस उत्कट गन्ध के वस्त्रनिष्ठाभाव का अनुमापक है (वस्त्र में भी गन्ध है, किन्तु अनुत्कट गन्ध है अतः अनुत्कट गन्ध तो वस्त्र का स्वाभाविक गुण है और पुष्पसंयोग से उपलभ्यमान उत्कट गन्ध औपाधिक है। एवञ्च गन्ध के स्वाभाविकत्व और औपाधिकत्व—इन दो रूपों की सिद्धि करना ही सूत्र का तात्पर्य समझना चाहिए)।

व्यवस्थित पृथिव्यां गन्धः ॥ २ ॥

पृथिवी का गन्ध स्वाभाविक है।

एतेनोष्णता व्याख्याता ॥ ३ ॥

इसी प्रकार से उष्णता की (भी स्वाभाविक तथा औपाधिक रूप में) व्याख्या हो जाती है।

तेजस उष्णता ॥ ४ ॥

(उपर्युक्तोभयविध उष्णता में) स्वाभाविक उष्णता तेजोनिष्ठ ही है।

अप्सु शीतता ॥ ५ ॥

(इसी प्रकार शैत्य के भी स्वाभाविक तथा औपाधिक रूपों को समझना चाहिए। इनमें से) स्वाभावित शैत्य (शीतलता) जलमात्रनिष्ठ है।

अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि ॥ ६ ॥

दैशिक अपर व्यक्ति में भी परत्व का ज्ञान, (तथा दैशिक पर व्यक्ति में भी अपरत्व का ज्ञान), (दो कार्यों में) युगपत् होने का ज्ञान, विलम्बज्ञान तथा शीघ्रताज्ञान आदि काल के अनुमापक हैं।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ७ ॥

काल का द्रव्यत्व तथा नित्यत्व वायु (के परमाणुओं) के साथ-साथ ही स्पष्ट हो चुका है।

तत्त्वम्भावेन ॥ ८ ॥

सत्ता के समान एकत्व भी काल का सिद्ध है।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति ॥ ९ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नित्य आकाशादि पदार्थों के विषय में (यह अभी उत्पन्न हुआ है, यह विलम्ब से उत्पन्न हुआ है, इत्यादि प्रतीतियों के) अभाव होने से और अनित्य घट-पट आदि पदार्थों के विषय में (उपर्युक्त प्रतीतियों के) होने से काल सभी जन्य पदार्थों का निमित्त कारण है (स्ववर्ती गुणों का तो समवायिकारण ही है)।

इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिंगम् ॥ १० ॥

वह यहाँ से दूर है और यह यहाँ से नजदीक है—इत्यादि प्रतीतियाँ जिसके कारण होती हैं वही दिशा है।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ११ ॥

दिक् का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु (के परमाणु) के द्वारा ही स्पष्ट हो चुका है।

तत्त्वम्भावेन ॥ १२ ॥

दिक् का एकत्व भी सत्ता के समान ही सिद्ध है।

कार्य्यविशेषेण नानात्वम् ॥ १३ ॥

दिशा का (पूर्व, पश्चिम आदि भेदों से) अनेकत्व तो केवल औपाधिक है (स्वाभाविक नहीं)।

आदित्यसंयोगाद्भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥ १४ ॥

(मेरु के प्रदक्षिण क्रम में) सूर्य का जिस प्रदेश से भूत, भविष्यत् अथवा वर्त्तमान काल में संयोग होता है वही (व्यवहार में) प्राचीदिक् है।

तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च ॥ १५ ॥

इसी प्रकार सूर्य के संयोगविशेष के आधार पर ही दक्षिण, पश्चिम, उत्तर आदि व्यवहार होते हैं।

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥ १६ ॥

इसी से दक्षिणपूर्वा आदि दो दिशाओं के मध्यवर्ती दिक् का भी व्यवहार स्पष्ट हो जाता है।

सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥ १७ ॥

वस्तुद्वयसाधारणधर्मयुक्त धर्मी के प्रत्यक्ष होने से, पृथक्-पृथक् दोनों वस्तुओं के विशेष धर्म के अप्रत्यक्ष होने से और (साधारणधर्मदर्शनजन्य) साधारणधर्मयुक्त वस्तुद्वय के स्मरण (= ज्ञान) से संशय का उदय होता है।

दृष्टश्च दृष्टवत् ॥ १८ ॥

पूर्वदृष्ट (स्थाणु तथा पुरुष जैसे परस्पर विरुद्ध) पदार्थों के समान ही पुरोवर्त्ती पदार्थ में वर्त्तमान ऊर्ध्वत्वादि साधारणधर्म संशय का हेतु होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥ १९ ॥

एक ही धर्मी का कदाचित् एक विशेषणयुक्त दर्शन और कदाचित् अन्य विशेषण-युक्त दर्शन के बाद अन्य काल में विशेषण के अप्रत्यक्ष से एक धर्मी में वर्तमान धर्म ही संशय का हेतु होता है।

विद्याऽविद्यातश्च संशयः ॥ २० ॥

सामान्य रूप से ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान से भी (आन्तर) संशय होता है।

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः ॥ २१ ॥

श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृह्यमाण जो विषय है वही शब्द है। ।

तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्य उभयथा दृष्टत्वात् ॥ २२ ॥

शब्द के श्रोत्रमात्रग्राह्यत्वरूप विशेष धर्म की शब्द के सजातीय गुणों में और उसके विजातीय द्रव्य एवं कर्म में भी अनुपलब्धि होने के कारण (शब्द द्रव्य है, गुण है या कर्म है—इस प्रकार का संशय होता है)।

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥ २३ ॥

(किन्तु अवयविद्रव्य का समवायिकारण एक ही अवयव द्रव्य नहीं होता प्रत्युत अनेक अवयव द्रव्य, जब कि शब्द का समवायिकारण एक ही द्रव्य—आकाश है) अतः एकद्रव्यसमवेत होने के कारण शब्द द्रव्य नहीं है।

नापि कर्माऽचाक्षुषत्वात् ॥ २४ ॥

(शब्द का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं, केवल श्रावण प्रत्यक्ष होता है जब कि कर्म का चाक्षुष प्रत्यक्ष ही अतः) अचाक्षुष होने के कारण शब्द कर्म भी नहीं है।

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥ २५ ॥

अतः शब्द गुण ही है, हाँ (उत्पत्ति के बाद इसका तृतीय क्षण में नाश होता है और कर्म का भी तृतीय क्षण में नाश होता है अतः) तृतीयक्षणवृत्ति ध्वंसप्रति-योगित्व अंश में केवल कर्म के साथ शब्द का साम्य है।

सतो लिंगाभावात् ॥ २६ ॥

शब्द की नित्यता के साधन में कोई हेतु उपलब्ध नहीं होता (अतः शब्द को नित्य नहीं माना जा सकता जिससे आकाश की सिद्धि में कोई बाधक होगा)।

नित्यवैधर्म्यात् ॥ २७ ॥

नित्यपदार्थवृत्ति (अनुत्पत्त्यादि) धर्मों के अभाव होने से (यतः शब्द की उत्पत्ति प्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध है) भी शब्द नित्य नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनित्यश्चायं कारणतः ॥ २८ ॥

कारण इसकी उत्पत्ति में प्रत्यक्ष प्रमाण के रहने से भी शब्द अनित्य ही है।

न चासिद्धं विकारात् ॥ २९ ॥

(कारणीभूत अभिघात में तीव्रत्व-मन्दत्व आदि के कारण) शब्द में भी (तीव्रत्व मन्दत्व आदि) विकार होने से शब्द का कारणजन्यत्व असिद्ध (प्रमाणहीन) नहीं है।

अभिव्यक्तौ दोषात् ॥ ३० ॥

यदि शब्द की (उत्पत्ति नहीं मानें प्रत्युत) अभिव्यक्ति ही, तो इसमें दोष आ जाएगा (क्योंकि अभिव्यञ्जक और अभिव्यञ्ज्यमान में एकदेशस्थत्व और एकेन्द्रिय-ग्राह्यत्व का नियम नहीं है)।

संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥ ३१ ॥

(मृदङ्ग तथा दण्ड के परस्पर) संयोग से, (वंशखण्डद्वय के परस्पर विभाग से और पूर्व-पूर्व शब्द से भी शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है।)

लिंगाच्चानित्यः शब्दः ॥ ३२ ॥

और (जातिमत्त्वे सति श्रोत्रग्राह्यत्वात् आदि) हेतु से भी शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है।

द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥ ३३ ॥

(यदि शब्द अनित्य हो तो) गुरु तथा शिष्य की अध्यापन एवम् अध्ययन में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी (कारण गुरूक्त शब्द के नष्ट हो जाने पर शिष्य-श्रवण तक वह शब्द पहुँच ही नहीं पायेगा; अतः शब्द को नित्य ही मानना चाहिए—यह मीमांसकों का पूर्वपक्ष है)।

प्रथमाशब्दात् ॥ ३४ ॥

और भी (यदि शब्द अनित्य हो तो त्रिः प्रथमामन्वाह आदि श्रुतियों में एक ही ऋचा का तीन बार उच्चारण बतलाने वाले) प्रथमा शब्द की उपपत्ति नहीं होगी (कारण एक बार उच्चारित शब्द तो अनित्य होने के निमित्त नष्ट हो गया रहेगा फिर उसी का उच्चारण कैसे सम्भव हो सकेगा ?)।

सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥ ३५ ॥

(सोऽयं ककारः इत्यादि) प्रत्यभिज्ञा से भी (शब्द का नित्यत्व ही प्रतीत होता है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्दिग्धाः सति बहुत्वे ॥ ३६ ॥

(शब्द के अनित्यत्व के कारण) शब्द के आनन्त्य होने पर भी (सादृश्य के कारण शब्द-नित्यत्व-साधक पूर्वोपपादित अध्ययनाध्यापनप्रवृत्ति, श्रौत-प्रथमा-शब्दप्रयोग तथा प्रत्यभिज्ञा—इन तीनों हेतुओं की उपपत्ति हो जाने से उपर्युक्त सभी हेतु नित्यत्व की सिद्धि में) अनैकान्तिक (अर्थात् व्यभिचारी) हैं।

संख्याभावः सामान्यतः ॥ ३७ ॥

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्।

वर्णों की संख्या का व्यवहार तो (तत्तत् अक्षर में रहने वाली कत्व गत्व आदि) जाति के आधार पर ही उपपन्न होता है (क्योंकि वर्ण स्वयं गुण है और संख्या भी गुण है; फिर गुण में गुण की सत्ता कैसे हो सकती है ? अतः शब्द को अनित्य ही मानना चाहिए) ।

द्वितीय अध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त ।

द्वितीयाध्याय समाप्त ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तृतीयाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥ १ ॥

इन्द्रियों के ग्राह्य विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) की प्रसिद्धि (ज्ञान) तो शब्दप्रसिद्धिप्रदर्शनप्रकार से ही समझी गई।

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥ २ ॥

इन्द्रिय और उनके ग्राह्य विषयों की प्रसिद्धि ही इन्द्रिय एवं उनके ग्राह्य विषयों से भिन्न आत्मरूप पदार्थ की सिद्धि में हेतु है (अर्थात् इन्द्रियार्थप्रसिद्धि से ग्रहण-करणभूत इन्द्रियों की सिद्धि और पुनः करणीभूत इन्द्रियों के द्वारा स्वप्रयोजकत्वेन एवं प्रसिद्ध्याश्रयत्वेन आत्मा की सिद्धि होती है)।

सोऽनपदेशः ॥ ३ ॥

(उपर्युक्त प्रसिद्धि (ज्ञान) के आश्रय के रूप में शरीर को सिद्ध करने वाला कार्यत्व) हेतु अनैकान्तिक है, (कारण प्रदीप से जन्य भी घट आदि पदार्थ का ज्ञान प्रदीपाश्रित नहीं माना जाता है)।

कारणाज्ञानात् ॥ ४ ॥

और शरीर के कारणीभूत शरीरावयवों में ज्ञान की प्रतीति नहीं होती है (इस-लिए भी ज्ञान—चैतन्य—को शरीर का गुण नहीं माना जा सकता, क्योंकि कारण में अवर्त्तमान गुण की उपलब्धि कार्य में कथमपि नहीं होती है)।

कार्य्येषु ज्ञानात् ॥ ५ ॥

(यदि सूक्ष्म रूप में शरीरावयवों में भी चैतन्य मानें तब तो अन्त्यावयव परमाणु में भी चैतन्य मानना होगा और इस तरह घटादि में भी चैतन्य की प्रतीति होनी चाहिए परन्तु) वह प्रतीति कार्यरूप घटादि में तो किसी को भी नहीं होती; (अतः ज्ञान शरीरधर्म नहीं हो सकता)।

अज्ञानाच्च ॥ ६ ॥

(घटादि पदार्थ में भी सूक्ष्म रूप में चैतन्य की सत्ता में कुछ भी) ज्ञापक नहीं होने से भी (चैतन्य को शरीरधर्म नहीं मानना चाहिए)।

अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥ ७ ॥

हेतु तो साध्य से भिन्न ही होता है (साध्य के साथ हेतु के तादात्म्य मानने में अर्थात् तादात्म्य = स्वभाव हेतु जैसा कि बौद्धों का मत है) वस्तुतः शुद्ध हेतु नहीं होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्याऽनपदेशः ॥ ८ ॥

साध्य और हेतु में परस्पर भेद भी होना चाहिए; (एवम् हेतु और साध्य के सम्बन्ध का निर्धारण स्वभावविशेष से होता है न कि तदुत्पत्तिपक्ष से ही; अतः तदुत्पत्ति-पक्ष के आधार पर भी आत्मानुत्पन्न श्रोत्रादि को आत्मा के साधन में हेतु नहीं मानना) उपयुक्त नहीं है।

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥ ९ ॥

हेतु चार प्रकार का होता है—संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी और विरोधी।

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥ १० ॥

कार्य रस कार्यान्तरभूत रूप का अनुमापक होता है (जैसे–यदि आम्र के रस का प्रत्यक्ष होता है तो उसके रूप का अनुमान अवश्य ही होता है, परन्तु यहाँ रस और रूप में न तो तादात्म्य ही है और न तदुत्पन्नत्व ही। अतः बौद्धमत निराधार ही है। यह उदाहरण एकार्थ-समवाय हेतु का है क्योंकि एक आम्रफल में रस और रूप का समवाय है)।

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥ ११ ॥

विरोधीहेतु है जैसे :—अभूत (असम्प्राप्त वर्षण) भूत (अर्थात् वर्षणविरोधी वायु-घन-संयोग) का अनुमापक होता है।

भूतमभूतस्य ॥ १२ ॥

भूत (दाहादि कर्म) अभूत (प्रतिबन्धकमण्यादिसंयोगाभाव) का अनुमापक होता है (यह भी विरोधी लिङ्ग का दूसरा उदाहरण है)।

भूतो भूतस्य ॥ १३ ॥

कहीं भूत भी (अर्थात् वर्त्तमान सर्पविस्फूर्जन) भूत (अर्थात् आवृत नकुल) का अनुमापक होता है।

प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥ १४ ॥

और अपदेश अर्थात् हेतुनिर्देश तो व्याप्तिग्रहणपूर्वक ही होता है (एवञ्च श्रोत्रादि ज्ञानकरण के द्वारा आश्रयभूत आत्मा के अनुमान में है, और ज्ञानादि गुण के आश्रय के रूप में आत्मा का अनुमान में व्याप्तिग्रहण होता है, परन्तु कार्यत्व हेतु से ज्ञानाश्रय के रूप में शरीर के अनुमान में कोई व्याप्ति नहीं है; अतः आत्मा शरीरादि-व्यतिरिक्त ही है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ॥ १५ ॥

अप्रसिद्ध (अर्थात् अगृहीतव्याप्तिक व्याप्यत्वासिद्ध और विपरीतव्याप्तिक विरुद्ध) हेत्वाभास है, और असत् (अर्थात् पक्ष में अवर्त्तमान स्वरूपासिद्ध) और सन्दिग्ध (अर्थात् सव्यभिचार) भी हेत्वाभास ही होता है।

यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ॥ १६ ॥

(उदाहरण है:—) जिस लिए यह जीव सींग वाला है अतएव अश्व है। (यहाँ विषाणित्वहेतु स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध तथा विरुद्ध भी है; अतः इसके ऊपर निर्भर उपर्युक्त अनुमान असत् है)।

यस्माद्विषाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥ १७ ॥

जिस लिए यह जीव सींग से युक्त है अतएव यह गो है—यह अनैकान्तिक का उदाहरण है (यहाँ विषाणित्व हेतु के पक्ष-सपक्ष-विपक्ष साधारण होने से साधारण अनैकान्तिक है। इसी प्रकार असाधारण तथा अनुपसंहारी अनैकान्तिक का भी उदाहरण समझना चाहिए)।

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत् ॥ १८ ॥

आत्मा (मन) इन्द्रिय और ग्राह्य वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान जो आत्मा का अनुमापक होता है वह उपर्युक्त हेत्वाभासों से भिन्न है (अतएव उसके द्वारा सम्पन्न अनुमिति यथार्थ है)।

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिंगम् ॥ १९ ॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमाह्निकम्।

अपनी आत्मा की प्रवृत्ति-निवृत्ति के प्रत्यक्ष से प्रवृत्त्यादि के साथ आत्मा की व्याप्ति के ग्रहण हो जाने पर परत्र प्रवृत्ति के दर्शन से परात्मा का भी अनुमान होता है।

तृतीय अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त।

तृतीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षेज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥ १ ॥

व्यापक आत्मा, इन्द्रिय और घट-पटादि अर्थों के सम्बन्ध होने पर ज्ञान की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति ही मन की सिद्धि में हेतु है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २ ॥

मन का द्रव्यत्व और नित्यत्व भी वायु (परमाणु) की तरह स्पष्ट हो चुका है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥ ३ ॥

अनेक प्रयत्नों के एककालिक नहीं होने और एककाल में अनेक ज्ञान के भी नहीं होने के कारण एक शरीर में एक ही मन है।

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ ४ ॥

वायु का ऊर्ध्वसञ्चार, वायु का अधोगमन, पलक खोलना और पलक बन्द करना, इन्द्रिय के विकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—ये आत्मा के अनुमापक हेतु हैं।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ५ ॥

आत्मा का द्रव्यत्व तथा उसका नित्यत्व वायु-परमाणु के ही समान समझना चाहिए।

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिंगं न विद्यते ॥ ६ ॥

इन्द्रिय और यज्ञदत्तपदवाच्य व्यक्ति के साथ सन्निकर्ष होने पर भी यज्ञदत्त-शरीरस्थ आत्मा के प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण आत्मसाधक दृष्ट हेतु नहीं है (यहाँ से सू० ३।२।८ सूत्र तक आत्मा के विषय में अनुमान की असम्भावना का उपस्थापक पूर्वपक्ष है)।

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ॥ ७ ॥

सामान्यतो दृष्ट हेतु से भी ज्ञान आदि का क्वचिदाश्रितत्वमात्र सिद्ध होता है न कि विशेष रूप से आत्मा की भी सिद्धि होती है।

तस्मादागमिकः ॥ ८ ॥

अतः आत्मा की सिद्धि केवल आगमप्रमाण से माननी चाहिए (यहाँ तक पूर्व पक्ष है। इसके आगे सूत्रकार अनुमान का भी आत्मा के विषय में समर्थन करने जा रहे हैं)।

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥ ९ ॥

'अहं' शब्द के पृथिव्यादि भूत के विषय में अप्रयोग होने से (तत्पदवाच्य आत्मा का अनुमान भी होता है) केवल आगम से ही आत्मा की सिद्धि नहीं होती है।

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥ १० ॥

यदि अहम् देवदत्तः, अहं यज्ञदत्तः इत्यादि प्रतीतियाँ प्रत्यक्ष ही हैं (जिनके कारण अहम्पदवाच्यरूप मे आत्मा का अनुमान बतलाया जाता है तब प्रत्यक्ष अहम्पदवाच्य आत्मा के विषय में अनुमान ही क्यों किया जाय?)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दृष्ट्यात्मनि लिंगे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥ ११ ॥

अहम्पदवाच्य आत्मा के प्रत्यक्ष होने पर भी यदि आत्मानुमान साधक हेतु वर्तमान है तो दृढ़ता लाने के लिए प्रत्यक्ष के समान ही आत्मा के विषय में अनुमिति भी की जाती है।

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥ १२ ॥

(यद्यपि अहं यज्ञदत्तः आदि प्रत्यय आत्मविषयक है, और आत्मा शरीर भिन्न होने के कारण गच्छति, आदि क्रियाओं के साथ अन्वित नहीं हो सकती है, किन्तु यज्ञदत्तो गच्छति ऐसा प्रयोग सर्वानुभवसिद्ध है, अतः 'यज्ञदत्तः अहम्' में अहम्पदार्थ समानाधिकरण यज्ञदत्तादिपदार्थ आत्मा नहीं है—ऐसा ही प्रतीत होता है तथापि) देवदत्तो गच्छति, यज्ञदत्तो गच्छति आदि प्रयोग आत्मसम्बद्ध शरीर के लिए औपचारिक अर्थात् गौण है (अतः यज्ञदत्तादि पद का आत्मविषयकत्व अनुपपन्न नहीं होता)।

सन्दिग्धास्तूपचाराः ॥ १३ ॥

(आत्मा और शरीर दोनों ही के लिए अहम् (यज्ञदत्तादि) पद का प्रयोग लोकसिद्ध है; फिर तो) सन्देह ही है कि अहम्पद का प्रयोग आत्मा के विषय में औपचारिक है या शरीर के विषय में ? (यह पूर्वपक्ष है)।

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्ष ॥ १४ ॥

अहम् यह प्रतीति स्वात्मविषयक होती है और परात्मविषयक नहीं, अत अहम्विषयक प्रत्यक्ष शरीर से भिन्न अर्थ— आत्मा-के ही विषय में होता है।

देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहङ्कारः ॥१५॥

(पुनः पूर्वपक्ष है :—) देवदत्तो गच्छति आदि प्रयोग को औपचारिक मानना यथार्थ नहीं है (कारण अहं कृशः आदि सहस्र प्रत्ययों को औपचारिक मानने में कुछ प्रमाण नहीं है) अतः अहम्विषयक प्रत्यक्ष शरीरविषयक ही है (न कि आत्मविषयक)।

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ १६ ॥

उपर्युक्त उपचार में अयथार्थत्व और अतएव अहम्विषयक प्रत्यक्ष को शरीरविषयक मानना भी तो सन्दिग्ध ही है।

न तु शरीरविशेषाद्यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानविषयः ॥१७॥

(किञ्च यदि अहम्प्रत्यय शरीरविषय हो तब तो ज्ञानादि गुण भी शरीरनिष्ठ होंगे एवञ्च परस्पर भिन्न शरीरनिष्ठ ज्ञानादि का शरीरगतरूपादि की तरह प्रत्यक्ष होना चाहिए) किन्तु यज्ञदत्त और विष्णुमित्र के परस्पर भिन्न शरीर के प्रत्यक्ष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने पर भी उनके ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है (अतः अहम्प्रत्यय का शरीरविषयकत्व वास्तव नहीं अपितु औपचारिक है, इस प्रत्यय की वास्तविकता आत्मविषयकत्व में ही है) ।

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद्व्यतिरेकाव्यभिचाराद्विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥ १८ ॥

जैसे पृथिव्यादि अष्ट द्रव्यों में शब्द के अभाव के निश्चित होने से शब्दगुण अपने आश्रयभूत आकाश का अनुमापक होता है उसी तरह मुख्य तथा प्रमाणसिद्ध अहमाकारक ज्ञान के शरीरादि में अभाव के निश्चित होने के कारण अहम्पदार्थ आत्मा को केवल आगमप्रमाण या अनुमान प्रमाण से ही सिद्ध नहीं समझना चाहिए (प्रत्युत प्रत्यक्ष को भी आत्मसिद्धि में प्रमाण मानना चाहिए) ।

सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ॥ १९ ॥

सुख दुःख, ज्ञान आदि की निष्पत्ति की समानता होने से सर्वशरीरावच्छेदेन एक ही आत्मा की सत्ता माननी चाहिए (यह पूर्वपक्ष है) ।

व्यवस्थातो नाना ॥ २० ॥

(सुख,दुःख आदि आत्म गुणों की जिस किसी शरीर से अवच्छिन्न आत्मा में अभिव्यक्ति होती है, अन्यत्र नहीं इत्यादि) प्रति शरीर भिन्न-भिन्न स्थिति के कारण आत्मा प्रतिशरीर भिन्न है (न कि एक) ।

शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥ २१ ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

(द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, द्वा सुपर्णा सयुजा आदि) वेदशास्त्र के प्रामाण्य से भी आत्मा का नानात्व सिद्ध होता है ।

तृतीय अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त ।
तृतीयाध्याय समाप्त ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चतुर्थाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥

(पृथिवी के दो प्रकार हैं :—नित्य तथा अनित्य; पदार्थ उनमें सभी कालों में) विद्यमान कारणहीन पदार्थ (परमाणु) नित्य है।

तस्य कार्य्यं लिंगम् ॥ २ ॥

परमाणुद्वय-संयोग से द्वयणुक एवम् द्वयणुकत्रयसंयोग से त्र्यणुक की पद्धति से उपलक्ष्यमान घट पट आदि स्थूल) कार्यं (अपने मूल कारणीभूत) परमाणु की अनुमिति में हेतु होते हैं।

कारणाभावात् कार्य्याभावः ॥ ३ ॥

(यह परमाणुरूपादि गुणों से भी युक्त होता है। क्यों कि) कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। (एवञ्च यदि मूलकारण परमाणु में रूपादि की सत्ता न मानें तब तो द्वयणुकादि स्थूल-पर्यन्त कार्य में रूपादि की उपलब्धि नहीं सम्भव थी किन्तु घट-पटादि कार्य में रूपादि की उपलब्धि होती है। अतः परमाणु में भी रूपादि की सत्ता की अनुमिति होती है)।

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥ ४ ॥

यह अनित्य है—इस प्रकार का अभाव ही (अपने प्रतियोगी के रूप में) नित्य पदार्थ की सिद्धि करता है (कारण अप्रसिद्धप्रतियोगिक अभाव नहीं होता है)।

अविद्या ॥ ५ ॥

(परमाणु को अनित्य सिद्ध करने वाली सारी अनुमितियाँ) भ्रम हैं।

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः ॥ ६ ॥

महत्परिमाणवत्त्व (अवयविद्वारा अवयवात्मक) अनेकद्रव्याश्रितत्व तथा (उद्भूत) रूपवत्त्व के होने पर ही द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है (परमाणु में तो इन तीनों के अभाव ही हैं, अतः परमाणु हम लोगों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता एवञ्च प्रत्यक्ष नहीं होने मात्र से परमाणु की असत्ता नहीं हो सकती)।

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद्वायोरनुपलब्धिः ॥ ७ ॥

(अवयविद्वारा अवयवात्मक) अनेक द्रव्याश्रितत्व और महत्परिमाणवत्त्व के रहने पर भी, वायु में रूपसंस्कार (अर्थात् रूप का समवाय, उसका उद्भूतत्व नहीं होने से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। (अतः उपर्युक्त द्रव्य-चाक्षुष-प्रत्यक्ष-कारणता को त्रित्वपर्याप्त ही मानना चाहिए)।

अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ८ ॥

अनेक द्रव्य समवेतत्व तथा (उद्भूतत्व, रूपत्व आदि) रूप विशेष होने पर रूप का भी प्रत्यक्ष होता है।

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

उपर्युक्त रूप-प्रत्यक्ष के प्रकार के वर्णन से ही रस, गन्ध तथा स्पर्श के प्रत्यक्ष-प्रकार का विवरण हो गया।

तस्याभावादव्यभिचारः ॥ १० ॥

(गुरुत्व में रूप विशेष के अभाव होने से (उसका यदि चाक्षुष प्रत्यक्ष रूप की तरह नहीं भी होता है तब भी) कोई दोष नहीं आता।

सङ्ख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपद्रव्यसमवायात् चाक्षुषाणि ॥ ११ ॥

रूपवान् द्रव्य में समवेत संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग-विभाग, परत्व-अपरत्व और कर्म का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है।

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥ १२ ॥

किन्तु रूपरहित पदार्थ में वर्त्तमान संख्यादि उपर्युक्त गुण चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय नहीं होते हैं। (इस प्रकार स्पष्ट है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द का केवल एक एव बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है परन्तु संख्यादि गुणों का यथासम्भव चक्षु एवम् स्पर्शेन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष होता है)।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १३ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमाह्निकम्।

इस प्रकार (अर्थात् सख्याद्याश्रय द्रव्य-ग्राहक-इन्द्रिय से ही तन्निष्ठ संख्यादि गुणों के प्रत्यक्ष के निर्देश से) गुणत्व तथा द्रव्यादित्रिक वर्तमान सत्ता के विषय में भी (गुणत्वाश्रयीभूत पदार्थ एवं सत्ताश्रयीभूत पदार्थ की तत्तदिन्द्रियग्राह्यता के आधार पर) यथासम्भव सर्वेन्द्रि (तत्तदिन्द्रिय) ग्राह्यत्व समझना चाहिए।

चतुर्थ अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चतुर्थाऽध्याये द्वितीयाह्निकम्

तत्पुनः पृथिव्यादिकार्य्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ॥ १ ॥

ये पृथिवी आदि कार्य द्रव्य भी शरीर, इन्द्रिय तथा (उभयातिरिक्त) विषय के नाम से तीन प्रकार के होते हैं।

प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥ २ ॥

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष वस्तुओं के संयोग के अप्रत्यक्ष होने के कारण शरीर को (प्रत्यक्ष = पृथिवी, जल तथा तेज एवम् अप्रत्यक्ष = वायु एवम् आकाश के संयोग से निष्पन्न) पाञ्चभौतिक नहीं माना जा सकता (यदि ऐसा मानें तब तो जैसे प्रत्यक्ष वृक्ष का अप्रत्यक्ष वायु के साथ अप्रत्यक्ष ही होता वैसे मानव-शरीर अप्रत्यक्ष ही हो जाता)।

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम् ॥ ३ ॥

(जल तथा तेज के) गुण (= प्रवाह एवम् शुक्लभास्वररूप उष्णता आदि) के अभाव से (केवल पृथिवी, जल तथा तेज-इन प्रत्यक्ष) पदार्थ-त्रय-जन्य भी नहीं माना जा सकता।

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ॥ ४ ॥

शरीर को प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष-संयोगाभाव तथा प्रत्यक्षमात्रसंयोगाभाव कहने का तात्पर्य है कि शरीर-द्रव्य का असमवायि कारण प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष-संयोग अथवा प्रत्यक्षत्रय-संयोग नहीं है;) शरीर के साथ अन्य द्रव्य के परमाणुओं का संयोग इस प्रतिषेध का विषय नहीं है (यही कारण है कि अन्य तेजः प्रभृति परमाणुओं के शरीर के साथ संयोग होने से शरीर में पाकादि क्रिया भी होती है। अतः मानव-शरीर को केवल पार्थिव मानना चाहिए, कारण पृथिवी का विशेष गुण-गन्ध वर्तमान है)

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ॥ ५ ॥

यह शरीर दो प्रकार का है—योनिज तथा अयोनिज।

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ॥ ६ ॥

अनियतदिग्देश (= परमाणु) पूर्वक होने से (अयोनिज शरीर देवताओं का सिद्ध होता है)

धर्मविशेषाच्च ॥ ७ ॥

(अयोनिज शरीर के कारण परमाणुओं में क्रिया तो) अदृष्ट के कारण होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाख्याभावाच्च ॥ ८ ॥

(वेदादि शास्त्रों के "दुर्वासः प्रभृतयः मानसाः" आदि) उपाख्यानों से भी (अयोनिज शरीर की सिद्धि होती है) ।

संज्ञाया आदित्वात् ॥ ९ ॥

सर्ग के आदि में कृत (ब्रह्मा आदि) संज्ञा से भी (अयोनिज शरीर की सिद्धि होती है, कारण सर्गादि में उत्पन्न ब्रह्मा आदि के माता-पिता की तो सत्ता नहीं थी) ।

सन्त्ययोनिजाः ॥ १० ॥

(उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि) अयोनिज शरीर है ।

वेदलिङ्गाच्च ॥ ११ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

और ("मुखतो ब्राह्मणमसृजत्" "पद्भ्यां शूद्रोऽजायत" आदि) वेद के प्रामाण्य से भी (अयोनिज शरीर सिद्ध है) ।

चतुर्थाध्याय में द्वितीयाह्निक समाप्त ।
चतुर्थाध्याय समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पञ्चमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥ १ ॥

प्रयत्नवान् आत्मा के (उत्क्षेपण आदि कर्म के समवायिकारण) हस्त में संयोग होने से उत्क्षेपण कर्म की उत्पत्ति होती है।

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥ २ ॥

उत्क्षेपणकर्मयुक्त हस्त के मुसल के साथ संयोग होने से मुसल में उत्क्षेपणाख्य कर्म की उत्पत्ति होती है।

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ॥ ३ ॥

किन्तु उदूखल में अभिघात से उत्पन्न होनेवाले मुसलोत्पतन कर्म में हस्त-मुसल संयोग (असमवायि) कारण नहीं होता है क्योंकि उस हस्त के साथ प्रयत्नयुक्त आत्मा का संयोग नहीं रहता।

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥ ४ ॥

इसी प्रकार उदूखल में अभिघात से उत्पतित मुसल के साथ होनेवाले हस्तोत्पतन में भी प्रयत्नवदात्मसंयोग (असमवायि) कारण नहीं होता है।

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥ ५ ॥

(उदूखल में मुसल के) अभिघात (रूप निमित्त कारण) से तथा मुसलहस्त संयोगरूप (असमवायि कारण) से (उत्पतित-मुसल-संयुक्त) हस्त में (उत्पतनाख्य) कर्म की उत्पत्ति होती है।

आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

एवञ्च शरीरावयव हस्त आदि में उत्पन्न कर्म का असमवायिकारण कहीं प्रयत्नवदात्महस्तसंयोग (जैसे—अभिघातासम्पृक्त मुसलोत्पतन में) और कहीं वेगवन्मुसलादि हस्तसंयोग (जैसे अभिघातजन्य मुसलोत्पतनसमकालिक हस्तोत्पतन में) होता है।

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ७ ॥

संयोग, (विधारक प्रयत्न तथा वेग आदि पतन प्रतिबन्धक तत्त्व) के अभाव होने पर गुरुत्व रूप असमवायिकारण से द्रव्य का अधः पतन (= अवक्षेपण) कर्म उत्पन्न होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ॥ ८ ॥

नोदनविशेष (तीव्रतर नोदन के) अभाव से ऊर्ध्वगमन और तिर्य्यग्गमन उत्पन्न नहीं होता है ।

प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥ ९ ॥

प्रयत्न विशेष से नोदनविशेष उत्पन्न होता है

नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥ १० ॥

(और) नोदनविशेष से उदसनविशेष (अर्थात् ऊर्ध्वगमनादि) उत्पन्न होते हैं ।

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

(उदूखल के अभिघात से उत्पतनशील मुसल से संयुक्त) हस्त में जो उत्पतन उत्पन्न होता है वह प्रयत्नपूर्वक नहीं होता है अतः) उस कर्म को बालक के (प्रयत्नहीन अत एव पुण्य-पापसम्पर्करहित) कर्म के समान (पुण्य-पाप का अप्र-योजक) समझना चाहिए ।

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥ १२ ॥

(जैसे प्रयत्नहीन कर्म के पुण्य-पापान्यतर-जनकत्व नहीं होता है । वैसे ही (कुछ प्रयत्न-पूर्वक कर्म भी हैं जिनमें पुण्यपापान्यतरजनकत्व नहीं होता है । जैसे— आततायि-पुरुष के द्वारा दाह्यमान् गृह में) दग्ध पुरुष के शरीर में वह्निकृत विस्फोट होने पर (दग्ध पुरुष के आततायिवधानुरूपप्रयत्न-जन्य हस्तकर्म भी पुण्य-पापान्यतरप्रयोजक नहीं होता है ।

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥ १३ ॥

(कुछ कर्म) प्रयत्न के विना भी (होता है; जैसे:—) प्रसुप्त मनुष्य का पाद-चालन आदि ।

तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥ १४ ॥

तृण (वृक्षादि) में क्रियोत्पत्ति वायुतृणसंयोग से होती है ।

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणम् ॥ १५ ॥

(तस्करादिपरिचयनार्थं अभिमन्त्रित) मणि (आदि) का गमन तथा अय-स्कान्त (चुम्बक) की ओर सूची (सूई) आदि का उपसर्पण अदृष्ट (अर्थात् धर्मा-धर्म रूप निमित्त कारण एवं अदृष्टवदात्मसंयोग रूप असमवायि कारण) से उत्पन्न होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ॥ १६ ॥

बाण के (धनुष्प्रदेश से लक्ष्यसंयोग तक) अनेक संयोगों के कारण (आरम्भ से उपरमतक) तत्तत् संयोगनाश्य कर्म (= व्यापार) भी अनेक होते हैं (न कि प्रारम्भ से उपरम तक एक ही कर्म होता है) ।

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च ॥ १७ ॥

शर के (प्रारम्भ से उपरमपर्यन्त अनेक कर्मों में) प्रथम कर्म तो (पुरुषप्रयत्नजन्य) नोदन से उत्पन्न होता है और उस प्रथम कर्म से जन्य एक ही वेगाख्य संस्कार से उत्तरोत्तर क्रम में उत्तरोत्तर कर्म की उत्पत्ति होती है ।

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ १८ ॥

इति पञ्चमाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

किन्तु जब संस्कार नष्ट हो जाता है तब पुनः पूर्वानुवर्तमान गुरुत्व से शर का पतन भी होता है ।

पञ्चमाध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त

पञ्चमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥ १ ॥

(विभाग तथा शब्द के अप्रयोजक) नोदन (नामक संयोग), अभिघात (अर्थात् विभाग तथा शब्द के प्रयोजक संयोग) तथा अभिघातादियुक्त (घट-पटादि) के संयोग से पृथिवी में कर्म की उत्पत्ति होती है ।

तद्विशेषेणादृष्टकारितम् ॥ २ ॥

(पुरुष के) कर्माशय से उत्पन्न (भूकम्प आदि) पृथिवीगतकर्म अदृष्टजन्य होते हैं (अथवा नोदन एवम् अभिघात तथा संयुक्तसंयोग से उत्पन्न कर्मों से भिन्नविध पृथिवीकर्म अदृष्टजन्य होते हैं) ।

अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ३ ॥

जल का अधःपतन (=वर्षण) उसके मेघसंयोगाभाव (निमित्तकारण) से तथा (असमवायिकारण) से होता है ।

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥ ४ ॥

द्रवत्व (असमवायिकारण तथा गुरुत्व निमित्तकारण) से (पृथिवीपतित जलबिन्दुओं का परस्पर संयोग जन्य) स्यन्दन अर्थात् दूर संसरण होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाड्या वायुसंयोगादारोहणम् ॥ ५ ॥

और सूर्यकी किरणें हीं वायु के संयोग से जल को (बाष्प रूप में) ऊपर ले जाती हैं (जिससे बाद में वर्षा होती है)।

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

प्रबल वायु के नोदन (संयोग विशेष) से उत्पन्न आपीड़न अर्थात् दबाव से (विस्फुलित जल-परमाणु) वायुसंयुक्त सूर्यकिरण के सहारे (बाष्परूप में) ऊपर उड़ते हैं।

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥ ७ ॥

(और वृक्षमूल में सिक्त जल का) पूरे वृक्ष में उद्‌गमन तो अदृष्टजन्य होता है।

अपां सङ्घातो विलयनं च तेजःसंयोगात् ॥ ८ ॥

(स्वतः द्रव) जल परमाणुओं का (करका हिम आदि के रूप में) संघात एवम् पुनः तरल जल के रूप में परिवर्त्तन तो (विद्युत् आदि बलवत्तर) तेजःसंयोग से होता है।

तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥९॥

(मेघस्थल जल के साथ दिव्य विद्युदादि) तेजःसंयोग की सिद्धि में विद्युत् की कड़क ही प्रमाण है।

वैदिकं च ॥ १० ॥

उपर्युक्त जल तथा तेज के सयोग में) वेद भी (जैसेः—आपस्ताः अग्नि गर्भमादधीरन् आदि) प्रमाण है।

अपां संयोगाद्विभागाच्च स्तनयित्नोः ॥ ११ ॥

मेघस्थ जल और मेघ के वायुकृत संयोग और विभाग के निमित्त मेघगर्जन होता है।

पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

पृथिवी-कर्म के साथ-साथ (सामान्यरूप से) तेज तथा वायु के कर्मों की भी व्याख्या हो जाती है।

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ॥ १३ ॥

(सृष्टि के प्रारम्भ में) अग्नि के सर्व प्रथम ऊर्ध्वज्वलन का, वायु के सर्व प्रथम तिर्य्यग्गमन (अर्थात् टेढ़ी गति) का परमाणु तथा मन के प्रथम कर्म का उत्पादन अदृष्ट से होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

(आदि कर्म को छोड़ कर शेष अर्थात् द्वितीयादि) मनः-कर्म की व्याख्या तो हस्त-कर्म की व्याख्या के समान समझनी चाहिए ।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥ १५ ॥

आत्मा, इन्द्रिय, अर्थ और मन के परस्पर सम्बन्ध से आत्मा में सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती है । (तात्पर्य यह है कि मन के कर्म के बिना इन्द्रियों के द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता अतः मन को सक्रिय एवं शीघ्रक्रिय मानना चाहिए ।

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः संयोगः ॥ १६ ॥

मन के आत्ममात्र निष्ठ हो जाने पर मनःकर्म के अभाव से शरीरावच्छिन्न आत्मा में दुःख का अभाव ही योग है ।

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥ १७ ॥

(शरीरारम्भक, कर्म के क्षीण होने पर पूर्व शरीर से प्राण तथा मन का) उत्क्रमण, (देहान्तर में) प्रवेश (माता पिता के) खान-पान (से उत्पन्न रज-वीर्य) के संयोग का हेतुभूत कर्म, गर्भशरीर तथा उसके साथ (प्राण तथा मन आदि का) संयोग अदृष्ट जन्य है ।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥ १८ ॥

शरीरधारक मनःकर्म के अभाव होने पर उस शरीर से आत्मा के संयोग के अभाव और शरीरान्तर के अनुत्पाद की दशा में जो दुःखध्वंस होता है वही मोक्ष है ।

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ॥ १९ ॥

(प्रयत्न, नोदन-अभिघात, गुरुत्व-द्रवत्व, संस्कार = वेग—ये कर्म के कारण कहे गये हैं परन्तु अन्धकार में चलनरूप कर्म का तो उपर्युक्त प्रयोजकों में से एक भी नहीं है, अतः उसकी क्रिया का उत्पादक किसी अन्य तत्व को मानना चाहिए—इसी प्रश्न का उत्तर है कि—) द्रव्य, गुण तथा कर्म की सिद्धि के लक्षण के अभाव रहने से अन्धकार वस्तुत तेजोऽभाव ही है ।

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥ २० ॥

(अन्धकार की प्रतीति तो केवल) द्रव्यान्तर से तेज के आवृत हो जाने के कारण ही होती है (अतः वह तेजोऽभाव ही है) ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥ २१ ॥

क्रियावान् द्रव्य के मूर्त्तत्वधर्म के अभाव से युक्त होने के कारण दिक्, काल तथा आकाश निष्क्रिय माने जाते हैं।

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥ २२ ॥

क्रियावद्वैधर्म्य के कारण दिक् आदि के निष्क्रियत्व सिद्ध होने पर तुल्य युक्ति से गुण तथा कर्म का निष्क्रियत्व सिद्ध हो जाता है।

निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ॥ २३ ॥

निष्क्रिय गुण तथा कर्म पदार्थों का द्रव्य के साथ सम्बन्ध भी अनुत्पाद्य समवाय ही होता है (संयोग नहीं)।

कारणं त्वसमवायिनो गुणाः ॥ २४ ॥

(गुणान्तर तथा कर्म की उत्पत्ति में) गुण असमवायि कारण होता है (समवायि-कारण नहीं क्योंकि गुण मूर्त्त नहीं है)।

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥ २५ ॥

गुण के समान ही (अमूर्त्त होने के कारण) दिक् किसी कर्म का समवायिकारण नहीं होता है।

कारणेन कालः ॥ २६ ॥

इति पञ्चमाध्याये द्वितीयाह्निकम्।

निमित्तकारण होने के कारण काल भी कर्म का आधारमात्र है (समवायि-कारण नहीं)।

पञ्चम अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त।

पञ्चम अध्याय समाप्त।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

षष्ठाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

वेद के वाक्यों की रचना वक्ता की बुद्धि से हुई है।

ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥ २ ॥

ब्राह्मण-ग्रन्थों यज्ञादि का नामकरण भी (वेद की वाक्य रचना में बुद्धिपूर्वकत्व का) प्रमाण है।

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥ ३ ॥

(वेद में गां दद्यात् आदि वाक्यों में) दा-धातु प्रतिपादित दान-कर्म भी (इष्ट-साधनता) बुद्धिपूर्वक ही हो सकता है।

तथा प्रतिग्रहः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार प्रतिग्रह भी इष्टसाधनता ज्ञानपूर्वक ही होता है।

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥ ५ ॥

एक आत्मनिष्ठ यागादि अन्य आत्मा में सुखादि की उत्पत्ति में कारण नहीं होते है (किन्तु उसी आत्मा में पुण्यादि का उत्पादन करते हैं)।

तद्दुष्टभोजने न विद्यते ॥ ६ ॥

(तथापि पुत्र के द्वारा अपने पिता के श्राद्ध में भोजित ब्राह्मणों के आशीर्वाद से पिता को भी पुत्रकृत श्राद्धादिकर्म का फल मिलता है।) परन्तु वह फल दुष्ट ब्राह्मणों के भोजन से नहीं मिलता है।

दुष्टं हिंसायाम् ॥ ७ ॥

निषिद्ध आचार में लीन पुरुष ही दुष्ट कहलाता है।

तस्य समभिव्याहारतो दोषः ॥ ८ ॥

उस दुष्ट पुरुष के साथ एक पंक्ति में भोजन करने से भी पाप होता है।

तददुष्टे न विद्यते ॥ ९ ॥

परन्तु अदुष्ट पुरुष के विषय में ऐसी बात नहीं होती (अर्थात् अदुष्ट पुरुष के साथ एक पंक्ति में भोजन करने पर भी पाप नहीं होता है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥ १० ॥

(यदि पहले अपने से विशिष्ट व्यक्ति के अभाव में दुष्ट को ही संख्यापूरत्यर्थ निमन्त्रित कर दें परन्तु बाद में अदुष्ट पुरुष की उपलब्धि हो तो) पुनः विशिष्ट व्यक्ति को ही खिलाना चाहिए (और निमन्त्रित दुष्टों को द्रव्यादि देकर सन्तुष्ट कर देना चाहिए) ।

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥ ११ ॥

अपने से विशिष्ट पुरुष के अभाव में अपने समान और उसके भी अलाभ होने पर अपने से हीन भी अदुष्ट पुरुष को भोजन देना चाहिए ।

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

(जैसे दान के विषय में विशिष्ट, सम तथा हीन व्यक्ति का नियम है) वैसे ही दान लेने में भी अदुष्ट स्वविशिष्ट, अदुष्ट स्वसमान तथा अदुष्ट स्वहीन व्यक्तियों का नियम समझना चाहिए (इस प्रकार के प्रतिग्रह से पुण्य होता है) ।

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥ १३ ॥

इसी प्रकार विरुद्धों का त्याग अर्थात् वध भी धर्म-साधन है ।

हीने परे त्यागः ॥ १४ ॥

यदि आततायी अपने से हीन हो तो उसका वध करना चाहिए ।

समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥ १५ ॥

यदि विरोधी अपने समान हो तो अपना ही अवसाद करना चाहिए अथवा अपने विरोधी का ही वध करना चाहिए ।

विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥ १६ ॥

इति षष्ठाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

और यदि अपने से विशिष्ट व्यक्ति विरोधी हो तो आत्मत्याग ही करना चाहिए ।
षष्ठ अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त ।

षष्ठाध्याये द्वितीयाह्निकम्

दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥ १ ॥

दृष्ट फल-कर्म (जैसे—कृषि आदि) तथा अदृष्ट-फल-कर्मों में जिसका दृष्ट प्रयोजन नहीं होता हो उसके प्रयोजन के रूप में अभ्युदय रूप अदृष्ट फल की कल्पना करनी चाहिए ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु महेश्वरस्याभिध्यानमात्रात् तैजसेभ्योऽणुभ्यः पार्थिवपरमाणुसहितेभ्यो महदण्डमारभ्यते । तस्मिंश्चतुर्वदनकमलं सर्वलोकपितामहं ब्रह्माणं सकलभुवनसहितमुत्पाद्य प्रजासर्गे विनियुङ्क्ते। स च महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्माऽतिशयज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्राणिनां कर्मविपाकं विदित्वा कर्मानुरूपज्ञानभोगायुषः सुतान् प्रजापतीन् मानसान् मनुदेवर्षिपितृगणान् मुखबाहूरुपादतश्चतुरो वर्णानन्यानि चोच्चावचानि च सृष्ट्वाऽऽशयानुरूपैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः संयोजयतीति ।

तेजस्वी होने के कारण, (केनचित =) दूसरे किसी द्रव्य से, अनभिभूतत्वात् = तिरस्कृत न होने के कारण, देदीप्यमानः = अत्यन्त प्रकाशमान, तिष्ठति = रहता है ।

एवं = उक्त प्रकारसे, समुत्पन्नेषु = उत्पन्न हुये, चतुर्षु = पृथिवी आदि, महाभूतेषु= महाभूतद्रव्योंमें, महेश्वरस्य = परमात्माके, अभिध्यानमात्रात = सङ्कल्पमात्रसे. तैजसेभ्यः= तेजद्रव्यके. अणुभ्यः = परमाणुओंसे, पार्थिवपरमाणुसहितेभ्यः = दृढतासंपादक पार्थिवद्रव्य के परमाणुओं की सहायतासे, महत् = महाविशाल, अण्डं = गोला, आरभ्यते = उत्पन्न होता है । तस्मिन् = उस अण्डाकार गोलेपर, चतुर्वदनकमलं = चार कमल के समान चार मुख से युक्त, सर्वलोकपितामहं = सम्पूर्ण प्राणिमात्र के पितामह (दादा) ब्रह्माणं = सृष्टिकर्ता ब्रह्माको, सकलभुवनसहितं = सम्पूर्ण जगत् के सहित, उत्पाद्य = उत्पन्न कर, प्रजासर्गे = प्रजा की सृष्टि करने के लिये, विनियुंक्ते =परमात्मा आज्ञा देते हैं । स च = और वह, महेश्वरेण = परमात्मा से, विनियुक्तः=आज्ञा को प्राप्त किये हुए, ब्रह्मा = सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, अतिशयज्ञानैश्वर्यसम्पन्नः = अत्यधिक ज्ञान तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न, प्राणिनां = प्राणिमात्र के, कर्मविपाकं = पुण्यापुण्य कर्म के परिणामरूप फलको, विदित्वा = जानकर, कर्मानुरूपज्ञानभोगायुषः = पुण्यापुण्यकर्मके अनुरूप ज्ञान, भोग तथा आयु वाले, सुतान् = पुत्रों को, प्रजापतीन् = दक्ष आदि प्रजापतियों को, मानसात् = मनमात्र से जो उत्पन्न हुए, मनु देवर्षि पितृगणान् = स्वायंभू आदि चतुर्दशमनु, द्वादश आदित्यादिदेव, गौतमादि ऋषि, कव्यवाहनादिपितर, मुखबाहूरुपादतः = मुख, भुजा. जांघ, पैर इन चार शरीर के अवयवों से, चतुरः चार, वर्णान् = ब्राह्मणादि चार वर्णों को, अन्यानि च = और दूसरे भी, उच्चावचानि च = और उच्च तथा नीच प्राणिमात्रों को, सृष्ट्वा = उत्पन्न कर, आशयानुरूपैः = वासनानुरूप, धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः = धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से, संयोजयति = सम्बद्ध करते हैं. इति = इस प्रकार सृष्टिसंहारविधि समाप्त है ।

भाषाभाष्य—उक्त प्रकार से जलरूप महाभूतद्रव्य की उत्पत्ति के पश्चात् उसी महाजलाशयरूप आधार में पार्थिव परमाणुओं से द्व्यणुकादि अवयवि द्रव्य पृथिवीरूप महाभूत विशीर्ण न होने से दृढ़ अवयवाधार उत्पन्न होती है। सूत्र—(२९०) (३६३)।

उक्त पृथिवी की उत्पत्ति के पश्चात् उसी जलाशयरूप आधार में तेजोद्रव्य के [illegible]ओं से द्व्यणुक आदि अवयविद्रव्यों के क्रम से उत्पन्न हुआ विशाल तेजो-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रव्य का राशि किसी दूसरे महाभूत द्रव्य से तिरस्कृत न होने के कारण अत्यन्त प्रकाशमान होता रहता है। सूत्र—(१९९) (२१०) (३६३) (२९०)

इस प्रकार उत्पन्न हुए पूर्वोक्त चार पृथिवी आदि महाभूतद्रव्योंमें परमेश्वर के संकल्पमात्रसे, (न कि कुलालादिकों के समान शारीरिक व्यापार से) पार्थिव परमाणुओं की उपभोग क्षमता संपादनयोग्य अवयवों की सहायतापूर्वक तैजसपरमाणुओं से एक महाविशाल अण्डाकार गोला उत्पन्न होता है। यह (पार्थिव परमाणुओं की सहायता से तैजसपरमाणुओं से उत्पन्न होता है) उस गोले में सुवर्णमयता की सूचना करता है। उस सुवर्णमय अण्डे पर चार कमल के समान सुन्दर मुखवाले सम्पूर्ण जन के पितामह ब्रह्मा को सम्पूर्ण चतुर्दशभुवन के साथ उत्पन्न कर परमात्मा प्रजासृष्टि करने के लिये आज्ञा देते हैं। परमेश्वर की उक्त आज्ञा को स्वीकार कर सर्वोत्कृष्ट अत्यधिक ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी भी प्राणिमात्र के इतना-इतना इस-इस प्राणी का कर्मफल है यह जानकर पुण्यापुण्य कर्मानुसार, ज्ञान, सुखदुःखानुभवरूपभोग तथा आयु वाले, मनोमात्र से उत्पन्न दक्षादिप्रजापति, स्वयंभू इत्यादि चतुर्दशमनु, द्वादश आदित्यादि देवता, गौतमादि महर्षि, कव्य वाहन आदि पिता, कुष्मांड इत्यादि संपूर्ण पुत्रों को, तथा अपने मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, ऊरु (जांघ) से वैश्य, तथा पैरों से शूद्र ऐसे चारों वर्णों को, इनसे अतिरिक्त ऊँचे नीचे प्राणिमात्र की रचना कर उन प्राणियों के कर्म तथा ज्ञान की वासना के अनुसार ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य उन्हें देते हैं, अंशमात्र भी अधिक या न्यून नहीं देते। पुण्यकर्मानुसार धर्मादि चतुष्टय के समान, पाप कर्म के अनुसार अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, तथा अनैश्वर्य रूप चतुष्टय भी प्राणिमात्र को देते हैं यह भी यहां पर जान लेना चाहिये। इस प्रकार के समस्त विश्व की सृष्टि तथा संहार की विधि के वर्णन में परमात्मा से अधिष्ठित ही पृथिव्यादि परमाणुओं से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है ऐसा भाष्यकार का तात्पर्य है जिससे 'जगत की रचना में विचित्रता क्यों है' 'सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथम व्यवहार कैसे हुए तथा 'चेतन और अचेतन की प्रवृत्ति का नियामक कौन है' ऐसे शिष्यों के प्रश्नों का समाधान हो जाता है, क्योंकि अदृष्टानुसार विश्वसृष्टि में विचित्रता, मानसपुत्रों की उत्पत्ति में सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथम व्यवहार तथा परमात्मा का अधिष्ठान (अवलम्बन) होने से अचेतन तथा चेतन रूप चराचर जगत के प्राणिमात्र की प्रवृत्ति का नियम भी हो सकता है। यदि वादी कहे कि 'परमेश्वर की सिद्धि होने पर ही उक्त सृष्टि संहार विधि आदि संगत होगा, परमात्मा है इसीमें क्या प्रमाण है' तो सिद्धान्त मत से 'शरीर की अपेक्षा से रहित जो जो उत्पत्तिमान् कार्य हैं, वह बुद्धिपूर्वक हैं कारणवान् होने से, जो कारणाधीन होता है वह बुद्धिपूर्वक होता है, जैसे रथ, वैसा ही यह पृथिव्यादिरूप कार्य है, इसलिये यह भी बुद्धिपूर्वक है' इस प्रकार पंचावयवोत्पन्न परार्थानुमान ही परमात्म सिद्धि में प्रमाण है। क्षित्यादि कार्य के समवायि कारण का ज्ञान, चिकीर्षा, तथा कृति अल्पज्ञ जीवात्माओं में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सप्तमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

उक्ता गुणाः ॥ १ ॥

गुण का उद्देश तथा लक्षण किया गया।

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥ २ ॥

(अवयवीरूप) पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श अपने आश्रयभूत पृथिवी आदि द्रव्यों के अनित्य होने के कारण अनित्य होते हैं।

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥ ३ ॥

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नित्य द्रव्य के उपर्युक्त गुण नित्य होते हैं।

अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥ ४ ॥

जल (के परमाणुओं) में (रूप, रस तथा स्पर्श), तेजःपरमाणु में (रूप, स्पर्श) और वायु-परमाणु में (स्पर्श) नित्य होते हैं।

अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात् ॥ ५ ॥

और अनित्य (अर्थात् अवयविरूप जल, तेज, वायु) में (रूप, रस, स्पर्श) अनित्य माने जाते हैं।

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ॥ ६ ॥

(कार्य) पृथिवी में (रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) स्थूल के कारणीभूत अवयव के (रूप, रस, गन्ध, स्पर्शात्मक असमवायिकारणीभूत) गुणों से उत्पन्न होते हैं और तेजःसंयोग से (कार्य तथा नित्य—उभयविध पृथिवी में) परिवर्तित होते हैं।

एकद्रव्यत्वात् ॥ ७ ॥

(परमाणुस्वरूप) एक ही (अर्थात् अखण्ड नित्य) द्रव्य में समवेत होने के कारण भी (पृथिवी परमाणु का रूप कारणगुणपूर्वक नहीं होता क्योंकि परमाणु का कोई अन्य कारण नहीं है, अतः पृथिवी परमाणु के रूपादि को परमाणुतेजःसंयोग-जन्य—पाकज—माना जाता है)

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥ ८ ॥

अणु परिमाण का अप्रत्यक्षत्व और महत्परिमाण का प्रत्यक्षत्व चतुर्थाध्याय में बतलाया जा चुका है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कारणबहुत्वाच्च ॥ ९ ॥

महत्परिमाण की उत्पत्ति (कारण के महत्त्व से, प्रचय अर्थात् आरम्भक संयोग से और) कारण के बहुत्व से भी होती है।

अतो विपरीतमणु ॥ १० ॥

महत्परिमाण से भिन्न परिमाण अणु परिमाण है।

अणु महदिति तस्मिन् विशेषभावात् विशेषाभावाच्च ॥ ११ ॥

(आमलकादि फल में आम्रादि फल की अपेक्षा) अणुत्व और (आम्रादि फल में आमलकादि फल की अपेक्षा) महत्त्व का व्यवहार तो गौण है, कारण उनमें महत्त्व के प्रकारभेद वर्त्तमान हैं और अणुत्व के लक्षण तो रहते नहीं।

एककालत्वात् ॥ १२ ॥

(दूसरी बात यह भी है कि) एक ही समय में (आम्रफल में आमलक की अपेक्षा अणुत्व का और फूट-ककड़ी की अपेक्षा महत्त्व के) व्यवहार से भी (यही स्पष्ट होता है कि आम्रफल में वस्तुतः महत्त्व ही है, उसी महत्त्व का कुछ छोटा रूप गौण रूप में अणुपदवाच्य होता और दूसरा रूप महत्त्व पद से अभिव्यक्त होता क्योंकि परस्पर-विरुद्ध अणु और महत्त्व तो एक साथ रह ही नहीं सकते)।

दृष्टान्ताच्च ॥ १३ ॥

(उन्हीं फलों में स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम के) दृष्टान्त से भी उपर्युक्त विषय ही सिद्ध होता है।

अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अणुत्व और महत्त्व में अणुत्व, महत्त्व का अभाव तो गुण तथा कर्म में गुण के अभाव के वर्णन से ही स्पष्ट हो जाता है।

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ॥ १५ ॥

और कर्म में कर्म के अभाव तथा गुण में गुण के अभाव की व्याख्या तो पहले ही हो चुकी है (कहीं कहीं व्यवहार में गुण में गुण की सत्ता का कथन, जैसेः—महान् शब्दः आदि में तो वस्तुतः लाक्षणिक है)।

अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ॥ १६ ॥

जैसे अणुत्व और महत्त्व में अणुत्व और महत्त्व नहीं रहते वैसे ही कर्म तथा गुण में भी अणुत्व और महत्त्व का अभाव समझना चाहिए।

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥ १७ ॥

अणुत्व-महत्त्व की व्याख्या से ह्रस्वत्व तथा दीर्घत्व की भी व्याख्या हो गई।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस स्थान में पक्षी है इत्याकारक नियत देश रूप पक्षी के आश्रय का प्रत्यक्ष ज्ञान ही आकाश में प्रमाण है यह नहीं हो सकता, कारण यह कि रूप रहित होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष की योग्यता आकाश में नहीं हो सकती, 'यहां पर पक्षी है' यह उक्त ज्ञान केवल विस्तृत प्रकाश मण्डल को ही विषय करता है, तस्मान् आकाश द्रव्य की सत्ता में प्रत्यक्ष प्रमाण न होने से वक्ष्यमाण परिशेषानुमान से आकाश द्रव्य की सिद्धि करने के लिये प्रथम शब्द रूप गुण पृथिव्यादि अष्ट द्रव्य का गुण नहीं हो सकता यह सिद्ध करते हुए स्पर्शाश्रय पृथिवी से वायु पर्यन्त चार द्रव्यों के आश्रित शब्द नहीं हैं यह तीन हेतुओं से अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध करते हैं कि 'शब्द गुण, पृथिव्यादि वायु पर्यन्त स्पर्शाश्रय द्रव्यों का विशेष गुण नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रत्यक्ष का विषय होते हुए कारणगुणपूर्वक नहीं है सुख के समान' इस अनुमान से पृथिव्यादि स्पर्शाधार द्रव्यों में शब्दाधारता का निषेध हो सकता है(१)। पृथिव्यादि परमाणुरूपादिक भी कारण गुणपूर्वक नहीं है और वे स्पर्शवान् द्रव्यों के गुण हैं, अतः साध्यभावाधिकरण वृत्ति होने से व्यभिचार वारणार्थ 'प्रत्यक्ष विषय होते हुए' यह हेतु में विशेषण दिया गया है। अवयवि (पिठर) ये पाठ वैशेषिक के मत में न होने के कारण उनके विशेष गुणों को लेकर विरोध नहीं आ सकता। तथा शब्द शंखादि आधार के रहते नष्ट हो जाता है इस कारण यावत्काल आधार है तावत्काल सत्ता न होने से भी सुखादि गुण के समान वह स्पर्शवान् द्रव्यों का गुण नहीं है यह हम अनुमान प्रमाण से सिद्ध कर सकते हैं। इस हेतु में भी प्रथम हेतु के समान परमाणुरूपादिकों में व्यभिचार निवारणार्थ प्रत्यक्ष विषय होते हुए ऐसा विशेषण देना चाहिये (२)। उक्त दोनों हेतुओं में तर्क रूप तीसरा हेतु देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि आश्रय को छोड़ कर दूसरे स्थान में शब्द की उपलब्धि होती है इस कारण भी शब्द स्पर्शाश्रय द्रव्यों का गुण नहीं हो सकता, क्योंकि स्पर्शवान् पृथिव्यादि द्रव्यों के गुण आधार से अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। और शब्द तो शंख आदि आधार द्रव्यों से अन्यत्र कर्णशष्कुली विशिष्ट आकाश (कान) में उपलब्ध होता है। यदि शब्द स्पर्शाश्रय शंखादिकों का गुण हो तो उनके बंद करने पर उसका ग्रहण न होगा क्योंकि कान के छिद्र के बंद करने के समान वह सर्वदा अप्राप्त है, यदि अप्राप्त की उपलब्धि मानी जाय तो सर्वत्र सर्वकाल प्राणि मात्र को संपूर्ण शब्दों की उपलब्धि होने लगेगी ऐसा यहां उदयनाचार्य का अभिप्राय है। श्रीधराचार्य ने इसे हेत्वन्तर माना है। इस प्रकार पृथिवी आदि चार द्रव्यों के गुणत्व का शब्द में निषेध कर वक्ष्यमाण चार हेतुओं से आत्मगुणता का निषेध करते हैं कि शब्द आत्मा का गुण नहीं है बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने के कारण रूप के समान। 'श्रोत्रेन्द्रिय में बाह्येन्द्रियता का साधक न होने से उक्त हेतु पक्ष शब्द में स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभासदोषग्रस्त होने से शब्द में आत्मगुणता का निषेध साधक नहीं हो सकता' इस शंका का समाधान अनुमान प्रमाण से इस प्रकार हैं कि श्रोत्र, बाह्येन्द्रिय है, शब्दरूप नियत विषय होने से चक्षुरिन्द्रिय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रोत्रग्राह्यत्वाद्वैशेषिकगुणभावाच्च न दिक्कालमनसाम्। परिशेषाद् गुणो भूत्वा आकाशस्याधिगमे लिङ्गम्।

शब्दलिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धम्। तदनुविधानादेकपृथक्त्वम्। विभववचनात् परममहत्परिमाणम्। शब्दकारणत्ववचनात् संयोगविभागाविति। अतो गुणवत्त्वादनाश्रितत्वाच्च द्रव्यम्। समानासमानजातीयकारणाभावाच्च नित्यम्, सर्वप्राणिनां च शब्दोपलब्धौ निमित्तं श्रोत्रभावेन।

के समान, इस से उक्त दोष नहीं हो सकता (१) तथा शब्द, आत्मगुण नहीं है, आत्मान्तर (दूसरे आत्मा) से भी ग्रहण करने योग्य होने से। आत्मा के गुणग्राहक में वर्तमान ही गृहीत होते हैं, जैसे सुख दुःख इत्यादि, शब्द रूप गुण ऐसा नहीं है (२) यह क्यों ऐसे प्रश्न के उत्तर में तीसरा हेतु आत्मगुणता के निषेधार्थ भाष्यकार ने दिया है 'आत्मनि असमवायात' अर्थात् ग्राहक में असम्बद्ध होने से शब्द आत्मा का गुण नहीं है। रूपादि गुणों के समान शब्द भी आत्मा का गुण नहीं है, आत्मा में असम्बन्ध होने से. इस प्रकार यह दूसरा ही हेतु शब्द में आत्मगुणता का निषेधक है ऐसा कन्दलीकार का मत है। 'ग्राहकासम्बद्धता भी शब्द में असिद्ध है' इस शङ्का के समाधानार्थ चतुर्थ हेतु भाष्यकार ने दिया है कि 'अहङ्कारेण विभक्तग्रहणाच्च' अर्थात् अहं पद को छोड़कर शब्द का ग्रहण होता है इसलिये भी शब्द आत्मा का गुण नहीं है, आत्मा के गुणों का 'सुखी अहं' 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि रूप से अहं पद को लेकर ही प्रतीति होती है इस कारण शब्द आत्मद्रव्य का भी गुण नहीं हो सकता॥

पदपदार्थ—श्रोत्रग्राह्यत्वात् = श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होने योग्य होने से, वैशेषिकगुणभावाच्च = और विशेष गुण होने से भी, न = नहीं हो सकता, दिक्कालमनसां = दिशा, काल तथा मन इन तीन द्रव्यों का गुण भी। परिशेषात् = परिशेष (अवशिष्ट) होने से, गुणो भूत्वा = गुण होकर, आकाशस्य = आकाशनामक द्रव्य के, अधिगमे = स्वीकार में, लिङ्गम् = शब्द नाम का विशेष गुण साधक है। शब्दलिङ्गाविशेषात् = आकाशसिद्धि में शब्द रूप लिङ्ग समान होने से, एकत्वं = आकाश में एक संख्या, सिद्धम् = सिद्ध है। तदनुविधानात् = एक संख्या के अनुसरण से, एकपृथक्त्वम् = केवल एक पृथक्त्व गुण भी आकाश द्रव्य में सिद्ध है। विभववचनात् = 'विभवान्महानाकाशः' (२७८) इस सूत्रकार के वचन से, परममहत्परिमाणम् = सर्वोत्कृष्टमहत्परिमाण भी आकाश में सिद्ध है। शब्दकारणत्ववचनात्='संयोगात् विभागाच्छब्दाच्च शब्दस्य निष्पत्तिः' (२१०) इस सूत्र से संयोग तथा विभाग शब्दोत्पत्ति के कारण हैं यह वर्णित होने से संयोगविभागाविति = संयोग तथा विभाग भी आकाश में सिद्ध हैं। अतः = इस कारण, गुणवत्त्वात् = गुणाधार होने से, अनाश्रितत्वात् च = अनाधार होने से, द्रव्यम् = आकाशद्रव्यपदार्थ है यह सिद्ध है। समानासमानजातीयकारणाभावाच्च = और समवायिकारण तथा असमवायिकारण आकाशद्रव्य का न होने से, नित्यम् = आकाश नामक द्रव्य नित्य है। सर्वप्राणिनां = प्राणिमात्र के, च = और, शब्दोपलब्धौ = शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्म में कर्म नहीं होता, गुण में गुण नहीं होता और अणुत्व-महत्त्व में अणुत्व-महत्त्व नहीं होता (ऐसा कहने से ही इन सब में संयोग-विभाग का अभाव भी सिद्ध हो जाता है)।

युतसिद्ध्यभावात् कार्य्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ॥ १३ ॥

(संयोग सम्बन्ध से भिन्न भिन्न अधिकरण वृत्तित्व स्वरूप) युतसिद्धि के अभाव होने के कारण कार्यकारण का सयोग और विभाग नहीं होता है।

गुणत्वात् ॥ १४ ॥

(शब्द के) गुण होने के कारण (अर्थ के साथ संयोग नहीं हो सकता है। तात्पर्य है कि शब्द भी गुण है और उसका सम्बन्ध यदि अर्थ के साथ संयोग मानें तब तो गुण में भी गुण मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है अतः शब्द-अर्थ में संयोग सम्बन्ध नहीं माना जा सकता)।

गुणोऽपि विभाव्यते ॥ १५ ॥

रूप-रसादि शब्द का तो अर्थ भी गुण है (अतः शब्द = गुण, अर्थ = गुण और शब्दार्थसम्बन्ध = गुण अत्यन्त असम्भव है)।

निष्क्रियत्वात् ॥ १६ ॥

(और भी शब्द और अर्थ का संयोग मानें तब तो आकाश शब्द से अर्थ-बोध नहीं होगा कारण आकाश अर्थ के साथ शब्द का संयोग सिद्ध नहीं होता। संयोग अन्यतर-कर्मजन्य, उभयकर्मजन्य, और संयोग-जन्य होता है। परन्तु आकाश अर्थ और आकाश (शब्द में दोनों के) निष्क्रिय होने से (अन्यतरकर्मजन्य अथवा उभयकर्मजन्य संयोग नहीं हो सकता अत एव संयोगजन्य संयोग भी नहीं होगा; परिणामतः आकाश शब्द से अर्थप्रतीति नहीं होगी—अतः शब्दार्थ का संयोग नहीं मानना चाहिए)।

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥ १७ ॥

घट पदार्थ के नहीं रहने पर 'नास्ति घटः' ऐसा प्रयोग होता है (इससे स्पष्ट है कि अर्थ के अभाव में भी शब्द है, एवञ्च उपस्थित-अनुपस्थित का संयोग आदि सम्बन्ध कथमपि सम्भव नहीं है)।

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥ १८ ॥

अतः शब्द और अर्थ में परस्पर कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है।

संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ॥ १९ ॥

संयोग सम्बन्ध वाले दण्ड से तथा समवाय सम्बन्धवाले (हस्त आदि) से शब्द का विशेष अर्थात् भेद है; अतः शब्द का अर्थ के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः ॥ २० ॥

(उत्तर पक्ष है :—) शब्द से अर्थ की प्रतीति ईश्वर-सङ्केत से होती है (अतः ईश्वरेच्छा ही शब्दार्थ के बीच का सम्बन्ध है)।

एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरञ्च ॥ २१ ॥

एक ही दिशा में एक ही काल में सन्निकृष्ट (समीपस्थ) और विप्रकृष्ट (दूरस्थ) पदार्थों से (विप्रकृष्ट में) परत्व और (सन्निकृष्ट में) अपरत्व की प्रतीति होती है। (यह दैशिक परत्व-अपरत्व है) ।

कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥ २२ ॥

(सर्वजन्य पदार्थ) कारणीभूत काल के संयोगाधिक्य से (कालिक परत्व) और काल के सयोगाल्पत्व से (कालिक अपरत्व की प्रतीति होती है) ।

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥२३॥

अणुत्व-महत्त्व में अणुत्व तथा महत्त्व के व्याख्यान से ही परत्व-अपरत्व में भी परत्व-अपरत्व के अभाव की व्याख्या हो चुकी है।

कर्मभिः कर्माणि ॥ २४ ॥

कर्म में कर्म नहीं होता—इस व्याख्यान से ही कर्म में परत्व-अपरत्व नहीं होता है यह स्पष्ट हो जाता है।

गुणैर्गुणाः ॥ २५ ॥

गुण में गुण के अभाव के वर्णन से ही गुण में परत्वापरत्व का अभाव स्पष्ट हो जाता है ।

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥ २६ ॥

कारण तथा कार्य में 'कारणे कार्यं वर्त्तते' (कारण में कार्य है) इस प्रकार की प्रतीति जिसके कारण होती है वही समवाय सम्बन्ध कहलाता है।

द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ॥ २७ ॥

सत्ता के समान ही (भिन्नबुद्धिवेद्यत्व हेतु से) समवाय का द्रव्य-गुण से भेद सिद्ध हो जाता है ।

तत्त्वम्भावेन ॥ २८ ॥

इति सप्तमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

सत्ता के समान ही समवाय भी एक अतएव नित्य है।

सप्तम अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त ।

सप्तम अध्याय समाप्त ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाषाभाष्य—तथा वह कर्णछिद्र नाम का आकाश प्रदेश शब्द के श्रवण से होने वाले सुखदुःखानुभवजनक धर्माधर्म से सम्बद्ध होने के कारण नित्य होने पर भी उपनिबंधक (प्रापक) धर्म रूप अदृष्ट की (विकलता) अभाव से बधिरता संपादक होता है, अर्थात् आकाश के व्यापक होने पर भी सर्वत्र शब्द का साक्षात्कार नहीं होता, क्योंकि प्राणियों के अदृष्ट वश कर्णशष्कुली स्थित आकाश ही श्रोत्रेंद्रिय है तथा आत्मा शरीर सम्बन्ध से ही इन्द्रिय द्वारा विषयों का भोक्ता तथा ज्ञाता होता है। सूत्र—(७६) (१००)।

क्रमप्राप्तकाल द्रव्य का लक्षण भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि दैशिक परत्वा-परत्व (दूर तथा समीप के) ज्ञान से भिन्न कालिक परत्वापरत्व (ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ के) ज्ञान से (१), युगपत् एक काल में उत्पत्ति के ज्ञान (२) से, अयुगत् अनेक काल में उत्पत्ति के ज्ञान से (३) चिर (विलम्ब) से उत्पत्ति के ज्ञान से (४), तथा शीघ्र उत्पत्ति के ज्ञान से (५) ऐसे पांच प्रकार के प्रत्ययों से काल नामक द्रव्य सिद्ध होता है। अर्थात् यह ज्येष्ठ है यह कनिष्ठ है, यह एक ही समय उत्पन्न हुआ, यह क्रम से हुआ, यह विलम्ब से हुआ, यह शीघ्रता से हुआ ऐसे पांच प्रकार के ज्ञानों से काल नामक एक भिन्न द्रव्य सिद्ध होता है। क्योंकि उक्त ज्ञान के विषय द्रव्यादि पदार्थों से द्रव्यादि विषयों से अतिरिक्त ज्येष्ठ कनिष्ठादि रूप विलक्षण प्रतीति होती है उसमें काल को छोड़कर दूसरा निमित्त न होने के कारण कालिक परत्व अथा अपरत्व इत्यादि पाँच प्रकार के प्रदर्शित व्यवहारों से निमित्त कारण काल नामक द्रव्य सिद्ध होता है। इसलिये वृद्ध मनुष्य में (ज्येष्ठता) सूर्यक्रिया के उत्कृष्ट (अधिक) बुद्धि से उत्पन्न है, सूर्यक्रिया के ज्ञान को अनुसरण करने से, कुविन्द (जुलाहे) के ज्ञानानुसारि वस्त्रज्ञान के समान, और वह सूर्यक्रिया वृद्ध के शरीर की समीपता की आवश्यकता रखती है, क्योंकि वह सूर्यक्रिया स्वभाव से वृद्ध शरीर के सन्निकृष्ट न होने पर भी उसका वृद्ध शरीर में सम्बन्ध जाना जाता है, जिस प्रकार वस्त्र में रक्तिमादि वर्ण का सम्बन्ध जाना जाता है कि वस्त्र लाल है इत्यादि। वह वृद्ध शरीर में सूर्यक्रिया का सम्बन्ध किसी न किसी व्यापक द्रव्य के कारण है दूसरा प्रकार न होते हुए सन्निकृष्ट होने से, वस्त्र में लाल इत्यादि रंगों के सन्निकर्ष के समान, यदि व्यापक द्रव्य का वृद्ध शरीर में सामीप्य न हो तो समीपता तथा दूरता के असंभव होने से आवश्यक सम्बन्ध के न होने के कारण परत्व (ज्येष्ठता) तथा अपरत्व (कनिष्ठता) अथ ज्येष्ठ-कनिष्ठादिव्यवहार का लोप हो जायगा। अतः उक्त ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ व्यवहार से प्रदर्शित अनुमान प्रमाण से काल नामक पृथिवी आदि द्रव्यों से भिन्न एक द्रव्य अवश्य मानना पड़ेगा। यदि कहो कि 'काल द्रव्य का प्रत्यक्ष न होने से उसके साथ उक्त परत्वादि प्रत्ययों की व्याप्ति न होने के कारण पर्वोक्त अनुमान से उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है' तो भाष्यकार इस शंका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वकार्याणां चोत्पत्तिस्थितिविनाशहेतुस्तद्व्यपदेशात्। क्षणलवनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्तयामाहोरात्रार्धमासमासर्त्वयनसंवत्सरयुगकल्पमन्वन्तरप्रलयमहाप्रलयव्यवहारहेतुः। तस्य गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः ५। काललिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धम्। तदनुविधानात् पृथक्त्वम्। कारणे काल इतिवचनात् परममहत्परिमाणम्। कारणपरत्वादिवचनात् संयोगः। तद्विनाशकत्वाद्विभाग इति। तस्याकाशवद्द्रव्यत्वनित्यत्वे सिद्धे काललिङ्गाविशेषादञ्ज-

---

का समाधान इस प्रकार करते हैं कि उक्त परत्वादि ज्ञानों के विषय शरीरादि रूप विषयों में शरीरादि द्रव्य ज्ञान से विलक्षण ज्येष्ठतादि ज्ञानों के (जो शरीरादि ज्ञान से विलक्षण हैं) उत्पत्ति में कालद्रव्य को छोड़कर दूसरा कोई द्रव्य न होने के कारण काल ही निमित्त कारण है। अर्थात् शरीरादिकों में ज्येष्ठता कनिष्ठतादि ज्ञानों का निमित्त के विना असंभव होने से उनका निमित्त कारण काल नामक अतिरिक्त द्रव्य है यह सिद्ध होता है।

पदपदार्थ—सर्वकार्याणां च = और सम्पूर्ण कार्यों के, उत्पत्तिस्थितिविनाशहेतुः = उत्पत्ति, पालन, तथा संहार का कारण है, तद्व्यपदेशात = काल को लेकर उत्पत्ति आदि का व्यवहार होने से। क्षण-लव-निमेष-काष्ठा-कला-मुहूर्त-यामाहोरात्रार्ध-मास-मासर्त्वयन-संवत्सर-युग-कल्प-मन्वन्तरप्रलय-महाप्रलय-व्यवहारहेतुः = क्षण (क्रियोत्पत्तिकाल) लव, (२ क्षणं), निमेष पलक गिरने का समय) काष्ठा (१८ निमेष रूप काल) कला (३० काष्ठा समय), मुहूर्त (१६ घडी) याम (प्रहर) अहोरात्र (१ दिन रात) अर्धमास (पखवारा) मास (महिना) ऋतु (छ महिने) अयन (दक्षिणायन-उत्तरायण), संवत्सर (१ वर्ष) युग (कृतादियुग) कल्प, (सृष्टि काल), मन्वन्तर (स्वायंभुव आदि चतुर्दशमनुओं का समय, प्रलय (खण्ड प्रलय काल) तथा महाप्रलय काल इत्यादि व्यवहार का कारण है। तस्य = उस काल द्रव्य के, गुणाः = गुण हैं, 'संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः = संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग तथा विभाग नामक सामान्य गुण, काललिङ्गाविशेषात् = पूर्वोक्त युगपदादि प्रतीति रूप कालसाधक लिङ्गों के सर्वत्र समान होने से, एकत्वं = काल में एकत्वसंख्या सिद्धम् = सिद्ध है। तदनुविधानात् = एकत्व संख्या के अनुसरण से, एकपृथक्त्वम् = एक पृथक्त्व गुण भी काल में सिद्ध है। 'कारणे काल' इति वचनात् = 'कारणे कालाख्या' (८८) इस सूत्र वचन से, परममहत्परिमाणम् = सर्वोत्कृष्टमहत्परिमाण काल में सिद्ध है। कारणपरत्वादिवचनात् = तथा 'कारणपरत्वात्कारणापरत्वाच्च परत्वापरत्वे' (३०३) इस सूत्र से काल में, संयोगः = संयोग गुण, तद्विनाशकत्वात् = संयोग का नाशक होने से, विभागः = विभाग गुण भी काल में है, इति = इस प्रकार काल के पांच सामान्य गुण हैं। तस्य = उस काल में, आकाशवत् = आकाश के समान गुणाधार तथा अनाश्रित होने के कारण द्रव्यत्वनित्यत्वे सिद्धे = द्रव्यता, तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थं इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ३ ॥

'अर्थ' शब्द का प्रयोग द्रव्य, गुण तथा कर्म की अभिव्यक्ति के लिए होता है (वैशेषिक दर्शन में)।

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ॥ ४ ॥

(शरीरादि) द्रव्यं में पाञ्चभौतिकत्व का प्रतिषेध तो किया जा चुका है।

भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ॥ ५ ॥

(एवञ्च) गन्ध-ज्ञापक घ्राण का उपादान पृथिवी ही है क्योंकि घ्राण में पृथिवी के समान गन्धवत्त्व है, और (सम्पूर्ण शरीर के पार्थिव होने पर भी घ्राण मात्र से गन्धग्रह में घ्राण का द्रव्यान्तरानभिभूत-पार्थिव-परमाणु-जन्यत्वापरपर्याय) भूयस्त्व ही कारण है।

तथापस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात् ॥ ६ ॥

इति अष्टमाध्याये द्वितीयाह्निकम्।

इसी प्रकार रस, रूप तथा स्पर्श के भूयस्त्व और रसादि समवायित्व होने के कारण (जिह्वा, चक्षु तथा त्वक् इन्द्रियों के उपादान भी) क्रमशः जल, तेज तथा वायु हैं।

अष्टम अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त।

अष्टम अध्याय समाप्त।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नवमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥ १ ॥

उत्पत्ति से पहले कार्य के लिए गुणवत्त्व, क्रियावत्त्व के व्यपदेश के अभाव होने से (कारण में कारण-व्यापार से पूर्व कार्य का) प्रागभाव सिद्ध होता है ।

सदसत् ॥ २ ॥

(कारणव्यापार के अनन्तर उत्पन्न अत एव) सत् (घटादि) पदार्थ भी (मुद्‌गर-पातादि से) ध्वस्त हो जाता है (अतः ध्वंसाभाव भी सिद्ध ही जाता है) ।

असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ॥ ३ ॥

असत् (अभाव) में क्रियावत्त्व तथा गुणवत्त्व का व्यपदेश नहीं होता (परन्तु सत्-घटादि पदार्थ में गुणवत्त्वादि का व्यपदेश होता है; एवं च (इस स्पष्ट वैधर्म्य के कारण) भावपदार्थ (की एक अवस्था को ही अभाव नहीं मानना चाहिए अपितु उस) को अभाव से भिन्न मानना चाहिए ।

सच्चासत् ॥ ४ ॥

सत् (घटादि) भी (पटादिरूपेण) असत् होता है (अतः अन्योन्याभाव भी सिद्ध है) ।

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त त्रिविध अभावों से भिन्न अभाव अत्यन्ताभाव है ।

असदिति भूतप्रत्यक्षाभावात् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥ ६ ॥

(योग्य) भूत (अर्थात् उत्पन्नानन्तर नष्ट घटादि प्रतियोगी) के अनुपलम्भ (प्रत्यक्षाभाव) से और भूत (प्रतियोगिभूत नष्ट घटादि) के स्मरण से प्रतियोगी के प्रत्यक्ष के समान प्रध्वंसाभाव का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है ।

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥ ७ ॥

भाव (अभावाधिकरण और अभावप्रतियोगी) के प्रत्यक्षयोग्य होने पर प्रध्वंसाभाव की तरह प्रागभाव का भी प्रत्यक्ष होता है ।

एतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ॥ ८ ॥

इसी रीति से "यह घट-भिन्न है," "यह गो-भिन्न है" तथा यह धर्म-भिन्न है आदि अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष भी (योग्याधिकरणवृत्ति होने पर) समझना चाहिए ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्यास्तु गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः ५ कालवदेते सिद्धाः। दिगलिङ्गाविशेषादञ्जसैकत्वेऽपि दिशः परममहर्षिभिः श्रुतिस्मृतिलोकसंव्यवहारार्थं मेरुं प्रदक्षिणमावर्तमानस्य भगवतः सवितुर्ये संयोगविशेषाः लोकपालपरिगृहीतदिक्प्रदेशानामन्वर्थाः प्राच्यादिभेदेन दशविधाः सञ्ज्ञाः कृताः अतो

नैर्ऋत्य दिशा में है, यह वायव्य कोण में है, यह ईशान्य कोण में है, यह नीचे है, यह ऊपर है, इस प्रकार दस प्रतीतियां जिस द्रव्य के कारण होती हैं वही दिशा नामक द्रव्य है, क्योंकि उसे छोड़कर उक्त विलक्षण प्रतीतियों में दूसरा कोई द्रव्य निमित्त नहीं हो सकता। अतः दिशा नामक द्रव्य, पृथिव्यादि द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य है, उपाधि की प्राप्ति द्वारा पूर्वादिप्रत्ययों का कारण होने से, जो उपाधि प्रापण द्वारा पूर्वादि प्रतीति का कारण नहीं होता, वह पृथिव्यादि भिन्न नहीं होता, जैसे पृथिवीत्वादि जातियां। उपाधि प्रापण द्वारा उक्त पूर्वादि प्रतीतियों का कारण काल नहीं हो सकता, क्योंकि वह केवल उत्पत्ति आदि क्रिया रूप उपाधि के कारण होने वाले व्यवहारों को ही सिद्ध करता है। उक्त दिशा साधक पूर्व पश्चिमादि प्रतीति तो प्रथम सूर्य संयोगादि निमित्त से ही होती है, सूर्य रूप द्रव्य से वर्तमान संयोग उस दिशा में रहने वाले दूसरे द्रव्य के सम्बन्ध के बिना पूर्व प्रदर्शित विशिष्ट प्रतीतियों को उत्पन्न नहीं कर सकता, इस कारण एक व्यापक द्रव्य की आवश्यता है. वही दिशा नामक द्रव्य है यह सिद्ध होता है। सू० (८९)।

पदपदार्थ—तस्यास्तु = और उस दिशा नामक द्रव्य के, गुणाः = गुण हैं, संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः = संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, तथा विभाग नामक। कालवत् = काल द्रव्य के समान, एते = यह सामान्य गुण, सिद्धाः = दिशा में भी सिद्ध हैं। दिगलिङ्गाविशेषात् = पूर्व पश्चिम इत्यादि दिशा साधक प्रतीतियों के सर्वत्र एक समान होने से, अंजसा = वस्तुतः, एकत्वेपि = एक होने पर भी, दिशः = दिशा नामक द्रव्य के, परममहर्षिभिः = बड़े बड़े महर्षियों ने, श्रुतिस्मृतिलोकसंव्यवहारार्थं = वेद, स्मृति, तथा लोक के अच्छी तरह धार्मिक व्यवहार होने के लिये, मेरुं = सुमेरु पर्वत के, प्रदक्षिणमावर्तमानस्य = परिक्रमा करने वाले, भगवतः सवितुः = भगवान् सूर्यनारायण के, ये = जो संयोगविशेषाः = विशेषरूप संयोगसम्बन्ध, लोकपालपरिगृहीतानां = पूर्व आदि दिशाओं के स्वामी इन्द्रादि देवताओं से स्वीकृत, दिक्प्रदेशानां = पूर्व आदि दिशाओं के प्रदेशों की, अन्वर्थाः = सार्थ नाम वाली, प्राच्यादिभेदेन = पूर्वपश्चिम इत्यादि भेद से, दशविधाः = दस प्रकार की, संज्ञाः = नाम, कृताः = की हैं, अतः = इस कारण, भक्त्या = गौण रूप से, दश = दस,. दिशः = दिशाएँ, सिद्धाः = सिद्ध है। तासामेव = उन्हीं दस दिशाओं की, देवतापरिग्रहात् = देवताओं के स्वीकार करने से, पुनः = फिर, दश = दस, संज्ञाः = नाम, भवन्ति = होते हैं, माहेन्द्रो इन्द्र की) वैश्वानरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त्या दश दिशः सिद्धाः । तासामेव देवतापरिग्रहात् पुनर्दश सञ्ज्ञा भवन्ति माहेन्द्री वैश्वानरी याम्या नैर्ऋती वारुणी वायव्या कौवेरी ऐशानी ब्राह्मी नागी चेति ।

(१२) आत्मप्रकरणम् ।

आत्मत्वाभिसम्बन्धादात्मा । तस्य सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षत्वे सति करणैः शब्दा-

---

(अग्नि की), याम्या (यम की), नैर्ऋत (नैर्ऋत राक्षस की), वारुणी (वरुण की) वायव्या (वायु की), कौवेरी (कुवेर की) ऐशानी (ईशान की), ब्राह्मी (ब्रह्मा की), नागी च (और नागोंसर्पों की) इति = इस प्रकार ।।

भाषाभाष्य—इस दिशा नाम के द्रव्यता साधक संख्या से विभाग तक पांच ही सामान्य गुण काल के समान हैं, जो काललिङ्ग की अविशेषता के समान पूर्व पश्चिम इत्यादि व्यवहार सर्वत्र समान होने से दिशा एक है, तथा एक प्रख्यानुसारी होने से उसमें एक पृथक्त्व गुण तथा व्यापक होने से परममहत्परिमाण है, तथा आदित्य संयोगादि निमित्त पूर्वादि व्यवहार होने के कारण संयोग गुण, तथा संयोग नाश होने से विभाग गुण भी दिशा में है यह सिद्ध होता है। सूत्र—(९१) (७९) (२८०) (३०३) ।

पूर्व पश्चिम इत्यादि दिशा द्रव्य साधक लिङ्गों के समान होने के कारण उसके वस्तुतः एक होने पर भी बड़े बडे महर्षियों (आर्षदृष्टि सम्पन्न) ने वैदिक 'न प्रतीची शिराः शयीत' पश्चिम दिशा में सिर रख कर न सोवे इत्यादि, 'आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते' पूर्वाभिमुख भोजन से आयुवृद्धि होती है इत्यादि स्मृत्युक्त, तथा पूर्वादिशा में जाओ दक्षिण तरफ देखो 'पूर्वं गच्छ दक्षिणमवलोकय' इत्यादि लौकिक व्यवहारसिद्ध होने के निमित्त सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करने वाले भगवान सूर्य नारायण के पूर्वादि दिशाओं के स्वामी इन्द्रादि देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण प्रथम जिस दिशा में सूर्य भगवान् उदित होते हैं उसे पूर्व दिशा कहते हैं इत्यादि व्यवहारों से सार्थक प्राची इत्यादि भेद से दस प्रकार की संज्ञा की हैं, अतः औपाधिक यह दस दिशा द्रव्य के भेद हैं न कि वास्तविक। तथा इन्द्रादि देवताओं से अधिष्ठित होने से ही माहेन्द्री, आग्नेयी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, कौवेरी, ऐशानी, ब्राह्मी, नागी यह भी दसदिशा के औपाधिक भेद हैं। सूत्र—(९२) से (९५) तक ।

(१२) आत्मप्रकरण ।

पदपदार्थ—आत्मत्वाभिसम्बन्धात्=आत्मत्वजाति के समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होने से, आत्मा = आत्मा नामक द्रव्य सिद्ध होता है। तस्य=उस आत्मा के, सौक्ष्म्यात्= दुर्ज्ञेय होने से, अप्रत्यक्षत्वे सति=प्रत्यक्ष न हो सकने से, करणैः=विशेष कारणो से, शब्दाद्युपलब्धिनिमित्तैः=जो शब्दादि गुणों के प्रत्यक्ष ज्ञान से अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है, श्रोत्रादिभिः=श्रोत्र, चक्षु इत्यादि इन्द्रियों से, समधिगमः = स्वीकार, क्रियते =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वप्नान्तिकम् ॥ ८ ॥

(इसी तरह स्वप्न-कालीन-अनुभवजन्य-संस्कार से तथा आत्ममनः-संयोग से स्वप्न के मध्य में) स्वप्नान्तिक-ज्ञान भी (होता है)।

धर्माच्च ॥ ९ ॥

(स्वप्न तथा स्वप्नान्तिक-ज्ञान) अदृष्ट (धर्माधर्म) से भी (होते हैं; जैसे गजारोहणादिविषयक-स्वप्न अथवा स्वप्नान्तिक-ज्ञान धर्मजन्य हैं और पङ्कमज्जनादि विषयक-स्वप्न तथा स्वप्नान्तिक-ज्ञान अधर्म हैं)।

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥ १० ॥

(वातपित्तादिप्रकोप-जन्य) इन्द्रिय-दोष तथा (विशेषादर्शनादिरूप) संस्कार-दोष से विपर्ययज्ञान की उत्पत्ति होती है।

तद्दुष्टज्ञानम् ॥ ११ ॥

(अतः सामान्य रूप में) दुष्ट-ज्ञान (अतस्मिंस्तदित्याकारक ज्ञान) ही अविद्या है।

अदुष्टं विद्या ॥ १२ ॥

और दोषहीन ('तस्मिंस्तत्' इत्याकारक) ज्ञान ही विद्या है।

आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥ १३ ॥

इति नवमाध्याये द्वितीयाह्निकम्।

ऋषियों का (अतीतानागतपदार्थविषयक) ज्ञान और सिद्ध पुरुषों का मन्त्रादि-प्रभावजन्य-सर्वपदार्थविषयक) ज्ञान धर्म से उत्पन्न होता है। (कुछ लोग इन ज्ञानों को योगजज्ञान से भिन्न नहीं मानते हैं)।

नवम अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त।

नवम अध्याय समाप्त।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दशमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

इष्टानिष्टकारणविशेषाद्विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ॥१॥

इस (स्रक्-चन्दन आदि) और अनिष्ट (कण्टकादि) कारणों में परस्पर भेद तथा (एक आत्मा में एक काल में सहावस्थान में) विरोध के कारण सुख तथा दुःख परस्पर भिन्न पदार्थ हैं ।

संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥ २ ॥

(परस्परविरुद्ध कोटिद्वयोपस्थापक) संशय तथा (एककोट्युपस्थापक) निश्चय से भिन्नत्व ही सुख-दुःख के ज्ञानभिन्नत्व में प्रमाण है । (तात्पर्य यह है कि सुख तथा दुःख में न तो परस्परविरुद्ध कोटिद्वय की उपस्थिति होती है और न एककोटि का ही उल्लेख होता है; अतः उन्हें संशय या निश्चय रूप में विभक्त ज्ञान से अभिन्न मानना उचित नहीं) ।

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥ ३ ॥

सन्देह तथा निश्चय—दोनों ही प्रत्यक्षसामग्रीजन्य तथा अनुमिति-सामग्रीजन्य होते हैं (जब कि सुख-दुःख की उत्पत्ति में प्रत्यक्षसामग्री किंवा अनुमिति-सामग्री की कोई आवश्यकता नहीं होती । अतः सुख-दुःख को ज्ञान-भिन्न ही मानना चाहिए) ।

अभूदित्यपि ॥ ४ ॥

(दूसरी बात यह है कि) अतीतवह्न्यादिविषयक (तथा भविष्यद्वह्न्यादि-विषयक वर्तमानकालिक) अनुमिति होती है (परन्तु अतीतविषयजन्य अथवा भविष्यद्विषयजन्य सुख अथवा दुःख नहीं होता है । अतीतादिविषयसमुत्थ सुख तो तद्विषयोद्भूतसुखानुस्मरण से होता है और स्मरण तो वर्तमानकालिक ही रहता है । अतः सुख-दुःख ज्ञान-स्वरूप नहीं हो सकता है) ।

सति च कार्यादर्शनात् ॥ ५ ॥

(एवम् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा व्याप्तिपक्षधर्मतादि-प्रतिसन्धान के रहने पर क्रमशः प्रत्यक्षज्ञान तथा अनुमितिज्ञान का उद्भव प्रसिद्ध है परन्तु उपर्युक्त)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कारणों के रहने पर भी सुख-दुःख की उत्पत्ति नहीं होती है (अतः यह सिद्ध है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा प्रत्यक्ष में कार्य-कारणभाव के विपरीत इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा सुख-दुःख का कार्यकारणभावाभाव सुख-दुःख के ज्ञानात्मकत्व का प्रतिषेधक है)।

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥ ६ ॥

(साथ ही यह भी ध्येय है कि) सुख एकार्थ (= एकात्म) समवेत स्वविजातीय असाधारण कारण (= धर्म, सुखोपादानयत्न, स्रक्चन्दनादिज्ञान आदि) से जन्य है और दुःख भी एकार्थसमवेत (= स्वसमानाधिकरण) स्वविजातीय असाधारणकारण (अधर्म, कण्टकादिज्ञान) से जन्य है (परन्तु ज्ञान तो स्वसमानाधिकरणस्वविजातीय असाधारण कारणजन्य नहीं है। यद्यपि सविकल्पज्ञान विशेषणविधया स्वसमानाधिकरण-निर्विकल्पकज्ञान-जन्य है तथापि वह निर्विकल्पज्ञान सविकल्पक विजातीय नहीं है क्योंकि ज्ञानत्वजाति निर्विकल्पक तथा सविकल्पक में वर्त्तमान है; इसी प्रकार अनुमिति में कारणविधया अपेक्षित व्याप्ति—पक्षधर्मतादि—ज्ञान स्वसमानाधिकरण होने पर भी ज्ञानत्वविशिष्ट अनुमिति-ज्ञान का विजातीय नहीं है। अतः कारणस्वरूप में भेद के होने से कार्य में भी परस्पर भेद मानना चाहिए)।

एकदेशे इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ॥७॥

इति दशमाध्याये प्रथमाह्निकम्।

शरीर के एकदेश (= अवयव).—शिर, पृष्ठ, उदर, मर्म आदि के उपादानभूत परमाणु-द्व्यणुकादि में (परमाणुत्वेन और द्व्यणुकत्वेन साधारण होने से यद्यपि यह प्रतीत होता है कि कारण-भेद नहीं है और इसलिए वहाँ सभी अवयवों में परस्पर भेद नहीं होना चाहिए, परन्तु कारण-साजात्य रहने पर भी शिरो-हस्तादि में भेद सर्वानुभव-सिद्ध है, अतः कारणसाजात्य और कारणवैजात्य में भेदप्रयोजकत्व नहीं होना चाहिए, तथापि विचार करने पर यह स्पष्ट है कि परमाणुत्वादि धर्म से सबों के उपादान में साजात्य होने पर भी) प्रत्येक परमाणु में भेदकत्वेन वर्त्तमान विशेष के हेतु (पृष्ठोपादान-परमाणु जिन विशेषों से युक्त हैं उन विशेषों से युक्त शिर-उपादान-भूत-परमाणु नहीं हैं अतः तत्तद्विशेषविशिष्ट रूप से प्रत्येक अङ्ग के उपादान-परमाण्वादि में वैजात्य वर्त्तमान है और इस तरह) कारण-वैजात्य से ही शिरः-पृष्ठादि में परस्पर भेद है।

दशम अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दशमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

कारणमिति द्रव्ये कार्य्यसमवायात् ॥ १ ॥

द्रव्य में ही उसके कार्य-भूत (अवयविद्रव्य, गुण, क्रिया आदि) के समवाय होने से द्रव्य ही समवायिकारण होता (और इसीलिए द्रव्य के लिए ही समवायि-कारण शब्द का प्रयोग होता) है।

संयोगाद्वा ॥ २ ॥

(पट के समवायि-कारण तन्तु में) संयुक्त होने के कारण (तुरी आदि द्रव्य पट का निमित्तकारण) भी (होता है।)

कारणे समवायात् कर्माणि ॥ ३ ॥

(समवायि) कारण में समवेत होने से कर्म (संयोग, विभाग आदि के कार्यैकार्थ-प्रत्यासत्ति से असमवायि कारण होते हैं)।

तथा रूपे कारणैकार्थसमवायाच्च ॥ ४ ॥

(अवयविद्रव्यगत रूप के प्रति अवयवद्रव्यनिष्ठ) रूप कारणैकार्थसमवाय (=स्व-समवायि-समवेतत्व) सम्बन्ध से (असमवायि-कारण होता है)।

कारणसमवायात् संयोगः पटस्य ॥ ५ ॥

(पट के समवायिकारण) तन्तुओं में समवेत होने के कारण (तन्तुओं का परस्पर) संयोग (कार्यैकार्थ-प्रत्यासत्ति से ही असमवायिकारण होता है)।

कारणाकारणसमवायाच्च ॥ ६ ॥

(तूल = रूई के पिण्ड के अवयवों में वर्त्तमान प्रचय नाम का शिथिल संयोग) स्व (=संयोग) समवायि (=तूलावयव) समवेत (=तूलपिण्ड) सम्बन्ध से (तूलपिण्ड-समवेत-महत्त्व का असमवायि-कारण होता है)।

संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् ॥ ७ ॥

अग्नि का वैशेषिक गुण (=उष्णत्व) (स्वसमवायि = पाकजरूपसमवायि-घटादि) संयुक्त (=अग्नि) समवेतत्व सम्बन्ध से (घटादि पदार्थगत पाकज-रक्त-रूपादि का निमित्त-कारण होता है)।

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ॥ ८ ॥

प्रामाणिक (तथा अनुपदिष्टफलक दानादि) कर्म और उपदिष्ट-प्रयोजनक (स्वर्ग-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रापक अग्निहोत्रादि) कर्म के विषय में (साधारण पुरुष-) दुष्ट (भ्रम-प्रमादादि) के अभाव होने से इन कर्मों का अनुष्ठान अपूर्वोत्पादक होता है ।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति ॥ ९ ॥

इति दशमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

इति श्रीमन्महर्षिकणादविरचितं वैशेषिकसूत्रं समाप्तम् ।

(उपर्युक्त कर्म भ्रमप्रमादादिशून्य इसलिए माने जाते हैं कि उनका उपदेश निर्दुष्ट वेदवाक्यों द्वारा होता है और) उन वेदवाक्यों का प्रामाण्य (=निर्दोषत्व) तो उनके (दोषहीन अपरिसंख्येय गुणयुक्त होने के कारण तत् पद से निर्देश्य) ईश्वर के वचन होने के कारण ही है । (एवञ्च निर्दोष ईश्वर के वचन होने से वेद का प्रामाण्य, और वेद-प्रामाण्य से कर्मानुष्ठान तथा उसके फल का प्रामाण्य सिद्ध होता है; परन्तु चिरध्वस्त यज्ञादि कर्म का चिरकालानन्तर प्राप्य स्वर्गादि फल के साथ कार्यकारणभाव के उपपन्न नहीं होने से उन कर्मों से अपूर्व की उत्पत्ति फलोत्पादन के निमित्त माननी चाहिए—यह अभिप्राय है) ।

दशम अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त

दशम अध्याय समाप्त ।

श्रीशङ्करकृपोद्भूतं शाङ्करोक्तिसमाश्रितम् ।
रसर्तुग्रहचन्द्राब्दे नारायणविनिर्मितम् ॥
शिशूनां प्रविविक्षूणामाचार्यपथगामिनाम् ।
कणाददर्शनस्येदं भूयाद् भाषान्तरं मुदे ॥

इति श्रीनारायणमिश्रविरचिता हिन्दी व्याख्या समाप्ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः

प्रशस्तपादभाष्यम्

हिन्दीभाष्योपेतम् ।

(१) ग्रन्थप्रयोजनप्रकरणम् ।

प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः ।
पदार्थधर्मसङ्ग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः ॥

---

(१) ग्रन्थप्रयोजनप्रकरण ।

करि प्रणाम गुरु चरण को मातापितृसमेत ।
प्रशस्तपादके भाष्य का भाषा भाष्य रचों ॥

पदपदार्थ—प्रणम्य, हेतुं, ईश्वरं, मुनिं, कणादं, अनु, अतः, पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते, महोदयः । हेतु=कार्यमात्र के निमित्त कारण, ईश्वरं=परमात्मा को, अनु अतः=इसके पश्चात् , मुनिं=कणादमहर्षि को, प्रणम्य=प्रणाम कर, महोदयः= विशाल ज्ञान का संपादक, पदार्थधर्मसंग्रह नाम का ग्रंथ, प्रवक्ष्यत=कहा जायगा ।

भाषाभाष्य—शास्त्रारंभ के समय सकल शिष्टों के सदाचार से प्राप्त कायिकादि परापरगुरुनमस्काररूप मङ्गलाचरण को ग्रन्थारम्भ आदि सम्पूर्ण कार्यों के आदि में करना आवश्यक है ऐसा शिष्यों को उपदेश देने के निमित्त स्वयं महर्षि कणाद ने भी मङ्गलाचरण किया है कि मैं संपूर्ण उत्पन्न होनेवाले कार्य के निमित्त कारण परमात्मा को भक्ति श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर उसके पश्चात् कपोत के समान कण-कण बटोरकर भोजन का निर्वाह करने के कारण प्रसिद्ध कणाद नाम के महर्षि को भी प्रणाम कर, विस्तृत ज्ञान के संपादक, जिस ग्रन्थ में द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष तथा समवाय नामक छ पदार्थ, और उनके परस्पर-समानधर्म तथा विरुद्ध धर्म रूप तत्त्वज्ञानोपयोगिधर्मोंका जो सूत्रों में अनेक स्थानों में अक्रम से वर्णित हैं, एकत्र सङ्कलन कर प्रशस्तदेव ने वर्णन किया है इस कारण 'पदार्थधर्मसंग्रह' नामक ग्रंथ जो 'प्रशस्तपादभाष्य' नाम से प्रसिद्ध है विशेष रूप से वर्णन करता हूं ।

उक्त मङ्गल श्लोक में प्रशस्तपादाचार्य ने प्रेक्षावान् प्राणियों के प्रवृत्त में अङ्गभूत विषय(१) सम्बन्ध(२) अधिकारी(३) तथा प्रयोजन(४) ऐसा अनुबंध चतुष्टय दिखलाया है । जो इस प्रकार है—पदार्थ धर्मसंग्रह इस पद से द्रव्यादि षट पदार्थ अभिधेय अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः। तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव ॥

विषय(१), ग्रंथ तथा द्रव्यादिपदार्थों का वाच्यवाचकभाव, एवं उनके ज्ञान से महोदय के साथ साध्यसाधनभाव रूपसम्बन्ध(२), पदार्थ तथा धर्म के तत्त्वज्ञानद्वारा निःश्रेयस (मोक्ष) की इच्छा रखनेवाले अधिकारी(३), एवं महोदयपदसे तत्त्वज्ञानरूप प्रयोजन सूचित किया है।

टिप्पणी—उपरोक्त भाष्यपद्यसे 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' इस वैशेषिक प्रथम सूत्र की व्याख्या की गई है, किन्तु न्यायभाष्यादि अन्यभाष्यों के समान प्रशस्तपाद भाष्य सूत्रक्रमानुसारी न होने के कारण इस पुस्तक में प्रारम्भ में दिये सूत्रपाठ का सङ्कलनाङ्क भाषाभाष्य के अन्त में सर्वत्र दे दिया गया है जिससे पाठकों को भाष्य तथा सूत्रों का सम्बन्ध सरलता से समझ में आ जायगा।

पदपदार्थ—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां = द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक, षण्णां पदार्थानां = छ पदार्थों का, साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं = समानधर्म तथा विरुद्धधर्मरूपधर्मों का वास्तविकज्ञान, निःश्रेयसहेतुः = मोक्ष का कारण है। च = और, तत् = वह निःश्रेयस, ईश्वरचोदनाभिव्यक्तात् = ईश्वर की प्रेरणा से प्रकट भये, धर्मादेव = अदृष्ट विशेष से ही (होता है)।

भाषाभाष्य—'शब्दों का अर्थ ज्ञान से भिन्न दूसरा फल न हो सकने से प्रशस्तपादभाष्य का पूर्वप्रदर्शित महोदयफल कैसे हो सकता है'—इस आक्षेप का समाधान 'द्रव्यगुण' इत्यादि 'निःश्रेयसहेतुः' इत्यन्त भाष्य में इस प्रकार किया है कि द्रव्यादिपदार्थ धर्मप्रतीति का कारण होने से यह पदार्थधर्मसंग्रह नामक ग्रन्थ परम्परया महोदय का भी कारण हो सकता है। जिस पदार्थ का जो धर्म हो वह उसका तत्त्व कहा जाता है, अर्थात् समानधर्म तथा विरुद्धधर्मरूप तत्त्व का ज्ञान निःश्रेयस का कारण है, और वह तत्त्वज्ञान उपरोक्त द्रव्यादिषट्पदार्थों का ही वैशेषिकों के मत से निःश्रेयस का कारण है। 'यदि उक्त प्रकार से पदार्थधर्मतत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का कारण माना जाय तो धर्म निःश्रेयस का कारण न होने से उसकी कारणता को बोधित करनेवाले 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इस वैशेषिक सूत्र का विरोध आ जायगा इस शंका के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं कि वह निःश्रेयस धर्म से ही प्राप्त होता है, और उसमें पदार्थधर्मतत्त्वज्ञान कारण होने से परम्परया वह भी निःश्रेयस का साधन है। किन्तु वह ईश्वर की इच्छारूपप्रेरणा से प्रकट हुये धर्म से ही होगा न कि केवल धर्म से, अर्थात् ईश्वर के अनुग्रह के विना किसी भी अदृष्टरूप धर्म से अभ्युदय अथवा निःश्रेयसरूप फल की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस भाष्य की उदयनाचार्य ने ऐसी व्याख्या की है कि वेदरूपी ईश्वर चोदना में वर्णन किये हुए धर्म से निःश्रेयस होता है, अर्थात् वैशेषिक दर्शन में वर्णित द्रव्यादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२) उद्देशप्रकरणम्

अथ के द्रव्यादयः पदार्थाः किञ्च तेषां साधर्म्यं वैधर्म्यञ्चेति ? ॥

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि सामान्यविशेष सञ्ज्ञयोक्तानि नवैवेति ।· तद्व्यतिरेकेणान्यस्य सञ्ज्ञानभिधानात् ॥

गुणाश्च रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्व-बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चेति कण्ठोक्ताः सप्तदश । चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्काराऽदृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिगुणाः ।

पदार्थों का विवेचन करने के पश्चात् श्रुति स्मृति इतिहास पुराण इत्यादिकों में कहे हुए योगविधि से दीर्घ कालतक आदर से निरन्तर सेवन किये हुए निवृत्तिरूप धर्म से ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है और वही अपवर्ग (निःश्रेयस) का साधन है । इसी से पतंजलि महर्षि ने कहा है 'स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' इति । उपरोक्त भाष्य में (२) (३) (४) सूत्रों का सम्बन्ध है ।

(२) उद्देश-प्रकरण

पदपदार्थ—अथ = प्रश्न है, वे=कौन से हैं ? द्रव्यादयः = द्रव्य इत्यादि, पदार्थाः = पदार्थ, किं च = और क्या है, तेषां = उन पदार्थों का, साधर्म्यं = समान धर्म, वैधर्म्यं च = और विरुद्धधर्म, इति = ऐसा । तत्र = उक्त छ पदार्थों में, द्रव्याणि = द्रव्यनाम के, पृथिव्यप्तेजो-वायु-आकाश-काल-दिगात्ममनांसि = पृथिवी, जल, तेज. वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, तथा मन के हैं क्योंकि, सामान्य विशेष संज्ञया=द्रव्यनाम के साधारण नाम तथा पृथिवी जल इत्यादि विशेष नाम से, उक्तानि=कहे, नवैव=नौ ही हैं । इति = ऐसा, क्योंकि तद्व्यतिरेकेण = इन नौ को छोड़कर, अन्यस्य = दूसरे द्रव्य का, संज्ञानभिधानात् = नाम कथन न होने से ।

गुणाश्च = और गुण पदार्थ भी, रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, तथा प्रयत्न, कण्ठोक्ताः—सूत्रकार ने कण्ठ से कहे, सप्तदश = सत्रह हैं, चशब्दसमुच्चिताश्च = और च शब्द से संग्रह किये हुए, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट (धर्माधर्म) तथा शब्द. सप्तैव = सात ही हैं, इत्येवं = इस प्रकार, चतुर्विंशतिः = चौबीस, गुणाः = सब गुण हैं ।

भाषाभाष्य—इस प्रकार वैशेषिक मत सिद्ध द्रव्यादिपद-पदार्थों का ज्ञान पुरुषार्थ (अभ्युदय या निःश्रेयस) का उपाय है, यह जानकर उक्त प्रत्येक पदार्थों के भेद के ज्ञान की इच्छा से उत्पन्न शिष्यों के प्रश्न को दिखाते हुए आचार्य कहते हैं कि वे पदार्थ कौन से हैं तथा उनके समान तथा विरुद्ध धर्म रूप धर्म कौन हैं । यहाँ पर धर्म ज्ञान का प्रश्न पृथक् इसलिये किया है कि धर्म तथा धर्मिका वैशेषिक मत में भेद है ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्चैव कर्माणि । गमनग्रहणाद्भ्रमणरेचनस्पन्दनोर्ध्वज्वलनतिर्यक्पतननमनोन्नमनादयो गमनविशेषा न जात्यन्तराणि ॥

से धर्मीका ज्ञान होने पर धर्मका ज्ञान अवश्य होता है यह नियम नहीं है । उत्तर में आचार्य कहते हैं कि प्रदर्शित छ पदार्थों में से द्रव्यपदार्थ पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, तथा मन इस प्रकार द्रव्यनामक साधारण संज्ञा तथा पृथिवी जल इत्यादि विशेष संज्ञा से सूत्रकारने कहे हुए नौ ही है, क्योंकि इन नौ को छोड़कर दूसरे का नाम सूत्र में नहीं है । यहाँ पर नाम कथन रूप उद्देश के अनन्तर लक्षण के बाद द्रव्यों का विशेषोद्देश रूप विभाग करना उचित है तो आचार्य ने लक्षण क्यों नहीं किया इस शंका का समाधान ऐसा है कि द्रव्यपद से ही द्रव्यत्वजातिमान अथवा गुणवान् या क्रियावान् को द्रव्य कहते हैं ऐसा लक्षण सूचित होने से भाष्य में न्यूनता नहीं आ सकती । सूत्र (५) का यह भाष्य है ।

क्रमप्राप्त गुणपदार्थ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श. संख्या, परिमाण. पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इस प्रकार सूत्रकार ने सूत्र में कण्ठ से कहे हुए गुण सत्रह, तथा गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट (धर्माधर्म), और शब्द इस प्रकार चकार से सूचित गुण सात ही है, इस प्रकार संकलना से चौबीस गुण पदार्थ हैं । यहां भी गुण लक्षण की जिज्ञासा मे गुणत्वजातिमत्व इत्यादि लक्षण गुणपद से जानना चाहिये जो आगे गुणनिरूपण में विस्तार से कहा जायगा ।

यहां पर 'वेग, भावना, तथा स्थितिस्थापक नामक तीन संस्कार होने से दो गुण अधिक हो सकते हैं, तथा अदृष्टपद से धर्म तथा अधर्म का संग्रह हो सकने से एक गुण न्यून होता है जिससे सब पचीस गुण पदार्थ का विभाग असंगत है' ऐसी शंका का समाधान आचार्य को यह अभिप्रेत है कि वेगादि तीनों संस्कारों में 'समानोत्पादकत्व' समान को उत्पन्न करना यह सामान्य लक्षण होने से अधिकता नहीं हो सकती और धर्म तथा अधर्म का विजातीय सुखदु:खादिफल होने से उन दोनों में साधारण अदृष्टत्व रूप जाति का संभव न होने से न्यूनता भी नहीं आ सकती, अतः गुणपदार्थ का विभाग यथार्थ है । सूत्र (६)

पदपदार्थ—उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि = उत्क्षेपण (उपर फेंकना) अपक्षेपण (नीचे फेंकना) आकुञ्चन (अपनी ओर खींचना) प्रसारण (फैलाना) गमन (जाना) पञ्चैव = पांचही, कर्माणि = कर्म पदार्थ हैं । गमनग्रहणात् = गमनपद के ग्रहण से, रेचनस्पन्दनोर्ध्वज्वलनतिर्यक्पतननयनोन्नमनादयः = रेचन होना चूना, ऊपर जलना, तिरछे गिरना, झुकना, ऊपर उठना इत्यादि, गमनविशेषाः = गमन ही के विशेष (भेद) हैं न = नहीं हैं, जात्यन्तराणि = दूसरी जाति के कर्म ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामान्यं द्विविधं परमपरं चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम् । तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात् । सा चाऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव । द्रव्यत्वाद्यपरमल्पविषयत्वात् । तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद्विशेषाख्यामपि लभते ॥

नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः । ते खल्वत्यन्तव्यावृत्तिहेतुत्वाद्विशेषा एव ॥

सामान्यं = सामान्य (जाति) नाम का पदार्थ, द्विविधं = दो प्रकार का है, परं = पर नाम का, अपरं च = और अपर नाम का, अनुवृत्तिप्रत्ययकारणम् = जो अनुगत ज्ञान का कारण होता है । तयोः = उन दोनों में, परं = पर सामान्य । सत्ता = सत्ता नामक जाति है । महाविषयत्वात् = अधिक विषयक होने से, सा च = और वह, अनुवृत्तेरेव = अनुगत बुद्धि के ही, हेतुत्वात् = कारण होने से, सामान्यमेव = जाति पदार्थ ही है । द्रव्यत्वादि = द्रव्यत्वगुणत्व आदि, अपरं = अपर जाति है, अल्पविषयत्वात् = न्यूनविषयक होने से । तच्च = और वह, व्यावृत्तेरपि = भेद के भी, हेतुत्वात् = कारण होने से, सामान्यं सत् = सामान्य (जाति) रूप होते हुए, विशेषाख्यामपि = विशेष नाम को भी, लभते = प्राप्त होता है ॥

नित्यद्रव्यवृत्तयः = परमाण्वादिनित्यद्रव्यों में रहने वाले, अन्त्याः = अन्त में होने वाले, विशेषाः = व्यावर्तक होने से विशेष नाम के पदार्थ हैं । ते खलु = वे निश्चय से, अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुत्वात् = अत्यन्त भेद ही के साधक होने से, विशेषा एव = विशेष ही कहे जाते हैं ।

भाषाभाष्य—कर्म पदार्थ ऊपर फेकना, नीचे फेंकना, अपनी ओर खींचना, फैलाना तथा जाना ऐसे पांच ही वैशेषिक मत में माने गये हैं क्योंकि घूमना रेचन, स्यन्दन (चूना) ऊपर की तरफ जलना जैसे अग्नी का, तिरछे चलना जैसे वायु का, झूकना, ऊपर उठना इत्यादि कर्म गमन ही के विशेष (भेद) हैं इसलिये दूसरे जाति के कर्मों को गमन से भिन्न नहीं माना है ।

अनुगत बुद्धि का कारण सामान्य (जाति) नामक चतुर्थ पदार्थ पर = अधिक व्यक्तियों में रहने वाला तथा अपर न्यून व्यक्तियों में रहने वाला दो प्रकार का है । जिनमें से केवल पर नाम की जाति का नाम है सत्ता क्योंकि वह सकल और जातियों की अपेक्षा अधिक व्यक्तियों में रहती है और केवल अनुगत बुद्धि ही कराती है इसलिये वह सामान्य ही है । और द्रव्यत्व गुणत्व इत्यादि जाति न्यून में रहने से अपर जाति कहाती हैं । और वे इतर भेद ज्ञान का भी कारण होने से सामान्य होते हुए विशेष भी कहलाती हैं । वैशेषिकों का यह अभिप्राय है कि सत्ता केवल सामान्य होने पर भी उसका सामान्य पदार्थ में अन्तर्भाव है, और द्रव्यत्वादि जातियों का भी अनुगत तथा भेद बुद्धि का कारण होने से सामान्य तथा विशेष होते हुए भी सामान्य पदार्थ ही में अन्तर्भाव है और केवल व्यावृत्ति बुद्धि के कारण वक्ष्यमाण विशेष पदार्थ भिन्न हैं । यद्यपि सत्ता सामान्यादिकों से व्यावृत्त है, तथापि उनसे अन्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः ॥
एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशः कृतः ॥

(३) साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरणम् ।

षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि ।

आधार को व्यावृत्त नहीं कर सकती, क्योंकि उनमें भी स्वरूप सत्ताबुद्धि संवेद्यता है। ऐसा श्रीधराचार्य ने कन्दली में कहा है। यदि इस प्रकार सामान्यादि पदार्थों से भिन्न होते हुए भी सत्ता अपने आश्रय को उससे व्यावृत्त न करें तो किसी प्रकार की विशेषता न होने से द्रव्यत्वादिकों को भी व्यावृत्त न करें' इस शंका के समाधान में किरणावलीकार श्री उदयनाचार्य कहते हैं कि व्यक्ति के स्वरूपमात्र से व्यंग्य होने के कारण सत्ता का एक व्यक्तिकता का नियम नहीं हो सकता। सूत्र (३४) (३५)

पृथिवी जल तेज तथा वायु के परमाणु और आकाश काल दिशा आत्मा तथा मनरूपी नित्य द्रव्यों में रहनेवाले, अन्त में होनेवाले, केवल व्यावृत्ति करने के कारण 'विशेषवन्ति = व्यावर्तयन्ति' इस व्युत्पत्ति से जिनकी वैशेषिक दर्शन में विशेष नाम से प्रसिद्धि है, ऐसे विशेष पदार्थ अत्यन्त व्यावृत्ति (भेद) के कारण होने से वे विशेष ही हैं, न कि द्रव्यत्वादिकों के समान सामान्य भी, क्योंकि यह विशेष पदार्थ सर्वदा केवल व्यावृत्ति ही के कारण हैं। नित्य द्रव्यों से भिन्न पदार्थों में न रहते हुए जो केवल नित्य द्रव्यों मे रहते हैं वे विशेष कहलाते हैं यह यहाँ पर विशेष पदार्थ का लक्षण सूचित होता है। यहां केवल नित्यद्रव्यवृत्तित्वमात्र विशेष का लक्षण किया जाय तो द्रव्यगुण कर्म सामान्य में भी नित्यद्रव्यवृत्तित्व होने से अतिव्याप्ति दोष होने के कारण नित्यद्रव्येतरावृत्तित्वे सति यह विशेषण दिया है द्रव्यत्वादिकों के नित्य द्रव्य भिन्न अनित्यों में भी रहने के कारण दोष नहीं आता। द्रव्यगुण कर्मों के भी द्रव्यों में रहने से पुनः अतिव्याप्ति दोष होने के कारण नित्यपद दिया गया है॥ सूत्र (३६)

पदपदार्थ—अयुतसिद्धानां = प्राप्त होकर रहने वाले, आधार्याधारभूतानां = आश्रय तथा आश्रयी रूप पदार्थों का, यः = जो, सम्बन्धः = सम्बन्ध, इह प्रत्ययहेतुः = इन तन्तुओं में पट है इत्यादि प्रतीतिका कारण होता है, सः = वह, समवायः = समवाय कहा जाता है।

एवं = इस प्रकार, धर्मैः = धर्मों के, विना = छोड़कर, धर्मिणां = केवल द्रव्यादिरूप धर्मियों का उद्देशः = उद्देश (नाममात्र कथन)। कृतः = किया गया।

(३) साधर्म्य वैधर्म्य प्रकरण।

षण्णामपि—द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष तथा समवाय इन छओं भी, पदार्थानां = पदार्थों का, अस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि = स्वरूप सत्ता, वाच्यता, तथा ज्ञान विषयता ये तीनों समान धर्म हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

आश्रितत्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः । द्रव्यादीनां पञ्चानां समवायित्वमनेकत्वं च । गुणादीनां पञ्चानामपि निर्गुणत्वनिष्क्रियत्वे । द्रव्यादीनां त्रयाणापि

भाषा भाष्य='अयुताश्च ते सिद्धाश्च' इत्ययुतसिद्धाः इस व्युत्पत्ति बल से जो प्राप्त ही स्वरूप से सिद्ध होते हैं वियुक्त नहीं, उन्हें अयुतसिद्ध कहते हैं, उनका प्राप्त रूप समवाय सम्बन्ध होता है, जैसे तन्तु तथा पट का । इससे संयोग सम्बन्ध के 'अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः' इस लक्षण के अनुसार अप्राप्ति पूर्वक प्राप्ति होने के कारण उसकी व्यावृत्ती हो जाती है । और इससे यह सिद्ध होता है कि नित्य प्राप्ति रूप सम्बन्ध का नाम है समवाय । नित्य पदार्थों का संयोग नहीं मानते इसलिये उसमें उक्त समवाय का लक्षण न जाने से अतिव्याप्ति दोष नहीं आ सकता । यहाँ पर प्राप्ति पद से वाच्य वाचक रूप शब्दार्थ सम्बन्ध का निवारण करने के लिये भाष्यकार ने 'आधार्याधारभूतानां' यह विशेषण दिया है । जिसका अर्थ है स्वभाव से आश्रय तथा आश्रयि रूप न कि आगन्तुक धर्म से, वाच्य-वाचक सम्बन्ध आगन्तुक होने से उसकी व्यावृत्ति हो जाती है । उक्त समवायसम्बन्ध को मानने के लिये प्रमाण देने के लिये **'इह प्रत्ययहेतुः'** यह समवाय का विशेषण दिया है, अर्थात् 'इह तन्तुषु पटः—इन तन्तुओं में पट है' इत्यादि प्रतीति, बिना सम्बन्ध विशेष के अनुपपन्न होने से तन्तु तथा पट के समवाय नामक सम्बन्ध को सिद्ध करती है । और पट समवाय सम्बन्ध सम्बन्धि स्वरूप न होने के कारण वैशेषिक मत में अतिरिक्त पदार्थ माना गया है यह आगे विस्तृत रूप से वर्णन किया जायगा । सूत्र (२०७)

बिना धर्मियों के उद्देश धर्म वर्णन असंगत होगा इसलिये धर्मोद्देश के कथन के लिये भाष्यकार संगति देखलाते हैं कि इस प्रकार धर्मि का उद्देश समाप्त हुआ । इस भाष्य का कोई सूत्र नहीं है । यद्यपि धर्म षट्पदार्थों से भिन्न नहीं हैं किन्तु परस्पर की अपेक्षा से वे ही धर्म तथा धर्मी होते हैं, तथापि उनके धर्मि रूप से ज्ञान होने के निमित्त पृथक् उद्देश करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उक्त द्रव्यादि षट्पदार्थों का अस्तित्व (स्वरूपसत्ता), अभिधान (कथन) योग्यता, तथा ज्ञान विषयता, यह तीन समान धर्म हैं । यदि कहें कि ' तीनों धर्म तो अभाव में भी हैं तो अतिव्याप्ति दोष होगा' इस शंका का समाधान ऐसा है कि अभाव का यह तीनों विरुद्ध हैं ऐसी यहाँ विवक्षा नहीं है किन्तु द्रव्यादि षट्पदार्थों के समान धर्ममात्र की विवक्षा है ।।

पदपदार्थ—आश्रितत्वं च = और आश्रित होना है, अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः = पूर्व प्रदर्शित परमाणु आकाशादि द्रव्यों से भिन्नों का साधर्म्य है । द्रव्यादीनां = द्रव्यगुण-कर्म सामान्य विशेष नाम के, पञ्चानां = पांच पदार्थों का, समवायित्वं = समवाय सम्बन्ध के सम्बन्धी होना, अनेकत्वं च = और अनेकता (साधर्म्य है)। गुणादीनां = गुण से लेकर समवाय तक, पंचानामपि = पांच पदार्थों का भी, निर्गुणत्व = गुणशून्यता तथा निष्क्रियत्व = क्रियाशून्यता (साधर्म्य है) ।। द्रव्यादीनां = द्रव्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्तासम्बन्धः सामान्यविशेषवत्त्वं स्वसमयार्थशब्दाभिधेयत्वं धर्माधर्मकर्तृत्वं च। कार्यत्वानित्यत्वे कारणवतामेव। कारणत्वं चान्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः। द्रव्याश्रितत्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः।

इत्यादि, त्रयाणामपि = तीनों पदार्थों का भी, सत्तासम्बन्धः = सत्ताजातिमत्ता, सामान्यविशेषवत्त्व = द्रव्यत्वादि रूप सामान्य विशेष धर्म वत्ता, स्वसमयार्थशब्दाभिधेयत्व = वैशेषिकमतसिद्ध अर्थशब्दवाच्यता, धर्माधर्मकर्तृकत्वं च = और धर्म तथा अधर्म को करना (साधर्म्यं) है ॥ कार्यत्वनित्यत्वे = कार्यता और अनित्यता (साधर्म्य हैं) कारणवतामेव = कारण वाले जन्य पदार्थों का ही ॥ कारणत्व च = और कारणता (साधर्म्यं है) अन्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः = अणुपरिमाण इत्यादि कों से भिन्न पदार्थों का ॥ द्रव्याश्रितत्वं च = और द्रव्यों के आश्रित होना (साधर्म्यं) है, अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः = परमाणु आदि नित्य द्रव्यों से भिन्न पदार्थों का।

भाषाभाष्य—पृथिव्यादिपरमाणु तथा आकाशादिनित्यद्रव्य सर्वाधारतानियामककालिकादि सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध से किसी के आश्रित नहीं होते, इस कारण उनसे भिन्न अनित्य द्रव्य तथा गुणादि कों का आश्रितत्व साधर्म्य है ॥

द्रव्य से विशेषतक पांच पदार्थों का समवाय सम्बन्ध के संम्बन्धि होना, तथा अनेक होना साधर्म्यं है। यहां समवायित्व का समवायसम्बन्ध की अधिकरणता ऐसा अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि बुद्धिरूप सामान्यादिकों में उसकी आश्रयता नहीं है, किन्तु सम्बन्धिता। अनेक शब्द का भी अनेक वृत्ति पदार्थ विभाजक धर्मवत्ता ऐसा जातिघटित अर्थ करना चाहिये, अन्यथा एक घट तथा आकाशादि एक पदार्थों में अनेकत्व न होने से अव्याप्तिदोष होगा, जातिघटित लक्षण करने से अनेक घटों में रहने वाली द्रव्यत्व जाति के एक घट तथा आकाशादिकों में रहने से उक्त दोष का निरास हो जायगा।

गुण कर्म सामान्य विशेष तथा समवाय तक पांच पदार्थों का गुणशून्यता तथा क्रियाशून्यता साधर्म्यं है, अर्थात् गुण और क्रिया केवल द्रव्यों में ही रहते हैं इन पांच मे नहीं। यद्यपि उत्पत्तिक्षण में घटादि द्रव्यों में गुण तथा क्रिया नहीं रहती, अतः अतिव्याप्ति दोष आ सकता है, किन्तु गुणवदवृत्तिधर्मवत्ता, तथा कर्मवदवृत्ति पदार्थविभाजकधर्मवत्ता ऐसा दोनों का क्रम से अर्थ करके से उक्त दोष का निरास हो जायगा, क्योंकि गुणवान् तथा कर्मवान् द्रव्यों में अवृत्ति धर्म होंगे गुणत्वादि, वे घट में नहीं रहते। आकाशत्वधर्म कर्म वाले द्रव्यों में अवृत्ति होने पर भी उसे पदार्थ विषयक न होने के कारण नहीं लिया जा सकता जिससे आकाश में दोष आवे। गुणादीनामित्यादि भाष्य। सू० (१६) (१७) (४०) (२७१) की व्याख्या है।

द्रव्य गुण तथा कर्म इन तीन पदार्थों का समवाय सम्बन्ध से सत्ता जातिमान् होना, सामान्य विशेष स्वरूप द्रव्यत्वादि धर्मवान् होना, तथा वैशेषिकों के शास्त्र में संकेतित (बतलाये हुए) अर्थ शब्द से कहा जाना, और धर्म तथा अधर्म को करना,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वमकार्यत्वमकारणत्वमसामान्यविशेषवत्त्वं नित्यत्वमर्थशब्दानभिधेयत्वं चेति ॥

पृथिव्यादीनां नवानामपि द्रव्यत्वयोगः स्वात्मन्यारम्भकत्वं गुणवत्त्वं कार्यकारणाविरोधित्वमन्त्यविशेषवत्त्वम् । अनाश्रितत्वनित्यत्वे चान्यत्रावय-

---

यह चार समान धर्म हैं। यहाँ एक ही गौ का दान तथा अपहरण रूप कर्म के भेद से धर्म तथा अधर्म दोनों की गौ करण है इस लिये धर्माधर्मकर्तृत्व गौरूप द्रव्य में संगत है ऐसा कन्दलीकारका मत है। आचार्य उदयन का यहाँ पर ऐसा कहना है 'कि धर्माधर्मकर्तृत्वं च' इस चकार से धर्मकर्तृत्व तथा अधर्मकर्तृत्व ऐसे दो साधर्म्य विवक्षित हैं, जिससे अधर्म को छोड़कर धर्मकर्तृत्व तथा धर्म को छोड़कर अधर्मकर्तृत्व भाष्यकार को अभिप्रेत है यह सिद्ध होता है।

कारणवान् तीन पदार्थों का ही कार्यत्व तथा अनित्यत्व साधर्म्य है अर्थात् जन्य-पदार्थों में ही कार्यता तथा अनित्यता होती है।

अणुपरिमाण आदि को छोड़कर दूसरे पटादिपरिमाण इत्यादिकों का कारणत्व साधर्म्य है अर्थात् अणुपरिमाण इत्यादि किसी के कारण नहीं होते। परिमाण्डल्यशब्द का अर्थ है वैशेषिक दर्शन में अणुपरिमाण; आदि शब्द से अणुपरिमाण के समान द्व्यणुकपरिमाण महत्परिमाण, अन्त्यावयविपरिमाण, अन्त्य शब्द, मनःपरिमाण, परत्व तथा अपरत्व, द्विपृथक्त्व यह किसी के कारण नहीं होते ऐसा श्रीधराचार्य का मत है। अन्त्य अवयवि में रहने वाले रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, द्वित्व संख्या, द्विपृथक्त्व, परत्व तथा अपरत्व, विनश्यत अवस्था वाले द्रव्य, संयोग, विभाग, कर्म, अन्त्य शब्द, चरम संस्कार, तथा ज्ञान इन सबका आदि पद से ग्रहण करना ऐसा किरणावलीकार उदयनाचार्य का मत है।

यह भाष्यकार ने स्वतंत्र रूप से वर्णन किया है।

पदपदार्थ = सामान्यादीनां = सामान्य इत्यादि, त्रयाणां = सामान्य विशेष समवाय इन तीन पदार्थों का, स्वात्मसत्त्वं = स्वरूपसत्तावत्त्व (सत्ता जाति विरह) बुद्धिलक्षणत्वं = बुद्धिमात्रप्रमाणवत्ता, अकार्यत्वं = कारणानपेक्षस्वभावना, अकारणत्वं = समवायि तथा असमवायि कारण न होना, असामान्यविशेषत्वं = सामान्यविशेष रूप अपर जाति शून्यता, नित्यत्वं = नित्यता, अर्थशब्दानभिधेयत्वं चेति = और अर्थ शब्द से वैशेषिक मत में न कहा जाना।

पृथिव्यादीनां = पृथिवी इत्यादि, नवानामपि = नौ पूर्वोक्त द्रव्यों का भी, द्रव्यत्व योगः = द्रव्यत्वजातिमत्ता, स्वात्मनि आरंभकत्वं = अपने में समवेत कार्य को उत्पन्न करना, गुणवत्त्वं = गुणवत्ता, कार्यकारणाविरोधित्वं = कार्य तथा कारण से अविनश्यता, अन्त्यविशेषवत्वं = पूर्वोक्त अन्त्यविशेष पदार्थ वत्ता (साधर्म्य है) ॥

अनाश्रितत्वनित्यत्वे = किसी के आश्रित न होना, तथा नित्यता, च = और (साधर्म्य है) अन्यत्र = भिन्नो में, अवयविद्रव्येभ्यः = अवयवि द्रव्यों से।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्रव्येभ्यः । पृथिव्युदकज्वलनपवनात्ममनसामनेकत्वापरजातिमत्त्वे । क्षिति-जलज्योतिरनिलमनसां क्रियावत्त्वमूर्तत्वपरत्वापरत्ववेगवत्त्वानि ।

पृथिव्युदकज्वलनपवनात्ममनसां = पृथिवी जल तेज वायु आत्मा तथा मन इन छ द्रव्यों का, अनेकत्व = अनेकता और अपर जातिमत्त्वं = सामान्य विशेष रूप अपर जाति मत्ता (साधर्म्यं है) ।

क्षितिजलज्योतिरनिलमनसां = पृथिवी जल तज वायु तथा मन इन पांच द्रव्यों का, क्रियावत्त्व, मूर्तत्व, परत्वापरत्ववेगवत्वानित्त = कर्मवा, मूर्तता, परत्ववत्ता, अपर त्वत्तां तथा वेगवत्ता (साधर्म्य है) ।

भाषाभाष्य = सामान्य विशेष तथा समवाय इन तीन पदार्थों की स्वरूपतः सत्ता है, किन्तु पूर्वोक्त सत्ता जाति इनमें नहीं रहती । तथा द्रव्यादिको में उनके कार्य जेसे प्रमाण होते हैं वैसे इनका कार्य प्रमाण नहीं है किन्तु केवल अनुवृत्तिबुद्धि, व्यावृत्तिबुद्धि, तथा इहेति बुद्धि, ही क्रम से इन तीनों में प्रमाण हैं । तथा ये तीनों कारणानपेक्षस्वभाव हैं । इन तीनों में समवायिकारणत्व तथा असमवायिकारणत्व नहीं होता ऐसा अकारणत्व का अर्थ करना चाहिये क्योंकि यह तीनों बुद्धि में निमित्त कारण होते हैं । सामान्य विशेष रूप अपर जाति भी इन तीनों में नहीं रहती । सामान्यादिकों में भी समान्यमानने से अनवस्था दोष हो जायगा इस लिये सामान्य नहीं है । तो इनमें प्रतीति की अनुवृत्ति कैसे होगी, अर्थात् सामान्यं सामान्यं ऐसी अनुगतबुद्धि सामान्य में कैसे होगी इस शंका के समाधान में कन्दलीकार ने कहा है कि अनेक व्यक्ति में सम्बद्ध होने रूप उपाधि मात्र से उक्त अनुगत बुद्धि का निर्वाह हो सकता है । विशेषो में भी अत्यन्त व्यावृत्ति बुद्धिजनकतारूप उपाधि को लेकर विशेषः विशेषः ऐसी एकाकार प्रतीति हो सकती है । ध्वस तथा प्रागभाव के प्रतियोगी न होने से तीनों का नित्यत्व भी साधर्म्यं है । और ये तीनों वेशेषिक दर्शन में बुद्धि रूप होने से अर्थशब्द से नहीं कहे जाते अतः स्वसंकेतितार्थशब्दानभिधेयत्व भी इनका साधर्म्य है ।। (सूत्र—(३४) (४१) (४३) (४५) (४७) (३०७) ।

इस प्रकार पदार्थों का साधर्म्य वर्णनकर अब केवल द्रव्यों का साधर्म्य कहते हैं—पृथिवी जल इत्यादि पूर्वोक्त नो द्रव्यों का द्रव्यत्वजातिमत्ता साधर्म्य है, जो द्रव्यों को गुण कर्म आदि पांच पदार्थों से भिन्न सिद्ध करता है । तथा अपने में समवेत कार्यों को उत्पन्न करना भी नो द्रव्यों का दूसरा साधर्म्य है । तीसरा गुणाधिकरणत्व इनका साधर्म्य है । चौथा कार्य तथा कारण से इनका शब्द तथा कर्म के समान नाश न होना भी साधर्म्यं है, अर्थात् जिस प्रकार शब्द रूप गुण का कार्य रूप शब्द स नाश होना है, अथवा कर्म संयोग रूप कार्य से नष्ट होता है, और जिस प्रकार अन्तिम शब्द रूप कार्य उपान्त्य शब्द रूप कारण से नष्ट होता है इस प्रकार द्रव्यों का नाश नहीं होता, क्योंकि उनका कहीं समवायिकारण के नाश से तथा कहीं असममवायि कारणके नाश से नाश होता है । पांचवां अन्त्यविशेषरूप पदार्थ वत्ता भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं च । पृथिव्यादीनां पञ्चानामपि भूतत्वेन्द्रियप्रकृतित्वं बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वानि ।

चतुर्णां द्रव्यारम्भकत्वस्पर्शवत्त्वे । त्रयाणां प्रत्यक्षत्वरूपवत्त्वद्रवत्वानि ।

इन द्रव्यों का साधर्म्य है, नित्य द्रव्यों में भेद साधक विशेष पदार्थ रहते हैं यह पहिले कहा गया है ॥ (सूत्र—(९) (१०) (१२) (१५) (१८) ।

अवयविद्रव्यों से भिन्न द्रव्यों का अनाश्रितत्व किसी के आश्रित न होना). तथा नित्यता ये दो साधर्म्य हैं । यह स्वतन्त्र भाष्य हैं ।

पृथिवी जल तेज वायु आत्मा तथा मन इन छः द्रव्यों का अनेक होना तथा अपर (पृथिवीत्व) इत्यादि जातिमत्ता ये दो साधर्म्य हैं अर्थात् पृथिवीत्व इत्यादि जातियां इन छः द्रव्यों में समवायसम्बन्ध से रहती हैं । संस्कारवत्ता भी इन छः द्रव्यों का साधर्म्य हैं अर्थात् वेग भावना तथा स्थितिस्थापक नाम के संस्कार भी इन छः द्रव्यों में रहते हैं ऐसा उदयनाचार्य का यहां मत है ॥ यह भी स्वतन्त्र भाष्य है ।

पृथिवी जल तेज वायु तथा मन ऐसे पांच द्रव्यों का क्रियावत्त्व साधर्म्य है । उत्पन्न विनष्ट द्रव्य में यद्यपि क्रिया नहीं होने से अतिव्याप्ति दोष आता है. तथापि क्रियावत्त्व का क्रियावान् में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य पृथिवीत्व जाति की अधिकरणता रूप अर्थ करने से उत्पन्न विनष्ट द्रव्य में भी पृथिवीत्व जाति के रहने से जाति घटित लक्षण का समन्वय होने के कारण अतिव्याप्ति दोप का वारण हो जाता है । इसी प्रकार मूर्तत्व में वेगादि रहित उत्पन्न विनष्ट द्रव्यों में मूर्तत्वादिमत्त्व रूप साधर्म्य का भी जाति घटित लक्षण करने से समन्वय हो सकता है यह जान लेना । यहां (१९९) सूत्र से (२०५) सूत्र तक, तथा (२१०) से (२१२) तक और (१९७) (२०२) सूत्र का सम्बन्ध जानना ।

पदपदार्थ—आकाशकालदिगात्मनां = आकाश काल दिशा तथा आत्मा इन चार द्रव्यों का, सर्वगतत्वं = सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों की संयोगिता, परममहत्वं = परममहत्परिमाणवत्ता, सर्वसंयोगित्वं = सम्पूर्ण संयोगि मूर्त द्रव्योंके संयोग समानदेशता, च = भी (साधर्म्य है) । पृथिव्यादीनां = पृथिवी जल इत्यादि. पंचानामपि = पांचो द्रव्यों का भी, भूतत्वं = भूतपदवाच्यता, तथा इन्द्रियप्रकृतिता (इन्द्रियकारणता) और बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वं = वाहर के एकेक इन्द्रिय चक्षुरादिकों से ग्रहण करने योग्य विशेष गुण रूपादिमत्ता ये तीन साधर्म्य हैं ॥

चतुर्णां = पृथिवी, जल, तेज, तथा वायु इन चार द्रव्यों का, द्रव्यारंभकत्वं = द्रव्योत्पादकता, तथा स्पर्शवत्ता = स्पर्शगुणाधिकरणता ये दो साधर्म्य हैं ॥

त्रयाणां = पृथिवी, जल तथा तेज इन तीन द्रव्यों का, प्रत्यक्षत्व = वाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना, रूपवत्त्वं = रूपाश्रयता, द्रवत्वानि = तथा द्रवत्वगुणाश्रयता ऐसे तीन साधर्म्य हैं ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वयोर्गुरुत्वं रसवत्त्वं च ।

द्वयोः = पृथिवी तथा जल इन दो द्रव्योंका, गुरुत्वं = गुरुत्वगुणाधिकरणता, तथा रसवत्त्वं च = और रसाधिकरणता ऐसे दो साधर्म्य हैं ॥

भाषाभाष्य = आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा इन चार द्रव्यों का सर्वगतत्व सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों के संयुक्त होना यह साधर्म्य है, यहाँ सर्वगतत्व का सर्वत्र गमन ऐसा अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि आकाशादि द्रव्य निष्क्रिय हैं। दूसरा साधर्म्य है परम-महत्त्व अर्थात् निरवधिक सर्वोत्कृष्टपरिमाणवत्ता जिस परिमाण की इयत्ता का ग्रहण नहीं हो सकता। तीसरा साधर्म्य है सर्वसंयोगिसमानदेशता, अर्थात् सम्पूर्ण संयोगी मूर्त द्रव्यों के संयोग में आकाशादिदेश समान हैं। सर्वगतत्वसाधर्म्य से आकाशादि चतुष्टय सर्वमूर्तों में रहते हैं तथा सर्वसंयोगिसमानदेशत्वसाधर्म्य से सर्वमूर्त द्रव्य आकाशादि चतुष्टय में रहते हैं ऐसा यहां तात्पर्य है जिससे पुनरुक्ति दोष नहीं आ सकता यही कन्दलीकार कहते हैं कि सर्वगतत्त्व साधर्म्य से मूर्त द्रव्यों के साथ आकाशादि चतुष्टय का संयोग मात्र विवक्षित है और सर्वसंयोगिसमानदेशित्व साधर्म्य से आधारता मूर्त द्रव्यों की आकाशादि चतुष्टय में विवक्षित होने से पुनरुक्ति दोष नहीं आ सकता ॥

सूत्र—(२०८) (२८०) (२८१)

पृथिवी इत्यादि आकाश पर्यन्त पांच द्रव्यों का भूतत्व भूतपदवाच्यता, अर्थात् संस्कारत्व से भिन्न बहिरिन्द्रिय चक्षु इत्यादिकों से ग्राह्य गुणत्व की व्याप्यजातिमान् रूपादिविशेषवत्ता साधर्म्य है। तथा दूसरा इन्द्रियप्रकृतित्व अर्थात् इन्द्रियोपादेयत्व, उक्त पांच द्रव्यों का साधर्म्य है। यह साधर्म्य आकाश के श्रोत्रावच्छिन्न (श्रोत्रयुक्त) तथा श्रोत्रानवच्छिन्न (केवल) ऐसे दो भेद मानकर श्रोत्रयुक्त आकाश में इन्द्रिय-प्रकृतित्व रूप साधर्म्य संगत कर लेना चाहिये ऐसा श्रीधराचार्य का यहां मत है। तीसरा वाहरी एकैक चक्षु इत्यादि इन्द्रिय से ग्राह्य रूप इत्यादि विशेषगुणाधारता भी पृथिवी आदि आकाशान्त द्रव्यों का साधर्म्य है ॥ अन्तःकरण से भी रूपादि गुणों का ग्रहण होने से एकैकेन्द्रियग्राह्यता असिद्ध हो जायगी इस लिये बाह्य पद दिया है अन्तःकरण बाह्य न होने से उक्तासिद्धि दोष का वारण हो जायगा ऐसा कन्दलीकारने कहा है।

पृथिवी, जल, तेज, तथा वायु इन चार द्रव्यों का द्रव्यारंभकत्व द्रव्य को उत्पन्न करना, तथा स्पर्शवत्त्वरूपश्रोत्राश्रयता ये दो साधर्म्य हैं ॥

सूत्र—(४७) सूत्र से (५३) सूत्र तक)

पृथिवी जल तेज इन तीन द्रव्यों का प्रत्यक्ष होना, रूपाश्रयता, तथा द्रवत्वगुण की आधारता ऐसे तीन साधर्म्य हैं। यहां पर आत्मा में मानस प्रत्यक्ष विषयता होने से अतिव्याप्ति दोष वारण के लिये प्रत्यक्षत्व का बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष विषयता ऐसा अर्थ जानना। (सूत्र (३७) से (५१) तक तथा (४५) ५५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूतात्मनां वैशेषिकगुणवत्त्वम्। क्षित्युदकात्मनां चतुर्दशगुणवत्त्वम्। आकाशात्मनां क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्वम्। दिक्कालयोः पञ्चगुणवत्त्वं सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तकारणत्वम् च। क्षितितेजसोर्नैमित्तिकद्रवत्वयोगः।

एवं सर्वत्र साधर्म्यविपर्ययाद्वैधर्म्यं च वाच्यमिति द्रव्यासङ्करः।

पृथिवी तथा जल इन दो द्रव्यों का गुरुत्वगुणवत्ता तथा रसाधिकरणता ये दो साधर्म्य हैं। घ्राणेन्द्रिय इत्यादि रूप पृथिवी में तथा वायु से ले आये हुए पृथिवी तथा जल के भागों में रस है इसमें क्या प्रमाण है?' ऐसी शंका का समाधान है कि घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रियरसवान् हैं पृथिवीत्व तथा जलत्व होने से, तथा वायु से लाये हुए पार्थिव तथा जलीयभाग रसवान् हैं पृथिवीत्व तथा जलत्व होने से ऐसा अनुमान ही घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय और वायु से लाये हुए पार्थिव तथा जलीय भागों में रसाधिकरणता है इसमें प्रमाण जानना॥

(सूत्र—(४९)(५०)(१८७)(१७९)(२०१))

पदपदार्थ—भूतात्मनां=पृथिवी से आकाश तक पूर्वोक्त भूतद्रव्य तथा आत्मा का, वैशेषिकगुणवत्त्वं=विशेषगुणाश्रयता साधर्म्य है॥

क्षित्युदकात्मनां=पृथिवी, जल तथा आत्मा का, चतुर्दशगुणवत्त्वम्=चतुर्दशगुणाधिकरणता साधर्म्य है॥

आकाशात्मनां=आकाश तथा आत्माओं का, क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्वम्=तृतीय क्षण में नष्ट होने वाले अव्याप्यवृत्ति (एक देश में रहने वाले) विशेषगुण शब्द ज्ञानादिकों की अधिकरणता साधर्म्य है॥

दिक्कालयोः=दिशा तथा काल द्रव्य का, पञ्चगुणवत्त्वम्=संख्यादिसामान्यगुणाधिकरणता तथा सम्पूर्ण उत्पन्न होने वाले पदार्थों की आधारता भी साधर्म्य है॥ क्षितितेजसोः=पृथिवी तथा तेज द्रव्य का, नैमित्तिकद्रवत्वयोगः=नैमित्तक निमित्त से उत्पन्न द्रवत्व गुण की आधारता साधर्म्य है॥

एवं=इस प्रकार से, सर्वत्र=सब पदार्थों में, साधर्म्य=जो जिनका साधर्म्य समान धर्म है, विपर्ययात्=विपरीत होने से, वैधर्म्यं च=दूसरे पदार्थों का विरुद्ध धर्म भी, वाच्यम्=कहना चाहिये, इति=इससे, द्रव्यासङ्करः=परस्पर में द्रव्यादिपदार्थों का साङ्कर्य न होगा॥

भाषाभाष्य—पृथिवी से आकाश तक पूर्वोक्त भूतद्रव्य तथा जीवात्माओं का रूपादिशब्दान्त, तथा ज्ञानादि रूप विशेष गुणों की आधारता साधर्म्य है, अर्थात् भूत द्रव्य तथा जीवात्माओं की विशेषगुणों की आश्रयता समान धर्म है॥ पृथिवी जल तथा जीवात्माओं का चतुर्दश (चौदह) संख्याक गुणों की आधारता साधर्म्य है, अर्थात् स्पर्श से अपरत्व तक आठ गुण, वेग, गुरुत्व, द्रवत्व, रूप, रस तथा स्नेह ऐसे चौदह गुण जल में, तथा इनमें से स्नेह को हटा कर उसके स्थान में गुण को लेकर यही चौदह गुण पृथिवी में रहते हैं। तथा बुद्धि से लेकर प्रयत्न तक छ, तथा संख्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi.

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

से विभाग तक पांचगुण और भावनानामकसंस्कार, धर्म व अधर्म ऐसे चौदह गुण जीवात्माओं में रहते हैं इसलिये सामान्य रूप से चतुर्दश गुणवत्ता इन का साधर्म्य है। सूत्र—(४९)(५०)(५४)(८४)(१३९)(१५५)(१५६)(१६७)(१८७)(१९७)(१९८)(१९९)(२०१)(२०२)(२०३)(२०४)(२०६)(२०९)(२२६)(२७८)(३४७)।

आकाश तथा जीवात्माओं का तृतीय क्षण में नष्ट होने वाले एक देश वृत्ति शब्द तथा ज्ञानादिरूप विशेषगुणों की आधारत्ता साधर्म्य है। यहां पर पृथिवी आदि द्रव्यों में क्षणिक रूपादिगुणों की आश्रयता होने से अतिव्याप्ति निरासार्थ एक देशवृत्ति यह विशेषण विशेषगुणों में दिया है रूपादि गुणों के एक देशवृत्ति न होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं होता। आकाश तथा जीवात्माओं के अव्याप्यवृत्ति शब्द ज्ञानादि विशेषगुणों का शीघ्रविनाशितास्वरूप है यह जानने के लिए क्षणिक पद दिया हैं। यह स्वतन्त्र भाष्य है।

दिशा तथा काल का संख्या से लेकर विभाग तक पांच सामान्य गुणों की आधारता, तथा संपूर्ण उत्पन्न होने वाले पदार्थ मात्र की निमित्त कारणता भी साधर्म्य है, अर्थात् दिशा और काल संसार के सभी अनित्यपदार्थों में निमित्तकारण हैं। सूत्र—(७७)(८७)(८८)(९१) २८०)(२८१)(३०३)(५४) ५५)।

पृथिवी तथा तेज द्रव्य का नैमित्तिक (अग्न्यादि सम्बन्ध से उत्पन्न) द्रवत्व (पतलापन) गुण की आधारता साधर्म्य है, क्योंकि घृतादि पृथिवी तथा सुवर्ण आदि तेज में अग्न्यादिसंयोग से द्रवत्व उत्पन्न होता है॥

इस प्रकार पदार्थों में जो साधर्म्य वर्णन किया है वहीं विपर्यय से (न होने से) दूसरे पदार्थों का वैधर्म्य विरुद्ध धर्म जानना, तथा जो जिन पदार्थों का वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म हैं) वह विपर्यय हो तो दूसरे पदार्थों का साधर्म्य जानना जिससे पदार्थों का सांकर्य परस्पर मे न होगा। यहां उदयनाचार्य का यह अभिप्राय है कि उपरोक्त साधर्म्य वैधर्म्य यह औरों का भी उपलक्षण है अतः साधर्म्य विपर्यय भी दूसरों से साधर्म्य होता है तथा वैधर्म्य विपर्यय से भी वैधर्म्य होता है इस विषय को अध्यापकों ने स्वयं विचार कर शिष्यों को अध्ययन के समय बतलाना चाहिये। उदाहरणार्थ जिस प्रकार पृथिवी गन्धवती है यह गन्धवत्त्वलक्षण पृथिवी का इतर पदार्थों से वैधर्म्य कहेंगे, उसके विपर्यय से निर्गन्धता यह जलादिकों का वैधर्म्य कहा है, तथा जल और पृथिवी का गुरुत्ववत्ता तथा रसवत्ता साधर्म्य जो कहा है वह विपर्यय से दूसरों का वैधर्म्य है, और वह विपर्यय इतर तेज इत्यादिकों का अगुरुत्व तथा नीरसता साधर्म्य हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा को छोड़कर परार्थता तथा अचेतनता, और मन को छोड़ कर अनन्तःकरणता तथा अविनष्ठगुणवत्ता, जल को छोड़ कर निःस्नेहता, तथा अक्लेदता, तेज को छोड़कर अनुष्णता और अदाहकता, जल तेज वायु इन तीनों का अपाकजस्पर्शाधिकरणता, जल और तेज का अपाकजरूपाधिकरणता, दिशा काल तथा मन का विशेषगुणानधिकरणता, जल और तेज का अपाकजरूपाधिकरणता,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(४) पृथिवीनिरूपणप्रकरणम् ।

इहेदानीमेकैकशो वैधर्म्यमुच्यते ।

पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी । रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथ-

---

दिशा काल तथा मन का अतीन्द्रियता, आत्मा तथा मन का शरीर सम्बन्ध से व्यापार होना, वायु से मन पर्यन्त द्रव्य इत्यादिकों का रूपानधिकरणता आकाशादिकों का स्पर्शशून्यता, कालादिकों का अभूतता इत्यादि रूप से विपर्यय भी दूसरों का साधर्म्य हो जाता है ऐसा अर्थान्तर आचार्य उदयन ने वर्णन किया है ॥

सूत्र—(१३) (१४) (२१९) वैधर्म्य वर्णन करने वाले यहां हैं ।

(४) पृथिवीनिरूपणप्रकरण।

पदपदार्थ= इह = यहांपर, इदानीं = सांप्रतकाल में, एकैकशः = प्रत्येक का, वैधर्म्य = विरुद्धधर्म, उच्यते = वर्णन किया जाता है ।।

पृथिवीत्वासम्बन्धात् = पृथिवीत्व रूप जाति विशेष के समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध, पृथिवी =पृथिवी नामक, द्रव्य सिद्ध होता है । रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्-त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्कार १४ वर्ती। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, संस्कार ऐसे चतुर्दश (चौदह) गुण पृथिवी में रहते हैं। एते च =और यह चौदह रूपादि विशेष गुण, द्रव्यों में गुणों के वर्णन करने वाले आगे द्वितीय अध्याय में बतलाये होने से पृथिवी में सिद्ध हैं ॥

भाषाभाष्य="सांप्रत में प्रत्येक द्रव्यादिकों का वैधर्म्य वर्णन किया जाता है" इस भाष्य से यह सूचित होता है कि पूर्वग्रंथ में अनेक तथा दो पदार्थों के परस्पर की अपेक्षा से वैधर्म्य वर्णन के पश्चात् प्रत्येक के वैधर्म्य निरूपण करने में अवसरसङ्गती जानी जाती है । यह भाष्य स्वतन्त्र है ।

पृथिवीत्व रूप द्रव्यत्व की व्याप्य अपर जाति के साक्षात् समवाय सम्बन्ध से, तथा एकार्थ समवाय से एक पदार्थ में समवेत होना अथवा संयुक्त समवाय (संयोग संबंध से संयुक्तों से समवेत होना) ऐसे परंपरा सम्बन्ध से, पृथिवी द्रव्य का पृथिवी इस शब्द से व्यवहार किया जाता है । 'अतः पृथिवीत्व जातिमत्ता पृथिवी का लक्षण है । 'यदि पृथिवी स्वरूप से सिद्ध है तो उसके लक्षण करने का कोई प्रयोजन नहीं, यदि असिद्ध है तो पृथिवी का पृथिवी पद से व्यवहार करना चाहिये. अथवा पथिवी जलादि त्रयोदश (जल से लेकर मन तक आठ द्रव्य तथा गुणादि समवाय तक पांच) से भिन्न है, ऐसे इतर भेद साधक अनुमान में पृथिवी रूप आश्रय (पक्ष) के असिद्ध होने से व्यवहार या इतर भेद साधक पृथिवीत्व जातिमत्व रूप लक्षण का सुतरां प्रयोजन नहीं हो सकता, अतः लक्षण निष्प्रयोजन हैं'—इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार है कि यद्यपि पृथिवी स्वरूप से सिद्ध होने पर भी, उसका पृथिवी पद से व्यवहार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्कारवती। एते च गुणविनिवेशाधिकारे रूपादयो गुणविशेषाः सिद्धाः।

चाक्षुषवचनात् सप्त सङ्ख्यादयः। पतनोपदेशाद् गुरुत्वम्। अद्भिः सामान्यवचनाद् द्रवत्वम्। उत्तरकर्मवचनात् संस्कारः।

क्षितावेव गन्धः। रूपमनेकप्रकारं शुक्लादि। रसः षड्विधो मधुरादिः। गन्धो द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च। स्पर्शोऽस्या अनुष्णाशीतत्वे सति पाकजः।

विशेष का प्रतिपादन करने के लिये, तथा सामान्य रूप से ज्ञात पृथिवी के विशेषतः रूप से ज्ञान होने के लिये भी लक्षण करना आवश्यक है। गन्ध सहित चतुर्दशगुणाधिकरणता भी इतर जलादिकों से पृथिवी द्रव्य का वैधर्म्य है, क्योंकि आगे द्वितीयाध्याय में (जो द्रव्यों में गुणों के समावेश का वर्णन करेगा) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व तथा संस्कार ऐसे चतुर्दश गुण पृथिवी द्रव्य में ही रहते हैं। अन्य जलादिकों में नहीं रहते ऐसा कहा है)॥ एवं च 'रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी' इत्यादि (४९) (८१) दो सूत्रों में पृथिवी द्रव्य में रूप से लेकर स्पर्श पर्यन्त विशेष गुण सिद्ध हो जाते हैं॥ इसी प्रकार आगे जलादि प्रकरण में अन्वय (सम्बन्ध) जान लेना॥

पदपदार्थ—चाक्षुषवचनात् = संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणीति (१६७) इस सूत्र में संख्यादि गुण, तथा कर्म, रूपवान् द्रव्यों में समवेत होने से (चाक्षुष प्रत्यक्ष होते हैं) ऐसा सूत्र वचन होने के कारण पृथिवी में संख्यादि गुण सिद्ध हैं॥ पतनोपदेशाद् गुरुत्वम्= 'संयोगविभागप्रयत्नवेगाभावे गुरुत्वात्पतनम्' (१८७) इस सूत्र में पतन (गिरने) में गुरुत्व के हेतुता का वर्णन होने से पृथिवी में गुरुत्व गुण सिद्ध होता है। तथा 'सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानां पार्थिवानामग्निसंयोगाद्द्रवत्वमद्भिः सामान्यम्' (५४) इस सूत्र से जल सादृश्य से पृथिवी में द्रवत्व गुण, तथा 'नोदनादाद्यमिषोः कर्मं तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च' इत्यादि (१९६) मत्र से (१९९) सूत्र तक कहे हुए इषुं (बाण) के उत्तर कर्म के उपदेश होने से सस्कार गुण भी पृथिनी में सिद्ध होता है॥

क्षितावेव=पृथिवी में ही, गन्धः=गन्ध गुण रहता है। रूपं=रूप नामक, अनेक प्रकार=अनेक (सात) प्रकार का, शुक्लादि (शुक्ल नील पीत रक्त, कपिश, हरित, चित्र भेद से) सात प्रकार का, रसः=रसगुण, षड्विधः= छ प्रकार का, मधुरादिः=मधुर, आम्ल, लवण- कटु, कषाय तथा तिक्त नामक रस भी पृथिवी में रहता है। गन्धः= गन्धगुण, द्विविधः=दो प्रकार है, सुरभिः=सुगन्धिः. असुरभिश्च—और दुर्गन्धि भी। स्पर्शः–स्पर्श नामक गुण, अस्याः–इस पृथिवी का, अनुष्णाशीतत्वे सति—अनुष्णाशीत होता हुआ, पाकजः तेजः संयोग से परिवर्तन स्वभाव है॥

भाषाभाष्य—पदपदार्थ में बतलाये हुए 'रूपवान् द्रव्यों में समवेत होने से संख्यादि से अपरत्व तक गुण तथा कर्म का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है' इस सूत्र के बल से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सा तु द्विविधा—नित्या चानित्या च । परमाणुलक्षणा नित्या । कार्यलक्षणा त्वनित्या । सा च स्थैर्याद्यवयवसन्निवेशविशिष्टाऽपरजातिबहुत्वोपेता शयनासनाद्यनेकोपकारकरी च । त्रिविधं चास्याः कार्यम्—शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् । शरीरं द्विविधम्—योनिजमयोनिजं च । तत्रायोनिजमनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते ।

पृथिवी में संख्यादि सात गुणों की सिद्धी होती है । इसी प्रकार ऊपर कहे हुए 'संयोग, विभाग, प्रयत्न, वेग इन के प्रतिबंध न करने पर गुरुत्व गुण से फलादिकों में आद्य पतन (गिरना) क्रिया होती है' इस सूत्र प्रमाण से पृथिवी में पतन का कारणगुरुत्व-गुण सिद्ध होता है । तथा पदपदार्थ में दिये हुए 'घी' लाह, मधु का छत्ता इन पार्थिव द्रव्यों का तेज के संयोग से द्रवत्व (पतला होना) यह जल का सादृश्य है' इस सूत्र से पृथिवी में द्रवत्वगुण सिद्ध होता है । इसी प्रकार ऊपर दिये हुए 'नोदननामक हस्तसंयोग से प्रथम वाण की क्रिया होकर उससे वेग संस्कार होता है और उससे उत्तरोत्तरक्रिया होती है' इस सूत्र बल से पृथिवीं में संस्कार गुण सिद्ध होता है ॥

उक्तगुणों में से पृथिवीत्व के व्यवस्थापक विशेष गुणों को पृथक् कर देखाते हैं कि गन्धगुण केवल पृथिवी में ही रहता है, जो सुगन्ध, तथा दुर्गन्ध दो प्रकार का है । तथा पृथिवी का स्पर्श (उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत) ऐसे तीन स्पर्शों में से अनुष्णाशीत होते हुए पाकज (तेजः संयोग से परिवर्तनस्वभावी है) । सूत्र (८०) ।

यहां पर 'अनुष्णाशीतत्वे सति' यह विशेषण पृथिवी के स्पर्श का स्वरूप जानने के लिए दिया है, न कि लक्षण में उसका समावेश हैं, क्योंकि पाकज स्पर्शाश्रयता ही लक्षण करने से वायु में अतिव्याप्ति दोष न होगा ॥ सूत्र (२६२) ।

पदपदार्थ—सा तु = वह तो, पृथिवी, द्विविधा = दो प्रकार की हैं, नित्या = नित्य, च = भी, अनित्या च = अनित्य भी । परमाणुलक्षणा = परमाणुस्वरूप पृथिवी, नित्या = नित्य है । कार्यलक्षणा तु = कार्य स्वरूप तो पृथिवी, अनित्य है । सा च = और वह कार्यरूप पृथिवी, स्थैर्याद्यवयवसन्निवेशविशिष्टा = निविड तथा शिथिल आदि अवयवों के संयोग विभाग से युक्त, अपरजातिबहुत्वोपेता = घटत्व-पटत्व इत्यादि रूप अपर (पृथिवीत्वव्याप्य) जातियों से युक्त, शयनासनाद्यनेकोपकारकरी च = शय्या, आसन (चौकी) इत्यादि कार्य का उत्पादक होने से प्राणियों का उपकार करने वाली भी है । त्रिविधं च = और तीन प्रकार की है, अस्याः = इस पृथिवी का, कार्यं = कार्य, शरीरेन्द्रियविषयभेदात् = शरीर, इन्द्रिय, तथा विषय भेद से ॥ शरीरं = शरीर, द्विविधं = दो प्रकार है—योनिजं = योनिजन्यं अयोनिजं च = और अयोनिज । तत्र = उनमें से, अयोनिजं = अयोनिज है, अनपेक्ष्य = अपेक्षा न कर शुक्र-शोणितं = वीर्य और रज की, देवर्षीणां देवर्षियों का, शरीरं = शरीर, धर्मविशेषसहितेभ्यः = धर्मविशेषसहित, अणुभ्यः = परमाणुओं से, जायते = जो उत्पन्न होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्षुद्रजन्तूनां यातनाशरीराण्यधर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायन्ते ॥ शुक्रशोणितसन्निपातजं योनिजम् । तद्द्विविधं—जरायुजमण्डजं च । मानुषपशुमृगाणां जरायुजम् । पक्षिसरीसृपाणामण्डजम् ।

भाषाभाष्य—उक्त-लक्षण की पृथिवी नित्य तथा अनित्य भद से दो प्रकार की है, जिसमें परम (अत्यन्त) अणुपरिमाणवाली पृथिवी नित्य, तथा कार्यस्वरूप पृथिवी अनित्य हैं । यदि यहाँ पर यह शंका हो कि 'परमाणुस्वभाव पृथिवी के सद्भाव में क्या प्रमाण हैः' तो 'अणु (छोटे) परिमाण का तरतम भाव 'अणुतर, अणुतम' इत्यादि, कहीं न कहीं विश्रान्त (समाप्त) है, परिमाण की तरतमताहोने से, महत् (बड़े) परिमाण की तरतमता के समान' ऐसा अनुमान प्रमाण है, जहां पर यह अणु परिमाण (छोटे में छोटा उससे छोटा इत्यादि) विश्रान्त है, अतः वही परमाणु है । उपरोक्त दूसरी कार्य-भाव पृथिवी को अनित्यता के समान दूसरे धर्मों को दिखाते हुए आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं कि वह पृथिवी गाढ-ता-शिथिलतादियुक्त अवयवों के संयोग तथा विभाग-विशेषों से अर्थात् दृढ तथा शिथिल अवयवों के सम्बन्ध से बनी हुई, तथा घटत्व-पटत्व-मठत्व इत्यादि अपर (पृथिवीत्व का व्याप्य) अनेक जातियों से युक्त, और पदार्थ मात्र की रचना जीवों के सुख-दुःखरूप उपभोग के निमित्त होने के कारण पृथिवी की रचना, शय्या (पलंग), आसन (चौकी) इत्यादि प्राणियों के उपभोग के लिये अनेक पार्थिव पदार्थों के निर्माण होने में साधक होने से पृथिवी पुरुषों के भोग की उपकारिणी है ॥ तथा उपर्युक्त कार्यरूप पृथिवी के शरीर, इन्द्रिय तथा विषय ऐसे तीन भेद हैं, अर्थात् वह कार्य रूप पृथिवी इन तीन भागों में मुख्यतया विभक्त है । जिनमें से शरीररूप कार्य पृथिवी के योनिज (योनि से उत्पन्न) तथा अयोनिज (योनि से उत्पन्न नहीं) ऐसे दो भेद हैं । सूत्र—(१५७) से (१६१) तक तथा (१७६)–(१७७) ॥ शुक्र (वीर्य) तथा शोणित (रक्त) के मिलन का नाम है योनि, उससे उत्पन्न शरीर योनिज कहलाता है, और उससे न उत्पन्न शरीर अयोनिज कहाता है । सूत्र—(१७०)—(१७४) । उन दोनों प्रकार के शरीरोंमें से अयोनिज शरीर वह है जो उपर्युक्त शुक्र-शोणित की अपेक्षा न कर धर्मविशेष के सम्बन्ध से पार्थिव परमाणुओं से ही अयोनिज शरीर बनता है, जो देवर्षियों का प्रसिद्ध है ।

पदपदार्थ—क्षुद्रजन्तूनां=कीडे-मकोडे इत्यादि तुच्छ प्राणियों के, यातनाशरीराणि=विशेषतः यातना (दुःख) भोगनेवाले शरीर, अधर्मविशेषसहितेभ्यः= दुःखसाधक अधर्मविशेष से संयुक्त, अणुभ्यः= परमाणुओं से, जायन्ते=उत्पन्न होते हैं । शुक्रशोणितसन्निपातजं=वीर्य तथा रक्तके सन्निपात (मिलन) से उत्पन्न शरीर, योनिजम्=योनिजन्य कहाता है । तत्=वह योनिज शरीर, द्विविधं=दो प्रकार का है, जरायुजं (जरायु = मांस की पुटली) से उत्पन्न, अण्डजं च=और अण्डे से उत्पन्न । मानुषपशुमृगाणां=मनुष्य, पशु, तथा मृगादि चतुष्पदोंका । जरोयुजं =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्द्रियं गन्धव्यञ्जकं सर्वप्राणिनां जलाद्यनभिभूतैः पार्थिवावयवैरारब्धं घ्राणम्। विषयस्तु द्व्यणुकादिक्रमेणारब्धस्त्रिविधो—मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः। तत्र भूप्रदेशाः—प्राकारेष्टकादयो मृत्प्रकाराः। पाषाणा—उपलमणिवज्रादयः। स्थावरास्तृणौषधिवृक्षलतावतानवनस्पतय इति।

जरायु से उत्पन्न होता है। पक्षिसरीसृपाणां = पक्षि तथा सरकनेवालें सर्पादिकों का, अण्डजम् = अण्डे से उत्पन्न होता है। इन्द्रियं = पार्थिव इन्द्रिय है, गन्धव्यञ्जकं = गन्ध को प्रगट करनेवाला, सर्वप्राणिनां = सम्पूर्ण प्राणियों का, जलाद्यनभिभूतैः = जल-तेज इत्यादि पृथिवी से भिन्न द्रव्यों से अनाक्रान्त (न मिले हुए), पार्थिवावयवैः = केवल पृथिवीद्रव्य के अवयवों से आरब्धं = बना हुआ, घ्राणं = घ्राण नामक इन्द्रिय। विषयस्तु = और विषयरूप पृथिवीद्रव्य है, द्व्यणुकादिप्रक्रमेण = द्व्यणुकसे त्रसरेणु उससे चतुरणुक इत्यादि क्रमसे, आरब्धः = बना हुआ, त्रिविधः = तीन विभागों में विभक्त होने से तीन प्रकार का, मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः = मृत्तिका (मही), पाषाण (पत्थर) तथा स्थावर (एकत्र स्थितिवाले) वृक्ष इत्यादिरूप। तत्र = उन तीनोंमें से, भूप्रदेशाः = मृत्तिकारूप भू (पृथिवी) के प्रदेशरूप हैं, प्राकारेष्टकादयः = दीवाल तथा ईंटे इत्यादि। मत्प्रकाराः=मृत्तिकारूप विषय। पाषाणाः = पत्थररूप विषय पृथिवी में विभक्त हैं, उपलमणिवज्रादयः = पत्थर, मणि, तथा हीरा इत्यादि रत्न। स्थावराः = स्थावररूप विषय पृथिवी है, तृणौषधिवृक्षलतावतानवनस्पतया = तिनके, औषधियां, लता, अवतान (केवडा इत्यादि फैलनेवाले) विटप, तथा वनस्पती। इति = इस प्रकार।

भाषाभाष्य—धर्मविशेष संयुक्त परमाणुओं से निर्मित देवर्षियों के अयोनिज शरीर के समान कीड़े-मकोड़े आदि क्षुद्रजीवों के विशेष रूपसे यातना भोगानेवाले अधर्मविशेष सहित परमाणुओं से निर्मित शरीर भी जो प्रायः इस लोक में प्रसिद्ध हैं अयोनिज होते है। शुक्र तथा शोणित के मिलने से उत्पन्न योनिज शरीर कहाता है जो जरायु (मांस की पुटली) से उत्पन्न होने से जरायुज (१) तथा अण्डे से उत्पन्न होने के कारण अण्डज (२) ऐसा दो प्रकार है। मनुष्य पशु, तथा हरिण आदि चौपाए प्राणिमात्र का शरीर जरायुज है। और पक्षि, सर्प आदि सरककर चलनेवाले जीवमात्र का शरीर अण्डज होता है। मत्स्यादि शरीर भी यहां पक्षिपद से उपलक्षण रूपसे जान लेना चाहिये। सूत्र—(१७६) से (१८०) तक।

पार्थिव इन्द्रिय जिसका 'जिघ्रति अनेन' (जिससे सूंघता है) इस व्युत्पत्ति-बलसे घ्राण नाम प्रसिद्ध है तथा जो गन्ध को प्रगट करता है प्राणिमात्र का वह घ्राणेन्द्रिय न्याय-वैशेषिक मत में जल-तेज आदि अन्य द्रव्यों के अवयवों से न मिले हुए केवल पार्थिव भाग अवयवों से निर्मित है, इस प्रकार की विशिष्ट उत्पत्ति के कारण घ्राणेन्द्रिय ही गन्ध को बतलाने में समर्थ है दूसरा कोई भी इन्द्रिय नहीं ऐसा भाष्य-कारका अभिप्राय है। इसी प्रकार आगे रसनेन्द्रियादि-वर्णन में जान लेना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(५) जलनिरूपणप्रकरणम् ।

अप्त्वाभिसम्बन्धादापः । रूपरसस्पर्शद्रवत्वस्नेहसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्व-संयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वसंस्कार १४वत्यः । पूर्ववदेषां सिद्धिः । शुक्ल-मधुरशीता एव रूपरसस्पर्शाः । स्नेहोऽम्भस्येव सांसिद्धिकं च द्रवत्वम् ।

ताश्च पूर्ववद् द्विविधाः नित्यानित्यभावात् । तासां तु कार्यं त्रिविधं—

और पार्थिव विषय रूप द्रव्य जो द्वणुक इत्यादि क्रम से परमाणुओं से निर्मित है वह मृत् (१) पाषाण (२) तथा स्थावर (३) रूप तीन भागों से सम्पूर्ण पार्थिव विषयों का संग्रह करता है। जिनमें से प्रथम मृत (मट्टी) के प्रकार (भाग) में प्राकार (ईंटे का घेरा) इटा-घडा, इत्यादि सब मृत्तिका निर्मित पार्थिक विषय का संग्रह हो जाता है। द्वितीय पाषाण (पत्थर) रूप भाग में उपल (सामान्य पत्थर) मणि तथा हीरा, पन्ना, नीलम इत्यादिकों का संग्रह हो जाता है। तथा तीसरे स्थावर (स्थिति स्वभाव) भाग में तिन के, औषधियां, फलफूल वाले वृक्ष, लता, अवतान (फैलने वाले, केतक (केवडा) इत्यादि विटप, और गूलर इत्यादि बनस्पतियों का संग्रह हो जाता है, अर्थात् उपर्युक्त तीन पार्थिव विषयों में सपूर्ण पार्थिव द्रव्य विषयों का संग्रह हो जाता है। यद्यपि विषयों के समान उपभोगसाधनता शरीर तथा इन्द्रियों में भी है अर्थात् शरीर तथा इन्द्रियों से भी भोग (सुख-दुःखानुभव) होता है तो शरीर तथा इन्द्रिय को विषय से भिन्न क्यों कहा ऐसी शंका हो सकती है, तथापि शरीर में उपभोग की आधारता तथा इन्न्यों में करणता और इन दोनों से भिन्न पूर्वोक्त विषयों में उपभोग की कर्मता होने से शिष्यों को विशद रूप से शरीर, इन्द्रिय, तथा विषयों का ज्ञान होने के लिये कार्य रूप पृथिवी के शरीर, इन्द्रिय तथा विषय ऐसे तीन भेद भाष्यकार ने वर्णन किये हैं। इसी प्रकार जलादि कार्य के भी तीन भेदों का रहस्य जान लेना चाहिये। सूत्र-(३२५) (१७०)।

(५) जलनिरूपणकरण ।

पदपदार्थ—अपूत्वाभिसम्बन्धात् = जलत्वरूप-द्रव्यत्वव्याप्य-जाति विशेष के 'समवायसंबन्ध से सम्बद्ध, आपः = जलनाम का द्रव्य सिद्ध होता है ।। रूप-रस-स्पर्श-द्रवत्व-स्नेह-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-गुरुत्व-संस्कार-वत्यः । जलमें रूप,रस, स्पर्श, द्रवत्व (स्वाभाविक), स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, तथा संस्कार ऐसे चतुर्दश गुण जल में रहते हैं। पूर्ववत् = पृथिवी के समान सूत्रकार के वचन से, एषां = इन चतुर्दश गुणों की, सिद्धिः = सिद्धि होती है ।। शुक्लमधुरशीता एव = श्वेत, मधुर (मीठा) शीत (ठंडा), ही, रूपरसस्पर्शाः = रूप, रस, तथा स्पर्श क्रम से जल में रहता हैं। स्नेहः = स्नेह (चिकनापन), अंमस्येव = जल ही में है, सांसिद्धिकें च = और स्वाभाविक द्रवत्व भी जल ही में है। तांश्च = और वह जल, पर्ववत् = पृथिवी के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शरीरेन्द्रियविषयसञ्ज्ञकम् । तत्र शरीरमयोनिजमेव वरुणलोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम् ।

समान, द्विविधाः = दो प्रकार का है, नित्यानित्यभावात् = नित्य तथा अनित्य भेद से । तासां = उस जल का, तु = भी, कार्यं = कार्य है, त्रिविधं = तीन प्रकार का, शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् शरीर, इन्द्रिय तथा विषय नाम के भेद से । तत्र = इनमें, शरीरं = जलीय शरीर, अयोनिजमेव = अयोनिज ही है, वरुणलोके = जल देवता वाले जल रूप संसार में, पार्थिवाक्यवोपष्टंभाच्च = पार्थिव द्रव्य के अवयवों के उपष्टम्भ (धारण) से ही उपभोग-समर्थम् = सुखदुःखादिकों के अनुभव में समर्थ है ।

भाषाभाष्य—क्रमप्राप्त जल द्रव्य का लक्षण करते हुए भाष्यकार ने जलवाचक अप्शब्द का प्रयोग किया है, जो शब्द 'आपः स्त्री भूम्नि' इस कोश के अनुसार नित्य बहुवचनान्त है । यहां पर भी पृथिवी के लक्षण के समान जलत्व रूप द्रव्यत्व-व्याप्य जाति के साक्षात् सम्बन्ध से न कि एकार्थसमवायादि रूप परम्परा सम्बन्ध से, जल का जल शब्द से व्यवहार किया जाता है, अतः जलत्वजातिमत्ता लक्षण है । यहां पर भी पृथिवी के समान जल प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध इत्यादि शंका, तथा समाधान पृथिवी लक्षण के समान जान लेना, तथा आगे भी तेज आदि के लक्षणों में भी समझ लेना । इस जल में भी गन्ध के स्थान पर स्नेह को लेकर चतुर्दश संख्यादि गुण रहते हैं जिनकी पृथिवी के समान सूत्रकार के वचन से सिद्धि होती है । इसी लिये सूत्रकार ने कहा है—रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाश्च' (५०) । इसी प्रकार पृथिवी निरूपण में दिये हुए चाक्षुष वचन से सात संख्यादिगुण भी जल में सिद्ध होते हैं । तथा आद्यपतन और उत्तर कर्म के वचन से पृथिवी के समान जल में भी गुरुत्व तथा वेग संस्कार सिद्ध होता है । इस प्रकार गुणवत्ता होने से जल में द्रव्यत्व की सिद्धि कर पृथिवी आदि द्रव्यों से व्यावर्तक गुणों को भाष्यकार ने वर्णन किया है कि जल का रूप केवल अप्रकाशक शुक्ल ही है, तथा रस केवल मधुर ही है, और स्पर्श केवल शीत ही है । इसी प्रकार तेज आदि में जान लेना । (सूत्र-(५०) (८४) (१६८) (१९७) (२०१) (२०२)-(२०४), (२०६) (२०९) ।

चूर्ण (आटा) इत्यादिकों का जिससे संग्रह होता है अर्थात् जिस गुण से आटा इत्यादि बटुर कर गोला हो जाता है ऐसा स्नेह (एक प्रकार की चिकनाहट भी जल ही का गुण है । तेल-घी इत्यादिक में पार्थिव भाग के मिलने से उस स्नेह के विलक्षण होने के कारण उनसे आटा वगैरह नहीं बटुरते । तथा स्वाभाविक द्रवत्व भी जल में ही रहता है । वह जल भी पृथिवी के समान नित्य तथा अनित्य भेद से दो प्रकार है । और कार्य जल भी पृथिवी के समान शरीर, इन्द्रिय और विषय नाम से तीन प्रकार है । जिनमें से जलीय शरीर केवल अयोनिज है, जो जल के प्रधान देवता वरुण जी के जलमय लोक में रहने वाले प्राणियों का शरीर जलस्वभाव होने से जल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्द्रियं सर्वप्राणिनां रसव्यञ्जकं विजात्यनभिभूतैर्जलावयवैरारब्धं रसनम्। विषयस्तु सरित्समुद्रहिमकरकादिः।

(६) तेजोनिरूपणप्रकरणम्।

तेजस्त्वाभिसम्बन्धात् तेजः। रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत्। पूर्ववदेषां सिद्धिः। तत्र शुक्लं भास्वरं च रूपम्। उष्ण एव स्पर्शः।

तदपि द्विविधमणुकार्यभावात्। कार्यं च शरीरादित्रयम्। शरीरमयोनिज-

---

के बुदबुदों के समान होने पर भी भोजनादिव्यवहार के उचित उपभोग में समर्थ होने के लिये पार्थिव अवयवों के निमित्तकारण रूप से सम्बन्ध होने के कारण द्रवत्व का प्रतिरोध होने से उनका शरीर केवल बुदबुदे स्वरूप होने पर भी उपभोग (देखना-खाना इत्यादि) होने के लिये इन्द्रिय स्थानों में पार्थिव शरीर के समान दृढ भी होता है जिससे वह उपभोग में समर्थ होता है। इसी प्रकार तैजसादि शरीर में भी पार्थिक भाग का सम्बन्ध उपभोगार्थ जान लेना चाहिये। सूत्र (१५७) से (१६१) तक, (१७०) (१७५) (१७६) (१७७) (१७८) (१७९) (१८०) (२७६) (२७७)।

पदपदार्थ—इन्द्रियं = जलीय इन्द्रिय, सर्वप्राणिनां = सम्पूर्ण प्राणियों का, रसव्यंजकं = मधुरादि रस को प्रगट करने वाला, विजात्यनभिभूतैः = जल से भिन्न पृथिवी आदि के अवयवों से अनधिष्ठित, जलावयवैः = केवल जल द्रव्य के अवयवों से, आरब्धं = उत्पन्न, रसनम् = रसनेन्द्रिय (जिह्वा) कहाती है॥ विषयस्तु = और जलीय विषय है, सरित्समुद्रहिमकरकादिः = नदी, समुद्र, बर्फ, ओले इत्यादि॥ सूत्र—(३२६) (१७०) (२०६)।

(६) तेजोनिरूपणप्रकरण।

पदपदार्थ—तेजस्त्वाभिसम्बन्धात् = तेजस्त्व जाति के साक्षात् समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध द्रव्य का नाम है तेज। रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कार (११) वत् = जिस तेज द्रव्य में रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, तथा संस्कार ऐसे ग्यारह गुण रहते हैं। पूर्ववत् = पृथिवी तथा जल के समान सूत्र वचनों से, एषां = इन ग्यारह गुणों की, सिद्धिः = तेज में सिद्धि होती है। तत्र = उन ग्यारह गुणों में से, शुक्ल = श्वेत, भाश्वरं च = और पर, प्रकाशक है, रूपं = तेज द्रव्य का रूप। उष्ण एव = केवल उष्ण ही है, स्पर्शः—स्पर्श गुण। तदपि = वह तेज भी है, द्विविधं = दो प्रकार, अणुकार्यभावात् = नित्य तथा अनित्य भेद से। कार्यञ्च = और कार्य रूप तेज द्रव्य है, शरीरादित्रयम् = शरीर, इन्द्रिय तथा विषय भेद से तीन प्रकार। शरीरं = जिसमें तैजस शरीर है, अयोनिजमेव = अयोनिज ही, आदित्यलोके = सूर्य लोक में, पार्थिवा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेवादित्यलोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम् ।

इन्द्रियं सर्वप्राणिनां रूपव्यञ्जकमन्यावयवानभिभूतैस्तेजोवयवैरारब्धं चक्षुः ।

विषयसञ्ज्ञकं चतुर्विधम्—भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजञ्च । तत्र भौमं काष्ठेन्धनप्रभवमूर्ध्वज्वलनस्वभावं पचनदहनस्वेदनादिसमर्थम् । दिव्यमविन्धनं सौरविद्युदादि ।

वयवोपष्टम्भाच्च = और पार्थिव अवयवों के धारण से, उपभोगसमर्थम् = उपभोग-में जो समर्थ होता है । इन्द्रियं = तैजस इन्द्रिय है, सर्वप्राणिनां = सम्पूर्ण प्राणियों का रूपव्यंजकं = शुक्ल आदि रूप को प्रगट करने वाला, अन्यावयवानभिभूतैः = तेज से भिन्न पार्थिवादि अवयवों से अनाक्रान्त, तेजोवयवैः = केवल तेज द्रव्य के अवयवों से, आरब्धं = उत्पन्न, चक्षुः = चक्षु नाम का । विषयसंज्ञकं = विषय नामक तेजोद्रव्य, चतुर्विधं = चार प्रकार का है भौमं = पृथिवी में उत्पन्न, दिव्यं = आकाश में उत्पन्न, उदर्यं = जठर मे उत्पन्न, आकरजं च = और खान में उत्पन्न । तत्र = उनमें से, काष्ठेन्धनप्रभवं = लकड़ी आदि इन्धन से उत्पन्न हुआ, ऊर्ध्वज्वलन-स्वभावं = ऊपर ज्वाला जाना जिसका स्वभाव है, पचन-दहन-स्वेदनसमर्थम् = पकाना जलाना, स्वेदन (भाप से जल को उत्पन्न करना) इत्यादि कार्य करने में समर्थ भौम तेज समर्थ है । दिव्यं = आकाश में उत्पन्न होने से दिव्य नामक तेज, अविन्धनं = जल रूप इन्धन में उत्पन्न होने वाला, सौरविद्युदादि = सूर्यकिरण-विद्युत् (बिजली) इत्यादि दिव्य तेज है ।

भाषाभाष्य—क्रमप्राप्त तेज द्रव्य का लक्षण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि तेजस्त्वरूप द्रव्यत्व की व्याप्य अपर जाति का जिस द्रव्य में साक्षात् सम्बन्ध होता है न कि एकार्थ समवायादि-परंपरा सम्बन्ध, उस द्रव्य को तेज कहते हैं अर्थात् तेजस्त्वजातिमत्ता तेज का लक्षण है जो पृथिवी तथा जल के लक्षण के तेज का व्यवहार अथवा पृथिवी-जल इत्यादिकों से भेद का साधन है इत्यादि पूर्णवत् जान लेना । इस तेज द्रव्य के रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोगविभाग, परत्व अपरत्व, द्रवत्व तथा संस्कार ऐसे ग्यारह गुण हैं, जिनकी पृथिव्यादि के समान सूत्रकार के वचनों से सिद्धि होती है , इसीलिये सूत्रकार ने कहा है 'तेजो रूपस्पर्शवत्' (४१) इति । जल के समान गुणवत्ता के कारण तेज द्रव्य है यह सिद्ध करने के पश्चात् पृथिव्यादिकों से भेद के करने के लिये भाष्यकार ने विशेष गुण इस प्रकार वर्णन किये हैं कि तेज द्रव्य का रूप श्वेत, तथा पर प्रकाशक है कभी २ रक्त इत्यादि रूप का ज्ञान होता है वह औपाधिक है, क्योंकि पार्थिवादिभाग के मिश्रण के हट जाने पर दीपप्रभा, चन्द्रमा तथा सूर्य के प्रकाश के समान श्वेतता का ही ज्ञान होता है । और स्पर्श केवल उष्ण ही है । यहां केवलार्थक एवकार से पृथिवी, जल, तथा वायु-द्रव्य से यह विरुद्ध धर्म वर्णन किया है । और वह तेज द्रव्य भी नित्य तथा अनित्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भुक्तस्याहारस्य रसादिपरिणामार्थमुदर्यम्। आकरजं च सुवर्णादि। तत्र संयुक्तसमवायाद्रसाद्युपलब्धिरिति।

(७) वायुनिरूपणप्रकरणम्।

वायुत्वाभिसम्बन्धाद्वायुः। स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारवान्।

भेद से दो प्रकार का है। तथा कार्यरूप तेज द्रव्य के भी शरीर, इन्द्रिय तथा विषय ऐसे तीन भेद हैं। जिनमें से तैजस शरीर भी अयोनिज ही है, जो सूर्य देवताधिष्ठित तैजसलोक में रहने वालों का होता है, तथा जलीय शरीर के समान उसमें भी उपभोग-साधनता के लिये इन्द्रियों में दृढता प्राप्त होने के लिये पार्थिव अवयवों के सम्बन्ध से ही समर्थ होता है। तैजस इन्द्रिय वह है जो प्राणिमात्रको रूप का ज्ञान कराता है तथा पार्थिव आदि द्रव्यों के अवयवों से न मिले हुए केवल तैजस अवयवों से उत्पन्न होता है जिसका 'चष्टे अनेन इति चक्षुः' अर्थात् जिसके द्वारा (जीवात्मा' रूप को देखता है) इस व्युत्पत्ति बल से चक्षु (आंख) कहते हैं। तैजस विषय के भौम (१) दिव्य (२) उदर्य (३) आकरज (४) ऐसे चार भेद हैं। जिनमें भौम तैजस विषय वह होता है जो पार्थिव काष्ठ गोयठा, कोयला इत्यादिक से उत्पन्न अग्नि नाम का है? तथा जिसका ऊपर के तरफ ज्वाला फेंकने का स्वभाव है, तथा पकाना, जलाना, भाफ पैदा करना इत्यादि कार्य है। दिव्य तेज वह है जो जलरूप इन्धन से आकाश में उत्पन्न होता है। जिसे सूर्यकिरण, बिजुली इत्यादि कहते हैं। सूत्र—(५५) (८३) (१६७) (१९७) (२०६)।

पदपदार्थ—भुक्तस्य = भोजन किये, आहाररस्य = अन्न आदि आहार के, रसादिपरिणामार्थ = रसादि रूप से, परिणाम (परिपाक) होने के लिये अर्थात् भोजन किये अन्न को पचाने वाला, उदर्यम् = जठराग्नी है। आकरजं = खान में उत्पन्न तैजस विषय है, सुवर्णादि, (सोना चांदी इत्यादि) धातु। तत्र = इनमें, संयुक्तसमवायात् = इन तैजस विषयों में संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध पृथिवी आदि के भाग में समवेत होने से, रसाद्युपलब्धिः = रस इत्यादि गुणों की उपलब्धि होती है। इति = इस प्रकार तेज निरूपण समाप्त है॥

(७) वायुनिरूपण-प्रकरण

पदपदार्थ—वायुत्वाभिसम्बन्धात् = वायुत्व जाति के साक्षात् समवाय संबंध से, वायुः = वायु नामक द्रव्य सिद्ध होता है। स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-परत्व-संस्कारवान् = उस वायु द्रव्य में स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग नामक संस्कार ऐसे नौ गुण रहते हैं॥

भाषाभाष्य—भोजन किये अन्न को पचाकर उसका रस-वीर्य इत्यादि रूप से परिणाम कराने वाला उदर्य (जाठर) अग्नि होता है। तथा खानमें उत्पन्न हुये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुवर्ण, रजत इत्यादि धातु आकरज तेज विषय द्रव्य होते हैं । यदि सुवर्ण तेज है तो उसमें रस की उपलब्धि (अनुभव) क्यों होता है इस शंका के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं कि उनमें प्राणियों के अदृष्टवश पार्थिव भाग के सम्बन्ध से जिस का रूप उद्‌भूत (प्रगट) नहीं है ऐसा पिंड (गोला) बनने योग्य सुवर्णादि उत्पन्न होता है इसलिये सुवर्णादिकों में संयुक्त पार्थिव द्रव्य भाग में समवेत गन्ध-रस इत्यादि गुण होते हैं । सुवर्ण में तैजसता स्थापन का यह प्रकार है कि रूपवान् होने से पृथिवी जल-तेज इन तीनों में अन्तर्गत होने योग्य यह सुवर्ण स्वाभाविक द्रवत्व और शीतता न होने से तथा जल के समान स्नेह से व्याप्त द्रव्यान्तर का संग्रह न करने के कारण भी जल द्रव्य नहीं हो सकता । नैमित्तिक द्रवत्व का आश्रय होने से सुवर्ण पार्थिव है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि नैमित्तिकद्रवत्वाश्रय होने पर भी पार्थिव नहीं है । ऐसा कहने से कोई बाधक नहीं है, और निमित्त से द्रव्यान्तर में द्रवत्व या कोई विरोध भी नहीं है । तथा ऊर्ध्वज्वलनादि के समान एकदेशवृत्ति होने से यह जाति नियत भी नहीं है इसलिये उन २ भोग के कारण में नियत अदृष्ट सहकृत अग्निसंयोग से उत्पन्न द्रवत्व तथा कम्प के समान पार्थिवतादिक की व्यवस्थापकता का कारण नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर भी सुवर्ण के द्रवत्व का नाश न होने के कारण सुवर्ण तेज द्रव्य है, जो अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर भी द्रवत्व के नाश का आश्रय नहीं होता वह तेज द्रव्य नहीं होता ऐसे व्यतिरेकी अनुमान से सुवर्ण में तैजसता सिद्ध होती है । इसी प्रकार दूसरे विरोधी के न रहने पर अग्नि के संयोग से पार्थिव रूप का परिवर्तन (हटना) देखने में आता है किन्तु सुवर्ण गलाने पर उसका रूप नहीं बदलता अत: जल के समान वह पार्थिव नहीं है इसलिए 'सुवर्ण पार्थिव नहीं है अत्यन्त अग्नि-संयोग होने पर भी अपरिवर्तित रूप का आधार होने से जल के समान' इस प्रकार अन्वय अनुमान से भी सुवर्ण पार्थिव द्रव्य नहीं है यह 'सिद्ध है । अतः 'सुवर्ण तैजस द्रव्य है पार्थिव तथा जलीय से भिन्न होकर रूप का आधार होने से सूर्यादि प्रकाश के समान' ऐसे परिशेषानुमान से सुवर्ण में तैजसद्रव्यता सिद्ध है इत्यादि किरणावली-कन्दली इत्यादि में इस विषय में विस्तार देख लेना चाहिये । सू—(१५७) से (१६१) तक, तथा (२७६) (२७७), (१७०) (१८६) ॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष होने वाले पृथिवी, जल तथा तेज द्रव्य का निरूपण करने के पश्चात् अप्रत्यक्ष द्रव्यों के निरूपण के अवसर में नित्य तथा अनित्य पृथिव्यादि त्रय के समान दोनों स्वभाव वाले द्रव्य का वर्णन प्रस्तुत होने के कारण वायु द्रव्य का निरूपण करते हैं भाष्यकार कि पृथिवी आदि के समान द्रव्यत्व का व्याप्य वायुत्व नामक अपर जाति के साक्षात्समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध द्रव्य को वायु कहते हैं, अर्थात वायुत्वजातिमत्त्व वायु लक्षण है जो वायु व्यवहार का अथवा वायु द्रव्य को पृथिव्यादिकों से भिन्न सिद्ध करने का प्रयोजक है । यह वायु स्पर्श. संख्या, परिमाण,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्पर्शोऽस्यानुष्णाशीतत्वे सत्यपाकजः, गुणविनिवेशात् सिद्धः। अरूपिष्वचाक्षुषवचनात् सप्त संख्यादयः। तृणकर्मवचनात् संस्कारः।

स चायं द्विविधोऽणुकार्यभावात्। तत्र कार्यलक्षणश्चतुर्विधः—शरीरमिन्द्रियं विषयः प्राण इति।

तत्रायोनिजमेव शरीरं मरुतां लोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम्।

इन्द्रियं सर्वप्राणिनां स्पर्शोपलम्भकं पृथिव्याद्यनभिभूतैर्वाय्ववयवैरारब्धं सर्वशरीरव्यापि त्वगिन्द्रियम्।

पृथक्त्व, संयोग, विभाग परत्व, अपरत्व, तथा वेग संस्कार ऐसे नौ गुणों का आधार है। जिसमें सूत्रकार के वचन प्रमाण है।

पदपदार्थ—स्पर्शः = स्पर्श नाम का गुण, अस्य = इस वायु द्रव्य का, अनुष्णाशीतत्वे सति = अनुष्णाशीत होते हुए, अपाकजः = तेजःसंयोग से परिवर्तन-शील नहीं है, गुणविनिवशात् = 'स्पर्शवान्वायुः' (५२) इत्यादि द्रव्यों के गुणनिरूपक द्वितीयाध्यायःसे, सिद्धः = सिद्ध होता है। अरूपिषु = रूपरहित द्रव्यों में, अचाक्षुषवचनात् = संख्यादिगुणों का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता यह 'अरूपिष्वचाक्षुषाणि (१६८) इस सूत्र से, सप्त = सात, संख्यादयः = संख्या से अपरत्व तक वायु द्रव्य के गुणों की सिद्धि होती हैं। गुणकर्मवचनात् = 'तृणे कर्म वायुसंयोगात्' (१९४) इत्यादि सूत्रों में गुण तथा कर्म की उक्ति होनेसे संस्कारः = वेग नामक संस्कार भी वायु द्रव्य में सिद्ध होता है। स च = और वह, अयं = यह, वायु भी, द्विविधः = दो प्रकार का है, अणुकार्यभावात् = नित्य तथा अनित्य भेद से॥ तत्र = उन दोनों में, = अनित्यरूप, चतुर्विधः = चार प्रकार है, शरीरं इन्द्रियं विषयः प्राणः = शरीर इन्द्रिय, विषय, तथा प्राणनामक, इति = इस प्रकार से। तत्र = उसमें से, अयोनिजमेव = अयोनिज ही है, शरीरं = वायु द्रव्य का शरीर, मरुतां लोके = वायु देवता के वायुमय संसार में, पार्थिवावयवोपष्टम्भात् = जो पार्थिव भाग के सम्बन्ध से ही जलीयादि शरीर के समान, उपभोगसमर्थम् = सुखादिभोग में समर्थ होता है। इन्द्रियं = वायवीय इन्द्रिय है, सर्वप्राणिनां = प्राणिमात्र का, स्पर्शोपलम्भकं = शीत आदि स्पर्श का ग्रहण करने वाला, पृथिव्यादि अवयवों से अस्पृष्ट, वाय्ववयवैः = केवल वायु द्रव्य के अवयवों से, आरब्धं = उत्पन्न हुआ, सर्वशरीरव्यापि = सम्पूर्ण शरीर में व्यापक, त्वगिन्द्रियं = त्वगिन्द्रिय कहा जाता है।

भाषाभाष्य—सूत्रं लक्षित वायु द्रव्य का विशेषगुण स्पर्श अनुष्णाशीत है, किन्तु उसका पृथिवी के स्पर्श के समान अग्नि-संयोग से परिवर्तन न होने से वह अपाकजहै, यह 'गुण-विनिवेशाधिकारनामक' द्वितीयाध्याय के पदपदार्थ में ऊपर दिखाये हुए सूत्रों से सिद्ध होता है। तथा पदपदार्थ में दिये हुए सूत्रों से संख्यादि अपरत्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषयस्तूपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानभूतः स्पर्शशब्दधृतिकम्पलिङ्गस्तिर्यग्गमनस्वभावो मेघादिप्रेरणधारणादिसमर्थः। तस्याप्रत्यक्षस्यापि नानात्वं सम्मूर्च्छनेनानुमीयते। सम्मूर्च्छनं पुनः समानजवयोर्वाय्वोर्विरुद्धदिक्क्रिययोः सन्निपातः।

पर्यन्त गुण भी वायु द्रव्य में सिद्ध होते हैं, तथा उपर्युक्त सूत्र से वेग नामक संस्कार भी सिद्ध होता है। यह वायु द्रव्य भी नित्य तथा अनित्य दो प्रकार का है जिसमें अनित्य वायु के शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा प्राण ऐसे चार भेद हैं। जिनमें से वायु शरीर अयोनिज ही है जो वायु लोक में वायु रूप से रहता है और जलीय शरीरादि के समान पार्थिवभाग के धारण से ही उसे उपभोग-योग्यता आती है। तथा वायवीय इन्द्रिय जो प्राणिमात्र को शीत-उष्ण आदि स्पर्श का ज्ञान कराता है, तथा पार्थिवादि अवयवों से अनाक्रान्त केवल वायवीय अवयवों से निर्मित है, तथा सम्पूर्ण शरीर में व्यापक है जिसे त्वग् स्थान में होने से त्वगिन्द्रिय कहते हैं वह स्पार्शनेन्द्रिय है। त्वगिन्द्रिय के वायवीय होने में 'रूपादिगुणों में केवल स्पर्श का व्यंजक होने से शरीर संलग्न जलकी शीतता के व्यजक व्यजन (पंखे) के पवन के समान त्वगिन्द्रिय वायवीय है' ऐसा अनुमान ही प्रमाण है। सूत्र—(१५७) से (१६१) तक, (५९) (६०) (६१) (१७०) (२७६) (२७७) तथा (१७५) से (१८०) तक, तथा (३२६)।

पदपदार्थ—विषयस्तु = विषयरूप वायु द्रव्य तो, उपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानभूतः = प्रत्यक्ष अनुभव होनेवाले शीतादिस्पर्श का आधारस्वरूप है, स्पर्शशब्दधृतिकम्पलिङ्गः = जिसके स्पर्श, शब्द, धारण तथा कम्प (कांपना) अनुमापक हेतु हैं, तिर्यग्गमनस्वभावः = तिरछे जाने का जिसका स्वभाव है, मेघादि-प्रेरणा-धारणादिसमर्थः = मेघ (बादल) रूई इत्यादि द्रव्यों के प्रेरण (चलाना) धारण इत्यादिकों में समर्थ है। तस्य = उस, अप्रत्यक्षस्यापि = प्रत्यक्ष न होने वाले भी विषयरूप वायु द्रव्य की, नानात्वं = अनेकता, सम्मूर्च्छनेन = मिश्रण से, अनुमीयते = अनुमान द्वारा सिद्ध की जाती है। सम्मूर्च्छनं पुनः = और सम्मूर्च्छन शब्द का यह अर्थ है, समानजवयोः = समान वेग वाले, वाय्वोः = दो वायु द्रव्यों का, विरुद्धदिक्क्रिययोः = परस्पर-विरोधि दिशाओं में जिनमें क्रिया (चलन) उत्पन्न भया हो, सन्निपातः = ऐसे दो वायुवों का, एक स्थान में गिरना (मिलना)।

भाषाभाष्य—तीसरा अनित्य विषय रूप वायु जो प्रत्यक्ष अनुभूयमान शीत आदि स्पर्श का आधार है जिसका स्वयं प्रत्यक्ष नहीं होता। एकदेशी नैयायिकों का ऐसा मत है कि 'वायुर्वाति' वायु चल रहा है ऐसा स्पार्शन प्रत्यक्ष होने से वायु का प्रत्यक्ष होता है, वायु अप्रत्यक्ष नहीं हैं किन्तु सिद्धान्ती का ऐसा कहना है कि वायु के स्पर्श ही का प्रत्यक्ष होता है। 'वायुर्वाति' वायु चल रही है, यह ज्ञान तो अभ्यास के सामर्थ्य से होता है, अतः व्याप्ति की अपेक्षा न करने वाला यह 'वायुर्वाति' इत्याकारक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञान अनुमान ही है, जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय से होने वाली वृक्षपर्वतादिगत क्रिया की उपलब्धि। यदि वादी-वायु स्पर्शनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष है, उपलब्ध होने वाले स्पर्श का आधार होने से, घट के समान' इस प्रकार अनुमान से वायु में स्पार्शन प्रत्यक्षता सिद्ध करें' तो सिद्धान्ती इसमें आश्रयासिद्धि दोष इस दृष्टान्त से देते हैं कि जिस प्रकार 'शशाश्रृंगवान् है. पशु होने से' यह अनुमान शशको श्रृंग न होने मे आश्रय के असिद्धि से दुष्ट है इसी प्रकार यह अनुमान भी आश्रयासिद्धिदोष-ग्रस्त है। तथा वायु, स्पार्शन प्रत्यक्षविषय नहीं है, चाक्षुष न होने से, जो स्पार्शन प्रत्यक्ष का अविषय नहीं होता, वह अचाक्षुष नहीं होता जिस प्रकार घट, इस प्रकार के विरुद्ध अनुमान होने से सत्प्रतिपक्ष दोष भी आता है, इसलिये वादी का अनुमान वायु में प्रत्यक्षता का साधक नहीं हो सकता। अतः 'यह जो रूपवान् पृथिव्यादि द्रव्यों में असम्बद्ध स्पर्श अनुभूत होता है वह स्पर्श किसी न किसी द्रव्य में आश्रित है स्पर्श होने से पृथिवी-स्पर्श के समान ऐसे स्पर्शहेतुक (१) अनुमान से, तथा रूपवान् द्रव्यों का अभिघात नामक संयोग न रहते जो पर्ण (पत्ते) इत्यादिकों में शब्द सुनाई पड़ता है वह स्पर्शवान् तथा वेगवान् किसी द्रव्य के अभिघात नामक संयोग से उत्पन्न है, अवयव-विभाग-रहित द्रव्यसम्बन्धी शब्द होने से, दण्ड से ताडितभेरी (नगाडा) शब्द के समान' इस प्रकार शब्द हेतुक (२) अनुमान से, एवं 'आकाश में तृण (तिनके) इत्यादिकों की धृति (टिकारहना), स्पर्शवान द्रव्य के संयोग के कारण है, चेतन प्राणियों से न की हुई धृति (धारण) होने से, जल में नौका के टिकने के समान इस प्रकार के धृतिहेतुक (३) अनुमान से, तथा 'वृक्षादिकों का कम्प स्पर्शवान् तथा वेगवान् किसी द्रव्य के संयोग से उत्पन्न है; विलक्षण (कम्पित करने वाले के दृष्टिगोचर न होने वाला) कम्प होने से, नदी-प्रवाह से अभिहत (टक्कर खाये हुए) काश-कुश इत्यादिकों के कम्प के समान' इस प्रकार कम्पहेतुक (४) अनुमान से भी उक्त स्पर्शादि चतुष्टय के पृथिवी आदि रूपवान् द्रव्यों के आश्रित न होनेसे तद्भिन्न इन स्पर्शादिगुणों का आश्रय वायुनामक द्रव्य सिद्ध होता है। यदि वादी कहे कि 'पूर्वप्रदर्शित स्पर्शादिगुणों के भिन्न २ चार द्रव्य क्यों' न माने जांय' तो सिद्धान्ती यहां ऐसा उत्तर करते हैं कि स्पर्श से अनुमित द्रव्य को कार्य रूप होनें से शब्दादिक ३ गुणों की सिद्धि होने के कारण भिन्न द्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ है। उक्तमानों से सिद्ध वायु का तिर्यग्गमन (तिरछे बहना) स्वभाव है, तथा यह वायु है। मेघ (बादल) इत्यादियों को आकाश में प्रेरण इधर से उधर चलाता है इसी प्रकार विमान, धूलि इत्यादिको को भी यही आकाश में उड़ाता है। धारणादि इस आदि पद से स्पर्श को अभिव्यक्त करना, दीप को बुताना इत्यादि कार्य में भी वायु ही समर्थ है यह जानना। (५७) (५८) (६४)।

इस प्रकार से अनुमान प्रमाण-सिद्ध वायु द्रव्य एक है अथवा अनेक इस सन्देह को निवारण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि अप्रत्यक्ष भी वायु द्रव्य संमूर्च्छन (संयोग विशेष) से नानाविध है यह अनुमान से सिद्ध होता है। विरुद्ध दिशाओं से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सोऽपि सावयविनोर्वाय्वोरूर्ध्वगमनेनानुमीयते तदपि तृणादिगमनेनेति। प्राणोऽन्तःशरीरे रसमलधातूनां प्रेरणादिहेतुरेकः सन् क्रियाभेदादपानादिसञ्ज्ञां लभते।

(८) सृष्टिसंहारप्रकरणम्।

इहेदानीं चतुर्णां महाभूतानां सृष्टिसंहारविधिरुच्यते। ब्राह्मेण मानेन वर्षशतान्ते वर्तमानस्य ब्रह्मणोऽपवर्गकाले संसारखिन्नानां सर्वप्राणिनां निशि

चले हुए समान वेगवाले दो वायुओं के मिलन को सम्मूर्च्छन कहते हैं जिस से वायुद्रव्य नाना है यह सिद्ध होता है। अर्थात् तृणादिकों का ऊर्ध्वगमन (ऊपर जाना), स्पर्श तथा वेगवान् द्रव्य के संयोग से उत्पन्न है, ऊर्ध्वगमन स्वभाव न होते हुए मनुष्यादिकों के प्रयत्न का संभव न होने पर भी ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से, जलते अग्नि से ऊपर फेंके हुए तृणादिकों के समान, इस प्रकार के अनुमान से सिद्ध तृणादिकों के ऊर्ध्वगमन से, 'वायु, ऊर्ध्वगतिमान् है, तृणादिकों के ऊर्ध्वगमनरूप कार्य के असमवायिकारण संयोग के आधार होने से, उक्त कार्य के असमवायिकारण संयोग के आधार जलती हुई अग्नि के समान' इस अनुमान से वायु में ऊर्ध्वगति सिद्ध होने पर, 'दो वायुद्रव्यों का ऊर्ध्वगमन, परस्पर के आघात से उत्पन्न है, प्रयत्नादिक का संभव न होते हुए ऊर्ध्वगतिमान् होने से, परस्पर आघात करनेवाले नदी-जल के प्रवाह के समान' इस प्रकार के अनुमान से परस्पर वायुद्रव्यों के सन्निपात (संमूर्च्छन) से वायु द्रव्य में नानात्व सिद्ध होता है। सूत्र (१६३) (६२) (६३)।

पदपदार्थ = सोपि = वह सन्निपात (सम्मूर्च्छन) भी, सावयविनोः = अवयवसहित, वाय्वोः = दो वायु द्रव्यों के, ऊर्ध्वगमनेन = ऊर्ध्वगति से, अनुमीयते = अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है, तदपि = वह दो वायुद्रव्यों का ऊर्ध्वगमन भी, तृणादिगमनेन = तृणादिकों के ऊर्ध्वगमन से, अनुमान द्वारा सिद्ध होता है। चतुर्थ प्राणः = प्राण वायु, अन्तःशरीरे = शरीर के भीतर, रसमलधातूनां = अन्न, रस, मल तथा धातुओं के, प्रेरणादिहेतुः = प्रेरण (चालन), धारण, विकार इत्यादि क्रिया का कारण, एकः सन् = एक होने पर भी, क्रियाभेदात् = निष्क्रमणादि क्रिया के भिन्न होने से, अपानादिसंज्ञां = अपान, व्यान, समान तथा उदान संज्ञा को, लभते = प्राप्त होता है॥

(८) सृष्टिसंहारप्रकरण।

पदपदार्थ—इह = इस स्थल में, इदानीं = वर्तमान में, चतुर्णां = चार, भूतानां = पृथिवी आदि वायुपर्यन्त महाभूत द्रव्यों की, सृष्टिसंहारविधिः = उत्पत्ति तथा संहार का प्रकार, उच्यते = वर्णन किया जाता है। ब्राह्मेण = सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के, मानेन = प्रमाण से, वर्षशतान्ते = सौ वर्ष के अन्त में, वर्तमानस्य = वर्तमानरहनेवाले, ब्रह्मणः = ब्रह्मा के, अपवर्गकाले = मुक्ति समय में। संसारखिन्नानां = संसार से खिन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विश्रामार्थं सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य संजिहीर्षासमकालं शरीरेन्द्रियमहाभूतोपनिबन्धकानां सर्वात्मगतानामदृष्टानां वृत्तिनिरोधे सति महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगजकर्मभ्यः शरीरेन्द्रियकारणाणुविभागेभ्यस्तत्संयोगनिवृत्तौ तेषामापरमाण्वन्तो विनाशः, तथा पृथिव्युदकज्वलन पवनानामपि महाभूतानामनेनैव क्रमेणोत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् सति पूर्वस्य पूर्वस्य विनाशः, ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते धर्माधर्मसंस्कारानुविद्धा आत्मानस्तावन्तमेव कालम् ।

(थके) हुए सर्वप्राणिनां = संपूर्ण प्राणियों के, निशि = रात्रि में, विश्रामार्थं = विश्राम करने के निमित्त, सकलभुवनेश्वरस्य = संपूर्ण जगत् के स्वामी, महेश्वरस्य = परमेश्वर की, संजिहीर्षासमकालं = संहार करने की इच्छा के समय शरीरेन्द्रियमहाभूतोपनिबन्धकानां = शरीर इन्द्रिय तथा पृथिव्यादि पंचमहाभूतों के उत्पादक, सर्वात्मगतानां = प्राणिमात्र के आत्माओं में वर्तमान, अदृष्टानां = धर्माधर्मनामक अदृष्टों के, वृत्तिविरोधेन सति = शक्ति के निरोध होने में पर, महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगजकर्मभ्यः = परमात्मा की संहार की इच्छा से आत्मा तथा परमाणुओं के संयोगजन्य क्रियाओं से, शरीरेन्द्रियकारणाणुविभागेभ्यः = शरीर तथा इन्द्रियों के मूल कारण परमाणुओं के परस्पर विभागों से, तत्संयोगनिवृत्तौ = उन परमाणुओं के पूर्व संयोगों के निवृत्त होने पर, तेषां = उन शरीर तथा इन्द्रियों का, आपरमाण्वन्तो = परमाणुपर्यन्त, विनाशः = नाश हो जाता है, तथा = इसी प्रकार, पृथिव्युदकज्वलनपवनानामपि = पृथिवी, जल, तेज तथा वायु नाम के भी, महाभूतानां = पांच महाभूतद्रव्यों का, अनेनैव = इसी, क्रमेण = क्रमसे, उत्तरस्मिन् = अग्रिम उत्तरस्मिन् अग्रिम महाभूत द्रव्य के, सति वर्तमान रहते, पूर्वस्य पूर्वस्य = पूर्वपूर्व महाभूत द्रव्य का, विनाशः = नाश हो जाता हैं, ततः = इसके पश्चात्, प्रविभक्ताः = विभक्त हुये, परमाणवः = पंचमहाभूत द्रव्यों के परमाणु, अवतिष्ठन्ते = स्थित रहते हैं, धर्माधर्मसंस्कारानुविद्धाः = धर्माधर्म नामक अदृष्ट तथा संस्कार से सम्बन्ध रखने वाले, आत्मानः = संपूर्ण जीवात्मा, तावन्तमेव = उतने ही, कालम् = समय तक ।

भाषाभाष्य = यदि वादी कहे कि 'जिस सन्निपात से पूर्व प्रदर्शित वायु नानात्व की सिद्धि होती है उसमें क्या प्रमाण है' तो इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि दो अवयव-सहित वायु द्रव्यों की ऊर्ध्वगति से दो वायुओं के सन्निपात का अनुमान किया जाता है, और वह दो वायु द्रव्यों का ऊर्ध्वगमन तृणादिकों के ऊर्ध्वगमन हेतु द्वारा अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। जिस अनुमान का प्रकार ऊपर कहा गया है । चतुर्थ प्राणरूप कार्य वायु द्रव्य शरीर के मध्य में अन्न, रस, मल तथा मज्जादि धातुओं के चालन, धारण और विकारादि क्रियाओं को करने के कारण उनका जनक है, जो वस्तुतः एक होने पर भी मुख तथा नासिका के द्वारा निष्क्रमण (निकलना) प्रवेश करना इस उपाधि से प्राण नामक (१), तथा नीचे ले जाने रूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपाधि से अपान(२), चारों ओर ले जाने से समान(३), तथा ऊपर की ओर ले जाने के कारण उदान(४), और नाडियों में फैलने से व्यान(५) इस प्रकार क्रिया के भेद से भिन्न भिन्न नामक होता है, न कि नाम-भेद से नामाधार वायु भिन्न है। इसी प्रकार प्राण वायु के उक्त नाम के भेदक स्थान भी हैं, जैसे हृदय प्राणवायु का, गुदा स्थान अपान वायु का, नाभिमंडल समान वायु का, कण्ठदेश उदान का, तथा सम्पूर्ण शरीर व्यान वायु का स्थान वैद्यक तथा शास्त्र[१] कोश में कहा गया है। यह स्वतन्त्र भाष्य है।

ग्रन्थ के विस्तार-भय से एक ही स्थल में समान न्याय से पृथिवी आदि वायु-पर्यन्त चार द्रव्यों की उत्पत्ति तथा संहार का निरूपण करते हुए भाष्यकार प्रतिज्ञा करते हैं कि पूर्व वर्णित पृथिव्यादि चार कार्य द्रव्यों के उत्पत्ति तथा संहार का यह प्रकार है अर्थात् द्ब्यणुकादि क्रम से उक्त चार कार्य द्रव्यों के रचना तथा क्रिया, विभाग इत्यादि न्याय से परमाणुपर्यन्त कार्यद्रव्यों के नाश की विधि का वर्णन किया जाता है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के आयुष्य के प्रमाण[२] से सौ वर्ष के अनन्तर सृष्टिकर्ता के मुक्ति समय में। अर्थात् पूर्वोक्तरीत्या सौ वर्ष प्राप्त कर न कि सौ वर्ष बीतने के बाद, क्योंकि वहाँ अपवर्ग होने से ब्रह्माकी वर्तमानता नहीं हो सकती, अथवा किसी सुकृत विशेष से ब्रह्मा यदि उत्पन्न हुये हों तो उनके मुक्ति-समय में ऐसी भी व्याख्या हो सकती है। इस पक्ष में 'ये संकल्पितफलकर्मकर्तारः साकारोपासनापरिवासितचेतसो यतयस्ते हिरण्यगर्भपदवीमनुप्राप्य परिवृज्यन्ते' अर्थात् जो निष्काम कर्म करने वाले तथा साकार भगवान् की भक्ति से जिनका हृदय पूर्ण है, ऐसे विशिष्ट संन्यासी ब्रह्मा के स्थान को प्राप्त कर मुक्त होते हैं' यह आगम प्रमाण है। और यदि भगवान् परमात्मा ही ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव रूप त्रिमूर्तिधारी हैं, ऐसा पक्ष यहां पर लिया जाय तो ब्रह्मा के नित्यमुक्त होने के कारण शरीर-त्याग समय में ऐसा 'अपवर्गकाले' इस पद का अर्थ करना संगत होगा। उक्त प्रकार से ब्रह्मा के अपवर्ग के समय जन्ममरणादि प्रवाह संसार में नाना प्रकार के उपद्रवों से असह्य दुःखी प्राणिमात्र के रात्रि के समान प्रलय में विश्राम करने के निमित्त सम्पूर्ण संसार के कारण होने से महेश्वर पद वाच्य परमात्मा की जगत् के संहार करने की इच्छा के समय ही में शरीर, इन्द्रिय तथा पृथिवी आदि पाँच महाभूत द्रव्यों की उत्पत्ति तथा स्थिति के कारण रूप सम्पूर्ण

(१) 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशे स्याद्व्यानः सर्वशरीगः। अमरचन्द्र मे।

(२) मानवस्य तु वर्षस्य दैवमेकं दिनं भवेत्। तद्द्वादशंसहस्राणि चतुर्युगमुदीरितम्॥ चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते। रात्रिरेतावती तस्य ताभ्यां पक्षादिकल्पना॥ यह मनु आदि से कहा हुआ ब्राह्ममान यहां पर जान लेना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ततः पुनः प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तरं सर्वात्मगतवृत्तिलब्धादृष्टापेक्षेभ्यस्तत्संयोगेभ्यः पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगेभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नो नभसि दोधूयमानस्तिष्ठति ।

जीव आत्माओं में समवेत धर्माधर्म नामक अदृष्टों का प्रलयहेतुक अदृष्ट से प्रतिबंध होने पर परमात्मा की संहारेच्छा-सहित जीवात्मा तथा परमात्माओं के संयोग से उत्पन्न भयी परमाणुओं की क्रियाओं से 'क्रिया क्रियातो विभागः विभागात् पूर्वं संयोगनाशः तत उत्तरसंयोगः' अर्थात् प्रथम क्षण में क्रिया होती है उसके बाद द्वितीय क्षण में क्रियाश्रय विभक्त होते हैं, तथा तृतीय क्षण में पूर्वसंयोग नष्ट होकर चतुर्थ क्षण में उत्तर देश में क्रियाश्रय का संयोग होता है, इस न्याय से शरीर तथा इन्द्रियों के मूल कारण परमाणुओं के परस्पर विभाग होनेपर उनके पूर्वसंयोगों कों निवृत्ति होने के कारण उत्तर देश से संयुक्त होते ही शरीर तथा इन्द्रियों का परमाणु शेष नाश हो जाता हैं । ईसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज वायु नामक पांच महाभूत द्रव्योंका भी शरीर तथा इन्द्रियों के नाश में कहे हुए क्रम से उत्तर २ अग्रिम ३ महाभूत के रहते अर्थात् जल के रहते पृथिवी का, तेज के रहते जल का वायु के रहते तेज का इस प्रकार क्रम से पृथिवी आदि पंचमहाभूत द्रव्यों का विनाश हो जाता है। उस समय कार्य द्रव्य रहित होने से प्रविभक्त केवल पंचमहाभूतों के परमाणु तथा धर्म, अधर्म और भावना नामक संस्कार से सम्बद्ध जीवात्मा भी आकाश, काल, दिशा रूप नित्यद्रव्यों के साथ अवशिष्ट रह जाते हैं । जो पूर्व प्रदर्शित ब्रह्मा के मान से सौ वर्ष तक अपने २ स्वरूप में ही स्थित रहते हैं । उसी काल को कार्य द्रव्यों के आधार न होने के कारण खण्ड-प्रलय कहते हैं । यहांपर पृथिवी में क्रियोत्पत्ति, तथा विभाग में क्रिया जन्यत्व को वर्णन करने वाले (६६) (६७) (११९) (२१०) (२९१) संख्या के सूत्र देख लेना ।

पदपदार्थ—ततः पुनः = इसके पश्चात् फिर, प्राणिनां = प्राणिमात्रों के, भोगनिष्पत्तये = सुखदुःखानुभवरूप भोग की सिद्धि के लिये, महेश्वरसिसृक्षानन्तरं = परमात्मा की जगत् को उत्पन्न करने की इच्छा के पश्चात्, सर्वात्मगतवृत्तिलब्धादृष्टापेक्षाः = सम्पूर्ण आत्मांओं में स्थित परमात्मा की सृष्टि की इच्छा से कार्य मात्र के उत्पत्ति होने के लिये व्यापार करने में उन्मुख धर्म-धर्म रूप अदृष्ट की आवश्यकता रखने वाले, तत्संयोगेभ्यः = जीवात्मा तथा परमाणुओं के कार्योत्पादक संयोगों से, पवनपरमाणुषु = वायु द्रव्य के परमाणुओंमें, कर्मोत्पत्ती = उत्पादक क्रिया उत्पन्न होने पर, तेषां = उन वायु परमाणुओं के, परस्परसंयोगेभ्यः = परस्पर संयोगों (मिलने) से द्व्यणुकादिप्रक्रमेण = द्व्यणुक त्र्यणुक इत्यादि अवयवि द्रव्य के क्रमसे, महान् = विशाल, वायुः = वायु नामक द्रव्य, उत्पन्न होकर, नभसि = आकाश में, धोधूयमानः = अत्यन्त कम्पित होता हुआ, तिष्ठति = रहता है । तदनन्तरं = इसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तदनन्तरं तस्मिन्नेव वायावाप्येभ्यः परमाणुभ्यस्तेनैव क्रमेण महान् सलिलनिधिरुत्पन्नः पोप्लूयमानस्तिष्ठति ।

तदनन्तरं तस्मिन्नेव पार्थिवेभ्यः परमाणुभ्यो महापृथिवी संहताऽवतिष्ठते । तदनन्तरं तस्मिन्नेव महोदधौ तैजसेभ्योऽणुभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेणोत्पन्नो महांस्तेजोराशिः केनचिदनभिभूतत्वाद्देदीप्यमानस्तिष्ठति ।

पश्चात्, तस्मिन्नेव = उसी कार्यरूप, वायौ=वायु में, आप्येभ्यः=जलीयपरमाणुभ्यः = परमाणुओं से, तेनैव = उसी, क्रमेण = वायु की उत्पत्ति के क्रम से, महान् = विशाल, सलिलनिधिः = समुद्ररूप महाजलाशय, उत्पन्नः = उत्पन्नहोकर, पोप्लूयमान = सर्वत्र प्रवाह रूप से बहता हुआ, तिष्ठति = रहता है ।

भाषाभाष्य—यद्यपि प्रथम महाभूतों की उत्पत्ति का वर्णन उचित है तथापि दोनों का वर्णन करना ही विवक्षित होने से सृष्टि वर्णन संहार वर्णन के अनन्तर, भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि आचार्य उदयन का इस विषय में ऐसा कहना है कि सृष्टि तथा संहार में प्रथम कौन था यह निर्णय होना असंभव है यह दिखलाने के लिये प्रथम संहार का क्रम भाष्यकार ने वर्णन किया है । अर्थात् सृष्टि तथा संहार अनादि हैं यह आचार्य का अभिप्राय है । प्रलय के पश्चात् पुनः प्राणिमात्र को पूर्व अदृष्ट के अनुसार सुखदुःखानुभव रूप भोग होने के लिये परमात्मा की भुवन-सर्जन की अभिलाषा के पश्चात् सम्पूर्ण जीवात्माओं में वर्तमान उत्पादक व्यापार करने में समर्थ धर्माधर्म रूप अदृष्ट की अपेक्षा करने वाले जीवात्मा तथा महाभूत द्रव्यों के परमाणुओं के उत्पादक संयोगों से 'क्रिया क्रियातो विभाग' इत्यादि पूर्व प्रदर्शित रीति से द्व्यणुक त्र्यणुक इत्यादि क्रमसे उत्पन्न हुआ वायु रूप कार्य द्रव्य आकाश में अत्यन्त कम्पित होता रहता है, क्योंकि अन्य महाभूत द्रव्यों की उत्पत्ति न होने से उसके गति का कोई प्रतिबंधक नहीं है, तथा सभी वायु द्रव्यों का तिर्यंगगमनस्वभाव नियत है । सूत्र (२१०) (२९०) (३६३) ।

इस प्रकार वायु रूप कार्य द्रव्य की उत्पत्ति के पश्चात् उसी वायु द्रव्यमें जलीय परमाणुओं से पूर्वोक्त उत्पादक क्रमसे विशाल समुद्रादि रूप महाजलाशय उत्पन्न होकर प्रतिबंधक न होने के कारण प्रवाह रूप से सर्वत्र बहता रहता है ।

पदपदार्थ—तदनन्तरं = उक्त प्रकार से जलरूप महाभूत द्रव्य के उत्पत्ति के पश्चात् , तस्मिन्नेव = उसी जलाशय में, पार्थिवेभ्यः = पार्थिव, परमाणुभ्यः = परमाणुओं से, महापृथिवी = विशाल पृथिवी, संहता = दृढ अवयवाधार, अवतिष्ठते = स्थित होती है । तदनन्तरं = पृथिवी के उत्पत्ति के पश्चात् , तस्मिन्नेव = उसी पूर्वोक्त, महोदधौ = महाजलाशय पर, तैजसेभ्यः = तेजोद्रव्यके, अणुभ्यः = परमाणुओं से, द्व्यणुकादिप्रक्रमेण, द्व्यणुक आदि अवयविद्रव्य की उत्पत्ति के क्रम से, उत्पन्नः = उत्पन्न हुआ, महान् = विशाल, तेजोराशिः = तेजोद्रव्य का विशाल समूह, केनचित् =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय ॥ २ ॥

(गङ्गा आदि तीर्थों में) स्नान, (एकादशी आदि में) व्रत, ब्रह्मचर्य, (वेदाध्ययन के लिए) गुरुकुल में निवास, वानप्रस्थाश्रम परिग्रह, यज्ञ, दान, व्रीह्यादि के प्रोक्षण, (भोजनादि कृत्य में) दिशा के नियम, (यज्ञादि के लिए) नक्षत्र के नियम, (तत्तत्कर्म में तत्तत्) मन्त्र के प्रयोग के नियम तथा (यज्ञादि के अनुष्ठान के लिए) काल के नियम से अदृष्ट की उत्पत्ति होती है।

चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥ ३ ॥

चतुर्विध आश्रम-धर्म के अनुष्ठान से भी अदृष्ट की उत्पत्ति होती है; और उपधा तथा अनुपधा से भी अदृष्ट (अधर्म तथा धर्म) की उत्पत्ति होती है।

भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ॥ ४ ॥

कर्माचरण की भावना में रागादि दोष ही उपधा है और उस भावना में आस्तिक्य बुद्धि आदि अनुपधा है।

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितं च तच्छुचि ॥ ५ ॥

प्रत्यर्पणीय वस्तु का शास्त्रोक्त रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श, (व्रीह्यादि का शास्त्रानुसार) प्रोक्षण और (अन्नादि का मन्त्र के विना ही जल से) अभ्युक्षण—ये शुचि अर्थात् धर्म-साधन हैं।

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥ ६ ॥

शुचि से भिन्न अशुचि है अर्थात् अधर्म-साधन है।

अर्थान्तरं च ॥ ७ ॥

उपर्युक्त धर्म-साधन भी भावदुष्ट अथवा वाग्दुष्ट हों तो वे अधर्म-साधन बन जाते हैं।

अयतस्य शुचि भोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावाद् विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य ॥ ८ ॥

धर्म-साधक भोजनादि से भिन्न धर्म-सिद्धि में सहकारी नियम के अभाव होने से असंयत व्यक्ति का पवित्र भोजन भी पुण्यजनक नहीं होता परन्तु यदि व्यक्ति स्वयं भी संयत हो तब अवश्य ही पवित्र भोजन से धर्म होता है।

असति चाभावात् ॥ ९ ॥

इसी तरह स्वयं व्यक्ति के संयत होने पर भी यदि भोजनादि अशुचि होता है तब भी धर्म नहीं होता है; (अतः दोनों की शुद्धि धर्म के लिए अपेक्षित है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुखाद्रागः ॥ १० ॥

(विषय-भोगजन्य) सुख से राग (इच्छा) होता है (और यह राग भी अदृष्ट-साधन है) ।

तन्मयत्वाच्च ॥ ११ ॥

विषयाभ्यासजन्य संस्कार से भी (राग होता है) ।

अदृष्टाच्च ॥ १२ ॥

(कहीं कहीं) अदृष्टवश भी (राग आदि की उत्पत्ति होती है) ।

जातिविशेषाच्च ॥ १३ ॥

जाति-विशेष से भी राग होता है (जैसे :—मृगजातीय का तृण में राग होता है) ।

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माऽधर्मप्रवृत्तिः ॥ १४ ॥

विहित कर्म राग-प्रयुक्त तथा निषिद्ध कर्म में द्वेषप्रयुक्त प्रवृत्ति होती है ।

तत्संयोगो विभागः ॥ १५ ॥

अदृष्ट के कारण ही जन्म और मरण होते हैं ।

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥ १६ ॥

इति षष्ठाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

आत्मा के श्रवणादि कर्म के परिपूर्ण होने पर जन्म-मरण-शृङ्खला से मोक्ष मिलता है ।

षष्ठ अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त ।

षष्ठ अध्याय समाप्त ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(९) आकाशप्रकरणम् ।

आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति । आकाशः कालो दिगिति । तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः ।

असंभव होने से परमात्मा अवश्य ही मानना पड़ेगा जो उक्त ज्ञानादि होने से जगत् का कर्ता हो सकता है । (यह स्वतंत्र भाष्य है ।) (इस विषय का विस्तार किरणावली, कन्दली इत्यादि ग्रंथों में देख लेना चाहिये ।

(९) आकाशप्रकरण ।

पदपदार्थ—आकाशकालदिशाम् = आकाश, काल तथा दिशा इन तीनों द्रव्यों के, एकैकत्वात् = एक एक व्यक्ति होने के कारण, अपरजात्यभावे = द्रव्यत्व की व्याप्य जातियों का असंभव होने के कारण, पारिभाषिक्यः = शास्त्र-संकेतमात्र से सिद्ध, तिस्रः = तीन, संज्ञा = नाम, भवंति = हैं । आकाशः कालो दिगिति = आकाश, काल, तथा दिशा ऐसे नाम प्रसिद्ध हैं । तत्र = इन तीनों में से, आकाशस्य = आकाश नामक द्रव्य के, गुणाः = गुण हैं, शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः = शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, तथा विभाग ।।

भाषाभाष्य—संक्षेप से आकाश, काल तथा दिशा इन तीन द्रव्यों का पारिभाषिक संज्ञा की समानता के कारण एक निबन्ध में भाष्यकार वर्णन करते हैं कि आकाश, काल तथा दिशा ऐसे तीन द्रव्यों के एकेक ही होने के कारण अनुगत बुद्धि साधक पृथिवीत्वादिकों के समान द्रव्यत्व न्यून वृत्ति जाति का असंभव होने से आकाश, काल तथा दिशा यह नाम त्रय विना निमित्त होने वाला शास्त्रीय संकेत सिद्ध होने से पारिभाषिक है । क्योंकि उदयनाचार्यादि नैयायिकों ने व्यक्त्यभेद (जाति के आधार व्यक्ति का एक होना । (१) तुल्यता—दो धर्मों का पर्याय भेद से एक व्यक्ति में रहना जो दो जातियों का बाधक होता है । (२) सांकर्य—दो धर्मों का परस्पर वियुक्त तथा संयुक्त रहना, जैसे भूतत्वमूर्तत्व से वियुक्त आकाश में है, और मूर्तत्व भूतत्व से वियुक्त मन में है, तथा दोनों धर्म पृथिवी से वायुपर्यन्त चार द्रव्यों में संयुक्त भी रहते हैं अतः सांकर्य होने से भूतत्व तथा मूर्तत्व दोनों जाति नहीं हो सकती । (३) अनवस्था बिना प्रमाण के अनन्त पदार्थ कल्पना, जैसे गौ में 'गौ गौ' इस प्रकार की अनुगत बुद्धि के साधक गोत्व जाति पर उन जातियों के भी अनुगत बुद्धि का साधक गोत्वत्व जाति मानी जाय, इस प्रकार अनंत जातियों में प्रमाण न होने के कारण अनवस्था दोष जातियों में जातियां मानने में बाधक होता है तथा (४) रूपहानि भी जाति मानने में बाधक होती है, जैसे अवयवभेद से द्व्यणुकादि अवयवि का भेद सिद्धान्त होने पर भी परमाणुओं के परस्पर भेद सिद्धि के निमित्त नैयायिकों ने विशेष पदार्थ माना है जो स्वयं भिन्न होते हुए परमाणुओं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्दः प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वादयावद्द्रव्यभावित्वादाश्रयादन्यत्रोपलब्धेश्च न स्पर्शवद् विशेषगुणः । बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वादात्मान्तरग्राह्यत्वादात्मन्यसमवायादहङ्कारेण विभक्तग्रहणाच्च नात्मगुणः ।

को भिन्न करता है, जिससे यह परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न है, विशेष होने से, इस अनुमान द्वारा स्वयं भिन्न होते हुए वह दूसरों की व्यावृत्ति (भेद) करता है। इस प्रकार उन विशेषों का स्वतोव्यावर्त्तकत्व रूप है यदि उनमें विशेषत्व जाति मानी जायगी तो उनमें विशेषत्वेन व्यावर्त्तकता आने से स्वतोव्यावर्तकता रूप की हानि हो जायगी, अतः विशेषत्व रूपहानि दोष के कारण जाति नहीं हो सकती, (५) तथा असम्बन्ध-समवाय सम्बन्ध का प्रतियोगी अथवा अनुयोगी न होना भी जाति बाधक है, जैसे समवाय अथवा अभाव में समवायत्व, अभावत्व, जाति नहीं हो सकती, क्योंकि समवाय या अभाव में समवाय सम्बन्ध से न कोई रहता है जिससे वे समवाय सम्बन्ध के अनुयोगी हों या वे दोनों समवाय सम्बन्ध से कहीं रहते हैं जिससे प्रतियोगी हों, अतः असम्बन्ध समवायत्व तथा अभावत्व जाति मानने में बाधक है । इस प्रकार आकाशत्व जाति में व्यक्तियों का भेद न होना बाधक होने के कारण पारिभाषिक संज्ञा सिद्ध आकाश में द्रव्यत्व साधक गुणों को आगे भाष्यकार दिखलाते हैं कि उक्त तीन पारिभाषिक संज्ञा सिद्ध द्रव्यों में आकाश द्रव्य के शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग ऐसे छः गुण हैं । जिनमें से शब्द विशेष गुण तथा संख्यादि पांच गुण सामान्य गुण हैं । दोनों प्रकार के गुणों का आधार होने के कारण आकाश में द्रव्यत्व की सिद्धि होती है, किन्तु पृथिव्यादि अष्ट द्रव्यों से भिन्न एक आकाश द्रव्य भी केवल उसके शब्द नामक विशेष गुण ही से सिद्ध होता है । अतः शब्द में विशेष गुणता की सिद्धि करते हुए उसके आधार रूप से आकाश की सिद्धि का प्रकार आगे भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं ॥ सूत्र—(७५) (७७) (७८) (७९) (२७८) ।

पदपदार्थ—शब्दः—शब्दरूपगुण, प्रत्यक्षत्वे सति=प्रत्यक्ष विषय होते हुए, अकाणगुणपूर्वकत्वात्=पट आदि के रूपादिकों के समान कारण के गुण से जन्य न होने से, अयावद्द्रव्यभावित्वात्=आधार के रहने के समय तक न रहने से, आश्रयादन्यत्र=आधार को छोड़कर दूसरे स्थान में, उपलब्धेश्च=प्राप्ति होने से भी, न= नहीं है, स्पर्शवद्विशेषगुणः=स्पर्शवान् पृथिव्यादि वायुपर्यन्त चार द्रव्यों का गुण । बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्=श्रोत्ररूप बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण (१) आत्मान्तरग्राह्यत्वात्=दूसरे आत्मा से गृहीत होने से, (२) आत्मनि=आत्मामें, असमवायात=असम्बद्ध होने से, (३) अहङ्कारेण=अहं पद वाच्य से. विभक्तग्रहणाच्च= भिन्नाधार में गृहीत होने से भी, (४) न=नहीं है, आत्मगुणः=आत्मा का गुण ॥

भाषाभाष्य=किन्तु आकाश की सत्तामें प्रमाण नहीं है क्योंकि 'इहायं पक्षी'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनित्येऽनित्यम् ॥ १८ ॥

(उपर्युक्त चतुर्विध परिमाण) अनित्य द्रव्य में अनित्य होते हैं।

नित्ये नित्यम् ॥ १९ ॥

और नित्य द्रव्यों में नित्य होते हैं।

नित्यं परिमण्डलम् ॥ २० ॥

नित्य (परमाणुपरिमाण) को परिमण्डल (= पारिमाण्डल्य) कहा जाता है।

अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥ २१ ॥

अविद्या विद्या का अनुमापक है (अतः आमलक फल आदि में अणुत्व की अविद्या= अप्रमा यथार्थ अणुत्व का अनुमापक होगी)।

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा ॥ २२ ॥

आकाश तथा आत्मा विभुत्ववान् (अर्थात् सर्वव्यापक) होने के कारण (परम) महत्परिमाण से युक्त द्रव्य हैं।

तदभावादणु मनः ॥ २३ ॥

विभुत्व के अभाव से युक्त होने के कारण मन का परिमाण अणु है।

गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥ २४ ॥

(सकलमुर्त्तनिष्ठ परत्वादि) गुणों से युक्त होने के कारण दिक् की (व्यापकता और परममहत्परिमाणवत्त्व की) भी व्याख्या हो गई।

कारणे कालः ॥ २५ ॥

इति सप्तमाध्याये प्रथमाह्निकम्।

(जन्य पदार्थमात्र के निमित्त) कारण के लिए काल शब्द के प्रयोग होने से (उसका भी परममहत्त्व तथा व्यापकत्व सिद्ध हो जाता है)।

सप्तम अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त।

सप्तमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥ १ ॥

रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से रहित काल आदि में भी एकत्व के वर्तमान होने के कारण एकत्व रूपादि से भिन्न ही है।

तथा पृथक्त्वम् ॥ २ ॥

एकत्व के समान पृथक्त्व भी रूपादिभिन्न है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ३ ॥

जैसे अणुत्व तथा महत्त्व में अणुत्व और महत्त्व नहीं रहता वैसे ही एकत्व तथा एकपृथक्त्व में एकत्व और एकपृथक्त्व नहीं रहता।

निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ॥ ४ ॥

कर्म तथा गुण के (गुणहीन होने के कारण) संख्यारहित होने से सभी कर्म तथा सभी गुणों में एकत्व की स्थिति नहीं होती है।

भ्रान्तं तत् ॥ ५ ॥

('यह एक रूप है' आदि प्रतीतियाँ तो) भ्रान्त हैं (अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग हैं)।

एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु न विद्यते ॥ ६ ॥

द्रव्य में एकत्व का प्रयोग लाक्षणिक है—ऐसा नहीं माना जा सकता, कारण कहीं प्रसिद्ध वस्तु की लक्षणा होती है; यदि एकत्व का वास्तव रूप में द्रव्य में भी अभाव माना जाय तब तो) एकत्व के सर्वथा अभाव होने से कहीं लक्षणा का सम्भव नहीं होगा।

कार्य्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ॥ ७ ॥

कार्य और कारण के बीच अभेद (एकत्व) और एकपृथक्त्व का साधर्म्य नहीं रहता, अतः कार्यकारणसमूह में एकत्व और एकपृथक्त्व का अभाव होता है।

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

अनित्य एकत्व तथा एकपृथक्त्व कारणगुणपूर्वक होते हैं—यह पहले ही कहा जा चुका है।

अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥ ९ ॥

संयोग के प्रतियोगी तथा अनुयोगी में से कहीं किसी एक में क्रिया की उत्पत्ति से, कहीं दोनों में क्रिया की उत्पत्ति से और कहीं कहीं संयोग से भी संयोग होता है।

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥ १० ॥

इसी तरह विभाग की भी व्याख्या होती है।

संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अणुत्व और महत्त्व में अणुत्व तथा महत्त्व के अभाव सिद्ध होने से ही संयोग तथा विभाग में भी संयोग और विभाग का अभाव सिद्ध हो जाता है।

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति ॥ १२ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का प्रत्यक्ष होने में, निमित्तं=निमित्तकारण है. श्रोत्रभावेन=कर्णशष्कुली में स्थित श्रोत्रेन्द्रिय नामक आकाश रूप से।

भाषाभाष्य—इस प्रकार पाँच द्रव्यों में शब्दाधारता का निषेध कर भाष्यकार एक ही अनुमान से दिशा, काल तथा मन इन द्रव्यों में शब्दाश्रयता का निषेध करते हैं कि शब्द, दिशा, काल तथा मन इन तीन द्रव्यों का भी शब्द गुण नहीं है, श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होने के कारण। यहाँ पर श्रोत्रपद उपलक्षण मात्र है. गन्ध के समान ग्रहण योग्य होने से शब्द, दिशा आदि का गुण नहीं है इतने ही से काम चल सकता है, क्योंकि दिशा आदि के किसी गुण का ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार शब्द दिशा आदि तीन द्रव्यों का गुण नहीं है, विशेषगुण होने से सुख के समान, इस द्वितीय हेतु से भी शब्द दिशा आदि तीन द्रव्यों में नहीं रहता। अतः परिशेष से अर्थात् शब्द, द्रव्य समवेत हैं, गुण होने से, रूप के समान, इस प्रकार के अनुमान से शब्दगुण में द्रव्यसमवेतता सिद्ध होने पर, पूर्वोक्त अनुमानों से माने हुए पृथिव्यादि द्रव्यों का शब्द गुण नहीं है यह भी सिद्ध होने पर, शब्द आकाशरूप द्रव्य का गुण है, गुण होते हुए, पृथिवी जल आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होने से, इस प्रकार अवशिष्ट आकाश द्रव्य साधक परिशेषानुमान से आकाश की सिद्धि होती है। सूत्र (७२) से (७४) तक।

उक्त आकाश द्रव्य साधक शब्द गुण के सर्वत्र समान एक होते हुए आकाश द्रव्य के साधक होने के कारण आकाश द्रव्य भी एक ही है यह सिद्ध होता है। यहाँ 'परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य' इत्यादि (७५) (७७) (७८) सूत्र जानना। इस प्रकार आकाश एक है यह सिद्ध होने से एक पृथक्त्वगुण एक संख्या के साथ रहता है यह नियम होने के कारण आकाश में एक पृथक्त्व आकाश, काल, दिशा आदिकों से पृथक् है' इस प्रतीति से सिद्ध होता है। सूत्र (७९)। तथा पदपदार्थ में दिये सूत्र से (२७८) आकाश में सर्वोत्कृष्ट परममहत्परिमाण गुण भी सिद्ध होता है। इसी प्रकार ऊपर दिये सूत्र (२१०) से आकाश के शब्द रूप गुण में, संयोग तथा विभाग कारण होते हैं यह वर्णित होने से आकाश द्रव्य में संयोग तथा विभाग ऐसे दो गुण भी सिद्ध होते हैं। शब्द तीन प्रकार का होता है। १—संयोगजन्य जैसे भेरी (नगाडा) तथा दण्ड के अभिघात (शब्दोत्पादक) संयोग से, २—दूसरा विभागजन्य जैसे एक बाँस के फाड़ने से उसके दोनों दलों के पृथक होने से, ३—तीसरा शब्दजन्य जैसे शङ्ख में उत्पन्न शब्द क्षणिक होने से तृतीय क्षण में नष्ट होने के अनन्तर द्वितीयादि शब्द वीचि तरंग(१) अथवा कदम्ब गोलक न्याय से कर्ण देश में आकर गृहीत होता है।

---

(१) नोट—वीचि-तरङ्ग न्याय वह है जिस प्रकार एक तरङ्ग से दूसरा, उससे तीसरा इस प्रकार किनारे पहुंचता है उसी प्रकार एक शब्द से दूसरा उससे तीसरा इस प्रकार कान तक शब्द पहुँचता है। कदम्ब-गोलक न्याय वह है जैसे कदम्ब के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रोत्रं पुनः श्रवणविवरसञ्ज्ञको नभोदेशः शब्दनिमित्तोपभोगप्रापकधर्माधर्मोपनिबद्धस्तस्य च नित्यत्वे सत्युपभोगनिबन्धकवैकल्याद्बाधिर्यमिति ।

(१०) कालप्रकरणम् ।

कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम् । तेषां विषयेषु पूर्वप्रत्ययविलक्षणानामुत्पत्तावन्यनिमित्ताभावाद्यदत्र निमित्तं स कालः ।

यह उक्त सूत्र का अर्थ है । अतः उक्त प्रकार से गुणाधार होने से घट के समान तथा अनाधार होने से परमाणुओं के समान आकाश भी द्रव्य है यह सिद्ध होता है तथा आकाश द्रव्य का घटादिकों के कपालादिकों के समान जातीय समवायिकारण, कपाल संयोग के समान विजातीय असमवायिकारण तथा निमित्त कारण के भी न होने से आकाश नित्य है यह भी सिद्ध होता है । तथा यही आकाश द्रव्य प्राणिमात्र को शब्द का प्रत्यक्ष होने में श्रोत्र (कर्णशष्कुलीस्थित आकाश) रूप से निमित्त कारण है । नहीं तो व्यापक आकाश द्रव्य के सर्वत्र व्याप्त होने से प्राणिमात्र को सभी शब्दों का सर्वत्र ग्रहण होने लगेगा ।

पदपदार्थ—श्रोत्रं पुनः = और श्रोत्र नामक इन्द्रिय है, श्रवणविवरसंज्ञकः = कर्णछिद्रनामक, नभोदेशः = आकाश का प्रदेश विशेष, शब्दनिमित्तोपभोगप्रापक-धर्माधर्मोपनिबद्धः = जो शब्द से होने वाले सुख-दुःख के अनुभव को देने वाले धर्म-धर्मरूप अदृष्ट से बंधा हुआ है, तस्य च = और आकाश प्रदेशरूप श्रोत्रेन्द्रिय के, नित्यत्वे सति=नित्य होनेपर भी, उपभोगनिबन्धकवैकल्यात्=शब्द के भोग के प्रापक धर्मरूप अदृष्ट की विकलता (हीनता) के कारण, बाधिर्यम्=बधिरता होती है, इति= इस प्रकार आकाश-निरूपण समाप्त है ।

(१०) कालप्रकरण ।

पदपदार्थ—कालः—काल नामक द्रव्य, परापरव्यतिकर-यौगपद्या-योगपद्य-चिर-क्षिप्र-प्रत्ययलिङ्ग=दैशिकपरत्वापरत्व से भिन्न, कालिक परत्व तथा कालिक अपरत्व, की प्रतीति (१), युगपत् (एककाल) प्रतीति (२) अयुगपत्प्रतीति (अनेक काल में होने का ज्ञान (३), चिर (विलम्ब से होने की) प्रतीति (४), एवं क्षिप्र (शीघ्र होने का) ज्ञान (५) ऐसे पांच ज्ञान कालद्रव्य के साधक हैं । तेषां=उक्त प्रत्ययों के, विषयेषु=द्रव्यादि पदार्थों में, पूर्वप्रत्ययविलक्षणानां = जो परापरादि प्रत्यय द्रव्यादि ज्ञान से विलक्षण हैं उनके, उत्पत्तौ=उत्पन्न होने में, अन्यनिमित्ताभावात्=काल द्रव्य से भिन्न निमित्त न होने से, यत्=जो, अत्र = इन कालिक परत्वादि व्यवहारमें, निमित्तं = निमित्त कारण है, सः = वह, कालः=काल नामक द्रव्य है ।

फल में चारों ओर दश दिशाओं में किंजल्क होकर उससे बड़े पुनः दश दिशाओं में होते हैं उसी प्रकार प्रथम शब्द दश दिशाओं में पैदा होकर फिर दश दिशाओं में होता हुआ कान तक पहुंचता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अष्टमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १ ॥

द्रव्य-प्रकरणात्मक तृतीय अध्याय में ज्ञान की व्याख्या हो चुकी है।

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥ २ ॥

द्रव्यों में आत्मा और मन का (और आकाश, काल, दिशा और परमाणु का) प्रत्यक्ष नहीं होता है।

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥ ३ ॥

ज्ञान के प्रसङ्ग में ज्ञानोत्पत्ति का प्रकार बतलाया जा रहा हैः—

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ॥ ४ ॥

इन्द्रिय से (परम्परया अर्थात् द्रव्य-द्वारा) सम्बद्ध गुण तथा कर्मों के ज्ञान में द्रव्य कारण है (अर्थात् द्रव्य प्रत्यक्षाधीन द्रव्यनिष्ठ गुणकर्मादि का प्रत्यक्ष होता है)।

सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात्तदेव ज्ञानम् ॥ ५ ॥

सामान्य (अर्थात् द्रव्यादित्रिकवृत्ति सत्ता) और इसके (पृथिवीत्वादि) विशेषरूप में सामान्य और विशेष (पृथिवीत्वादि सामान्यविशेष) के अभाव के कारण उनका प्रत्यक्ष उनके आश्रयभूत द्रव्य प्रत्यक्षाधीन ही हैं।

सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ६ ॥

किन्तु द्रव्य, गुण और कर्म के ज्ञान में उन सब में रहने वाले सामान्य विशेष के ज्ञान की अपेक्षा होती है।

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥ ७ ॥

और द्रव्य के ज्ञान की उत्पत्ति में तो उसके विशेषणीभूत द्रव्य, गुण, और कर्म के ज्ञान की अपेक्षा होती है।

गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥ ८ ॥

गुण और कर्म में गुण तथा कर्म के अभाव रहने के कारण गुण तथा कर्म के ज्ञान की उत्पत्ति में गुण एवं कर्म स्वरूपविशेषण ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है।

समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते कार्यकारणभूते ॥ ९ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(शंखादि में वर्त्तमान श्वैत्य के) समवायी (= शंखादि) से, श्वैत्य (=विशेषण) से तथा श्वैत्य-ज्ञान (= विशेषण-ज्ञान) से 'श्वेतः शङ्खः' इस प्रकार की प्रतीति होती है । अतः इस प्रतीत्यात्मक कार्य के ये (विशेषण सम्बन्ध, विशेषण तथा विशेषण-ज्ञान) कारण हैं । (तात्पर्य यह है कि विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति विशेषण-सम्बन्ध विशेषण तथा विशेषण-ज्ञान कारण होते हैं) ।

द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ॥ १० ॥

(इतर-द्रव्य-विशेषण-हीन) द्रव्य-प्रत्यक्ष में किसी द्रव्य का ज्ञान अन्य (= विशेष्य तथा असम्बद्ध) द्रव्य के ज्ञान का कारण नहीं होता है ।

कारणायौगपद्यात् कारणक्रमाच्च घटपटादिबुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ॥ ११ ॥

इति अष्टमाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

(ज्ञानाऽयौगपद्य-प्रयुक्त) कारणाऽयौगपद्य से जन्य कारण-क्रम के हेतु ही घट-पटादि-ज्ञान में पौर्वापर्य है, न कि घट-पट-ज्ञान में कार्य-कारण-भाव होने के प्रयुक्त भी (पौर्वापर्य्य है) ।

अष्टम अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त ।

अष्टमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

अयमेष त्वया कृतं भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ १ ॥

'अयम्' यह ज्ञान भी (समीपस्थ वस्तु-) बुद्ध्यपेक्ष है, 'एष' यह ज्ञान भी (दूरस्थ-वस्तु-विषयक) बुद्धि-सापेक्ष है, 'त्वया' यह (कर्तृत्वोपरक्त) ज्ञान भी (यह व्यक्ति क्रिया में स्वतन्त्र है इस तरह की) बुद्धि की अपेक्षा रखता है, 'कृतम्' यह (कर्मविषयक) बुद्धि भी (कारणव्यापारविषयकत्व) बुद्धिसापेक्ष है और 'एनम्भोजय' इस प्रकार की प्रतीति भी (भोजनकर्तृ) बुद्धिसापेक्ष है । (अतः विशिष्ट-वैशिष्ट्यविषयक ज्ञान में विशेषण तथा विशेष्य दोनों के ज्ञान कारण होते हैं) ।

दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥ २ ॥

जब (उपर्युक्त अयम् आदि बुद्धियों के विषय) ज्ञात होते हैं तभी (उपर्युक्त बुद्धियों की) उत्पत्ति होती है और जब (उन बुद्धियों के विषय) अज्ञात होते हैं तब (उपर्युक्त बुद्धियाँ) उत्पन्न नहीं होती हैं (अतः उपर्युक्त कार्य-कारणभाव स्पष्ट है) ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सैकत्वेऽपि सर्वकार्याणामारम्भक्रियाभिनिर्वृत्तिस्थितिनिरोधोपाधिभेदान्मणिवत्पाचकवद्वा नानात्वोपचार इति ।

समवायि और असमवायिकारण न होने से नित्यता सिद्ध होने पर, काललिङ्गाविशेषात्= कालसाधक पूर्वोक्त हेतुओं के सर्वत्र समान होने से, अंजसा = वस्तुतः, एकत्वेपि = एक होने पर भी, सर्वकार्याणां = संपूर्ण कार्यों के, आरंभक्रियाभिनिर्वृत्तिस्थितिनिरोधोपाधिभेदात् = आरंभक्रिया (उपक्रम), अभिनिर्वृत्ति (समाप्ति), स्वरूप स्थिति तथा विनाश रूप चार उपाधियों के भेद से, मणिवत् = जपापुष्पादि सन्निहित स्फटिकादिमणि के समान, पाचकादिवद्वा = अथवा पाक करने के कारण पाचक व्यवहार के, पढ़ाने से पाठक व्यवहार के समान, नानात्वोपचारः = अनेकता का व्यवहार होता है ।

भाषाभाष्य—तथा वह काल सम्पूण कार्य मात्र के उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश का कारण है, क्योंकि उसको लेकर उत्पत्तिकाल, स्थितिकाल, तथा विनाशकाल ऐसे संसार के व्यवहार होते है । तथा यही काल, क्रियामात्र के उत्पत्ति के आधार सूक्ष्म-क्षण[1], दो क्षण रूप लव[2], निषेध पलक (नेत्र पक्षमपात) का काल, ३, अठारह निमेष रूप कला काल ४, ३० काष्ठा रूप मुहूर्त (घडी) ५, याम (पहर) ६, अहोरात्र (१ दिन रात) ७, अर्धमास (१५ दिन-पखवारा ८, मास (महीना) ९, ऋतु (वसन्तादि ऋतु रूप), मास १०, अयन दक्षिणायन उत्तरायण ११, संवत्सर वर्ष १२, युग सत्य, त्रेता, द्वापर कलि आदि १३, कल्प १ सृष्टि काल, १४, मन्वन्तर (स्वयंभू आदि १४ मनुराजाओं का समय, १५, प्रलय-जिसमें कार्य द्रव्य नष्ट हो जाते हैं। (खण्ड प्रलय) १६, तथा महाप्रलय १७ ऐसे सम्पूर्ण व्यवहारों का कारण है। आकाशादि द्रव्यों से भेद सिद्धि करने वाले विशेष गुण काल में नहीं हैं यह दिखाने के लिये उसके साधारण गुण भाष्यकार ने इस प्रकार वर्णन किये हैं कि संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, तथा विभाग ऐसे पाँच सामान्य गुण मात्र काल में रहते हैं। जिनमें पूर्वोक्तकालसाधक युगपत् उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रत्ययों के सर्वत्र कार्य में समान होने के कारण काल में एक संख्या सिद्ध होती है, और उसके साथ रहने का नियम होने से एक पृथक्त्व गुण भी काल में सिद्ध है । तथा कारणे कालाख्या (८८) इस सूत्र से व्यापकता सूचित होने से उसका सर्वोत्कृष्ट परममहत्परिमाण गुण है । एवं 'कारण-परत्वात्कारणापरत्वाच्च परत्वापरत्वे (३७२) इस सूत्र वचन से उस काल में संयोग होने से उस संयोग का नाशक विभाग नामक सामान्य गुण भी है यह सिद्ध होता है। तथा आकाश के सामान्य गुणाधार होने से तथा अनाधार होने से काल भी द्रव्य है और नित्य है यह जान लेना । यदि काल एक है तो भूत, वर्तमान इत्यादि विलक्षण व्यवहार क्यों होते हैं ? इस प्रश्न के समाधान द्वारा काल निरूपण का उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि पूर्वोक्त ज्येष्ठ कनिष्ठादि व्यवहारों के सर्वत्र समान होने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(११) दिक्प्रकरणम् ।

दिक् पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गा । मूर्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्तेष्वेव द्रव्येष्वेतस्मादिदं पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेण अपरोत्तरेण उत्तरपूर्वेण चाधस्तादुपरिष्टाच्चेति दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिगिति, अन्यनिमित्तासम्भवात् ।

कारण वास्तविक काल द्रव्य के एक होने पर भी संसार के कार्यमात्र के उपक्रम, १, समाप्ति २, स्वरूपस्थिति ३, तथा विनाश ४ ऐसी चार उपाधियों के कारण नानात्व काल में औपाधिक है न कि वास्तविक । जिस प्रकार एक ही स्फटिकमणि जपापुष्पादि के संयोग से एक श्वेत रूप होने पर रक्तादि रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, अथवा एक ही मनुष्य पाकक्रिया करने रूप उपाधि से पाचक, तथा पाठन क्रिया से पाठक इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है इसी प्रकार एक ही काल नामक द्रव्य पूर्वोक्त उपक्रमादि उपाधिभेद से भूत, भविष्य इत्यादि विलक्षण व्यवहार का कारण है । सूत्र-(८६) (८७) ।

(११) दिक्प्रकरण ।

पदपदार्थ—दिक् = दिशा नामक द्रव्य, पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गा = पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर इत्यादि प्रतीतियों से सिद्ध होता है । मूर्तद्रव्यं = मूर्ति वाले द्रव्य को, अवधिं कृत्वा = अवधि मानकर, मूर्तेष्वेव = मूर्ति वाले ही, द्रव्येषु = द्रव्यों में, एतस्मात् = इस द्रव्य से, इदं = यह द्रव्य, पूर्वेण = पूर्व दिशा में है, दक्षिणेन = दक्षिण दिशा में है, पश्चिमेन = पश्चिम दिशा में है, उत्तरेण = उत्तर दिशा में है पूर्वदक्षिणेन = पूर्व तथा दक्षिण के मध्य आग्नेय विदिशा में है, दक्षिणापरेण = दक्षिण तथा पश्चिम दिशा के मध्य नैऋत्य विदिशा में है, अपरोत्तरेण = पश्चिम तथा उत्तर दिशा के मध्य वायव्य नामक विदिशा में है, उत्तरपूर्वेण = उत्तर तथा पूर्व दिशा के मध्य ईशान्य नामक विदिशा में है, च अधस्तात् = और यह पातालादि अधो दिशा में है, उपरिष्टात् च = और यह ऊर्ध्व स्वर्गादि लोक में है, इति = इस प्रकार, दश = दस प्रकार के, प्रत्ययाः = प्रतीतियां, यतः = जिस द्रव्य के निमित्त से, भवन्ति = होती हैं, सा = वह, दिग् = दिशा नामक द्रव्य इति = इस प्रकार कहा जाता है । अन्यनिमित्तासभवात् = दूसरा निमित्त न हो सकने से ॥

भाषाभाष्य—क्रमप्राप्तदिशा नामक द्रव्य की सिद्धि करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि पूर्व, पश्चिम इत्यादि प्रतीतियों से दिशा नामक द्रव्य सिद्ध होता है । किन्तु अमूर्त मूर्ति रहित द्रव्य (व्यापक आकाशादि) के परिमाण का ग्रहण (इतना बड़ा है) इस प्रकार ज्ञान न हो सकने के कारण मूर्ति वाले ही द्रव्य को अवधि मानकर मूर्तिमान ही द्रव्यों में 'यह इसके पूर्व दिशा में हैं, यह इसके दक्षिण दिशा में है, यह इसके पश्चिम दिशा में है, यह उत्तर में है, यह आग्नेय दिशा में है, यह'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥ ९ ॥

"अभूत है" तथा "यह नहीं है" (उत्पन्न वस्तु अभी नहीं है, ऐसी प्रतीति नहीं अपेक्षित है कारण इस प्रतीति में ध्वंसाभाव का अवगम होता है) ये दोनों ज्ञान समान हैं (अर्थात् जब यह वस्तु नहीं है—इस प्रतीति से प्रत्यक्ष विषयीभूत अत्यन्ताभाव की प्रतीति होती है तब अभूत पद से भी प्रतीयमान अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष उसके योग्याधिकरणक तथा योग्यप्रतियोगिक होने से होता है)।

नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥ १० ॥

"घर में घट नहीं है" इस ज्ञान में वर्तमान घट पदार्थ का गृहसंयोगमात्र प्रतिषिद्ध है (न कि यह उत्पाद-विनाशशाली चतुर्थ अभाव है । एवञ्च यदि प्रकृतोक्त संयोग-प्रतिषेध त्रैकालिक होगा तब तो गृह में संयोग का अत्यन्ताभाव होगा, यदि संयोग होने वाला है तब प्रागभाव होगा, और यदि भूत होगा तब ध्वंसाभाव होगा)।

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥ ११ ॥

(युक्त) योगियों को स्वात्मा तथा परमात्मा में भी योगज धर्मानुगृहीत आत्ममनः-संयोग से आत्मविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥ १२ ॥

योगज धर्मानुगृहीत आत्म-मनः-संयोग से ही उन्हें सूक्ष्म से सूक्ष्मतर द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष होता है ।

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषाञ्च ॥ १३ ॥

और जो असमाहित चित्तवाले (अर्थात् सर्वथा तिविध्यासनहीन वियुक्त योगी) हैं उनका प्रत्यक्ष भी (अनुचिन्तन तथा योगजधर्म से अनुगृहीत आत्ममनःसन्निकर्ष से सकल सूक्ष्म-सूक्ष्मतर पदार्थों के विषय में उत्पन्न होता है)।

तत्समवायात् कर्मगुणेषु ॥ १४ ॥

(प्रत्यक्ष-विषय-द्रव्य में समवेत) कर्म तथा गुण का (प्रत्यक्ष) आत्मसंयुक्त मनः संयुक्त-समवाय सम्बन्ध से होता है ।

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥ १५ ॥

इति नवमाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

(आत्म-गुण बुद्धि आदि) का प्रत्यक्ष तो मनःसंयुक्तात्मसमवेतत्व सम्बन्ध से होता है ।

नवम अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नवमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥१॥

कार्य-हेतु (जैसेः—वह्न्यनुमान में धूम), कारण-हेतु (जैसेः—बधिरकर्तृक शब्दानुमिति में भेरीदण्डसंयोग), संयोगि-हेतु (यथा:—त्वगिन्द्रियानुमान में शरीर), विरोधिहेतु (जैसे:—आवरणान्तर्गत नकुलानुमान में सर्प-विस्फूर्जन) और समवायि-हेतु (जैसेः—तेजोनुमान में जलगत उष्णता) के ज्ञान से 'इस हेतु का यह साध्य है'।' इस प्रकार का ज्ञान अनुमितिज्ञान कहलाता है।

अस्येदं कार्यंकारणसम्बन्धश्चावयवाद्भवति ॥ २ ॥

(वस्तुतः) अमुक पदार्थ का अमुक पदार्थ व्याप्य है—(जैसे:—वह्नि का धूम व्याप्य है) इस प्रकार का ज्ञान ही अनुमापक है, कार्य-कारणभावादिसबन्धों का (हेतुत्व-व्यवस्थापकत्वेन पूर्व सूत्र में) निर्देश केवल उदाहरण के लिए किया गया है (न कि परिगणन है)।

एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥ ३ ॥

अनुमितिज्ञान की व्याख्या से ही (नैयायिकादिसम्मत) शाब्द ज्ञान की भी व्याख्या हो गयी (अर्थात् अनुमान में ही शब्द का अन्तर्भाव हो जाता है अतः उसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानना चाहिए)।

हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ॥ ४ ॥

हेतु, अपदेश, लिङ्ग, प्रमाण (लिङ्गविषया प्रमाकरण), करण—इत्यादि शब्द पर्याय हैं।

अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात् ॥ ५ ॥

"इस व्यापक का यह व्याप्य है"—इस बुद्धि पर निर्भर रहने के कारण (उपमान आदि भी पृथक्प्रमाण नहीं हैं)।

आत्मनः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥ ६ ॥

आत्मा तथा मन के संयोगविशेष (प्रणिधानादि सन्निधान) रूप (असमवायि) कारण से तथा संस्काररूप (निमित्त) कारण से स्मृति होती है।

तथा स्वप्नः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार (आत्म-मनः-संयोग-विशेष तथा संस्कार से) स्वप्न भी होता है (यह अप्रत्यज्ञान है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध्युपलब्ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिः समधिगमः क्रियते,—वास्यादीनां करणानां कर्तृप्रयोज्यत्वदर्शनात्, शब्दादिषु प्रसिद्ध्या च प्रसाधकोऽनुमीयते। न शरीरेन्द्रियमनसामज्ञत्वात्।

किया जाता है। वास्यादीनां = कुठार (कुल्हाड़ी) इत्यादि, करणानां = विशेष कारणों के, कर्तृप्रयोज्यत्वदर्शनात् = कर्ता से प्रेरित हैं यह देखने में आता है। शब्दादिषु = शब्द, रूप इत्यादि विषयों मे प्रसिद्धया, च = और ज्ञान होने से भी, प्रसाधकः = ज्ञाता है, अनुमीयते = ऐसा अनुमान किया जाता है। न = नहीं हैं ज्ञानाधिकरण आत्मा शरीर, इन्द्रिय तथा मन, शरीरेन्द्रियमनसां = शरीर, इन्द्रिय, तथा मन के, अज्ञत्वात् = ज्ञानाधार न होने से।

भाषाभाष्य—उद्देश क्रम के अनुसार प्राप्त आत्मा द्रव्य का लक्षण भाष्यकार दिखाते हैं कि आत्मा में समवेत आत्मत्वजाति ही आत्मा में पृथिव्यादिकों से भेद साधक है। यदि वादी कहे कि 'आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव ही क्यों न सिद्ध होगा, तो उसके धर्मों का निरूपण तो दूर रहा' इस शंका के समाधान में सिद्धान्ती का ऐसा कहना है कि आत्मा के अस्तित्व में कोई बाधक प्रमाण नहीं है, और बाधक प्रमाणों के उपलब्ध न होने से वे अन्यथा सिद्ध भी हैं, तथा आत्म-साधक प्रमाण भी हैं, अतः उसकी सिद्धि हो सकती है, क्योंकि यद्यपि अहं (मैं) मम (मेरा) इत्यादि रूप से आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है तथापि बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने के कारण, शब्द रूपादि विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान, विशेष कारण रूप करण से होता है, क्रिया होने से, छिदा (कटना) इत्यादि क्रिया के समान इत्यादि अनुमान प्रमाण से सिद्ध श्रोत्रादि रूप करणों से आत्मा सिद्ध होता है, कारण यह कि कुठार (कुल्हाड़ी) इत्यादि क्रिया के छिदा (कटना) इत्यादि कार्य जिस प्रकार काटने वाले के विना नहीं हो सकते उसी प्रकार ज्ञाता के बिना श्रोत्रादि इन्द्रिय रूप करण भी अपने अपने सुनना देखना इत्यादि कार्य नहीं कर सकते, अतः श्रोत्र आदि इन्द्रिय, कर्ता के व्यापार से युक्त हैं, करण होने से, कुठार के समान इस अनुमान से उस व्यापार का प्रयोजक आत्मा नामक पृथिव्यादि भिन्न द्रव्य हैं यह सिद्ध होता है। यदि श्रोत्रादि इन्द्रिय कर्ता आत्मा की अपेक्षा न करें तो उनके व्यापार कालान्तर में स्मरण प्रति संधान इत्यादि न हो सकेंगे' ऐसा तर्क भी यहां पर नित्य शरीरादि भिन्न आत्म साधक प्रमाण के सहायतार्थ उदयनाचार्य ने दिया है। सूत्र—(३११) (११८)।

तथा शब्दादि विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान, किसी द्रव्य के आश्रित है, कार्य होने से, गन्ध के समान, इस अनुमान प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धी होती है, क्योंकि यदि कार्य अनाधार हो तो कारण के न होने से विना कारण के कार्य होने लगेगें। यदि पूर्वपक्षी कहे कि–'शरीर इन्द्रिय, अथवा मन ही को ज्ञान का आधार मान लेंगे, इनसे अतिरिक्त नित्य आत्मा में क्या प्रमाण है।' तो सिद्धान्ती कहते हैं कि शरीरादिक अज्ञ (ज्ञान के समवायिकारण न होने से) आत्मा (ज्ञानाधार) नहीं हो सकते, अर्थात ज्ञानाश्रयत्वरूप चेतनता उनमें नहीं आ सकती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

न शरीरस्य चैतन्यं घटादिवद्भूतकार्यत्वात् मृते चासम्भवात् । नेन्द्रियाणां करणत्वात्, उपहतेषु विषयासान्निध्ये चानुस्मृतिदर्शनात् । नापि मनसः करणान्तरानपेक्षित्वे युगपदालोचनस्मृतिप्रसङ्गात्, स्वयं करणभावाच्च ।

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकती, शरीरस्य = शरीर का, चैतन्यं = ज्ञानाधारता-रूप चेतनता, घटादिवत् = घट पट आदि के समान, भूतकार्यत्वात् = पृथिवीरूप भूत-द्रव्य का कार्य होने से, मृते च = और मृतशरीर में असंभवात् = चेतनता का असंभव होने से, न = नहीं हो सकती, इन्द्रियाणां = इन्द्रियों की चेतनता भी, करणत्वात् = करण होने से; उपहतेषु = नष्ट हुए इन्द्रियों में, विषयासान्निध्ये सति = इन्द्रियविषयों का सन्निकर्ष न होने पर भी, अनुस्मृतिदर्शनात् = पश्चात् स्मरणात्मकज्ञान होने से, नापि = और नहीं हो सकती, मनसः = मन की चेतनता, करणान्तरानपेक्षित्वे = मन रूप चेतन को करणान्तर (दूसरे करण) का अपेक्षा (आवश्यकता) न होने पर, युगपदालोचनप्रसङ्गात् = एक ही काल में अनेक अनुभव तथा स्मृतियां होने की आपत्ति आने से, स्वयं करणभावात् च = और स्वयं करण होनेसे भी ।

भाषाभाष्य = शरीर चेतन क्यों नहीं हो सकता ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रशस्त-देव कहते हैं कि शरीर, चेतन नहीं है, भूतद्रव्य होने से तथा कार्य होने से, घट के समान इस प्रकार अनुमान प्रमाण से अचेतनता (ज्ञानानाधारता) शरीर में सिद्ध है । तथा मृत शरीर से ज्ञानाधारता न होने से भी शरीर आत्मा नहीं है यह भी शरीरात्मवादी (चार्वाकमत) खण्डन में दूसरी युक्ति हो सकती है । यहाँ पर 'असंभवात्' इस हेतु वचन से 'विशेषगुण जब तक आश्रय द्रव्य रहता है तब तक रहते हैं जैसे रूप रस आदि विशेष गुण', यह सूचित होता है, इसलिये 'चेतनता, शरीर का गुण नहीं है, यावद्द्रव्यभावि न होने से, अर्थात् ज्ञानाधारता रूप चेतनता नष्ट होने पर भी शरीर रूप आधार रहता है, संयोगादि गुणों के समान इस अनुमान से भी शरीर में अनात्मता सिद्ध होती है । तथा 'इन्द्रिय, अचेतन हैं, करण होने से, कुठार के समान इस अनुमान से इन्द्रियों में भी चेतनता नहीं हो सकती । इसी प्रकार इन्द्रियों के नष्ट होने पर विषयों का सन्निकर्ष न होने पर भी पश्चात् विषयों का स्मरण होता है इस युक्ति से भी इन्द्रियों में चेतनता नहीं हो सकती । अर्थात् जो अनुभवकर्ता है उसे ही स्मरण होता है इस प्रकार अनुभव तथा स्मरण का एक आधारता का नियम होने से अनुभव करनेवाले इन्द्रिय के नष्ट होने पर कालान्तर में अन्धे मनुष्यों को देखे हुए विषयों का जो स्मरण होता है वह नहीं हो सकेगा । तथा 'विषयासांनिध्ये' इस भाष्यस्थ पद से यह भी सूचित होता है कि इन्द्रियों में प्राप्यकारित्व (विषय के पास आकर अनुभव करने) का स्वभाव होने से विषय सामीप्य न होने पर जो स्मरण होता है वह न हो सकेगा, और उसके न होने से अनुभव भी न हो सकेगा, ऐसा कन्दलीकार का मत है । किन्तु उदयनाचार्य ने विषयासान्निध्य को विषयों (शब्दादि)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिशेषादात्मकार्यत्वात् तेनात्मा समधिगम्यते। शरीरसमवायिनीभ्यां

की अचेतनता में सार्थक वर्णन किया है, अर्थात् यदि विषयो में ज्ञानाधारता रूप चेतनता हो तो विषयों के समीप न होने पर भी जा स्मरण हाता है वह न हो सकेगा, क्योंकि अनुभवकर्ता के न रहने पर कारण के न रहने से स्मरण नहीं हो सकता। कन्दलीकार ने विषयों की अचेनता में 'उपघात ही का हेतु कहा है। यदि यहाँ पर भाष्यकार को विषय की चेतनता का सन्देह होना अभिमत माना जाय तो इन्द्रिय चेतनता तथा विषय चेतनता दोनों के निराकरणार्थ उपघात तथा विषयासान्निध्य दोनों हेतु हो सकते हैं ऐसा टीकाकार की व्याख्याओं से प्रतीत होता है यह हमारा मत है। किन्तु वास्तविक समालोचना से यह सार मालूम पड़ता है कि भाष्यकार का विषय चेतनतापक्ष का खण्डन करने में तात्पर्य नहीं है, अन्यथा मध्य ही में विषय चैतन्यपक्ष का निराकरण करना भाष्यकार का अभिप्रेत हो तो 'शरीरेन्द्रियमनसां' यहाँ पर क्रमलंघन दोष होगा, तथा शरीर से ही विषय चेतनता पक्ष का निरास भी हो सकता है। दार्शनिक विद्वान् स्वयं इस विषय में विचार कर लें।' यदि पूर्वपक्षी कहे कि शरीरादिकों के विनाशी होने से ज्ञानाश्रयता रूप चेतनता स्वीकार करना अनुचित है, तथापि मन सर्वविषयक तथा नित्य होने से ज्ञानाधार चेतन हो सकता है, तो इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि मनरूप चेतन आत्मा को ज्ञानाश्रयकर्ता माना जाय तो उसे करणान्तर (दूसरे करण) की अपेक्षा न होने के पक्ष में यह सुखादि आन्तरिक विषयों के ज्ञान में करण न हो सकने से एक समय में अनेक विषयों के सन्निहित होने पर अनेक चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों के अधिष्ठाता होने के कारण एक काल में अनेक अनुभव तथा स्मृति होने लगेंगी, क्योंकि करण के समान कर्ता भी एक ही क्रिया करता है यह नियम नहीं है, यदि ऐसा हो तो व्यासङ्ग (एक विषय में आसक्ति होना) न हो सकेगा। और यदि मन कर्ता को सुखादि ज्ञान के लिये उक्त दोष वारणार्थ दूसरे करण की अपेक्षा मानी जाय तब तो संज्ञा भेदमात्र होगा, क्योंकि आप भी मन को कर्ता तथा उसके लिये एक करण मानेंगे और हम कर्ता को आत्मा और करण को मन कहते हैं। यदि मन को आत्मा माननेवाला कहे कि 'करण रूप से अनुमान द्वारा सिद्ध मन ही को हम ज्ञानाधार भी मान लेंगे' तो इस पर सिद्धान्त मत से प्रशस्तदेव कहते हैं कि 'स्वयं करण होने से भी मन कर्ता नहीं हो सकता'। चैतन्याश्रय कर्ता के सिद्ध होने पर करण रूप से मन का अनुमान होने के कारण धर्मि (मन) के ग्राहक प्रमाण का बाध हो जायगा ऐसा यहाँ उदयनाचार्य का अभिप्राय है। किन्तु श्रीधराचार्य का तात्पर्य यह है कि मनो न चेतनं करणत्वा-द्घटवत्' मन, चेतन नहीं है, स्वयं करण होने से, घट के समान। इस प्रकार अनुमान मे मन का ज्ञान गुण नहीं है यह सिद्ध करनेवाला यह 'स्वयं करणभावात्' स्वतन्त्र हेतु है।

पदपदार्थ—परिशेषात्-परिशेष से, आत्मकार्यत्वात्=ज्ञान गुण के आत्मा द्रव्य के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

च हिताहितप्राप्तिपरिहारयोग्याभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां रथकर्मणा सारथिवत् प्रयत्नवान् विग्रहस्याधिष्ठाताऽनुमीयते, प्राणादिभिश्चेति ।

कथं ? शरीरपरिगृहीते वायौ विकृतकर्मदर्शनाद्भस्त्राध्मापयितेव, निमेषो-

---

कार्य होने से, तेन = उस ज्ञान से, आत्मा=आत्मारूप द्रव्य, समधिगम्यते=अनुमित होता है। शरीरसमवायिनीभ्यां च=और शरीर में सम्बद्ध, हिताहितप्राप्तिपरिहार-योग्याभ्यां = हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार करने योग्य, प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां = प्रवृत्ति तथा निवृत्ति से, रथकर्मणा = रथ के गतिरूप क्रिया से, प्रलयत्नवान् = प्रयत्न करने वाला, विग्रहस्य = शरीर का, अधिष्ठाता = आधार (चलाने वाला) अनुमीयते = अनुमान से सिद्ध होता है। प्राणादिभिश्च=और 'प्राण अपान' इत्यादि (१३९) सूत्र में कहे हुए लिङ्गों से भी ज्ञानाधार आत्मा की सिद्धि होती है।

भाषाभाष्य—अतः प्रसक्तप्रतिषेधे (प्राप्तों का निषेध करने पर) अन्यत्र (अन्य पदार्थों में) अप्रसङ्गात् (प्राप्ति न होने पर) शिष्यमाणे (अवशिष्ट पदार्थ में) सम्प्रत्ययः = निश्चय होने रूप परिशेषानुमान द्वारा पृथिव्यादि द्रव्यों में समवेत न होते हुए कार्य होने से ज्ञान रूप गुण से आत्मा की सिद्धि होती है, अर्थात् ज्ञानगुण, पृथि-व्यादि से भिन्न द्रव्य में आश्रित है, पृथिव्यादि द्रव्यों के आश्रित न होकर कार्य होने से, जो पृथिव्यादि भिन्न द्रव्यों में आश्रित नहीं होता, वह उसमें आश्रित न होकर कार्य भी नहीं होता, जैसे गन्ध आदि गुण, इस प्रकार व्यतिरेकि परिशेषानुमान से ज्ञानाश्रय आत्मद्रव्य की सिद्धि होती है। सू. (१३५) तथा शरीर में सम्बद्ध और हित को प्राप्ति तथा अहित के परिहार की योग्यता रखने वाली, अर्थात् बुद्धिपूर्वक चेष्टाओं से, (इस विशेषण से जल प्रवाह में गिरे हुए मृत शरीर की चेष्टाओं का निरास हो जाता है), रथ की गतिरूप क्रिया से सारथी के अनुमान के समान, प्रयत्न-वान् शरीर के अधिष्ठाता आत्मा का अनुमान किया जाता है कि शरीर, प्रयत्नवान् आत्मा से अधिष्ठत है, विशिष्ट चेष्टारूप क्रियावान् होने से, रथ के समान। अथवा हिताहित प्राप्ति परिहारों में समर्थ चेष्टारूप क्रिया, प्रयत्नपूर्वक है, विशिष्ट क्रिया होने से, रथ क्रिया के समान। सूत्र—(११८) से (१२१) तक, तथा (१३४)।

आत्मसाधक अन्य हेतुओं का संग्रह करते हुए कहते हैं कि इसी प्रकार 'प्राणा-पाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियविकाराः सुखःदुखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि' (१३९) इस सूत्र में वर्णित सम्पूर्ण प्राणापानादिलिङ्गों से भी पृथिव्यादि अष्ट द्रव्यों से भिन्न आत्मा नामक द्रव्य सिद्ध होता है।

पदपदार्थ—कथं = कैसे ?, शरीर परिगृहीते = शरीर में वर्तमान, वायौ = प्राण-अपान नाम के वायु में, विकृतकर्मदर्शनात् = ऊर्ध्वाधोगमन रूप क्रिया के देखने से, भस्त्राध्मापयिता इव = धौंकनी के धौंकने वाले के समान, निमेषोन्मेषकर्मणा = आँख बन्द करना खोलना इत्यादि क्रिया से नियतेन = जो सदा हुआ करती है, दारुयंत्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न्मेषकर्मणा नियतेन दारुयन्त्रप्रयोक्तेव देहस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादिनिमित्तत्वात् गृहपतिरिव, अभिमतविषयग्राहककरणसम्बन्धनिमित्तेन मनःकर्मणा गृहकोणेषु पेलकप्रेरक इव दारकः, नयन विषयालोचनानन्तरं रसानुस्मृतिक्रमेण रसनविक्रियादर्शनादनेकगवाक्षान्तर्गतप्रेक्षकवदुभयदर्शी कश्चिदेको विज्ञायते ।

प्रयोक्ता इव = कठपुतली को चलाने वाले के समान, देहस्य = शरीर के, वृद्धिक्षतभग्न संरोहणादिनिमित्तत्वात् = वृद्धि, क्षत (घाव) भग्न संरोहण (टूटे हुओं के पुनः उत्पत्ति) इत्यादि क्रियाओं के निमित्त होने से। गृहपतिः इव = घर के स्वामी के समान, अभिमत विषयग्राहककारणसम्बन्ध ; निमित्तेन = प्रिय विषयों के ग्रहण के कारण चक्षु आदि मनः सम्बन्ध के निमित्तरूप, मनः कर्मणा = मन की क्रिया से, गृहकोणेषु = घर के कोनों में, पलक प्रेरकः इव = गोली को फेंकने वाले, दारकः = बालक के समान, नयनविषयालोचनानन्तरं = चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष हुये रूपविषयक ज्ञान के पश्चात् रसानुस्मृतिक्रमेंण = उसके स्मरण इच्छा प्रयत्न इत्यादि क्रम से, रसनविक्रियादर्शनात् = रसनेन्द्रिय (जिह्वा) में विकार (पानी गिरना) देखने से, अनेकगवाक्षान्तर्गतप्रेक्षकवत् = अनेक झरोखों में रहने वाले दर्शक के समान, उभयदर्शी = दोनों का अनुभवकर्ता, कश्चित् = कोई, एकः = एक है, विज्ञायते = ऐसा जाना जाता है।

भाषाभाष्य—प्राणापानादि रूप लिङ्गों से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि कैसे होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि उपर्युक्त लिङ्गों में सूत्रोक्त वायु कर्म से इस प्रकार आत्मा की सिद्धि होती है कि शरीर में वर्तमान प्राणापान नाम के वायु में ऊर्ध्व अधोगमन रूप जो विकृत कर्म दिखाई देता है उससे धौंकनी धौंकने वाले के समान श्वासप्रश्वास का प्रेरक आत्मा है, अर्थात् जीता हुआ शरीर, प्रयत्नवान् भोक्ता आत्मा से अधिष्ठित है, विकारी क्रिया वाले वायु का आश्रय होने से (धौंकनी) के समान इस अनुमान से शरीर में श्वासप्रश्वास का प्रेरक शरीरादि भिन्न आत्मा है यह सिद्ध होता है (१) तथा सूत्रोक्त निमेषोन्मेष (आँख के बंद होने तथा खुलने से भी शरीर, प्रयत्नवान् आत्मा से अधिष्ठित है, इच्छाधीन निमेषोन्मेषवान् अवयवों से संबद्ध होने से, दारुयन्त्र (कठपुतली) के समान इस अनुमान द्वारा, शरीरादि भिन्न आत्मा सिद्ध होता है, जो कठपुतली के चलाने वाले के समान शरीर के चक्षुरूप अवयव में निमेषोन्मेष कर्म का प्रयत्न करता है। (२) तीसरे सूत्रोक्त जीवन हेतु से, शरीर का वृद्धि (बढना) क्षत संरोहण (चोट के घावों का ठीक हो जाना) इत्यादि, प्रयत्न करने वाले से किया गया है, वृद्धि तथा क्षत संरोहण का आधार होने से, गृहवृध्यादिक के समान इस अनुमान से, जिस प्रकार घर के बढ़ने, तथा टूटे की मरम्मत से घर के स्वामी की अनुमान से सिद्धि होती है उसी प्रकार शरीर के बढ़ने, चोट वगैरह के अच्छे हो जाने से भी शरीर की स्वामी प्रयत्नवान् आत्मा की सिद्धि हो जाती है (३)। तथा मनोगति भी आत्मसाधक है इस अभिप्राय से आगे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नैश्च गुणैर्गुण्यनुमीयते । ते च न शरीरेन्द्रियगुणाः, कस्मात् ? अहङ्कारेणैकवाक्यताभावात् प्रदेशवृत्तित्वादयावद्‌द्रव्यभावित्वाद् बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वाच्च तथाऽहंशब्देनापि पृथिव्यादिशब्दव्यतिरेकादिति ।

भाष्यकार कहते हैं कि अभिमतविगयग्राहक चक्षु आदि बाह्येन्द्रिय तथा मन के सम्बन्ध से उत्पन्न मन की क्रिया से, घर के कोने में रहने से प्रत्यक्ष न दिखाने वाले लाह या मृतिका की गोली चलानेवाले बालक की गोली के चलने से अनुमान द्वारा सिद्धि के समान, प्रयत्नवान् प्रेरक आत्मा की भी, 'मन प्रयत्नवान् से प्रेरित है, अभिमत विषय सम्बन्ध से उत्पन्न क्रिया के आधार होने से, बालक के हस्त में रहने वाली गोली के समान' इस प्रकार अनुमान से सिद्धि होती है । यहां पर यदि प्राणवायु की प्रेरणा से मन में उक्त क्रिया मानी जाय तो अनभिमत पदार्थ से भी सम्बन्ध होने लगेगा, अतः प्रयत्नवान् की बुद्धि के निमित्त सम्बन्ध मानने से उक्त दोष न होगा, इस लिये प्रयत्नवान् आत्मा मानना आवश्यक है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार पाँचवां इन्द्रिय विकार भी आत्मद्रव्य का साधक है, यह सिद्ध करते हुए प्रशस्तदेव कहते हैं कि किसी आम इत्यादि प्रिय फल के पीतादि रूप को देखकर उसके साथ रहने वाले तथा जिसका पूर्व में अनुभव रसनेन्द्रिय से हो चुका है. उस मधुर रस के स्मरण से उसे लेने की प्रथम इच्छा होती है, पश्चात् उसे लेने के लिये मनुष्य प्रयास करता है, और वह प्रयत्न आत्ममनःसंयोग रूप असमवायिकारण से रसनेन्द्रिय में विकार को उत्पन्न करता है, दाँत से पानी गिरने से समान ऐसा जिसकी सिद्धि अनुमान से हम कर सकते हैं वह रसनेद्रिय का विकार इन्द्रिय को चेतन आत्मा मानने के पक्ष में नहीं हो सकता, क्योंकि अपने-अपने रूप रस विषयों में नियत स्वभाव वाले होने के कारण चक्षु तथा रसनेन्द्रिय से यथाक्रम रूप तथा रस का एकत्र रहना ज्ञात होने पर भी रूप को देख कर रस का स्मरण नहीं हो सकता, अतः उक्त इन्द्रियविकार से इन्द्रियों से भिन्न कोई दोनों का देखने वाला है यह सिद्ध होता है । जिस प्रकार अनेक झरोंको से देखने वाला एक देखने वाला मनुष्य है यह सिद्ध होता है, उसी प्रकार जो रूप को देखकर तथा अनुभूत सहचरित रस को स्मरण करता है वह एक आत्मा नित्य द्रव्य है यह सिद्ध होता है । शरीर अवयवों के बढ़ने घटने से भिन्न होने के कारण भिन्न २ होने से उभयदर्शी नहीं हो सकता, जिससे स्मरण नहीं हो सकेगा ।

पदपदार्थ—सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नैश्च = सुख, दुख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न नाम के, गुणै=विशेष गुणों से भी, गुणी=गुणाधार का, अनुमीयते=अनुमान किया जाता है । ते च=और वे, न = नहीं हैं, शरीरेन्द्रियगुणाः=शरीर तथा इन्द्रिय के गुण, कस्मात्=क्यों, अहङ्कारेण = अहं शब्द के साथ, एकवाक्यताभावात्—एकवाक्यता न होने से, प्रदेशवृत्तित्वात् = अव्याप्यवृत्ति होने से, अभावद्रव्यभावित्वात्=द्रव्य की वर्तमानता तक न रहने से, बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वाच्च = बाह्यइन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने से भी, तथा=इसी प्रकार, अहंशब्देन=अहं इस शब्द के साथ, अपि=और,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्य गुणाः बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारसङ्ख्यापरिमाण-पृथक्त्वसंयोगविभागाः। आत्मलिङ्गाधिकारे बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्ताः सिद्धाः। धर्माधर्मावात्मान्तरगुणानामकारणत्ववचनात्। संस्कारः स्मृत्युत्पत्तौ कारण-वचनात्।

पृथिव्यादिशब्दव्यतिरेकात्=पृथिवी आदि शब्दों की एकाधिकरणता न होने से इति=इस प्रकार।

तस्य=उस आत्मा के, गुणाः=गुण हैं, बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्म-संस्कारसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः १४=बुद्धि[१], सुख[२], दुःख[३], इच्छा[४], द्वेष[५], प्रयत्न[६], धर्म[७], अधर्म[८], संस्कार[९], संख्या[१०], परिमाण[११], पृथक्त्व[१२], संयोग[१३] तथा विभाग[१४] ऐसे चतुर्दश। आत्मलिङ्गाधिकारे=आत्मा के साधक हेतुओं का वर्णन करने वाले 'प्राणापानादि' पूर्वोक्त सूत्र में, बुद्धयादयः=बुद्धि से लेकर, प्रयत्नान्ताः= प्रयत्न तक, सिद्धाः=सिद्ध होते हैं। धर्माधर्मौ=धर्म तथा अधर्म, आत्मान्तरगुणानां= दूसरे आत्मा के गुण, अकारणत्ववचनात्=अन्य आत्मा के गुणों में कारण नहीं होते ऐसे (२२९) सूत्र से आत्मा में हैं यह सिद्ध होता है। संस्कारः=भावना नामक सस्कार, स्मृत्युत्पत्तौ=स्मरण की उत्पत्ति में, कारणवचनात्=कारण है ऐसा (३४७) सूत्र में वचन होने से सिद्ध होता है।

भाषाभाष्य—तथा सुख, दुःख, इच्छा, द्वेप, तथा प्रयत्न नामक विशेष गुणों से भी आत्मा की अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्धि होती है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'इन गुणों का आश्रय शरीर तथा इन्द्रियों को ही क्यों न माना जाय तो इसके उत्तर में आचार्य प्रशस्तदेव कहते हैं कि पांच हेतुओं से हम यह सिद्ध करते हैं कि यह गुण शरीर तथा इन्द्रियों के नहीं हो सकते। जैसे सुखादिगुण, शरीर तथा इन्द्रियों के नहीं हैं, अहं इस बुद्धिविशेष के साथ एक वाक्यता न होने से अर्थात् विरोध होने से। अतः मैने पूर्व जन्म से पुण्य कर्म किया था इस कारण मैं सुखी हूं पाप कर्म किया था इस कारण दुःखी हूं, मैं जन्मान्तर में सुख की इच्छा से पुण्य कर्म यागादि करता हूं इत्यादि रूप से जिन सुख दुःख इत्यादि गुणों का अहं इस बुद्धिविशेष के साथ एक अधिकरण में रहने का अनुभव होता है वे जन्मान्तर में शरीर भेद के कारण शरीर गुण नहीं हो सकते। इसी प्रकार जन्मद्वय में शरीर भेद के समान इन्द्रियों का भेद होने से इन्द्रियों के भी सुखादि गुण नहीं हो सकते। वस्तुतः एक ही जन्म में शरीर की वृद्धि तथा ह्रास से भेद होने के कारण सामानाधिकरण्य का अनुभव न हो सकने से सुखादिक शरीर गुण नहीं है यह भी हो सकता है (१) तथा सुखादिक, शरीर. इन्द्रिय तथा विषय के गुण नहीं हैं, अव्याप्यवृत्तिहोने से (२) अयावद्द्रव्यभावित्वात् (आश्रय-द्रव्यपर्यन्तस्थायि न होने से(३), तथा बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने से(४), जो अव्याप्य-वृत्ति नहीं होते, यावद्द्रव्यस्थायि होते हैं तथा बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होते हैं, वे शरीर इन्द्रिय तथा विषयों के गुण होते हैं इस प्रकार व्यतिरेकी अनुमानों से सुखादिगुण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यवस्थावचनात् सङ्ख्या पृथक्त्वमप्यत एव । तथा चात्मेतिवचनात् परममहत्परिमाणम् । सन्निकर्षजत्वात् सुखादीनां संयोगः । तद्विनाशकत्वाद्विभाग इति ।

शरीरादिकों के नहीं हैं यह सिद्ध होता है । अर्थात शरीर तथा इन्द्रियों के कोई गुण अप्रत्यक्ष होते हैं जैसे गुरुत्व आदि, तथा कुछ प्रत्यक्ष होते हैं, जैसे रूपादि, ऐसे दो प्रकार के गुणों में से सुखादि गुणों का न बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है न वे अप्रत्यक्ष हैं, इस कारण वह शरीर तथा इन्द्रिय के नहीं हो सकते, अतः परिशेष से वे आत्मा के हैं यह अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है । इसीप्रकार पांचवां अहं शब्द के साथ पृथिवी आदि शब्दों का सामानाधिकरण्य न होने से भी उसके साथ सामानाधिकरण्य रखनेवाला आत्मा भिन्न द्रव्य है यह सिद्ध होता है । अर्थात् लौकिक तथा वैदिक व्यवहार में प्रयुक्त अहंशब्द का कोई अर्थ नहीं है यह असम्भव होने से अहंशब्द आत्मा का वाचक है यह मानना पड़ेगा । यदि पृथिवी शब्द के साथ सामानाधिकरण्य अहं शब्द को माना जाय, अर्थात् पृथिवी जल इत्यादि अष्ट द्रव्यों में से किसी का वाचक अहंशब्द हो तो, पृथिवी द्रव्य है इत्यादि प्रतीति के समान अहं पृथिवी इत्यादि प्रतीति होने लगेगी । इस प्रकार शरीर तथा इन्द्रियों से अतिरिक्त आत्मा के साधक विशेष गुण, तथा सामान्य गुणों को भाष्यकार कहते हैं कि उस आत्मा के बुद्धि (ज्ञान) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रत्यत्न, धर्म, अधर्म तथा भावना नामक संस्कार (जिससे कालान्तर में स्मरण होता है ऐसे आठ विशेष गुण, तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग ऐसे १४ गुण हैं, जिनमें से आत्मसाधक गुणों के संग्राहक 'प्राणापानादि' (१३९) सूत्र में बुद्धि से लेकर प्रयत्न पर्यन्त ६ विशेष गुणों की सिद्धि होती है । तथा आत्मान्तरगुणानामकारणत्ववचनात्' (२२९) इस सूत्र मे धर्म तथा अधर्म आत्मा के गुण हैं यह कहा है, अन्यथा सुखादि साधर्म्य कथन से उन दोनों में आरम्भकत्व का समर्थन न बन सकेगा । तथा 'आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः (३४७) इस सूत्र से स्मरण की उत्पत्ति में संस्कार की कारणता की उक्ति होने से आत्मा में भावना नामक संस्कार है यह भी सिद्ध होता है ।

पदपदार्थ—व्यवस्थावचनात् = (१५५–१५६) सूत्रों से सुखी, दुःखी इत्यादि व्यवस्था के नियम की उक्ति से. संख्या = अनेकसंख्या, पृथक्त्वमपि = पृथक्त्वगुण भी, अतएव = उक्त वचन से ही संख्यानुसारी होने से (आत्मा में है) । तथा चात्मेतिवचनात् = 'विभवान्महानाकाशस्तथाचात्मा' (२७८) इस सूत्र के 'तथाचात्मा' (आकाश के समान आत्मा भी विभु होने से सर्वोत्कृष्ट महत्परिमाणवान् है) इस उक्ति के अनुसार, परममहत्परिमाणम् = आत्मा का सर्वोत्कृष्ट महत्परिमाण है यह सिद्ध होता है । सुखादीनां = सुख दुःख इत्यादि विशेष गुणों के, सन्निकर्षजत्वात्—संयोगसम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण संयोगः = संयोग, तद्विनाशकत्वात् = संयोग नाशक होने से, विभागः = विभाग गुण है, इति = इस प्रकार आत्मनिरूपण समाप्त है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनःप्रकरणम् ।

मनस्त्वयोगान्मनः । सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्तिदर्शनात् करणान्तरमनुमीयते ।

(१३) मन प्रकरण ।

पदपदार्थ-—मनस्त्वयोगात् = मनस्त्व जाति के समवेत होने से, मनः = मन नामक द्रव्य सिद्ध है । सत्यपि = होने पर भी, आत्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये = व्यापक आत्मा का बाह्येन्द्रियों के साथ तथा बाह्येन्द्रियों का पदार्थों के साथ सम्बन्ध, ज्ञानसुखादीनां = ज्ञानसुखदुःखादिकों की, अभूत्वा = पूर्व में न रहकर, उत्पत्तिदर्शनात् = उत्पत्ति के दिखाई देने से, करणान्तरं = आन्तरिक दूसरा करण है ऐसा अनुमीयते = अनुमान से सिद्ध होता है ।

भाषाभाष्य—तथा 'नानात्मानो व्यवस्थातः' (१५५–१५६) इत्यादि दो सूत्रों में कोई जीव सुखी है कोई दुःखी है इत्यादि व्यवस्था के वर्णन से आत्मा में अनेक संख्या नामक गुण का वर्णन होने के कारण बहुत्व संख्या, तथा उक्त वचन से ही संख्यानुसारी अनेकपृथक्त्व गुण भी सिद्ध है । एवं पदपदार्थ में दिये हुए सूत्र के बल से आत्मा में परममहत्परिमाणगुण सिद्ध होता है । तथा सुखदुःखादि आत्मा के गुणों के मन के संयोग से उत्पन्न होने के कारण आत्मा में संयोग भी सिद्ध होता है, क्योंकि दूसरे में रहने वाला संयोग व्यधिकरण होने से असमवायिकारण नहीं हो सकता । तथा आत्मा और मन इन दोनों द्रव्यों के नित्य होने के कारण आश्रयनाश से संयोगनाश होने का सम्भव नहीं है, इसलिये दोनों का विभक्त होना ही निद्रा काल में संयोगनाशक मानना पड़ेगा, अतः विभाग भी आत्मा का गुण है यह सिद्ध होता है ।

प्रधान होने से प्रथम आत्मा की सिद्धि दिखाकर भाष्यकार मन द्रव्य की सिद्धि करते हुए कहते हैं कि—समवाय सम्बन्ध से मनस्त्व नामक द्रव्यत्वव्याप्य जाति के आधार द्रव्य को मन कहते हैं, इस लक्षण से मन का व्यवहार तथा उसमें पृथिव्यादि द्रव्यों से भेद ज्ञान होना, यह फल है इत्यादि पृथिव्यादि लक्षणों के समान सम्पूर्ण विचार स्वयं पाठकों को कर लेना चाहिये । अर्थात् समान गुण तथा कार्य वाले घटादि रूप पृथिवी मे घटत्वादि जातियों के समान, समान गुण कार्यवाले मनों में भी मनस्त्व जाति मानना युक्त है । 'उक्त लक्षण मन नामक द्रव्य के सद्भाव में क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न के समाधान में भाष्यकार कहते हैं कि व्यापक आत्मा का सम्पूर्ण इन्द्रियों के साथ एक काल में सम्बन्ध तथा इन्द्रियों का पदार्थों के साथ सन्निकर्ष होने पर भी एक पदार्थ के ज्ञान के समय दूसरे से सुख दुःख नहीं होता इस कारण, 'आत्मा इन्द्रिय तथा विषय के सम्बन्ध से सुखादि कार्य की उत्पत्ति में एक विशेष कारण की अपेक्षा करते हैं, क्योंकि उनके रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, जैसे तन्तु आदि के रहने पर भी संयोगरूप विशेष कारण के न रहने पर पटोत्पत्ति न होने से तन्तुओं को उसकी अपेक्षा है, यह अनुमान ही मन का साधक प्रमाण है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् बाह्येन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तःकरणम् ।

तस्य गुणाः—संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराः । प्रयत्नज्ञानायौगपद्यवचनात् प्रतिशरीरमेकत्वं सिद्धम् । पृथक्त्वमप्यत एव। तदभाववचनादणुपरिमाणम् । अपसर्पणोपसर्पणवचनात् संयोगविभागौ । मूर्तत्वात् परत्वापरत्वे संस्कारश्च ।

पदपदार्थ—श्रोत्राद्यव्यापारे = कर्ण, चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों का व्यापार न होने पर भी, स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् = स्मरणात्मक ज्ञान की उत्पत्ति दिखाती है इस कारण, बाह्येन्द्रियैः = चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों से, अगृहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावात् च = न गृहीत होनेवाले सुखादि रूप विषयान्तरों (दूसरे विषयों) के होने से भी, अन्तःकरणं= भीतरी करण मन नाम का है। तस्य = उस मन के, गुणा = गुण हैं, संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वापरत्वसंस्काराः = संख्या[१], परिमाण[२], पृथक्त्व[३], संयोग[४], विभाग[५], परत्व[६], अपरत्व[७] तथा वेग[८] नामक संस्कार ऐसे। प्रयत्नज्ञानायौगपद्यवचनात् = 'प्रयत्न यौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकत्वम् (१३८) इस सूत्र वचन से, प्रतिशरीरं = प्रत्येक शरीर में, एकत्वं = मन में एकत्व संख्या सिद्ध होती है। पृथक्त्वम् अपि = पृथक्त्व गुण भी, अतएव = संख्या के अनुसारी होने ही, सिद्ध है। तदभाववचनात् = व्यापकता के अभाव की (३७९) सूत्र में उक्ति होने से, अणु = अणुपरिमाण मन में सिद्ध है। अपसर्पणोपसर्पणवचनात् = (२१५) सूत्र में मन के हटने तथा समीप आने के वचन से, संयोगविभागौ = संयोग तथा विभाग गुण मन में है। मूर्तत्वात् = मूर्त द्रव्य होने से, परत्वापरत्वे = परत्व तथा अपरत्व एवं वेग नामक संस्कार भी मन में है यह सिद्ध होता है।

भाषाभाष्य—मन द्रव्य की सिद्धि में प्रमाणान्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि श्रोत्र चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों का व्यापार न होने पर भी स्मरण की उत्पत्ति देखने में आती है इस कारण, स्मरणात्मक ज्ञान, इन्द्रिय से उत्पन्न है, ज्ञान होने से, गन्धादि बाह्य विषय ज्ञान के समान, इस अनुमान द्वारा स्मरण ज्ञान के कारण मन की सिद्धि होती है, अर्थात् अन्धे, वधिर इत्यादि प्राणियों को चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियों की शक्ति न होने पर भी स्मरण होने के कारण उसमें श्रोतादीन्द्रियकरण नहीं हो सकते, अतः जो उस स्मरणात्मक ज्ञान में करण है वही मन है। तथा जिन सुखादिविषयों का बाह्येन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता ऐसे आन्तरिक सुखादि रूप विषयों की सत्ता होने से भी सुखादि ज्ञान, इन्द्रियजन्य हैं, प्रत्यक्ष होने से रूपादिज्ञान के समान, इस अनुमान से भी मन रूप द्रव्यान्तर सिद्ध होता है। सू० (१३६) अतः मन में द्रव्यता साधक गुणों को भाष्यकार कहते हैं कि उक्त मन द्रव्य के संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग नाम का संस्कार ऐसे ८ गुण हैं। जिनमें से 'प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्' (१३८) इस सूत्र की प्रयास तथा ज्ञानों के एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अस्पर्शवत्त्वाद् द्रव्यानारम्भकत्वम् । क्रियावत्त्वान्मूर्तत्वम् । साधारण-विग्रहवत्त्वप्रसङ्गादज्ञत्वम् । करणभावात् परार्थम् । गुणवत्त्वाद् द्रव्यम् । प्रयत्नादृष्टपरिग्रहवशादाशुसञ्चारि चेति ॥

इति प्रशस्तपादभाष्ये द्रव्यपदार्थः ॥

काल में उत्पन्न न होने के उक्ति से। प्रत्येक शरीर में एक ही मन इन्द्रिय है, यह सिद्ध होता है, यदि एक शरीर में अनेक अन्तःकरण माने जायें तो आत्मा तथा मन के संयोगों के भी अनेक होने से एक ही काल में अनेक यत्न तथा ज्ञान होने लगेंगे। इस प्रकार प्रति शरीर में मन की एकत्वसख्या सिद्ध होने के कारण संख्यानुसारी पृथक्त्व गुण भी मन में सिद्ध होता है। तथा 'तदभावादणु मनः' (३७९) इस सूत्र बल से व्यापकता न होने के कारण अणु परिमाण भी सिद्ध होता है, क्योंकि जिस नित्य द्रव्य में विभुता नहीं होती उसमें अणु पारमाण अवश्य होता है यह नियम है, पूर्वोक्त एक काल में ज्ञान तथा प्रयत्न की अनुपपत्ति से मन में व्यापकता का अभाव सिद्ध हो ही चुका है। तथा 'अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चादृष्ट-कारितानि' (२१९) के सूत्र में मन का पूर्व शरीर से हटना, दूसरे शरीर में जाना अदृष्य धर्माधर्म के अनुसार होता है ऐसा वर्णित होने से मन में संयोग तथा विभाग नामक सामान्य गुण भी सिद्ध होने हैं। तथा व्यापकता होने से मूर्त द्रव्य होने के कारण घटादि मूर्त द्रव्यों के समान परत्व, अपरत्व तथा वेग नामक संस्कार भी मन में सिद्ध होता है।

पदपदार्थ—अस्पर्शवत्त्वात् = स्पर्शरहितहोने से, द्रव्यान्तारंभकत्वम् = मन रूप द्रव्यान्तर को उत्पन्न न करना, क्रियावत्त्वात् = क्रियाश्रय होने से मूर्तत्वं = मूर्तता, साधारणविग्रहवत्त्वप्रसङ्गात् = साधारण शरीराधारता की आपत्ति आने से, अज्ञत्वं = ज्ञानानाश्रयता, करणभावात् = करण होने से, परार्थत्वं = परप्रयोजनता, गुणवत्त्वात् = गुणाधार होने से = द्रव्यता, प्रयत्नादृष्टपरिग्रहात् = प्रयत्न तथा अदृष्ट के स्वीकार करने से आशु सञ्चारिता, च = भी सिद्ध होती है। इति = इस प्रकार मन का प्रकरण है।

भाषाभाष्य—तथा इस मन में भी आत्मा के समान शरीर भिन्न होकर सम्पूर्ण विषयक ज्ञानजनकता होने से अस्पर्शवत्ता (स्पर्शानधिकरणता) सिद्ध होती है, और उससे समान जाति के द्रव्य को उत्पन्न न करना सिद्ध होता है। क्योंकि स्पर्शाश्रय ही द्रव्य द्रव्य को उत्पन्न करते हैं। तथा घटादिकों के समान मन भी क्रिया का आधार होने से मूर्त्तता (जिसके परिमाण के इयत्ता का ग्रहण होता है) सिद्ध होती है। तथा यदि मन (स्वयं ज्ञाता) भी हो तो यह शरीर दो आत्माओं से अधिष्ठित होने से दोनों साधारण उपभोग का स्थान हो जायगा, ऐसा नहीं है, क्योंकि एक ही के अभिप्राय से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति देखने में आती है अतः अज्ञ है। तथा मन भी चक्षुरादि इन्द्रियों के समान करण होने से परार्थ (दूसरे के उपभोग का साधन) है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह सिद्ध होता है। तथा गुणवान् होने से पृथिव्यादिकों के समान द्रव्य है तथा प्रयत्न और अदृष्ट के परिग्रह से शीघ्रगति है यह भी सिद्ध होता है। इस कथन से 'मन के अणुपरिमाण होने से रूपादि विषयक ज्ञान शीघ्र कैसे उत्पन्न होते हैं' यह आक्षेप निरस्त हो जाता है क्योंकि कहीं-कहीं आत्मा के जीवनयोनिनामक प्रयत्न से, तथा कहीं-कहीं अदृष्टवश से (मन शीघ्र-शीघ्र संचरणकर्ता है। इस प्रकार पृथिवी से लेकर मनपर्यन्त नौ द्रव्यों का निरूपण समाप्त होने से द्रव्य पदार्थ निरूपक प्रधान प्रथम प्रकरण प्रशस्तपाद भाष्य का समाप्त है। जिसमें १३ अवान्तर प्रकरण हैं। सूत्र (६०२) (६९) (१३८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुणपदार्थनिरूपणम्

साधर्म्यप्रकरणम् ।

रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रितत्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वम् ।

रूपरसगन्धस्पर्शपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगा मूर्तगुणाः ।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा अमूर्तगुणाः ।

संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा उभयगुणाः ।

---

(१) साधर्म्यप्रकरण ।

पदपदार्थ—रूपादीनां = रूप रस इत्यादि, गुणानां = गुणों के, सर्वेषां = सम्पूर्ण-का, गुणत्वाभिसम्बन्धः = गुणत्व जाति का समवाय सम्बन्ध, १, द्रव्याश्रितत्वं = द्रव्या-धारता, निर्गुणत्वं = गुणशून्यता, निष्क्रियत्वं = तथा क्रियाराहित्य, साधर्म्य है ।

रूपरसगन्धस्पर्शपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगाः = रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह तथा वेग नामक संस्कार, मूर्तगुणाः = मूर्तद्रव्यों के गुण हैं । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दाः = ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावनासंस्कार, तथा शब्द, अमूर्तगुणाः = अमूर्तद्रव्यों के गुण हैं । संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः = संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग ऐसे पांच सामान्यगुण, उभयगुणाः = मूर्त तथा अमूर्त दोनों द्रव्यों के गुण हैं ।

भाषाभाष्य—इस प्रकार साधर्म्य वैधर्म्यरूप धर्मनिरूपणपूर्वक द्रव्य रूप धर्मि-निरूपण के पश्चात् क्रमप्राप्त गुणों का भी साधर्म्य वैधर्म्य निरूपणपूर्वक निरूपण करते हैं—कि रूप रस इत्यादि सम्पूर्ण चतुर्विंशति गुणों का गुणत्व जातिमत्ता १, द्रव्याधारता २, निर्गुणता, ३ तथा क्रियाशून्यता ४ समान धर्म है । यहाँ 'सर्वेषां' इस पद से सम्पूर्ण गुणों के यह चारों समान धर्म हैं, तथा 'गुणानां' इस पद से गुण भिन्न द्रव्य कर्मादि पांच पदार्थों के वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) हैं यह भी सूचित होता है । गुण शब्द का अर्थ प्रधान भी होता है उसमें गुणता जाति सम्बन्ध नहीं है यह सूचित करने के लिये 'रूपादीनां' यह विशेषण दिया हैं । यहां पर भी गुणपदार्थ, द्रव्यादिकों से भिन्न है, अथवा गुण इत्याकारक व्यवहार करने योग्य है, गुणत्व जाति सम्बन्ध होने से, ऐसा द्रव्य लक्षण के समान लक्षण का प्रयोजन जान लेना, तथा तद्विषय अन्य विचार भी द्रव्य लक्षण के विचार के समान समझ लेना चाहिये । दूसरा 'द्रव्याश्रितत्व' केवल गुणों का धर्म कहा है न कि विरुद्धधर्म, क्योंकि कर्म तथा सामान्यादिकभी द्रव्याश्रित होने से उनमें अतिव्याप्ति दोष आ जायगा । तीसरा निर्गुणत्व भी केवल गुणों का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संयोगविभागद्वित्वद्विपृथक्त्वादयोऽनेकाश्रिताः । शेषास्त्वेकैकद्रव्यवृत्तयः ।

रूपरसगन्धस्पर्शस्नेहसांसिद्धिकद्रवत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा वैशेषिकगुणाः ।

संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वनैमित्तिकद्रवत्ववेगाः सामान्यगुणाः ।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्याः ।

संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वस्नेहवेगा द्वीन्द्रिय-

---

धर्ममात्र कहा गया है, न कि वैधर्म्य, क्योंकि यह भी कर्मादिकों में रहने से अतिव्याप्ति दोष दूषित होगा । 'एक रूपं, अणुः शब्दः' रूप एक है, शब्द छोटा है इत्यादि रूपगुण में एकत्व संख्या रूप गुण, तथा शब्दगुण में अणुपरिमाण गुण को बतलाने वाली प्रतीति वास्तविक नहीं है, क्योंकि गुण में गुण नहीं रहते, अतः एकार्थसमवाय (एक पदार्थ में सम्बन्ध जिस घटादि द्रव्य में रूप है उसमें एक संख्या भी रहती है) सम्बन्ध से होने के कारण गौण है, क्योंकि संख्यादि गुण, रूपादिकों में नहीं रहते, गुण होने से, रूप के समान इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि गुण गुणों में नहीं रहते ।

रूप[१], रस[२], गन्ध[३], स्पर्श[४], परत्व[५] अपरत्व[६], गुरुत्व[७], द्रवत्व[८], स्नेह[९] तथा वेग[१०] नामक संस्कार ऐसे १० गुण मूर्त द्रव्यों में, तथा ज्ञान[१], सुख[२], दुःख[३], इच्छा, द्वेष[५], प्रयत्न[६], धर्म[७], अधर्म[८], भावनासंस्कार[९] तथा शब्द[१०] गुण अमूर्त द्रव्यों में, तथा संख्या[१], परिमाण[२], पृथक्त्व[३], संयोग[४] एवं विभाग[५] ऐसे ५ सामान्य गुण मूर्त तथा अमूर्त दोनों द्रव्यों में रहते हैं इसलिये क्रम से इनका मूर्तगुणत्व, अमूर्तगुणत्व तथा उभयगुणत्व समान धर्म जानना, जो परस्पर का विरुद्ध धर्म भी हो सकता है, जैसे रूपादिकों का अमूर्तगुणत्व तथा ज्ञानादिकों का मूर्तगुणत्व और संख्यादिकों का अनुभयगुणत्व इत्यादि स्वयं जान लेना चाहिये ।

पदपदार्थ—संयोगविभागद्वित्वद्विपृथक्त्वादयो = संयोग, विभाग, द्वित्वादि संख्या द्विपृथक्त्वादिगुण, अनेकाश्रिताः = अनेक द्रव्याधार होते हैं, शेषाः = इनसे अवशिष्ट रूपरस आदि गुण, तु = तो, एकैकद्रव्यवृत्तयः = एकैक द्रव्याश्रित होते हैं । रूपरसगन्धस्पर्श स्नेह सांसिद्धिकद्रवत्वबुद्धि सुखदुःखेच्छा द्वेष प्रयत्न धर्माधर्मभावनाशब्दाः = रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रवत्व, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना संस्कार तथा शब्द इतने गुण, वैशेषिकगुणाः = विशेष गुण हैं । संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वनैमित्तिकद्रवत्ववेगाः = संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिकद्रवत्व तथा वेग नामक संस्कार इतने गुण, सामान्यगुणाः = साधारण गुण हैं । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः = शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध ऐसे ६ गुण, बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्याः = श्रोत्रादि एकैकं बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष होते हैं । संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वस्नेह·

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्राह्याः । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः । गुरुत्वधर्माधर्मभावना ह्यतीन्द्रियाः ।

अपाकजरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगाः कारणगुणपूर्वकाः ।

वेगाः = संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व अपरत्व द्रवत्व, स्नेह तथा वेगसंस्कार इतने गुण = दो इन्द्रियों (चक्षु तथा त्वग्) से प्रत्यक्ष होते हैं । बुद्धि सुखदु.खेच्छाद्वेपप्रयत्नाः तु = ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेप तथा प्रयत्न गुण तो, अन्तःकरणग्राह्याः = अन्तःकरण (मन) से प्रत्यक्ष होते हैं । गुरुत्वधर्माधर्मभावनाः = गुरुत्व, धर्म, अधर्म तथा भावना संस्कार गुण, हि = निश्चय से, अतीन्द्रियाः = इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होते ।

भाषाभाष्य—संयोग, विभाग, द्वित्वादि संख्या तथा द्वित्वादि पृथक्त्व गुण अनेक ही में आश्रित होते हैं, अर्थात् इन गुणों का अनेक (एक भिन्न) आधारता साधर्म्य है । सू० (२५) इनसे अवशिष्ट रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एकत्वसंख्या, एकपृथक्त्व, परिमाण, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह. संस्कार तथा बुद्धि से शब्द तक के गुण एकैक में रहते हैं, इन अवशिष्ट गुणों का एकैक में रहना साधर्म्य है । तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रवत्व, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना संस्कार तथा शब्द इतने गुण अपने आधार के व्यावृत्ति करनेवाले अवान्तर सामान्य विशेषाधार होने से, विशेप गुण कहाते हैं, जैसे शुक्ल रूप भास्वरता (परप्रकाशकता) के कारण अपने आधार तेज द्रव्य को पृथिवी तथा जल से व्यावृत्ति कराता है, इस कारण इन गुणों का विशेष गुणत्व साधर्म्य है । यहां नैमित्तिकद्रवत्वरूपसामान्यगुण में अतिव्याप्तिवारणार्थ सांसिद्धिक ऐसा द्रवत्व में विशेषण दिया गया है । संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक द्रवत्व तथा वेगसंस्कार इतने गुण स्वाश्रय के साधर्म्य गुण हैं न कि स्वाश्रय के व्यावर्तकविशेषगुण, अतः इनका सामान्यगुणत्वसाधर्म्य है । यहाँ पर भी स्वाभाविक द्रवत्व में अतिप्रसंगवारणार्थ नैमित्तिक पद दिया गया है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इतने गुण श्रोतादि एकेक इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होते हैं, अतः इनका बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यत्वसाधर्म्य है सू० (३२५) (३२६) (१००) । संख्या परिमाण पृथक्त्वसंयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह तथा वेग नामक संस्कार इतने गुणों का चक्षु तथा त्वग् इन दोनों से ग्रहण होता है अतः इनका द्वीन्द्रियग्राह्यत्व साधर्म्य है सू० (१६७) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेप तथा प्रयत्न केवल मन से गृहीत होते हैं अतः इनका अन्तःकरण ग्राह्यत्व साधर्म्य है (सू० १६६) गुरुत्व, धर्म, अधर्म तथा भावनासंस्कार का किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष न होने के कारण इनका अतीन्द्रियत्व साधर्म्य है ।

पदपदार्थ—अपाकजरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वगुरुत्वस्नेहवेगाः = अग्नि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा अकारणगुणपूर्वकाः ।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दतूलपरिमाणोत्तरसंयोग-नैमित्तिकद्रवत्वपरत्वापरत्वपाकजाः संयोगजाः ।

संयोगविभागवेगाः कर्मजाः ।

शब्दोत्तरविभागौ विभागजौ ।

संयोग से अपरावृत्त (न बदलने वाले) रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श एवं परिमाण, एक संख्या, एक पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह तथा वेगसंस्कार इतने गुण, कारणगुणपूर्वकाः = कारणगुणानुसारी होते हैं । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दाः = ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावनासंस्कार तथा शब्द इतने गुण, अकारणगुणपूर्वकाः = कारण गुणानुसारी नहीं होते । बुद्धिसुख-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्न धर्माधर्म भावना शब्दः तूलपरिमाणोत्तरसंयोग-नैमित्तिक द्रवत्व परत्वापरत्व पाकजाः = ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावनासंस्कार, शब्द, तूल (रुई) का परिमाण, उत्तर संयोग, नैमित्तिकद्रवत्व, परत्वअपरत्व तथा पाकज (अग्निसंयोग से बदले हुए) रूपादिगुण, संयोगजाः = संयोगजन्य होते हैं । संयोगविभागवेगाः = संयोग, विभाग तथा वेग संस्कार, कर्मजाः = क्रियाजन्यगुण हैं । शब्दोत्तरविभागौ = शब्द तथा विभागजन्य विभाग, यह दो गुण, विभागजाः = विभागजन्य गुण हैं ।

भाषाभाष्य—पट आदि द्रव्यों के रूपादिगुण तन्तु आदि कारण रूपादि गुणों के अनुसार दृष्टिगोचर होते हैं इस कारण अपाकज (अग्निसंयोग से न बदलनेवाले) रूप, रस गन्ध, स्पर्श तथा द्रवत्व और परिमाण, एक संख्या, एक पृथक्त्व, गुरुत्व, स्नेह तथा वेगसंस्कार इतने गुण अपने आधार द्रव्यों के समवायि कारण के गुणों से उत्पन्न होने के कारण इनका कारणगुणपूर्वकत्व समान धर्म है । किन्तु वह उक्त गुणों का स्वरूप मात्र कहा गया है, क्योंकि कारण गुणपूर्वक न होनेवाले नैमित्तिक द्रवत्व तथा वेगसंस्कार में अकारण गुणपूर्वकता दिखाई पड़ती है । सूत्र (२६२)·

ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावनासंस्कार तथा शब्द इतने गुण नित्य आत्मादिकों के गुण होने से कारण गुणपूर्वक नहीं हैं, अतः इनका अकारण गुणपूर्वकत्व साधर्म्य है ।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावनासंस्कार, शब्द, तूल (रुई का) परिमाण, उत्तरसंयोग, नैमित्तिक द्रवत्व, परत्व, अपरत्व तथा पाकज रूपादिगुण संयोग से उत्पन्न होते हैं, जैसे आत्ममनः संयोग से बुद्धि आदि आत्मा के गुण, भेरी (नगाडा) तथा आकाश के संयोग से ध्वनिरूप और कण्ठ, तालु आदि के संयोग से वर्णात्मक शब्द तथा प्रचय नामक संयोग से तूल परिमाण, उत्तरसंयोग अर्थात् हस्तपुस्तकसंयोग से शरीरपुस्तकसंयोग एवं वह्निसंयोग से नैमित्तिक द्रवत्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादयो बुद्ध्यपेक्षाः।
रूपरसगन्धानुष्णस्पर्शशब्दपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वस्नेहाः समानजात्यारम्भकाः।
सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चासमानजात्यारम्भकाः।
संयोगविभागसंख्यागुरुत्वद्रवत्वोष्णस्पर्शज्ञानधर्माधर्मसंस्काराः समानासमानजात्यारम्भकाः। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषभावनाशब्दाः स्वाश्रयसमवेतारम्भकाः॥

दिशा तथा काल के शरीरादि द्रव्य के संयोग से दैशिक तथा कालिक परत्व तथा अपरत्व तथा अग्निसंयोग से बदले हुए पार्थिव परमाणुओं के रूप रस गन्ध तथा स्पर्श इतने गुण संयोगजन्य होने से इनका संयोगजन्यत्व साधर्म्य है। सूत्र (१३४) (११०) (२९०) (३०२) (२१३)।

प्रथम संयोग तथा विभाग, और वेगसंस्कार यह तीन गुण क्रिया से उत्पन्न होते हैं अतः इनका कर्मजन्यत्व समान धर्म है। यहां वेगरहित द्रव्य से उत्पन्न हुए द्रव्य में रहनेवाला वेगसंस्कार लेना चाहिये। सूत्र (३०) (२०) (२६०) (२९१) (१९७)।

तथा द्वितीय शब्द के शब्द से उत्पन्न होने के कारण प्रथम शब्द, तथा विभागजन्य विभाग (जैसे हाथ और पुस्तक के विभाग से शरीर पुस्तक विभाग) ये दो गुण विभाग से उत्पन्न होते हैं अतः इन दोनों का विभागजन्यत्वसाधर्म्य है। सूत्र (२९१) (११०)।

पदपदार्थ—परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादयः = परत्व, अपरत्व, द्वित्वसंख्या, द्विपृथक्त्व, इत्यादि गुण, बुध्यपेक्षाः = अपेक्षाबुद्धिजन्य हैं। रूपरसगन्धानुश्चाशीतस्पर्शशब्दपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वस्नेहाः = रूप, रस, गन्ध, अनुष्णाशीतस्पर्श, शब्द, परिमाण, एकत्व संख्या, एकपृथक्त्व, तथा स्नेह इतने गुण, समानजातीयारम्भकाः = अपने समानजात्याश्रायकार्य के उत्पादक होते हैं। सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च = और सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, तथा प्रयत्न इतने गुण, असमानजात्यारम्भकाः = विजातीय कार्य के उत्पादक हैं। संयोगविभागसंख्यागुरुत्वद्रवत्वोष्णस्पर्शज्ञानधर्माधर्मसंस्काराः = संयोग, विभाग, संख्या, गुरुत्व, द्रवत्व, उष्ण स्पर्श, ज्ञान, धर्म, अधर्म, तथा संस्कार, ये गुण, समानासमानाजात्यारंभकाः = समान तथा असमान जाति के कार्य के जनक होते हैं। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषभावनाशब्दाः = ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, भावना-संस्कार तथा शब्द यह गुण, स्वाश्रयसमवेतारम्भकाः = अपने आधार में सम्बद्ध कार्य के उत्पादक हैं।

भाषाभाष्य—दैशिक तथा कालिक दोनों प्रकार के परत्व तथा अपरत्व गुण द्वित्वत्रित्वादिसंख्या, तथा द्वित्रित्वादि पृथक्त्व (दो पृथक् हैं तीन पृथक् है यह गुण) तथा यह पास है यह दूर है एवं यह ज्येष्ठ है यह नसिष्ठ है इत्यादि (दैशिक तथा कालिक परत्व तथा अपरत्व) गुण अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होते हैं, अतः इनका अपेक्षा बुद्धिजन्यत्वसाधर्म्य है। सूत्र (३०२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणस्नेहप्रयत्नाः परत्रारम्भकाः ।
संयोगविभागसंख्यैकपृथक्त्वगुरुत्वद्रवत्ववेगधर्माधर्मास्तूभयत्रारम्भकाः ॥
गुरुत्वद्रवत्ववेगप्रयत्नधर्माधर्मसंयोगविशेषाः क्रियाहेतवः ॥

रूप, रस, गन्ध, अनुष्णाशीतस्पर्श, शब्द, परिमाण, एकत्व संख्या, एक पृथक्त्व, तथा स्नेह इतने गुण अपने समान जाति के कार्य को उत्पन्न करते हैं, अतः इनका समान जातीय कार्यारम्भकत्वसाधर्म्य है। यहां आरम्भकत्व शब्द से केवल कारणता अभिप्रेत है न कि असमवायिकारणता, अन्यथा विजातीय अग्नि संयोग से बदलनेवाले रूपादि गुणों के निमित्त कारण उष्ण स्पर्श को इन गुणों में से हटाना असंगत हो जायगा । यदि यहां ऐसी फिर शंका हो कि 'तो रूपादिगुण विजातीय ज्ञानादिरूप कार्य को कैसे उत्पन्न करते हैं।' इसका यह उत्तर है कि उन्हें छोड़कर ही साधर्म्य यहां विवक्षित है। सूत्र (२६२) (११०) (२८)।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, तथा प्रयत्न इतने गुण विजातीय कार्य को उत्पन्न करते हैं, जैसे सुख इच्छा को, दुःख द्वेष को, वे दोनों प्रयत्न को और वह प्रयत्न क्रिया को उत्पन्न करता है, अतः इन गुणों का विजातीयकार्यजनकत्व साधर्म्य है। यदि यहां ऐसी शंका हो कि 'पुत्र के सुख से पिता को समान जातीय सुख होता है' इस प्रतीति से सुख में समान जाति कार्य को उत्पन्न करने की प्रतीति कैसे होती है !' तो इसका उत्तर यह है कि लैङ्गिक 'अनुमानजन्य' ही ज्ञान उसमें कारण है इसलिये समानजाति कार्यारंभकत्व सुख में नहीं हो सकता ।

संयोग, विभाग, संख्या, गुरुत्व, द्रवत्व, उष्णस्पर्श, ज्ञान, धर्म, अधर्म तथा संस्कार इतने गुण समान तथा असमान दोनों जाति के कार्यों को उत्पन्न करने हैं, जैसे संयोग से संयोग तथा द्रव्यादि विभाग से विभाग तथा शब्द, संख्या से संख्या तथा परिमाण, गुरुत्व से गुरुत्व तथा पतन, द्रवत्व से द्रवत्व तथा स्यन्दन (चूना), स्नेह से स्नेह तथा संग्रह (बटुरना), उष्णस्पर्श से उष्णस्पर्श तथा पाकजरूपादि, ज्ञान से ज्ञान तथा इच्छा, धर्म से धर्म तथा सुख, अधर्म से अधर्म तथा दुःख, संस्कार से संस्कार तथा क्रिया और स्मरण उत्पन्न होते हैं, अतः समानासमान जाति के कार्य को उत्पन्न करना उक्त गुणों का साधर्म्य है। सूत्र (११०) (२९०) (२९१) (२७) (२९)

बुद्धिसुखदुःखइच्छाद्वेष, भावनासंस्कार तथा शब्द ये गुण अपने आश्रय में समवेत कार्यों को उत्पन्न करते हैं, अतः इनका स्वाश्रयसम्बद्धकार्यजनकत्व साधर्म्य है। सूत्र (११०) (३४७) (२५०) (२५४) ।

पदपदार्थ—रूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणस्नेहप्रयत्नाः = रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्नेह तथा प्रयत्न इतने गुण, परत्र = अन्यमे, आरंभकाः = कार्योत्पादक होते हैं।

संयोगविभागसंख्यैकपृथक्त्वगुरुत्वद्रवत्ववेगधर्माधर्माः = संयोग, विभाग, संख्या, एकपृथक्त्वं, गुरुत्व, द्रवत्व, वेगसंस्कार, धर्म तथा अधर्म इतने गुण, तु = तो,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रूपरसगन्धानुष्णस्पर्शसंख्यापरिमाणैकपृथक्त्वस्नेहशब्दानामसमवायिकारणत्वम् ॥

उभयत्र = स्वाश्रय तथा अन्य दोनों में आरम्भकाः = कार्य को उत्पन्न करते हैं। गुरुत्वद्रवत्ववेगप्रयत्नधर्माधर्मसंयोगविशेषाः = गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा अभिघातनामक संयोगविशेष, क्रियाहेतवः = क्रिया के जनक हैं। रूपरसगन्धानुष्णस्पर्शसंख्यापरिमाणैकपृथक्त्वस्नेहशब्दानां = रूप, रस, गन्ध, अनुष्णस्पर्श, संख्या, परिमाण, एकपृथक्त्व, स्नेह तथा शब्दगुण का, असमवायिकारणत्वम् = असमवायिकारणत्व साधर्म्य है ॥

भाषाभाष्य—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्नेह तथा प्रयत्नगुण दूसरे में जैसे तन्तुरूप तन्तुरूपत्वाश्रय से भिन्न परमरूपको, इसप्रकाररसादिकभी स्वाश्रय से अन्य में कार्यारम्भक होने से इनका परत्रारंभकत्व साधर्म्य है। सूत्र (२४२)

संयोग, विभाग, संख्या, एकपृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, धर्म तथा अधर्म इतने गुण स्वाश्रय तथा अन्यमें भी कार्यारम्भक होते हैं। जैसे तन्तुसंयोगस्वाश्रयतन्तुओं में पटकार्य को, तथा विषयेन्द्रियसंयोग अन्यत्र आत्मा में ज्ञानकार्य को उत्पन्न करता है। वंशदल के आकाश का विभाग स्वाश्रय आकाश में शब्द को तथा वंशदलद्वय (दो बास के विभक्त टुकड़ों) का विभाग अन्यत्र आकाश में शब्द को, इसी प्रकार अवयवों की संख्या स्वाश्रयअवयवों में द्वित्वादिसंख्या को तथा अन्यत्रअवयवी में एक संख्या को तथा अवयवका एकपृथक्त्व स्वाश्रय में द्विपृथक्त्वादि एवं अन्यअवयवि में एकपृथक्त्वको, तथा कारणमें वर्तमान गुरुत्वद्रवत्व तथा वेग कार्य में (अन्य में) गुरुत्वद्रवत्व और वेग को तथा स्वाश्रय में क्रिया को, इसीप्रकार धर्माधर्म स्वाश्रयआत्मामें सुखदुःख कार्य को तथा अन्य अग्नि आदि में ज्वलनादि क्रिया को योग्यतानुसार उत्पन्न करते हैं अतः इनका उभयत्रारम्भकत्व साधर्म्य है।

गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा नोदन और अभिघात नामक संयोग विशेष इतने गुण क्रिया को उत्पन्न करते हैं, जैसे गुरुत्व से पतन (गिरना), द्रवत्व से स्यन्दन (चूना), वेग से बाण में शत्रुहृदयप्रवेशादिरूप उत्तरक्रिया, प्रयत्न से हस्तपादादि शरीर क्रिया, धर्म तथा अधर्मरूपअदृष्ट से अग्नि आदि क्रिया जिससे गृहादि में दाह होता है, अर्थात् आग लगना तथा नोदन (जिससे शब्द नहीं होता) और अभिघात (जिससे शब्द होता है) इन दोनों में से किसी संयोग से बाणादि आयुधों में गमनादि क्रिया उत्पन्न होती है अतः इन गुणों का क्रियाकारणत्वसाधर्म्य है। यहाँ वेगपद से स्थितिस्थापक नामक सस्कार भी लेना चाहिये क्योंकि वह भी क्रियाजनक होता है। सूत्र (१९८, १८७, १९७, १८९, १९०, १८१, १८२, १८५, १८६, १९४, १९५ तथा १९९ सूत्र से २०५ सूत्र तक २११, २१५ सूत्र) देख लेना चाहिए ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनानां निमित्तकारणत्वम् ॥
संयोगविभागोष्णस्पर्शगुरुत्वद्रवत्ववेगानामुभयथा कारणत्वम् ॥
परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादीनामकारणत्वम् ॥
संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानां प्रदेशवृत्तित्वम् ॥
शेषाणामाश्रयव्यापित्वम् ॥
अपाकजरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वसांसिद्धिकद्रवत्वगुरुत्वस्नेहानां यावद्द्रव्यभावित्वम् ॥

रूप, रस, गन्ध, अनुष्णस्पर्श, संख्या, परिमाण, एकपृथक्त्व, स्नेह तथा शब्द इन गुणों के असमवायि कारण होने से इनका असमवायिकारणत्व साधर्म्य है। उष्ण स्पर्श भी पाकजरूपादिकों के उत्पत्ति में निमित्त कारण होता है अतः उसके कारण के लिये अनुष्णत्व स्पर्श में विशेष दिया है। सू० १९.२२२, ३६५।

पदपदार्थ—बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनानां = ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावना संस्कार इन गुणों का, निमित्तकारणत्वम् = निमित्तकारणतासाधर्म्य है। संयोगविभागोष्णस्पर्शगुरुत्वद्रवत्ववेगानां = संयोग, विभाग, उष्णस्पर्श, गुरुत्व, द्रवत्व तथा वेगसंस्कार इन गुणों का उभयथाकारणत्वम् = असमवायिकारणत्व तथा निमित्तकारणत्व दोनों प्रकार की कारणता साधर्म्य है। परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादीनां = परत्व, अपरत्व, द्वित्वादिसंख्या तथा द्विपृथक्त्वादिगुणों का, अकारणत्वम् = अकारणतासाधर्म्य है। संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानां = संयोग, विभाग, शब्द तथा आत्मा के ज्ञान आदि विशेषगुणोंका, प्रदेशवृत्तित्वम् = अव्याप्यवृत्तित्वसाधर्म्य है शेषाणां = रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग, स्थितिस्थापक, परत्व, तथा अपरत्व इन अवशिष्ट गुणों का, आश्रयव्यापित्वम् = अपने आधार में व्याप्त होकर रहना साधर्म्य है। अपाकजरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वसांसिद्धिकद्रवत्वगुरुत्वस्नेहानां = अग्निसंयोगसे न बदलने वाले—रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श एवं परिमाण, एकत्व संख्या, एक पृथक्त्व, सांसिद्धिकद्रवत्व, गुरुत्व, तथा स्नेह इतने गुणों का, यावद्द्रव्यभावित्वम्—आधारद्रव्य के रहनेपर्यन्त ही रहना (अर्थात् आश्रय के नाश ही से नष्ट होना) साधर्म्य है।

भाषाभाष्य—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावना संस्कार इन गुणोंके निमित्तकारण होने से ये असमवायिकारण नहीं होते, अतः निमित्तकारणता इनका साधर्म्य है ॥ सूत्र (१९)।

संयोग, विभाग, उष्णस्पर्श, गुरुत्व, द्रवत्व, वेगनामक संस्कार इतने गुण असमवायिकारण तथा निमित्तकारण भी होते हैं, जैसे भेरीदण्डका संयोग शब्द में निमित्त कारण है, तथा भेरी तथा आकाश के संयोग में निमित्तकारण है, वंशदलों का विभाग शब्द में निमित्तकारण तथा वंशदल और आकाश के विभाग में असमवायिकारण है, उष्णस्पर्शपाकजरूपादिकार्य में निमित्तकारण हैं, और उनके उष्णस्पर्श में असमवायि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शेषाणामयावद्द्रव्यभावित्वं चेति ॥

रूपादीनां सर्वेषां गुणानां प्रत्येकमपरसामान्यसम्बन्धाद्रूपादिसञ्ज्ञा भवन्ति ॥

(२) रूपप्रकरणम् ।

तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम । पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति द्रव्याद्युपलम्भकं नयनसह-

---

कारण हैं, गुरुत्व अभिघातनादिक्रिया में निमित्त तथा पतन और गुरुत्व में असमवायी कारण है, द्रवत्वसंग्रह में निमित्तकारण, तथा द्रवत्व और स्यन्दन में असमवायिकारण है, इसीप्रकार वेग वेग तथा गमन में असमवायिकारण, तथा अभिघात में निमित्त-कारण है, अतः इन गुणों का असमवायिकारणत्व तथा निमित्तकारणत्व दोनों प्रकार से कारणत्वसाधर्म्य है । सूत्र (१९).

परत्व, अपरत्व, द्वित्वसंख्या, द्विपृथक्त्वत्रिपृथक्त्व इत्यादि गुणों का अकारणता साधर्म्य है ।

संयोग, विभाग, शब्द तथा आत्मा के बुद्धयादि विशेष गुणों का आश्रय में अव्याप्यवृत्तिता (व्याप्त होकर न रहना) साधर्म्य है ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग और स्थितिस्थापकसंस्कार, परत्व तथा अपरत्व इन गुणों का आधारद्रव्यों में व्याप्त होकर रहने के कारण व्याप्यवृत्तित्वसाधर्म्य है ।

अपाकज रूप, रस, गन्ध स्पर्श, परिमाण, पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग तथा स्थितिस्थापकसंस्कार, परत्व तथा अपरत्व इतने गुण जिस समय तक आधारद्रव्य रहता है तभी तक रहते हैं अर्थात् आश्रय के नाश से ही नष्ट होते हैं अतः इनका यावद्द्रव्यभावित्व साधर्म्य है । यहां पाकजरूपादिगुण आश्रय के रहते नष्ट हो जाते हैं इसलिये 'अपाकज' पदविशेषण दिया है ।

पदपदार्थ—शेषाणां = अवशिष्ट गुणों का, अयावद्द्रव्यभावित्वं च = आधारद्रव्य के रहने पर भी नाश होना भी, साधर्म्य है । इति = इस प्रकार साधर्म्यप्रकरण समाप्त है) । रूपादीनां = रूप इत्यादि, सर्वेषां = सम्पूर्ण चतुर्विंशति गुणानां = गुण-पदार्थों का, प्रत्येकं = प्रत्येक गुण में, अपरसामान्यसम्बन्धात् = गुणत्वव्याप्य (न्यूनवृत्ति) रूपत्वरसत्वादिजातिसम्बन्ध से, रूपादिसंज्ञा = रूपरस इत्यादि नाम, भवन्ति = होते हैं ।

(२) रूपप्रकरण ।

तत्र = उन चतुर्विंशतिगुणोंमेंसे, रूपं = रूप नामक गुण, चक्षुर्ग्राह्यम् = चक्षुइन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है । पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति = जो पृथिवी जल तथा तेज द्रव्य में रहता है । द्रव्याद्युपलंभकं = द्रव्यादिकों का चाक्षुषप्रत्यक्षजनक है, नयनसह-कारि = चक्षुरिन्द्रिय से होनेवाले प्रत्यक्ष में नेत्रों की सहायता करता है, शुक्लाद्यनेक-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कारि शुक्लाद्यनेकप्रकारं सलिलादिपरमाणुषु नित्यं पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगविरोधि सर्वकार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वकम् आश्रयविनाशादेव विनश्यतीति ॥

प्रकारं=श्वेतरक्त इत्यादि भेद से अनेक प्रकार का है, सलिलादिपरमाणुषु = जलादि द्रव्यों के परमाणुओं में, नित्यं = नित्य है, पार्थिवपरमाणुषु = पृथिवी के परमाणुओं में, अग्निसंयोगविरोधि = अग्नि संयोग से नष्ट होता है, सर्वकार्यद्रव्येषु = सम्पूर्णकार्यद्रव्यों में, कारणगुणपूर्वक = कारण के गुणों से उत्पन्न होता है, आश्रयविनाशादेव = आधारद्रव्य के नाश ही से, विनश्यति = नष्ट होता है । इति = इस प्रकार रूपनिरूपण है ।

भाषाभाष्य—इस प्रकार गुणों के साधर्म्यनिरूपण के पश्चात् उनके परस्पर वैधर्म्यवर्णनार्थ भाष्यकार कहते हैं कि रूपरस इत्यादि गुणों की प्रत्येक गुण में गुणत्व से न्यून-रूपत्व इत्यादि अपर जातियों के समवाय सम्बन्ध के कारण 'रूप' 'रस' इत्यादि संज्ञा होती हैं । अर्थात् रूपत्वरसत्व इत्यादि जातियों के निमित्त होनेवाली 'रूपरस' इत्यादि संज्ञा रूप आदि चतुर्विंशतिगुणों का परस्पर विरुद्ध धर्म है । नील रक्त इत्यादि विशेष रूपों में 'रूपं रूपं' इस प्रकार के ज्ञान की एकाकार बुद्धि से रूपत्व जाति की सिद्धि होती है यह आगे कहा जायगा ।

चतुर्विंशति गुणों में रूप ही सम्पूर्ण पदार्थों के अभिव्यक्ति (प्रकाश होने) में कारण है इसलिये सब से प्रथम रूप गुण का निरूपण करते हुए भाष्यकार उसका लक्षण करते हैं कि जो गुण होते हुए केवल चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत होता है उसे रूप कहते हैं । यदि 'गुण होते हुए' यह विशेषण न दिया जाय तो 'जिस इन्द्रिय से जिसका प्रत्यक्ष होता है उसमें रहने वाली जाति का भी उसी से ग्रहण होता है' ऐसा नियम होने से रूपत्वजाति में भी चक्षुग्राह्यता होने से अतिव्याप्ति दोष होगा, अतः उसके वारण के लिये 'गुण' पद दिया है । तथा 'चक्षुर्ग्राह्य गुण रूप है' ऐसा लक्षण किया जाय तो संख्या में भी चक्षुर्ग्राह्यता होने से पुनः अति प्रसंग दोष होगा, अतः उसके निरासार्थ 'मात्र' पद अर्थात् केवल चक्षु से ग्राह्य गुण को रूप कहते हैं ऐसा लक्षण किया है, संख्या का अन्धे को त्वगिन्द्रिय से भी ग्रहण होता है अतः उक्त लक्षण न जाने से उक्त दोष का निवारण हो जाता है । यह रूप नामक गुण पृथिवी, जल, तथा तेज इन द्रव्यों में रहता है; तथा जिस आधार मे रूप रहता है उस आधार द्रव्य तथा उस के गुण, क्रिया, तथा जाति का भी प्रत्यक्ष कराना यह उसका कार्य है । यहां गुणपद से संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह तथा वेग इतने गुण लेना चाहिये क्योंकि इनका प्रत्यक्ष भी रूप वाले प्रत्यक्ष होने योग्य द्रव्यों में होता है । तथा यह रूप गुण, नेत्र रूप इन्द्रियकारण से द्रव्य का प्रत्यक्ष में सहायक है । और यह (रूप नामक गुण जल तथा तेज के परमाणुओं में नित्य है किन्तु पृथिवी के परमाणुओं में अग्नि संयोग से श्याम रूप गुण का नाश तथा रक्त रूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) रसप्रकरणम् ।

रसो रसनग्राह्यः । पृथिव्युदकवृत्तिः जीवनपुष्टिबलारोग्यनिमित्तम् रसनसहकारी मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायभेदभिन्नः । अस्यापि नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयो रूपवत् ।

(४) गन्धप्रकरणम् ।

गन्धो घ्राणग्राह्यः । पृथिवीवृत्तिः घ्राणसहकारी सुरभिरसुरभिश्च । अस्यापि पूर्ववदुत्पत्त्यादयो व्याख्याताः ।

(५) स्पर्शप्रकरणम् ।

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः । क्षित्युदकज्वलनपवनवृत्तिः त्वकसहकारी रूपानु-

---

का उत्पादक होने से अनित्य है, तथा संपूर्ण कार्य द्रव्यों में कारण गुणों से उत्पन्न होता है तथा आश्रय द्रव्य के नाश ही से नष्ट होता है, न कि अवयवी में पाक मानने वाले षोडशपदार्थवादि नैयायिकों के समान अग्नि संयोग से भी यह जान लेना । सूत्र—३२६, १६४, ४९, ५०, ५१, १६२, २५९, २६०, २५८, २६१ २६२, २६३ ।

(३) रसप्रकरण ।

पदपदार्थ—रसः = रस नामक गुण, रसनग्राह्यः = रसनेन्द्रिय (जिह्वा) से प्रत्यक्ष होता है । पृथिव्युदकवृत्तिः = पृथिवी तथा जल में रहता है, जीवनपुष्टिबलारोग्यनिमित्तम् = जीवन, पुष्टि (शरीर के अवयवों की वृद्धि) बल, निरोगता इनका कारण है, रसनसहकारी = रासन प्रत्यक्ष में जिह्वा का सहायक है, मधुराम्ललवण तिक्तकटुकषायभेदभिन्नः = मधुर (मीठा) आम्ल (खट्टा) लवण (खारा) तिक्त (तीता) कटु (कड़ुवा) कषाय इस भेद से ६ प्रकार का है । अस्यापि = इस रस की भी, नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः = नित्यानित्यादि भेद की सिद्धि, रूपवत् = रूप गुण के समान जानना ।

(४) गन्धप्रकरण ।

गन्धः = गन्ध नामक गुण, घ्राण ग्राह्यः = घ्राणेन्द्रिय (नाक) से प्रत्यक्ष होता है । पृथिवीवृत्तिः = पृथिवी में रहता है, घ्राणसहकारी = गन्धज्ञानमें घ्राणेन्द्रिय का सहायक है । सुरभिः = जो सुगन्ध, असुरभिः च = और दुर्गन्ध दो प्रकार का होता है । अस्यापि = इसगन्ध के भी, पूर्ववत् = रस के समान, उत्पत्त्यादयः = उत्पत्ति इत्यादि, व्याख्याताः = कही गई हैं ।

(५) स्पर्शप्रकरण ।

पदपदार्थ—स्पर्शः स्पर्शनामक गुण, त्वगिन्द्रियग्राह्यः = त्वग् नामक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, क्षित्युदकज्वलनपवनवृत्तिः = पृथिवी, जल, तेज तथा वायु द्रव्य में रहता है । त्वक्सहकारी = त्वाच प्रत्यक्ष में त्वगीन्द्रियका सहायक है, रूपानुविधायी =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधायो शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात् त्रिविधः । अस्यापि नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः पूर्ववत् ।

(६) पाकजप्रकरणम् ।

पार्थिवपरमाणुरूपानीनां पाकजोत्पत्तिविधानम् ; घटादेरामद्रव्यस्याग्निना

रूप के साथ रहने वाला, शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात् = शीत (ठंडा) उष्ण (गरम) तथा अनुष्णाशीता न ठंडा न गरमसमानस्वभाव) ऐसे भेद से, त्रिविधः = तीन प्रकार है । अस्यापि = इस स्पर्श के भी, नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः = नित्यअनित्य इत्यादि भेद, पूर्ववत् = रस के समान हैं ।

भाषाभाष्य—क्रमप्राप्त रस गुण का लक्षण भाष्य में इस प्रकार दिखाते हैं कि जिस गुण का रसनेन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो उसे रस कहते हैं । यह गुण पृथिवी तथा जल दोही द्रव्यों में रहता है, तथा जीवन (जोना) शरीर के हस्तपादादि अवयवों की वृद्धि, वल, तथा निरोगता का कारण है, और रस तथा उसमें समवेत रसत्व जाति के प्रत्यक्ष में रसनेन्द्रिय का सहायक है जो मधुर, आम्ल (खट्टा) लवण, (खारा) तिक्त (तीता) कटु (कड़ुआ) तथा कषाय भेद से छ प्रकार है । इस रस की भी रूप के समान नित्य अनित्य इत्यादि व्यवस्था जान लेना । अर्थात् रस भी पार्थिव परमाणुओं में अग्नि संयोग से उत्पन्न तथा नष्ट होता है, तथा जल परमाणुओं में नित्य है, कार्य जल में कारण गुण से उत्पन्न होता है और आश्रय के नाश से नष्ट होता है । सूत्र १६५, ३२६, ४९, ५०, तथा २५८ सूत्र से २६३ सूत्र तक देख लेना ।

इसके अनंतर गन्ध गुण का लक्षण यह है कि जिस गुण का घ्राणेन्द्रिय (नाक) से प्रत्यक्ष हो उसे गन्ध कहते हैं, यह केवल पृथिवी में समवाय सम्बन्ध मे रहता है, तथा गन्ध प्रत्यक्ष में घ्राणेन्द्रिय की सहायता करता है । जिसके सुगन्ध दुर्गन्ध ऐसे दो भेद हैं । इस गन्धगुण की भी उत्पत्ति इत्यादि रस के समान जान लेना । गन्ध के नित्य न होने से उत्पत्ति नाश इत्यादिकों का ही यहां ग्रहण किया है । सूत्र—१६५, ३२५, ४९, ८१, तथा २५८ सूत्र से २६३ सूक्त तक देखना ।

गन्ध के पश्चात् क्रमप्राप्त स्पर्श गुण का लक्षण भाष्य में दिखाते हैं कि जिस गुण का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो उसे स्पर्श कहते हैं । इसके पृथिवी, जल, तेज तथा वायु चार द्रव्य आधार हैं, तथा यह उष्णादि स्पर्श के त्वाच प्रत्यक्ष होने में त्वगिन्द्रिय का सहायक है, तथा रूपाश्रय द्रव्य में नियम से स्पर्श गुण के सद्भाव होने से रूप का व्यापक है । जिसके शीत, उष्ण तथा अनुष्णाशीत ऐसे तीन भेद हैं । इस स्पर्शगुण का भी नित्य तथा अनित्य इत्यादि भेद गन्ध में नित्यता न होने से रसगुण के समान समझ लेना चाहिये । सूत्र—१६५, ३२६, ४९, ५०, ५१,५२ तथा २५८ सूत्र से २६३ सूत्र तक देखना चाहिये ।

(६) पाकजप्रकरण ।

पदपदार्थ—पार्थिवपरमाणुरूपादीनां = पृथिवीपरमाणुओंके रूपरस इत्यादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्बद्धस्याग्न्यभिघातान्नोदनाद्वा तदारम्भकेष्वणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते तेभ्यो विभागाः विभागेभ्यः संयोगविनाशाः संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्यं विनश्यति। तस्मिन् विनष्टे स्वतन्त्रेषु परमाणुष्वग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षाच्छ्यामादीनां विनाशः पुनरन्यस्मादग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात् पाकजा जायन्ते। तदनन्तरं भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगादुत्पन्नपाकजेष्वणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगात् द्व्यणुकादिक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते। तत्र च कारणगुणप्रक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः। न च कार्यद्रव्य एव रूपाद्युत्पत्तिर्विनाशो वा सम्भवति सर्वावयवेष्वन्तर्बहिश्च वर्तमान-

---

गुणों का पाकजोत्पत्तिविधानम् = अग्निसंयोग से उत्पत्ति की विधि (प्रकार) ऐसा है। घटादेः = घट इत्यादि, आमद्रव्यस्य = अपरिपक्व (कच्चे) द्रव्य का, अग्निना = वह्नि से, (आवे में) सम्बद्धस्य = संयोगसम्बन्ध होने पर, अग्न्यभिघातात् = अभिघात नामक संयोग से, नोदनात् वा, अथवा नोदननामक संयोग से, तदारम्भकेषु = घटादिद्रव्य के जनक, अणुषु = परमाणुओं में, कर्माणि = नाशकक्रिया, उत्पद्यन्ते = उत्पन्न होती हैं, तेभ्यः = उन क्रियाओं से, विभागाः = परस्पर विभाग (परमाणुओं के) होते हैं, विभागेभ्यः = विभागों से, संयोगविनाशाः = पूर्वसंयोगों का नाश होता है, संयोगविनाशेभ्यः = उन पूर्व संयोगों के नाश से, च = और, कार्यद्रव्यं = द्वचणुक आदि जन्य द्रव्य, विनश्यति = नष्ट हो जाता है। तस्मिन् = उस कार्यद्रव्य के, विनष्टे = नष्ट होने पर, स्वतन्त्रेषु = स्वतन्त्र (केवल), परमाणुषु = परमाणुओं में, अग्निसंयोगात् = अग्निसंयोग होने पर, औष्ण्यापेक्षात् = उष्णता की अपेक्षा से, श्याम-इत्यादिपूर्वरूपों का नाश, पुनः = फिर, अन्यस्मात् = दूसरे अग्निसंयोगसे, औष्ण्यापेक्षात् = उष्णता की अपेक्षा रखते हुए, पाकजाः = अग्निसंयोग से बदले हुए रक्त रूपादिगुण उत्पन्न होते हैं। तदनन्तरं = इसके पश्चात्, भोगिनां = उन घटादि द्रव्यों का भोग करनेवाले प्राणियों के अदृष्टापेक्षात् = धर्माधर्म रूप अदृष्ट की अपेक्षा करनेवाले, आत्माणुसंयोगात् = व्यापक आत्मा तथा परमाणु के संयोग से, उत्पन्नपाकजेषु = पाकजरूपादि गुणवाले, अणुषु = परमाणुओं में कर्मोत्पत्तौ = उत्पादकक्रिया उत्पन्न होने पर, तेषां = उन पार्थिवपरमाणुओं के परस्परसंयोगात् = परस्पर के संयोग से, द्वचणुकादि क्रमेण = द्वचणुक त्र्यणुक इत्यादि अवयवि द्रव्य के क्रम से, कार्यद्रव्यं = घटादि रूप कार्यद्रव्य, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है। तत्र च = और उस द्रव्य में कारणगुणप्रक्रमेण = कारणगुण के अनुसार, रूपाद्युत्पत्तिः = रक्तादिरूप उत्पन्न होता है। न च = नहीं कार्य द्रव्य एव = घटादि रूप कार्य द्रव्य में ही, रूपाद्युत्पत्तिः = रक्तादि रूपकी पाकज उत्पत्ति, विनाशो वा = अथवा श्यामादिरूपका नाश, सम्भवति = हो सकता है, सर्वावयवेषु = सम्पूर्ण अवयवों में, अन्तः = भीतर, बहिः च = और बाहर भी, वर्तमानस्य = रहनेवाले अवयविद्रव्य की अग्निना = वह्नि से, व्याप्त्यभावात् = व्याप्ति न होने से, अणुप्रवेशात् अपि = परमाणुओं में अग्नि के प्रवेश से भी, च =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्याप्तिना व्याप्त्यभावाद् अणुप्रवेशादपि च व्याप्तिर्न सम्भवति कार्यद्रव्य-विनाशादिति ।

और व्याप्तिः = व्याप्ति, न = नहीं, सम्भवति = हो सकती, कार्यद्रव्यविनाशात् = कार्य द्रव्य के नाश होने की आपत्ति आने से, इति = इस प्रकार पाकजप्रक्रिया समाप्त है ।

भाषाभाष्य—पार्थिव परमाणुओं के रूपरस गन्ध तथा स्पर्श इन चार विशेष गुणों के उत्पत्ति तथा विनाश के प्रकार को देखाते हुए भाष्यकार उनकी पाकज (अग्निसंयोग से वदलने) की प्रक्रिया को कहते हैं अर्थात् कार्य रूप पृथिवी के कारण पृथिवी परमाणुओं में अन्यरूपादिगुणों के उत्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है कि घटफल इत्यादि आम (कच्चे) द्रव्यों का आवे में डालने पर अग्नि का सम्बन्ध होने से अर्थात् अग्नि के अभिघात अथवा नोदननामक संयोग से घटादिकों के जनक परमाणूओं में नाशकक्रिया उत्पन्न होकर उससे 'क्रिया क्रियातो विभागः' इस न्याय के अनुसार क्रिया से परमाणुओं का परस्पर के विभाग से पूर्वसंयोगनाश होकर उत्तर-देश में संयोग होने के क्षण में ही द्वयणुक का नाश होकर क्रम से पूर्वघटादि द्रव्य नष्ट हो जाते हैं । उनके नष्ट होने पर स्वतन्त्र केवल परमाणुओं उष्णता की अपेक्षा करनेवाले (अन्यथा ठण्डे होने पर वह अग्नि आगे के कार्य को नहीं कर सकेगा) अग्नि संयोग से घटादि द्रव्य के परमाणुओं में स्थित पूर्वश्यामादिरूप तथा रसगन्ध और स्पर्श का नाश होता है । पुनः उष्णता की अपेक्षा करनेवाले दूसरे अग्निसंयोग से पाकज रक्त, रूप, मधुर, रस आदि उत्पन्न होते हैं । 'इस पाकजो-त्पत्ति में क्या प्रमाण है ।' ऐसी शंका के उत्तर में रक्तादि रूपान्तर की उत्पत्तिपूर्व श्यामादि रूपों के नाश में, तथा पूर्व रूप का नाश अवयविद्वयणुकादिकों के नाश में प्रमाण है यह समाधान है । वह्निसंयोगरूप रूपविनाश तथा रूपोत्पत्ति के कारण-परस्पर भिन्न हैं क्योकि तन्तुरूपादिकों का नाश तथा उत्पत्ति भिन्न कारणवाले प्रत्यक्ष देखने में आते हैं । इस विषय में अधिक विस्तार कन्दली आदि व्याख्या ग्रन्थों में देखना चाहिये । इसके पश्चात् पुनः परिपक्व घटादिद्रव्यों से आगे सुख-दुःखादिभोग करनेवाले प्राणियों के धर्माधर्म रूप अदृष्ट की अपेक्षा से व्यापक आत्मा तथा परमाणुओं के संयोग से पाकजरक्तरूपादि गुण युक्त स्वतन्त्र परमाणुओं में उत्पादक क्रिया के उत्पत्ति से उनका परस्पर संयोग होकर द्वयणुकत्र्यणुकादिरूप अवयविद्रव्यों के क्रम से महावयविघटादिरूप कार्य द्रव्य उत्पन्न होता है, अर्थात् दो परमाणुओं से द्वयक, तीन द्वयणुकों से त्र्यसरेणु इत्यादि क्रम से घटरूपद्रव्य की उत्पत्ति होती है । और उसमें कारण गुण के अनुसार रक्तादि रूप उत्पन्न होता है । यहाँ पर पिठर (अवयवि) पाकवादि नैयायिक मत से घटादि रूप कार्य द्रव्यों मे अग्निसंयोग पूर्व श्यामादि रूप का नाश तथा रक्तादि रूप की उत्पत्ति होती है ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि सम्पूर्ण अवयवों में बाहर भीतर रहनेवाले 'घटादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(७) संख्याप्रकरणम् ।

एकादिव्यवहारहेतुः संख्या । सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च । तत्रैकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाणुरूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः ।

अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्धान्ता । तस्याः खल्वेकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरपेक्षाबुद्धिविनाशाद् विनाश इति । कथम् ? यदा बोद्धुश्चक्षुषा समानासमानजातीययोर्द्रव्ययोः सन्निकर्षे सति तत्संयुक्तसमवेतसमवे-

---

द्रव्य की अग्नि से व्याप्ति नहीं है, अर्थात् बाहर रहनेवाले अग्नि का सम्पूर्ण अवयवों में सम्बद्ध घटादि अवयवि द्रव्यों में व्यापक संयोग न होने से कार्यरूपोत्पत्ति तथा नाश के न बन सकने से भीतर रहनेवाले अवयवों में अपाकजत्व की आपत्ति आ जायगी । यदि नैयायिक कहें कि 'घटादि अवयवि द्रव्यों के सच्छिद्र होने से उनमें अग्नि के सूक्ष्म अवयवों का प्रवेश होने से प्राप्ति होने के कारण कार्यद्रव्य में रूपादि क्यों न बदलेंगे' तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि घने घटादि अवयविद्रव्यों में बिना अवयवों के विभक्त हुए तेज के परमाणुओं का प्रवेश नहीं हो सकता, इसलिये अलग होनेवाले अवयवों में क्रियाविभागादिन्याय से द्रव्य के आरम्भक संयोग का नाश मानना पड़ेगा, जिससे घटादिपूर्व द्रव्य नष्ट हुआ यह भी अवश्य मानना पड़ेगा अतः अवयविपाकज प्रक्रिया असङ्गत है । सूत्र २६२, २९०, १९९, २६३, १५९ ।

(७) संख्याप्रकरण ।

पदपदार्थ—एकादिव्यवहारहेतु = एक दो इत्यादि व्यवहार का कारण गुण, संख्या है । सा = वह संख्या, पुनः = और एक द्रव्य में आश्रित, च = और, अनेकद्रव्या च = अनेक द्रव्याश्रित भी है । तत्र च = और उन दोनों में से, एक द्रव्यायाः = एकद्रव्याधारसंख्या की, सलिलादि परमाणुरूपादीनां इव = जलादि द्रव्यों के परमाणुओं के रूपादिगुणों के समान, नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः = नित्य अनित्य आदि भेदसिद्धि जानना ।

अनेकद्रव्या तु = किन्तु अनेकद्रव्याश्रितसंख्या, द्वित्वादिका = दो से लेकर, परार्धान्ता = परार्धपर्यन्त होती है । तस्याः खलु = निश्चय से उस संख्या की, एकत्वेभ्यः = एकसंख्याओंसे, अनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यः = अनेक को विषय करनेवाली अपेक्षानामक बुद्धि की जो अपेक्षा रखती हैं, निष्पत्तिः = उत्पत्ति होती है, अपेक्षाबुद्धिविनाशात् = तथा 'अयमेकः = अयमेकः' यह एक यह एक इत्याकारक अपेक्षा बुद्धि के विनाश से, विनाशः = उन द्वित्वादिसंख्याओं का नाश होता है, इति = इस प्रकार द्वित्वादिसंख्या की उत्पत्ति नाश है ।

कथम् = किस प्रकार ! यदा = जिस समय, बोद्धुः = जाननेवाले के, चक्षुषा = नेत्र से, समानासमानजातीययोः = समानजाति के अथवा विजाति के, द्रव्ययोः = दो द्रव्यों का = सन्निकर्षे सति = संयोग होने पर, तत्संयुक्तसमवेतसमवेतैकत्वसामान्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तैकत्वसामान्यज्ञानोत्पत्तावेकत्वसामान्यतत्सम्बन्धज्ञानेभ्य एकगुणयोरनेकविषयिण्येका बुद्धिरुत्पद्यते ।

ज्ञानोत्पत्तौ = चक्षुसंयुक्त दोनों में प्रत्येक में समवेत एक संख्या में समवेत एकत्वजाति का ज्ञान उत्पन्न होने पर, एकत्वसामान्यतत्सम्बन्धज्ञानेभ्यः = एकत्वसंख्या उसमें रहनेवाली एकत्व जाति तथा पूर्वोक्त सम्बन्ध इनके ज्ञानों से, एकगुणयोः = एकसंख्यारूप दो गुणों की, अनेकविषयिणी = एक भिन्न दो या बहुतों को विषय करनेवाली, एका = एक, बुद्धिः = ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है।

भाषाभाष्य—क्रमप्राप्त संख्या नामक गुण का लक्षण करते हैं कि संसार में प्रसिद्ध एक दो तीन इत्यादि व्यवहार से संख्यानामक एक गुण सिद्ध होता है, अतः एक आदि व्यवहार के विशेष कारण गुण को संख्या कहते हैं यह संख्या का लक्षण सिद्ध होता है, अर्थात् एक दो तीन इत्यादि व्यवहार, विशेषण से हुआ है, विशिष्ट व्यवहार होने से, 'दण्डवान् पुरुष है इस व्यवहार के समान, इस अनुमान द्वारा 'एक घड़ा है' इत्याकारक व्यवहार में विशेषणस्वरूपसंख्यागुण सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि गणितमात्र के व्यवहार के असाधारण कारण गुणको संख्या कहते हैं। उक्त व्यवहार रूपादि गुणविषय नहीं हो सकते, क्योंकि यह व्यवहार रूपादिव्यवहार से विलक्षण विषय होता है तथा इस व्यवहारज्ञानको निर्विषय (विषयरहित) भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता।

उक्तलक्षण संख्यानामकगुण एकद्रव्य में वर्तमान, तथा एक भिन्न दो तीन द्रव्यों में वर्तमान ऐसा दो प्रकार का है। जिनमें से एक द्रव्याधारसंख्या नित्य तथा अनित्य दो प्रकार है इत्यादि जल तेज आदि द्रव्यों के परमाणुओं के समान समझ लेना। किन्तु अनेक द्रव्याधार संख्या द्वित्व संख्या से लेकर परार्धपर्यन्त अनेक है। उसकी अनेक (यह एक है यह एक है) एकविषयक इत्याकारक अपेक्षाबुद्धिसहित एक संख्याओं से उत्पत्ति होती है। यहां 'निष्पत्ति' पद से यह सूचित होता है कि द्वित्वादिसंख्या एकसंख्या का समुदायमात्रनहीं है किन्तु अवयवों से भिन्न अवयवीके समान, संख्यान्तर (भिन्न संख्या) हैं। (सू० २८२)। तथा अपेक्षाबुद्धि (यह एक है यह एक है) इत्याकारक ज्ञान के विनाश से द्वित्वादिसंख्या का विनाश होता है। द्वित्वादिसंख्या की उत्पत्ति तथा विनाश किस प्रकार होता है' इस प्रश्न के समाधानार्थ भाष्यकार उक्त द्वित्वसंख्यादिकों के उत्पत्ति तथा विनाश की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं कि जिस समय ज्ञाता आत्मा को चक्षुरिन्द्रिय से दो समान जाति के अथवा विजाति के, जैसे दो घट, या घट तथा पट ऐसे दो द्रव्यों का संयोग नामक सन्निकर्ष होता है, उस समय चक्षुरिन्द्रिय से संयुक्त उन दोनों प्रत्येक द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली एकसंख्यारूपगुण में समवायसम्बन्ध से वर्तमान जो एकत्वजातिरूपविशेषण उसका ज्ञान उत्पन्न होने पर (क्योंकि विशेष्य ज्ञान में विशेषण ज्ञान कारण है) एकत्वजाति तथा उसके पूर्वोक्त सम्बन्ध ज्ञानों से अनेक को विषय करनेवाली यह एक है यह एक है' इस प्रकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदा तामपेक्ष्यैकत्वाभ्यां स्वाश्रययोर्द्वित्वमारभ्यते, ततः पुनस्तस्मिन् द्वित्व-सामान्यज्ञानमुत्पद्यते तस्माद् द्वित्वसामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनश्यत्ता द्वित्व-सामान्यतत्सम्बन्धतज्ज्ञानेभ्यो द्वित्वगुणबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः। तत इदानीमपेक्षाबुद्धिविनाशाद्द्वित्वगुणस्य विनश्यत्ता, द्वित्वगुणज्ञान द्वित्व-सामान्यज्ञानस्य विनाशकारणं द्वित्वगुणतज्ज्ञानसम्बन्धेभ्यो द्वे द्रव्ये इति द्रव्यबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः।.

अपेक्षा बुद्धि उत्पन्न होती है, अर्थात् एकत्वजातिविशिष्ट एक संख्यागुणसमुदाय रूप जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे ही अपेक्षाबुद्धि कहते हैं। उक्त संख्या प्रकरण में सर्वत्र भाष्यकार ने 'एकत्व' पदका 'भावप्रधान निर्देश' किया है, अर्थात् एक संख्या के एकत्व भाव (धर्म) को लेकर एक संख्या कही है, और इसी कारण उस एक संख्या के धर्म को 'एकत्वत्व' पद से वर्णन किया है यह जान लेना चाहिये। इसी प्रकार 'द्वित्वा-दिपदका भी भाव प्रधान निर्देश लेकर' दो इत्यादि संख्या में द्वित्वपद तथा उसमें रहनेवाली जातियों का 'द्वित्वत्व' इत्यादिपद से भाषा में वर्णन है यह भी जानना चाहिये।

पदपदार्थ—तदा = उक्त 'यह एक है' इत्याकारक अपेक्षा बुद्धि की उत्पत्ति के समय के पश्चात्, तां = उस अपेक्षा बुद्धि को, अपेक्ष्य = अपेक्षाकर, एकत्वाभ्यां = दो एक संख्याओं से, स्वाश्रययोः = उसके आधार रूप दो घट, या घट, तथा पट इन दोनों में, द्वित्वं = दो सख्या, आरभ्यते = उत्पन्न होती है ततः पुनः = अनन्तर उस संख्यासे, तस्मिन् = उस द्वित्व संख्या गुण में, द्वित्वत्वसामान्यज्ञानं = द्वित्वत्वरूप जाति का ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तस्मात् = उस द्वित्वसामान्यज्ञानात् = द्वित्वत्व सामान्य ज्ञान से, अपेक्षाबुद्धेः = अपेक्षा बुद्धि की, विनश्यत्ता = विनश्यत् अवस्था होती है, द्वित्वसामान्यतत्सम्बन्धतज्ज्ञानेभ्यः = द्वित्वत्व सामान्य उसका सम्बन्ध तथा उसके ज्ञानों से, द्वित्वगुणबुद्धेः = द्वित्व संख्या रूप गुण ज्ञान की, उत्पद्यमानता = उत्पद्यमान अवस्था होती है, इति = यह, एकः = एक, कालः = काल है। ततः = इसके पश्चात्, इदानीं = इस समय, अपेक्षाबुद्धिविनाशात् = अपेक्षा बुद्धि के विनाश से, द्वित्वगुणस्य = द्वित्वसंख्या रूप गुणकी = विनश्यत्ता = विनश्यदवस्था होती है, द्वित्वगुण ज्ञानं = द्वित्वसंख्या रूप गुण का ज्ञान, द्वित्वत्वसामान्यज्ञानस्य = द्वित्वत्व रूप जाति के ज्ञान का, विनाशकारणं = नाशका कारण है, द्वित्वगुणतज्ज्ञानतत्सम्बन्धेभ्यः = द्वित्वसंख्या रूप गुण, उस का ज्ञान तथा उसके सम्बन्धों से, द्वे द्रव्ये = दो द्रव्य हैं, इति = इस, द्रव्य बुद्धेः = द्रव्य ज्ञान की, उत्पद्यमानता = उत्पद्यमान अवस्था होती है, इति = यह, एकः = एक, कालः = काल है।

भाषाभाष्य—उक्त रूप 'यह एक है यह एक है' इत्याकारक अपेक्षा बुद्धि की अपेक्षा से उन दोनों एकत्व संख्याओं से उसके आधार दो घट अथवा घट तथा पट में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदनन्तरं द्वे द्रव्ये इति द्रव्यज्ञानस्योत्पादः द्वित्वस्य विनाशः द्वित्वगुण-

---

द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है । वह अपेक्षा बुद्धि द्वित्व संख्या की उत्पादक है यह— अपेक्षा बुद्धि, द्वित्वसंख्या की उत्पादक है, व्यंजकत्व न होने से अपेक्षा बुद्धि से अनुगत होने से शब्द में संयोग तथा विभाग से अनुगत होने से संयोग तथा विभाग में शब्द-जनकता के समान, इस अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है । (यहां पर द्वित्वाश्रय दोनों द्रव्य, द्वित्वसंख्या की उत्पत्ति में समवायिकारण, दो एकत्व गुण असमवायि कारण, तथा अपेक्षा बुद्धि निमित्त कारण है यह जान लेना चाहिये)। इसके पश्चात् पुनः, उस द्वित्व संख्या में वर्तमान 'द्वित्वत्व' सामान्य रूप विशेषण का ज्ञान उत्पन्न होता है. पश्चात् उस द्वित्वत्व सामान्य के ज्ञान से अपेक्षा बुद्धि विनाश कारण के समीप होने से विनश्यदवस्था में प्राप्त होती है, अनंतर द्वित्वत्व सामान्य उसका समवाय सम्बन्ध तथा उसके ज्ञान से द्वित्व गुण ज्ञान (उत्पत्ति कारण के संनिहित होने से) उत्पद्यमानता अवस्था में आता है, इतनी शक्तियाँ एक काल में होती हैं। अर्थात् द्वित्वत्व सामान्य ज्ञान अपेक्षा बुद्धि का विनाशक तथा गुण बुद्धि का जनक भी है इस कारण उत्पादक तथा नाशक के एक होने के कारण एक ही यह काल है यह सिद्ध होता है। तत्पश्चात् इस क्षण में अपेक्षा बुद्धि के विनाश से द्वित्वसंख्या रूप गुण (विनाश कारण के सान्निध्य से) विनश्यदवस्था प्राप्त होता है । (यहाँ पर मुक्ति काल में शरीर विनाश के कारण से ही अन्तिमतत्त्वज्ञान का नाश होता है यह जैसे सर्वमत से सिद्ध है उसी प्रकार अपेक्षा बुद्धि का नाश द्वित्वनाश का कारण है यह कहा गया है क्योंकि निमित्त कारण से भी गुण नाश माना गया है ।) तथा द्वित्व संख्या रूप गुण का ज्ञान द्वित्वत्व सामान्य ज्ञान के विनाश को करता है (यहां पर एक ज्ञान के दूसरे ज्ञान का विरोधी होने से द्वित्व संख्या रूप गुण के ज्ञान को द्वित्वत्व सामान्य ज्ञान का नाशक कहा गया है । और एक काल में उनके होने से उन दोनों में विनश्यत् अवस्था भी एक काल में प्राप्त होती है यह जान लेना चाहिये । उक्त द्वित्वसंख्या रूप गुण, उसका ज्ञान, तथा उसके सम्बन्ध से 'द्वे द्रव्ये' दो घट, हैं या घट तथा पट दो हैं इस प्रकार द्रव्य ज्ञान (उत्पत्ति कारण के संनिहित होने से) उत्पद्यमानता अवस्था को प्राप्त होता है यह प्रक्रिया भी एक ही काल में होती है क्योंकि द्वित्वत्व सामान्य ज्ञान का विनाशक द्वित्वसंख्या रूप गुण ज्ञान ही उक्त द्रव्य ज्ञान का भी कारण है इस कारण गुण बुद्धि की उत्पत्ति ही एक की उत्पद्यमानता तथा दूसरे की विनश्यता वह भी इसी समय में होती है अतः एक ही काल है यह सिद्ध होता है ।

पदपदार्थ—तदनंतरं = उसके पश्चात्. द्वे द्रव्ये = दो द्रव्य हैं, इति = इस प्रकार, द्रव्यज्ञानस्य = द्वित्व विशिष्ट द्रव्य ज्ञान की, उत्पादः = उत्पत्ति होती है, द्वित्वस्य = द्वित्वसंख्या रूप गुण का, विनाशः = नाश होता है, द्वित्वगुणबुद्धेः = द्वित्वसंख्या रूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

बुद्धेर्विनश्यत्ता, द्रव्यज्ञानात् संस्कारस्योत्पद्यमानतेत्येकः कालः तदनन्तरं द्रव्यज्ञानाद् द्वित्वगुणबुद्धेर्विनाशो द्रव्यबुद्धेरपि संस्कारात्।

एतेन त्रित्वाद्युत्पत्तिरपि व्याख्याता। एकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरपेक्षाबुद्धिविनाशाच्च विनाश इति।

गुण ज्ञान की, विनश्यत्ता = विनाशाभिमुख अवस्था होती है, द्रव्यज्ञानात् = द्वित्वविशिष्ट उक्त द्रव्य ज्ञान से, संस्कारस्य = भावना नामक स्मृति कारण संस्कार की, उत्पद्यमानता = उत्पत्ति अभिमुख अवस्था होती है, इति = यह, एकः = एक, कालः = काल है। तदनन्तरं = इसके पश्चात्, द्रव्यज्ञानात् = उक्त द्रव्यों के ज्ञान से, द्वित्वगुणबुद्धेः = द्वित्वसंख्या रूप गुणबुद्धि का, विनाशः = नाश होता है, द्रव्यबुद्धेः = उक्तद्वित्वविशिष्ट-द्रव्यज्ञानका, अपि = भी, संस्कारात् = भावना संस्कार से, नाश हो जाता है।

एतेन = द्वित्वोत्पत्तिविनाश के कथन से, त्रित्वाद्युत्पत्तिः अपि, त्रित्वचतुष्ट इत्यादि संख्याओं की उत्पत्ति भी व्याख्याता = व्याख्या की गई॥ एकत्वेभ्यः = एक संख्याओं से, अनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यः = जो अनेक द्रव्यविषयक अपेक्षा बुद्धि सहित हैं; निष्पत्तिः = त्रित्वादिसंख्याओं की उत्पत्ति, अपेक्षाबुद्धिविनाशात् च = और उक्त अपेक्षा बुद्धि के विनाश से, विनाशः = त्रित्वादिसंख्या का विनाश होता है, इति = इस प्रकार।

भाषाभाष्य—उसके पश्चात् यह एक में दो घट हैं या दो घट तथा पट है इत्याकारक द्वित्व गुण विशिष्ट द्रव्य ज्ञान की उत्पत्ति होकर पूर्वोक्त द्वित्वगुण, उसका ज्ञान, तथा उसके सम्बन्धों से द्वित्वसंख्या रूप गुण का नाश हो जाता है, तथा द्वित्वसंख्या रूप गुण ज्ञान नाशक के समीप होने से विनश्यत् अवस्था में प्राप्त होता है, तथा द्वे द्रव्ये (दो द्रव्य हैं) इत्याकारक द्वित्वविशिष्टद्रव्य ज्ञान से कालान्तर में होने वाले दो द्रव्यों को दो घट या घट तथा पट को मैंने देखा था ऐसे स्मरण के कराने वाले भावना नामक संस्कार में उत्पन्न होने के सम्मुख अवस्था प्राप्त होती है यह प्रक्रिया एक ही काल में होती है, क्योंकि द्रव्यज्ञान ही संस्कार का उत्पादक है तथा वही द्वित्व-संख्या रूप गुण का नाशक है, इस कारण द्वित्वगुण ज्ञान की विनश्यदवस्था, तथा संस्कार की उत्पद्यमानावस्था एक ही काल में होती है, यह भी एक काल है। इसके पश्चात् (द्वित्वनाश के अनंतर) उक्तद्वित्वविशिष्ट द्रव्यज्ञान से द्वित्वसंख्या रूपगुण बुद्धि का विनाश तथा भावनासंस्कार की उत्पत्ति होती है जिससे कालान्तर में दो थे ऐसा स्मरण होता है, और वह भावना नामक संस्कार उस समय में 'द्वे द्रव्ये' दो घट हैं या घटपट दो हैं इस प्रकार के द्वित्वविशिष्ट बुद्धि को नष्ट कर देता है। यदि संस्कार से द्रव्य बुद्धि नष्ट हो जाती है' इसमें क्या प्रमाण! ऐसी शंका हो तो उसका उत्तर यह है कि कोई भी कार्य आकस्मिक उपलब्ध नहीं होता इसलिये भावनासंस्कार द्रव्यज्ञान के विनाश का कारण है यह निश्चित है, कालान्तर में 'दो देखे थे' ऐसा स्मरण होने के कारण भावना-संस्कार माननी आवश्यक है। यही संस्कार से द्रव्य ज्ञान का नाश होने में प्रमाण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्वचिच्चाश्रयविनाशादिति । कथम् ? यदैकत्वाधारावयवे कर्मोत्पद्यते

इस प्रकार द्वित्वसंख्या को उत्पत्ति तथा विनाश की प्रक्रिया दिखाकर उसी का त्रित्वादिसंख्या के उत्पत्ति तथा विनाश की प्रक्रिया का अतिदेश भाष्यकार करते हैं कि इस द्वित्वसंख्या की उत्पत्ति तथा विनाश की प्रक्रिया के समान त्रित्वादिसंख्याओं का भी अनेक विषयक बुद्धि सहित अनेक एकत्वज्ञानरूप अपेक्षा बुद्धि से त्रित्वादिसंख्या उत्पन्न होती है तथा उक्त अपेक्षा बुद्धि के नाश से त्रित्वादिसंख्या का भी विनाश होता है यह । अक्षरों का अर्थ पूर्ववत् कर लेना । यहाँ पर द्वित्वादिसंख्या के उत्पत्ति तथा नाश की प्रक्रिया का संक्षिप्त प्रकार यह है कि प्रथमतः दो या तीन द्रव्यों का चक्षुरादि इन्द्रियों से सन्निकर्ष होता है उससे एकत्वत्व सामान्यज्ञानपूर्वक 'यह एक है यह एक है' ऐसी अपेक्षा बुद्धि होती है, उससे द्वित्वसंख्या उत्पन्न होने के पश्चात्, द्वित्वत्व जाति ज्ञानपूर्वक द्वित्वसंख्यारूपगुण का ज्ञान होता है, उससे दो द्रव्यों का ज्ञान लेकर कालान्तर में स्मरण की जनक भावनासंख्या उत्पन्न होता है यह द्वित्वादिसंख्या की उत्पत्ति का क्रम है । विनाश क्रम इस प्रकार है कि पूर्वोक्त अपेक्षा बुद्धि से द्वित्वगुण की उत्पत्ति के समय में एकत्वत्व सासान्यज्ञान का नाश होता है क्योंकि अपेक्षाबुध्यात्मक ज्ञान से भिन्न संपूर्ण ज्ञान तृतीय क्षण में नष्ट हो जाते हैं, तथा द्वित्वगुण बुद्धि के समय द्वित्वत्वसामान्यज्ञान से चतुर्थक्षण में अपेक्षा बुद्धि नष्ट होती है, तथा द्वित्वगुण ज्ञान से द्वित्वत्वसामान्यज्ञान का नाश होता है, और द्रव्यज्ञान के समय अपेक्षा बुद्धि नाश से द्वित्वगुण का नाश होकर, संस्कार के उत्पत्ति की समय द्रव्यज्ञान से द्वित्वगुण ज्ञान का नाश होता है, और उसके पश्चात् भावनासंस्कार से तत्कालीन द्रव्य बुद्धि नष्ट हो जाती है, जिस संस्कार से कालान्तर में मैने दो घट देखे थे ऐसा स्मरण होता है, जिस से यह सिद्ध होता है कि दो द्रव्यों का कालान्तर में स्मरण होना ही भावनासंस्कार में, तथा दो द्रव्यों का ज्ञान द्वित्वसंख्या रूपगुण के ज्ञान में, तथा द्वित्वत्वसामान्यज्ञान होने में द्वित्वगुण के ज्ञान का कारण है इत्यादि जान लेना चाहिये । इसी से शत (सौ) इत्यादि संख्या की उत्पत्ति का भी प्रकार जान लेना । जैसे प्रत्येक अनुभव किये एकेक संख्यारूप गुणों में क्रम से होने वाले भावनासंस्कारों की अन्तिम एक संख्या के अनुभव के अनन्तर शतसंख्या व्यवहार के प्रवर्तक अदृष्टवश से एक काल में अभिव्यक्ति होकर अनेक विषयक एक स्मरण उत्पन्न होकर अनुभव तथा स्मरण रूप अपेक्षा बुद्धियो से उसके आधार द्रव्यों में शत संख्या उत्पन्न होती है, तथा संपूर्ण सौ द्रव्यों के संस्कार सहित उस शतसंख्या का अन्तिम द्रव्य में संयुक्त इन्द्रियजन्य ज्ञान से प्रत्यक्ष होता है ।

पदपदार्थ—क्वचित् च=और कहीं पर, आश्रय विनाशात् अपि=आधार के नाश से भी नष्ट होती है । कथम्=किस प्रकार ! यदा=जिस समय, एकत्वाधारावयवे=एक संख्या के आश्रय द्रव्य के अवयव में, कर्म=नाशक क्रिया, उत्पद्यते=

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदैवैकत्वसामान्यज्ञानमुत्पद्यते कर्मणा चावयवान्तराद्विभागः क्रियते अपेक्षाबुद्धश्चोत्पत्तिः। ततो यस्मिन्नेव काले विभागात् संयोगविनाशस्तस्मिन्नेव काले द्वित्वमुत्पद्यते संयोगविनाशाद् द्रव्यविनाशः. सामान्यबुद्धेश्चोत्पत्तिः। ततो यस्मिन्नेव काले सामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनाशः तस्मिन्नेव काले आश्रयविनाशाद् द्वित्वविनाश इति शोभनमेतद्विधानम् बध्यघातकपक्षे, सहानवस्थानलक्षणे तु विरोधे द्रव्यज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गः। कथम्? गुणबुद्धिसमकालमपेक्षाबुद्धिविनाशाद् द्वित्वविनाशे तदपेक्षस्य द्वे द्रव्ये इति द्रव्यज्ञानस्यानुत्पत्तिप्रसङ्ग इति।

उत्पन्न होती है, तदैव = उसी समय, एकत्वसामान्यज्ञानम् = एकत्वसामान्यरूप विशेषण का ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, कर्मणा च = और उक्त नाशक कर्म से, अवयवान्तरात् = क्रियाधारद्रव्य का दूसरे अवयव से, विभागः = विभाग, क्रियते = होता है, अपेक्षाबुद्धेः च = और उक्त सामान्य ज्ञान से, अपेक्षाबुद्धेः च = और यह एक है यह एक है इस प्रकार अपेक्षाबुद्धि की, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है। ततः = उसके पश्चात् यस्मिन् एव = जिस समय में, विभागात् = उक्त अवगव विभाग से, संयोगनाशः = अवयवों के पूर्व उत्पादक संयोग का नाश होता है तस्मिन् एव = उसी समय में द्वित्व = द्वित्व संख्या, उत्पद्यते = उप्पन्न होती है संयोगविनाशात् = उक्त पूर्व संयोग के नाश से द्रव्य विनाशः = द्व्यणुक रूप द्रव्य का नाश, सामान्य बुद्धेः च = उस द्वित्व संख्या में द्वित्वत्व रूप सामान्य के ज्ञान की भी, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है, ततः = उसके अनन्तर, यस्मिन् एव = जिस समय में, सामान्यज्ञानात् = उक्त सामान्य ज्ञान से, अपेक्षाबुद्धेः = उक्त अपेक्षाबुद्धि का, विनाशः = विनाश, होता है, तस्मिन् एव = उसी, काले = काल में आश्रयविनाशात् = आधारद्रव्य के विनाश से, द्वित्व विनाश = द्वित्वसंख्या का विनाशः = विनाश होता है, इति इस प्रकार की शोभनम् = अच्छी है, एतत् = यह, विधानम् = प्रक्रिया, वध्यघातकपक्षे = ज्ञानों के परस्पर नाश्य तथा नाशक पक्षमें, सहानवस्थानलक्षण विरोधेतु = ज्ञानों के साथ न रहने रूप, विरोधे तु = विरोधपक्ष में तो, द्रव्यज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गः = दो द्रव्य हैं इस ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

भाषाभाष्य—उक्त प्रकार से संख्या के नाश का नियत कारण का वर्णन कर साधारण कारण का निरूपण करते हैं कि आधार के नाश से भी संख्या विनाश होता है। कैसे? इस प्रश्नपूर्वक उसका प्रकार दिखाते हैं। यह प्रक्रिया द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी विभाग की जनकक्रिया के समानकाल में एक संख्या मे रहनेवाली एकत्वजाति का ज्ञान माना जाता है, अर्थात् संख्याधार द्रव्य की नाशक क्रिया के समय अपेक्षा बुद्धि का आरम्भ माना जाय इस मत से यह संख्यानाश की प्रक्रिया कही गई है। जिस समय एक संख्या के आश्रय द्रव्य में नाशक क्रिया होती है उसी समय एकत्व सामान्य रूप विशेषण ज्ञान होता है और नाशक क्रिया से आधार द्रव्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizaqtion by eGangotri

के अवयवों का विभाग होता है और उक्त सामान्य ज्ञान से यह एक यह एक ऐसी अपेक्षा बुद्धि होती है, और जिसी समय उक्त अवयवों के विभाग से उत्पादकपूर्व संयोग का नाश होता है उसी समय द्वित्वसंख्या की उत्पत्ति होती है, तथा पूर्वसंयोग नाश से द्वयणुकादिकों का क्रम से नाश होता है, तथा द्वित्वादिरूपसामान्यज्ञान से अपेक्षा-बुद्धि नष्ट हो जाती है, उसी समय द्वयणुकरूप आधार द्रव्य के नाश से द्वित्वसंख्या का नाश होता है, अर्थात् जिस क्रम से अवयवकर्म तथा सामान्य ज्ञान होते हैं उसी क्रम से विभाग तथा अपेक्षाबुद्धि होती है १, पश्चात् संयोगनाश तथा द्वित्वोत्पत्ति होती है और द्रव्यनाश तथा द्वित्वसामान्य ज्ञान होता है २, और उन दोनों से द्वित्वनाश तथा अपेक्षाबुद्धि नाष्ट होते हैं, यह क्रम से जानना। यह प्रक्रिया नाशक क्रिया के समय अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति मानने से भी आश्रय नाश से संख्या नाश मानने की उपलक्षण (जनाने वाली) है यह समझ लेना चाहिये। यहां पर—'उत्तर-उत्तर ज्ञानों की पूर्व-पूर्व ज्ञान की नाशकता, पाकज पूर्वश्याम रूप तथा उत्तर रक्त रूप जैसे साथ नहीं रहते उस प्रकार साथ न रहने रूप 'सहानवस्थान' पक्ष से ली गई है, अथवा अग्निसंयोग रूप नाशक है श्याम रूप नाश्य है, इस प्रकार नाश्य नाशक पक्ष से ली गई है' इस आक्षेप के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं कि यह प्रक्रिया वध्यघातक (नाश्य-नाशक) भाव रूप विरोध पक्ष में ही अर्थात् ज्ञानों का वध्यघातक भाव मानने के पक्ष में ही संगत हो सकती है, न कि दो ज्ञानों के साथ न रहने रूप विरोध पक्ष में, क्योंकि ज्ञानों के सहानवस्थान रूप विरोध पक्ष में अर्थात् एक ज्ञान की उत्पत्ति तथा दूसरे का नाश इस पक्ष में 'द्वे द्रव्ये' दो द्रव्य हैं यह ज्ञान न हो सकेगा, किन्तु 'द्वितीय ज्ञान उत्पन्न होकर दूसरे क्षण में पूर्व विज्ञान को नष्ट कर देता है' इस वध्यघातक पक्ष में ही पूर्वोक्त आश्रयनाश से संख्यानाश के मानने की प्रक्रिया हो सकती है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानों का सहानवस्थान रूप विरोध माना जाय तो द्वित्वसामान्यज्ञान के समय में अपेक्षाबुद्धिविनाश से द्वित्व गुण ज्ञान के समान काल मे द्वित्व नाश होने से 'द्वे द्रव्ये' दो द्रव्य हैं इस प्रकार के द्रव्य ज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी, तथा विनाश निष्कारण भी हो जायगा। क्योंकि जिस समय द्वित्व-सामान्य की उत्पत्ति होती है उसी समय अपेक्षा बुद्धि का नाश होता है इसलिये यह एककालीन होने से अपेक्षा बुद्धि का विनाश सामान्य ज्ञान का कार्य नहीं हो सकता, इससे भिन्न कोई दूसरा कारण भी नहीं है, निर्हेतुक नाश हो नहीं सकता यह कही चुके हैं तस्मात् वध्यघातकपक्ष में ही उक्त प्रक्रिया हो सकती है।

पदपदार्थ—कथं = कैसे, गुणबुद्धिसमकालं = गुणबुद्धिके समान काल में, अपेक्षाबुद्धिविनाशात् = अपेक्षा बुद्धि के विनाश से, द्वित्वविनाशे = द्वित्वनाश होने पर, तदपेक्षस्य = उस द्वित्व की अपेक्षा करने वाले, द्वे द्रव्ये इति द्रव्यज्ञानस्य, = दो द्रव्य हैं इत्याकारक द्रव्य ज्ञान की, अनुत्पत्तिप्रसङ्गः = उत्पत्ति न हो सकने की आपत्ति आने से, इति = इस प्रकार।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लैङ्गिकवज्ज्ञानमात्रादिति चेत्स्यान्मतम्—यथाऽभूतं भूतस्येत्यत्र लिङ्गाभावेऽपि ज्ञानमात्रादनुमानम् तथा गुणविनाशेऽपि गुणबुद्धिमात्रात् द्रव्यप्रत्ययः स्यादिति । न, विशेष्यज्ञानत्वात् । न हि विशेष्यज्ञानं सारूप्याद्विशेषणसम्बन्धमन्तरेण भवितुमर्हति । तथा चाह सूत्रकारः—"समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेः श्वेते बुद्धिस्ते कार्यकारणभूते" [अ० ८ आ० १ सू० ९] इति ।

लैङ्गिकज्ञानवत् = लिङ्ग से होने वाले अनुमिति के समान, ज्ञानमात्रात् = द्वित्व के ज्ञान मात्र से दो द्रव्य का ज्ञान होगा, इति चेत् = यदि ऐसा हो, स्यात् = यदि हो, मतम् = पूर्वपक्षी का मत—यथा = जिस प्रकार, 'अभूतं भूतस्य' इत्यत्र (१२७) अर्थात् अविद्यमान विद्यमान पदार्थ का अनुमापक होता है इस सूत्र में, लिङ्गाभावेपि = हेतु के न रहने पर भी ज्ञानमात्राद् = उसके केवल ज्ञान से, अनुमानम् = अनुमान होता है, तथा = उसी प्रकार, गुणविनाशेपि = द्वित्व गुण का नाश होने पर भी, गुणबुद्धिमात्रात् = गुण के ज्ञानमात्र से, द्रव्यप्रत्ययः = द्रव्य ज्ञान हो जायगा, इतिं = ऐसा, न = नहीं हो सकता, विशेष्यज्ञानत्वात् = विशेष्य का ज्ञान होने से, नहि = नहीं, विशेष्यज्ञानं = विशेष्य का ज्ञान, सारूप्यात् = विशेष्य के स्वरूप का बोधक होने से, विशेषणसम्बन्धमन्तरेण = विशेषण के सम्बन्ध के विना, भवितुं अर्हति = हो सकता । तथा च आह = ऐसा ही सूत्रकार ने कहा है 'समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेः ते कार्यकारणभूते' [अ. ८. आ. १. सू. ९] अर्थात् समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध श्वेत गुण से श्वेतता बुद्धि होने से श्वेत (शुक्ल) द्रव्य में 'यह श्वेत द्रव्य है' ऐसा ज्ञान होने से विशेषण तथा विशेष्य ज्ञान कार्य कारण स्वभाव हैं, इति = ऐसा ।

भाषाभाष्य—प्रश्नपूर्वक सहानवस्थान रूप विरोध पक्ष में कथित आपत्ति को दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि द्वित्व गुण के ज्ञान के काल ही में अपेक्षा बुद्धि के नष्ट हो जाने के कारण, संख्या रूप गुण ज्ञान के समय में अपेक्षा बुद्धि के न रहने से द्वित्व संख्या के नष्ट हो जाने से 'द्वे द्रव्ये' दो द्रव्य हैं यह ज्ञान कैसे होगा, क्योंकि विशेष्य ज्ञान विशेषणपूर्वक होता है । यदि कहो कि 'धूमादि रूप हेतु न रहने पर भी अतीत अथवा भविष्य धूम के ज्ञान से जिस प्रकार अतीत या भविष्य वह्नि की अनुमान द्वारा सिद्धि होती है', अर्थात् ऐसी आपत्ति उठाने वाले का यह मत हो जो 'अभूतं भूतस्य' इस (१२७) वैशेषिक सूत्र में वर्णित है कि 'जिस प्रकार आशुविनाशी होने से अविद्यमान भी शब्दज्ञान इत्यादि रूप लिङ्ग, विद्यमान सितार, आत्मा इत्यादि साध्य का साधक होता है, उसी प्रकार गुण ज्ञान के समय में द्वित्व गुण का नाश होने पर भी उसका ज्ञान 'दो द्रव्य हैं' इत्यकारक विशिष्ट ज्ञान को क्यों न करेगा' तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि विशेष्य का ज्ञान विशेषण के स्वरूप के अनुरञ्जक (बोधक) होने के कारण विना विशेषण के सम्बन्ध के हो नहीं सकता ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न तु लैङ्गिकं ज्ञानमभेदेनोत्पद्यते तस्माद्विषमोऽयमुपन्यासः। न, आशूत्पत्तेः यथा शब्दवदाकाशमित्यत्र त्रीणि ज्ञानान्याशूत्पद्यन्ते तथा द्वित्वादिज्ञानोत्पत्तावित्यदोषः। वध्यघातकपक्षेऽपि समानो दोष इति चेत् स्यान्मतम्—ननु वध्यघातकपक्षेऽपि तर्हि द्रव्यज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गः। कथम् ? द्वित्वसामान्यबुद्धिसमकालं संस्कारादपेक्षाबुद्धिविनाशादिति।

इस विषय में सूत्रकार की भी सम्मति है, क्योंकि "समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्य बुद्धेः श्वेते बुद्धिस्ते कार्य कारणभूते' (३१८) अर्थात् समवायसम्बन्ध से रहने वाले श्वेतगुण से श्वेत (शुक्ल वर्ण है) ऐसी बुद्धि होने के कारण, श्वेत द्रव्य में श्वेत द्रव्य है यह बुद्धि होती है, इस कारण श्वेत रूप गुण ज्ञान रूप विशेषण का ज्ञान तथा श्वेत द्रव्य रूप विशेष्य का ज्ञान इन दोनों का कार्य कारण भाव है, ऐसा सूत्राक्षरों के अर्थ से प्रतीत होता है। यहाँ 'समवायिनः' इस पद से सम्बन्ध, 'श्वैत्यात्' इस पद से विशेषण तथा 'श्वैत्यबुद्धेः' इस पद से ज्ञान यह तीनों कारण हैं, तथा 'श्वेते बुद्धिः' इस पद से श्वेत द्रव्य विषयक ज्ञान फल है यह सूचित होता है।

पदपदार्थ—नतु = किन्तु नहीं, लैङ्गिकं = लिङ्ग से होने वाला, ज्ञानं = अनुमिति रूप ज्ञान अभेदेन = सारूप्य से, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तस्मात् = इस कारण, विषमः = विरुद्ध है, उपन्यासः = दृष्टान्तकथन ॥ न = (यदि द्वित्वरूप विशेषण न हो तो उसका प्रतिभास कैसे हो सकता है अविनष्ट ही द्वित्व को विशेष्य ज्ञान का आधार मानना उचित है ऐसी शंका पूर्वपक्षी करे तो) यह नहीं हो सकता, आशूत्पत्तेः = शीघ्र उत्पन्न होने से, यथा = जिस प्रकार, 'शब्दवत् आकाशं' = आकाश शब्द का अधिकरण है, इति अत्र = इस स्थल में, त्रीणि = तीन, ज्ञानानि विशेषण, विशेष्य, तथा विशिष्टज्ञान, आशु = शीघ्र, उत्पद्यन्ते = उत्पन्न होते हैं, तथा = उसी प्रकार, द्वित्वादिज्ञानोत्पत्तौ = द्वित्वगुणविशेषण, द्रव्यरूपविशेष्य, तथा विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति भी शीघ्र होती है, इति = इसलिये, अदोषः = दोष नहीं हो सकता। वध्यघातक पक्षे अपि = ज्ञानों के नाश्यनाशक पक्ष मे भी, समानः = समान है, दोषः = द्रव्यज्ञानानुत्पत्ति रूप दोष, इति चेत् = यदि ऐसा कहो, स्यात् मतं = अर्थात् ऐसा पूर्वपक्षी का अभिप्राय हो, ननु = शंका है, वध्यघातकपक्षे अपि, ज्ञानों के वध्यघातकभावरूप विरोधपक्ष में भी, तर्हि = तो, द्रव्यज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गः=दो द्रव्य हैं ऐसा ज्ञान उत्पन्न न होने की आपत्ति। कथम् = किस प्रकार, द्वित्वसामान्यबुद्धिसमकालं= द्वित्व जाति ज्ञान के समय में, संस्कारात् = संस्कार से, अपेक्षाबुद्धिविनाशात् = अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाने के कारण, इति = इसलिये ॥

भाषाभाष्य—आनुमानिक ज्ञान से भेद दिखलाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि लिङ्ग ज्ञान अनुमिति रूप ज्ञान सारूप्यरूप अभेद से उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि 'सितार शब्द है' या 'शब्दाश्रय सितार' है ऐसी प्रतीति नहीं होती, किन्तु शब्द (ध्वनिरूप) जो सुनाई पड़ता है, सितार का कार्य है ऐसी विलक्षण ध्वनि होने से इस प्रकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साध्य तथा साधन के भेद से वैयधिकरण्येन (एक अधिकरण में न होने से) होती है, अतः 'लैङ्गिकवत्' आनुमानिक ज्ञान के समान यह 'दो द्रव्य हैं' ऐसा ज्ञान, बिना द्वित्व विशेषण के उसके ज्ञान से हो सकता है यह दृष्टान्त विरुद्ध है। यदि पूर्वपक्षी यहाँ ऐसा आक्षेप करें—कि 'यदि द्वित्वरूप विशेषण का नाश माना जाय तो 'श्यामोयं कुंभ आसीत्' पूर्व में यह घड़ा काला था इस प्रतीति के समान 'द्वित्रयमासीत्' दो थे ऐसी प्रतीति होने लगेगी, न कि इस समय 'दो हैं तीन हैं' ऐसी प्रतीति तथा 'द्वे द्रव्ये' दो द्रव्य हैं इस प्रतीति में जैसे द्रव्य प्रतीत होता है, वैसे विशेषण रूप द्वित्व भी प्रतीत होता है, अविद्यमान द्वित्व की प्रतीति कैसे हो सकती है, इसलिये न नष्ट हुआ ही द्वित्व विशेष्य द्रव्यज्ञान का विषय कहना पड़ेगा—इन दोनो पूर्वपक्षी के आक्षेपों को मन मे रखकर सिद्धान्तमत से भाष्यकार समाधान करते हैं कि नहीं शीघ्र (अविलम्ब) ज्ञानों की उत्पत्ति होने के कारण दोनों आक्षेप नहीं हो सकते, क्योंकि 'शब्दवत् आकाशं' आकाश शब्द गुण का आश्रय है इस विशिष्ट ज्ञान में. जिस प्रकार शब्दरूप विशेषण आकाशरूप विशेष्य तथा शब्दाधिकरण आकाश ऐसे विशिष्ट इन तीनों ज्ञानों की अविलम्ब उत्पत्ति होने से विशेषण तथा विशेष्य ज्ञानपूर्वक क्रम से तीनों की उत्पत्ति होती है ऐसा प्रतीत न होने के कारण एक काल में ज्ञान होने का अभिमान होता है उसी प्रकार से द्वित्वरूप विशेषण गुण का ज्ञान, तथा विशेष्यरूप द्रव्य का ज्ञान एवं दो द्रव्यहैं ऐसा विशिष्ट ज्ञान, इनके शीघ्र-शीघ्र उत्पन्न होने के कारण क्रम का ग्रहण न होने से द्वित्वरूप विशेषण द्रव्यरूप विशेष्य तथा विशिष्ट ज्ञान का एक ही काल होने का भ्रम होता है। यहाँ पर ज्ञानों के परस्परनाश्यनाशक भावरूप विरोध पक्ष को लेकर पूर्वपक्षी शंका करता है कि 'वध्यघातक भावरूप विरोधपक्ष में भी सहानवस्थान रूपविरोधपक्ष में सिद्धान्ती द्वारा दिया हुआ दोष समान ही है, अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानों का सहानवस्थानरूप विरोध मानने से द्वित्वरूप विशेषणके न रहने से 'दो द्रव्य हैं' ऐसा विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता उसी प्रकार ज्ञानों के वध्यघातकभावरूप विरोध पक्ष में भी द्रव्यज्ञान की उत्पत्ति न होने की आपत्ति आ सकती है। इस विषय में प्रश्नपूर्वक युक्ति दिखाते हैं कि सहानवस्थानपक्ष के समान अपेक्षा बुद्धि का सामान्य ज्ञान के समय में न रहना, द्वित्व गुण बुद्धि के समय में द्वित्व गुण के नाश से विशिष्ट द्रव्य ज्ञान की उत्पत्ति न ही हो सकती यह आपत्ति वध्यघातक पक्ष में भी समान ही है, क्योंकि ज्ञान के समान संस्कार भी ज्ञान का नाशक होता है ॥ तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अपेक्षाबुद्धि द्वित्वगुण को उत्पन्न करती है उसी प्रकार संस्कार को भी, पश्चात् वह विनश्यदवस्था में आती है, और द्वित्व सामान्य का ज्ञान उत्पद्यमानता अवस्था में आता है अनंतर द्वित्व सामान्यज्ञान की उत्पत्ति होती है, और गुण ज्ञान उत्पद्यमानता अवस्था में प्राप्त होता है. पश्चात् चतुर्थ क्षण में अपेक्षा बुद्धि का नाश होता है, और द्वित्वगुण, विनाशाभिमुख होता है, इसके पश्चात् द्वित्वगुण ज्ञान की उत्पत्ति होती है और अपेक्षा बुद्धि के नाशसे द्वित्वसंख्यारूप गुण का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न समूहज्ञानस्य संस्कारहेतुत्वात्—समूहज्ञानमेव संस्कारकारणं नालोचनज्ञानमित्यदोषः । ज्ञानायौगपद्यप्रसङ्ग इति चेत् स्यान्मतम्—ननु ज्ञानानां बध्यघातकविरोधेपि ज्ञानायौगपद्यप्रसङ्ग इति । न, अविनश्यतोरवस्थानप्रतिषेधात् । ज्ञानायौगपद्यवचनेन ज्ञानयोर्युगपदुत्पत्तिरविनश्यतोश्च युगपदवस्थानं प्रतिषिध्यते नहि बध्यघातकविरोधे ज्ञानयोर्युगपदुत्पत्तिरविनश्यतोश्च युगपदवस्थानमस्तीति ।

नाश हो जाता है, इस कारण उस द्वित्वगुणसंख्यारूप विशेषण के रहने से उसकी अपेक्षा करने वाला 'द्वे द्रव्ये' ऐसा विशिष्ट ज्ञान वध्यघातक पक्ष में भी नहीं हो सकता ।

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता, समूहज्ञानस्य = समुदाय के ज्ञान के, संस्कार हेतुत्वात् = भावना संस्कार में कारण होने से, समूहज्ञानं एव = गुणविशिष्ट द्रव्य ज्ञानरूप समूह ज्ञान ही, संस्कारकारणं = संस्कार का कारण है, न = नहीं है, आलोचनज्ञानं = निर्विकल्पकज्ञान, इति = इस कारण, अदोषः = उक्त दोष नहीं हो सकता । ज्ञानायौगपद्यप्रसङ्गः = तब दो ज्ञानों का सहावस्थान होने से ज्ञानों में यौगपद्य की आपत्ति आवेगी, इति चेत् = ऐसा कहो तो, स्यात् मतं = यह पूर्वपक्षी का मत होगा, ननु = शंका है, ज्ञानानां = ज्ञानों का वध्यघातक विरोध = परस्परनाश्यनाशक भावरूप विरोध होने से, ज्ञानायौगपद्यप्रसङ्गः = ज्ञानों के अयौगपद्य होने की आपत्ति आ जायगी, इति = ऐसा । न = यह दोष नहीं हो सकता, अविनश्यतः = विनाश के अभिमुख अवस्था में न रहने वाले, दो ज्ञानों का ही, अवस्थान प्रतिषेधात् = एक काल में रहने का निषेध होने से । ज्ञानायौगपद्यवचनेन = ज्ञानों के अयौगपद्य की उक्ति से, ज्ञानयोः = दो ज्ञानों की, युगपत् = एककाल में, उत्पत्तिः = उत्पन्न होना, अविनश्यतोः च = और विनाशाभिमुखविनश्यत्ता अवस्था में न रहने वाले दो ज्ञानों का ही, युगपत् = एक काल में, अवस्थानं = रहना, प्रतिषिध्यते = निषिद्ध है, नहि = नहीं, वध्यघातकविरोधे = ज्ञानों के नाश्यनाशक रूप विरोधपक्ष में, ज्ञानयोः = दो ज्ञानों की, युगपत् = एककाल में, उत्पत्तिः = उत्पत्ति, अविनश्यतोः च = और, विनश्यत्ता में न आये हुए दो ज्ञानों का, युगपत् = एक काल में, अवस्थानम् = स्थिति (रहना) अस्ति = है, इति = इस कारण ।

भाषाभाष्य—ज्ञानों के वध्यघातक पक्ष में द्रव्यज्ञानानुत्पत्तिरूप आपत्ति का वारण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि विशिष्ट ज्ञानरूप समुदाय ज्ञान के संस्कार में कारण होने से उक्त आपत्ति नहीं आ सकती, क्योंकि द्वित्वगुणविशिष्ट 'दो द्रव्य हैः' इत्याकारक द्रव्य ज्ञान समूह ज्ञानरूप ही संस्कार को उत्पन्न करता है, न कि निर्विकल्परूप आलोचनात्मक अपेक्षा ज्ञान, इसलिये संस्कार से अपेक्षा बुद्धि नाश होने के कारण द्वित्वगुण के न रहने से वध्यघातक पक्ष में दिया हुआ दोष नहीं हो सकता । विशिष्ट ज्ञान ही संस्कार का कारण है इसमें 'दो द्रव्य देखे थे' ऐसा कालान्तर में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(८) परिमाणप्रकरणम् ।

प्रिमाणं मानव्यवहारकारणम् । तच्चतुर्विधम्—अणु महद्दीर्घं ह्रस्वं चेति । तत्र महद् द्विविधं—नित्यमनित्यं च । नित्यमाकाशकालदिगात्मसु परम-

---

होनेवाला विशिष्ट स्मरण ही प्रमाण है ऐसा उदयनाचार्य का यहां अभिप्राय है। यदि पूर्वपक्षी शंका करे कि द्वितीय ज्ञान उत्पन्न होकर अपने पूर्व के ज्ञान को नष्ट करता है ऐसा मानने से दो ज्ञानों का एक साथ रहना मानना पड़ेगा, और ऐसा मानने से 'ज्ञानायौगपद्यात्' इस सूत्र का विरोध होगा जिससे ज्ञानों के वध्यघातक-भावरूप विरोध पक्ष में ज्ञानों में यौगपद्य (एककालिकता) की आपत्ति आ जायगी' तो इसका समाधान भाष्यकार ऐसा करते हैं कि यह नहीं हो सकता क्योंकि 'प्रयत्न ज्ञानायौगपद्यात्' इस सूत्र में विनश्यत् अवस्था में न रहनेवाले दो ज्ञानों की विद्यमानता ही का निषेध किया गया है, क्योंकि सूत्रकार की ज्ञानों के एककालिकता के निषेध की उक्ति का यह अभिप्राय है कि दो ज्ञानों की एककाल में उत्पत्ति नहीं होती तथा अविनश्यदवस्थावाले ही दो ज्ञान एककाल में नहीं रहते, अर्थात् ज्ञानों के वध्यघातक भावरूप विरोध पक्ष में दो ज्ञानों की एककाल में उत्पत्ति तथा अविनाश अवस्था वाले दो ज्ञान की एककाल मे स्थिति नहीं होती। यदि एककाल में दो ज्ञान उत्पन्न हों तो प्रत्येक शरीर में मन एक तथा परमाणु परिमाण है यह न हो सकने से एक विषय में मन का व्यासङ्ग (लग रहना) न हो सकेगा। तथा अविनश्यत् अवस्था वाले दो ज्ञानों का एककाल में अवस्थान (रहना) माना जाय तो वध्यघातकरूपे ज्ञानों का परस्पर विरोध संगत न होगा, तस्मात् उसी का यहां निषेध है; दूसरे प्रकार का निषेध प्रामाणिक न होने से सङ्गत नहीं है। अर्थात् ज्ञानायौगपद्य तथा प्रयत्नायौगपद्यवचन से प्रत्येक शरीर में एक मन है इस सूत्राभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि दो ज्ञान एक काल में उत्पन्न नहीं होते तथा अविनश्यत अवस्था में दो ज्ञान परस्पर विरोध से एककाल में नहीं रहते, वध्यघातक विरोध पक्ष में दो ज्ञान एक काल में उत्पन्न नहीं होते तथा अविनश्यदवस्थावाले दो ज्ञान एक काल में नहीं रहते इस कारण उक्त दोष नहीं आ सकता।

(८) परिमाणप्रकरण।

पदपदार्थ—परिमाणं = परिमाण नामक गुण, मानव्यवहारकारणम् = मान (माप) व्यवहार का कारण होता है। तत् = वह, चतुर्विधं = चार प्रकार का है, अणु = छोटा, महत् = बड़ा, दीर्घं=लम्बा, ह्रस्वं च = और अखुडा, इति = इस प्रकार। तत्र = उन चारों में, महत् = महत् (बड़ा) परिमाण, द्विविधं = दो प्रकार है, नित्य = अविनाशी, अनित्यं च = और विनाशी। नित्यं = नित्य है, आकाशकालदिगात्मसु = आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा इन व्यापक तथा नित्य द्रव्यों में, परममहत्त्वम् =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महत्त्वम् अनित्यं त्र्यणुकादावेव । तथा चाण्वपि द्विविधं—नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुमनस्सु तत्तु पारिमाण्डल्यम् । अनित्यं द्व्यणुक एव । कुवलयामलकाबिल्वादिषु महत्स्वपि तत्प्रकर्षभावाभावमपेक्ष्य भाक्तोऽणुत्वव्यवहारः ।

परममहत्परिमाण । अनित्यं = अनित्यमहत्परिमाण है त्र्यणुकादावेव, त्र्यसरेणु (तीन अणुकों से बने अवयवि द्रव्य) इत्यादि अनित्य द्रव्यों में ही । तथा च = और उसी प्रकार है, अणु अपि = अणु परिमाण भी, द्विविधं = दो प्रकार का है, नित्यं = नित्य, अनित्य च = और अनित्य भी । नित्यं = नित्य अणुपरिमाण है, परमाणुमनस्सु = पृथिव्यादि वायुपर्यन्त चार द्रव्यों के परमाणु तथा मन इन द्रव्यों में, तत्तु = और वह, पारिमण्डल्डल्यम् = वैशेषिकमत में 'पारिमाण्डल्य' संज्ञा वाला है । अनित्यं = अनित्य अणुपरिमाण है, द्व्यणुकएव = दो परमाणु द्रव्यों से उत्पन्न द्व्यणुक नामक अवयविद्रव्य में ही । कुवलयामलकबिल्वादिषु = कमलगट्टा, आंवला, तथा वेल इत्यादि अवयवि द्रव्यों में, महत्सु अपि = महत्परिमाण होने पर भी, तत्प्रकर्षभावाभावं = महत्परिमाण के उत्कर्ष के रहने तथा उत्कर्ष के न रहने की, अपेक्ष्य = अपेक्षा कर, भाक्तः = गोण होता है, अणुव्यवहारः = अणु (छोटे) परिमाण का व्यवहार ।

भाषाभाष्य—संख्यानिरूपण के पश्चात् क्रमप्राप्त परिमाण नामक गुण का वर्णन करते हैं कि 'मान का व्यवहार अर्थात् (छोटा, बड़ा, लम्बा, अंखुडा) इत्यादि लोकप्रसिद्ध व्यवहार के कारण गुण को परिमाण कहते हैं' ऐसा भाष्यकार ने लक्षण किया है। किन्तु परिमाणाधार द्रव्य के स्वरूप से भिन्न उक्त परिमाण गुण न मानने वाला यहाँ ऐसा आक्षेप कर सकता है कि यदि परिमाणाश्रय द्रव्य का ज्ञान न हो तो उसके परिमाण का ग्रहण नहीं हो सकता, अतः परिमाणाधार द्रव्य का ही स्वरूप परिमाण है, उससे अतिरिक्त परिमाण गुण नहीं है तो इस आक्षेप पर परिमाण गुण को अतिरिक्त माननेवाले सिद्धान्ती केमत से उसका यह समाधान है. कि दोनों में से अर्थात् द्रव्य तथा परिमाण इन दोनों में परिमाण का दूरत्वदिदोष से ज्ञान न होने पर भी केवल उसके आश्रय द्रव्य का ज्ञान होने के कारण परिमाण गुण को अतिरिक्त अवश्य मानना पड़ेगा । तथा यदि घट आदि द्रव्यों का स्वरूप ही उसका परिमाण हो तो 'महदानय' बड़े को ले आओ ऐसी आज्ञा देने पर चाहे जिस बड़े द्रव्य को ले आने वाला ले आवेगा, और 'घटमानय' घटको ले आओ ऐसा कहने पर किसी बड़े द्रव्य को ले आनेवाला ले आवेगा, और 'घटमानय' घट को ले आओ ऐसा कहने पर बड़े कपड़े को भी ले आ सकेगा, अतः आज्ञा करने वाला (प्रेषक) तथा (प्रेष्य) जिसे आज्ञा दी जाती है, इन दोनों के संप्रतिपत्ति (समझ) में विरोध होगा, तथा घट शब्द से घट के निश्चय के समान परिमाण उसके छोटे-बड़े परिमाण का निश्चय होने लगेगा ऐसा तर्क भी इससे भिन्न परिमाण गुण मानने में साधक है ।

उक्त स्वरूप परिमाण गुण अणु (छोटा) महत् (बड़ा) दीर्घ 'लम्बा' ह्रस्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अंखुडा) ऐसे चार प्रकार का ही है। क्योंकि चतुरस्र (चौकोना) त्रिकोण (तिकोना) इत्यादि द्रव्यों के अवयवों की संस्थानविशेष (विशेष स्थिति) हैं, न कि भिन्न परिमाण है। (सूत्र २६२.२७३) यदि वादी ऐसी शंका करे कि जिस प्रकार द्व्यणुक के परिमाण से अपकृष्ट (छोटा परमाणुआ का) परिमाण अतिरिक्त है इसी प्रकार घटादि द्रव्यों के परिमाणों से अतिरिक्त ही उत्कर्ष की सीमा पर पहुंचा हुआ आकाशादि व्यापक द्रव्यों का भी परिमाण दीर्घ तथा ह्रस्व होने के कारण छ भेद परिमाण के हो सकते हैं चार ही क्यों ?' इसका समाधान दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उक्त चारों प्रकारों में से महत् परिमाण नित्य तथा अनित्य इस भेद से दो प्रकार का है, जिसमें नित्य महत्परिमाण जो आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा इन व्यापक द्रव्यों में रहता है। उत्कर्ष की अन्तिम सीमा से पहुँचने के कारण 'परममहत्' परिमाण कहाता है और अनित्य महत् परिमाण त्र्यसरेणु आदि अवयवि द्रव्यों में ही रहता है न कि द्व्यणुक रूप अनित्य द्रव्य में। इसी प्रकार अणुपरिमाण के भी नित्य तथा अनित्य ऐसे दो भेद हैं, पृथिव्यादि वायु पर्यन्त द्रव्यों के परमाणु तथा मन में रहनेवाला अणुपरिमाण उत्पत्ति तथा नाश का कारण न होने से नित्य है, जिसकी अणुता की अन्तिम सीमा में पहुँचने के कारण नैयायिकों ने 'पारिमाण्डल्य' ऐसी पारिभाषिक संज्ञा की है। और अनित्य अणुपरिमाण केवल द्व्यणुक (दो परमाणुओं से बने प्रथम अवयवि) में ही रहता है, अर्थात् अणुपरिमाण का ही भेद है। परमाणु परिमाण, तथा महत्परिमाण का भेद है परम महत्परिमाण, नहीं तो परम इस विशेषण का संबंध न हो सकेगा। अर्थात् जो परिमाण रूप की ही सहायता से अपने आश्रय द्रव्य का प्रत्यक्ष करावे उसे 'महत्' (बड़ा) परिमाण, तथा जो न करावें उसे 'अणु' ऐसा कहते हैं। आकाशादि व्यापक द्रव्यों का परिमाण परम महत् होने से उसके दीर्घ तथा ह्रस्व ये भेद नहीं हो सकते यह उपरोक्त वादि शंका का समाधान है।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'अनित्य अणुपरिमाण द्व्यणुक ही में रहता है यह कहना अयुक्त है, क्योंकि कमलगट्टा, आँवला, बेल इत्यादिकों में परस्पर की अपेक्षा से अणु (छोटा) है ऐसा व्यवहार होता है—तो इस पूर्वपक्षी की शंका का यह उत्तर भाष्यकार ने दिया है कि उक्त द्रव्यों में महत् परिमाण के उत्पत्ति का कारण होने से तथा महत्व न मानने से उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो सकेगा। इसलिए उक्त तीनों द्रव्यों में महत्परिमाण ही वास्तविक है, किन्तु कमलगट्टे से आँवले में महत् परिमाण का उत्कर्ष है, तथा बेल से नहीं है, इस कारण आँवला बेल से छोटा (अणु) है, ऐसा व्यवहार तथा कमलगट्टा उससे छोटा (अणु) है, ऐसा गौण व्यवहार होता है वह द्व्यणुक में भी है इसलिये सादृश्य से औपचारिक प्रवृत्ति है यह अभिप्राय सिद्धान्ती का जान लेना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दीर्घत्वह्रस्वत्वे चोत्पाद्यमहदणुत्वैकार्थसमवेते । समिदिक्षुवंशादिष्वञ्जसा दीर्घेष्वपि तत्प्रकर्षभावाभावमपेक्ष्य भाक्तो ह्रस्वत्वव्यवहारः ।

अनित्यं चतुर्विधमपि संख्या-परिमाण-प्रचययोनि ।

पदपदार्थ—दीर्घत्वह्रस्वत्वे = दीर्घ तथा ह्रस्वपरिमाण, च = और, उत्पाद्यमहदणुत्वैकार्थसमवेते = जन्य महत्परिमाण तथा जन्य अणुपरिमाण ये आधार द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं । समिदिक्षुवंशादिषु = समिधा, ऊंख, वांस इत्यादि द्रव्यो में, अंजसा = वास्तविक, दीर्घेषु अपि = दीर्घ (लम्बे) परिमाण होने पर भी, तत्प्रकर्ष भावाभावं = दीर्घ परिमाण के उत्कर्ष के रहने तथा न रहने की, अपेक्ष्य = अपेक्षा से, भाक्तः = गौण, ह्रस्वत्वव्यवहारः = ह्रस्वत्व का व्यवहार होता है । अनित्यं = विनाशि, चतुर्विधम् अपि, चारों प्रकार का भी, परिमाण, संख्या-परिमाणप्रचययोनि = संख्या, परिमाण तथा प्रचयनामक संयोगविशेष इन तीन प्रकार के कारणों से उत्पन्न होता है ।

भाषाभाष्य—उक्त चार प्रकार के परिमाणों में से दीर्घ तथा ह्रस्व परिमाणों की विशेषता प्रदर्शित करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जन्य महत् तथा जन्य अणु परिमाण के साथ दीर्घ और ह्रस्व परिमाण रहते हैं, अर्थात् जिस द्वयणुक आदि अवयवि द्रव्य में उत्पत्ति योग्य महत् परिमाण रहता है उसमें वैसा ही दीर्घ परिमाण रहता है, तथा जिस द्वयणुक रूप अवयवि द्रव्य में जन्य अणुपरिमाण रहता है उसमें जन्य ह्रस्वपरिमाण रहता है । यदि कहो कि यदि इस प्रकार जन्य अणुपरिमाण तथा जन्य ह्रस्वपरिमाण की व्याप्ति मानी जाय तो वंश (बांस) इत्यादि द्रव्य की अपेक्षा से इक्षु (ऊंख) आदि मे ह्रस्वपरिमाण का (बांस से ऊंख) ह्रस्व (अंखुडा) है यह व्यवहार कैसे होगा, क्योंकि वह भी दीर्घ (लंबा) ही है' तो इसका उत्तर यह है कि वास्तविक समिधा, ऊंख, बाँस इनमें दीघता ही है; अर्थात् तीनों लम्बे ही हैं, किन्तु बांस में दीर्घ होने का कारण होने से जो दीर्घता का उत्कर्ष है वह इक्षु (ऊंख) में नहीं है, इसलिये बाँस की अपेक्षा से ऊंख ह्रस्व (अंखुडा) है यह व्यवहार होता है, इस कारण वह गौण है न कि मुख्यता से। इसी प्रकार ऊंख की अपेक्षा से अंखुडा होने के कारण समिधा की लकड़ी में ह्रस्व परिमाण का व्यवहार होता है, वस्तुतः वह भी लंबी ही है । यदि कहो कि 'दीर्घ व्यवहार ही को गौण क्यों न माना जाय' तो यह नहीं हो सकता क्योंकि उसकी उत्पत्ति का कारण हो नहीं सकता । यदि कहो कि 'तब तो सर्वथा ह्रस्व व्यवहार गौण ही माना जाय'-तो ऐसी शंका नहीं हो सकती, क्योंकि कहीं भी ह्रस्व परिमाण वास्तविक न माना जाय तो मुख्य के न होने से सादृश्यमूलक गौण व्यवहार भी न हो सकेगा । सूत्र—२७४, २७९, २८०, २८१, २७५, २७६ १६८, १६९ ।

इस प्रकार परिमाण गुण के आश्रय द्रव्य तथा विभाग का निरूपण कर उसके कारण का वर्णन भाष्यकार ने इस प्रकार किया है कि उक्त परिमाण गुण संख्या, तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्रेश्वरबुद्धिमपेक्ष्योत्पन्ना परमाणुद्व्यणुकेषु बहुत्वसंख्या तैरारब्धे कार्यद्रव्ये त्र्यणुकादिलक्षणे रूपाद्युत्पत्तिसमकालं महत्त्वं दीर्घत्वं च करोति।

द्विबहुभिर्महद्भिश्चारब्धे कार्यद्रव्ये कारणमहत्त्वान्येव महत्त्वमारभन्ते न बहुत्वम्। समानसङ्ख्यैश्चारब्धेऽतिशयदर्शनात्।

परिमाण, और प्रचय नामक (रूई के धुनने से उत्पन्न हुई शिथिलता नामक) संयोग-विशेष इन तीन कारणों से उत्पन्न होने के कारण तीन प्रकार का है। इसमें 'कारण-बहुत्वात् कारणमहत्वात् प्रचयविशेषाच्च' यह सूत्र प्रमाण है। अनित्य पद से नित्य परिमाण की व्यावृत्ति होती है क्योंकि वह कारण जन्य नहीं है। चतुर्विधपद से न्यूनता की व्यावृत्ति होती है।

पदपदार्थ—तत्र = उनमें से, ईश्वर बुद्धि = ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि को, अपेक्ष्य = अपेक्षा कर, उत्पन्ना = उत्पन्न हुई, परमाणुद्व्यणुकेषु = परमाणु तथा द्व्यणुकों में, बहुत्वसंख्या = अनेकसंख्या, तैः = उन परमाणु तथा द्व्यणुकों से, आरब्धे = उत्पन्न हुए, कार्यद्रव्ये = जन्यद्रव्य में, त्र्यणुकादिलक्षणे = त्र्यसरेणु इत्यादि स्वरूप में, रूपाद्युत्पत्तिसमकालं = रूप रस आदि गुणों की उत्पत्ति के समय में, महत्त्वं = महत्परिमाण, दीर्घत्वं च = और दीर्घ परिमाण को भी, करोति = उत्पन्न करती है। द्विबहुभिः = दो तथा अनेक, महद्भिः = महत्परिमाण वाले अवयवों से, आरब्धे = उत्पन्न हुए, कार्यद्रव्ये = कार्यद्रव्य में, कारणमहत्वानि एव = कारणगत महत्परिमाण ही, महत्त्वं = महत्परिमाण को आरभन्ते = उत्पन्न करते हैं, न = नहीं करती, बहुत्वं = अनेक-संख्या समानसंख्यैः च = समानसंख्यावाले भी अवयवों से, आरब्धे = उत्पन्न भये कार्य द्रव्य में, अतिशयदर्शनात् = अतिशय दिखाई पड़ने से।

भाषाभाष्य—संख्या कारणवाले प्रथम अनित्य परिमाण का उदाहरण भाष्यकार ने इस प्रकार दिया है कि परमाणु तथा द्व्यणुक में यह एक है यह एक है, इस प्रकार हमारे ऐसे जीवात्माओं को दृष्टिगोचर न होने से अपेक्षा बुद्धि नहीं हो सकती अतः ईश्वर की उक्त प्रकार अपेक्षा बुद्धि की अपेक्षा से उत्पन्न भयी हुई परमाणु तथा दो-दो परमाणुओं से उत्पन्न द्व्यणुक रूप अवयवियों में वर्तमान बहुत्व (अनेक) संख्या, उन द्व्यणुकों से उत्पन्न हुए त्र्यसरेणु चतुरणु आदि द्रव्यों में रूपादि गुणों की उत्पत्ति के समय में ही महत् तथा दीर्घ परिमाण उत्पन्न करती है, यह संख्या-जन्य परिमाण का उदाहरण है। यदि संख्या ही उक्त महत्परिमाण की उत्पादक है इसमें क्या प्रमाण ? ऐसी यहाँ शंका हो तो, त्र्यणुक परिमाण, बहुत्व संख्या का कार्य है, परिमाण तथा प्रचय नामक संयोग के कारण होने का सम्भव न होते हुए कार्य महत्परिमाण होने से, जो बहुत्व संख्या का कार्य नहीं होता वह परिमाण तथा प्रचय का असम्भव होते हुए कार्य महत्परिमाण नहीं होता, जैसे द्व्यणुक परिमाण या धुनी हुई रूई का परिमाण, क्योंकि उनमें परिमाण तथा प्रचय नामक संयोग ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रचयश्च तूलपिण्डयोर्वर्तमानः पिण्डारम्भकावयवप्रशिथिलसंयोगमनपेक्षमाण

कारण है । विपक्षे (यदि ऐसा न माना जाय तो) कारण के न बन सकने से कार्य की उत्पत्ति न हो सकना ही बाधक है । द्व्यणुक में रहनेवाले रूपरसादि गुण त्र्यसरेणु के परिमाण के जनक नहीं हो सकते, क्योंकि रूपादि गुण अपने आश्रय अवयवों से उत्पन्न अवयवि द्रव्यरूप कार्य में अपने समान जाति के रूपादि गुणों को ही उत्पन्न करते हैं । यदि द्व्यणुक के परिमाण को त्र्यसरेणु कार्य के परिमाण का उत्पादक माना जाय तो, परिमाण का अपने समान जाति के अपने से उत्कृष्ट परिमाण को उत्पन्न करने का (जैसे कपाल का महत्परिमाण अपने से घट कार्य में उत्कृष्ट महत्परिमाण ही को उत्पन्न करता है, अर्थात् कपाल से घट बड़ा होता है) नियम होने से द्व्यणक का कार्य त्र्यसरेणु रूप अवयवि द्रव्य उससे (द्व्यणुक से) भी अणु (सूक्ष्म) हो जायगा, क्योंकि जिस प्रकार महत्परिमाण का उत्कृष्ट महत्परिमाण उससे बड़ा (महत्तर, महत्तम) होता है, उसी प्रकार अणु परिमाण का उत्कृष्ट अणु परिमाण अणुतर, अणुतम होता है, ऐसा नियम प्राप्त होने से द्व्यणुक का कार्य त्र्यसरेणु उससे भी अणु (छोटा) होने से उसमें महत्परिमाण के न होने के कारण उसका प्रत्यक्ष न हो सकेगा, अतः त्र्यसरेणु द्रव्य में बहुत्व संख्या ही कारण है यह निर्विवाद सिद्ध होता है । यदि कहो कि 'तब सर्वत्र बहुत्व संख्या ही को महत्परिमाण का कारण माना जाय, महत्परिमाण को परिमाणजनक मानने की क्या आवश्यकता है, तो इस शङ्का के समाधानार्थ भाष्यकार आगे कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि दो या अनेक महत्परिमाण वाले अवयविद्रव्यों से उत्पन्न कार्य द्रव्य में कारणगत महत्परिमाण ही कार्य द्रव्य में महत्परिमाण को उत्पन्न करता है, कारण में रहनेवाली बहुत्व संख्या उस महत्परिमाण की उत्पादक नहीं हो सकती, क्योंकि जिस स्थल में चार स्थूल परिमाणवालों से उत्पन्न कार्य एक है, तथा चार सूक्ष्मों से उत्पन्न कार्य भिन्न एक है, उन दोनों में संख्या में समानता होने पर भी स्थूलों से उत्पन्न कार्य द्रव्य में सूक्ष्म चार से उत्पन्न कार्य द्रव्य की अपेक्षा से महत्परिमाण में अधिकता दिखाती है इसलिये संख्या के दोनों में साधारण होने से दोनों उक्त कार्यों में महत्परिमाण की समानता आने की आपत्ति के कारण महत्परिमाण को ही कारण मानना उचित है । और जहाँ दो उत्पादक हैं वहाँ बहुत्वसंख्या का असम्भव होने से महत्परिमाण को ही कारण मानना पड़ेगा । अर्थात् प्रचयरहित परिमाण की जहाँ उत्पत्ति होतीहै वहाँ बहुत्वसंख्या तथा प्रचय का सम्भव ही नहीं है । किन्तु समान महत्परिमाण वाले अल्पसंख्या वालों से उत्पन्न हुए कार्य की अपेक्षा से विचार किया जाय तो संख्या को लेकर ही कार्य के महत्परिमाण में अतिशय देखने में आता है । अतः संख्या भी कारण हो सकती है, अतः स्थलविशेष में केवल परिमाण या संख्या तथा स्थलविशेष में दोनों को कारण मानना उचित है इत्यादि स्वयं विचार लेना चाहिये ।

पदपदार्थ—प्रचयः च = प्रचय नामक संयोग भी, तूलपिण्डयोः = दो रुई के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतरेतरपिण्डावयवसंयोगापेक्षो वा द्वितूलके महत्त्वमारभते न बहुत्वमहत्त्वानि, समानसंख्यापलपरिमाणैरारब्धेऽतिशयदर्शनात्।

द्वित्वसंख्या चाण्वोर्वर्तमाना द्व्यणुकेऽणुत्वमारभते। महत्त्ववत् त्र्यणुकादौ कारणबहुत्वमहत्त्वसमानजातीयप्रचयेभ्यो दीर्घत्वस्योत्पत्तिः। अणुत्ववत् द्व्यणुके द्वित्वसंख्यातो ह्रस्वत्वस्योत्पत्तिः।

पिण्डों (गोलों) में, वर्तमानः = रहने वाला, पिण्डारंभकारम्भकावयवप्रशिथिलसंयोगान् = उस रुई के गोलों को उत्पन्न करने वाले अवयवों (रुई) के धुनने से अत्यन्त शिथिल हुए संयोगों की, अपेक्षमाणः = अपेक्षा करने वाला, इतरे-तरपिण्डावयवसंयोगापेक्षः वा = अथवा परस्पर रुई के गोलों के अवयवों के संयोग की अपेक्षा करने वाला द्वितूलके = उस दो रुई के गोलों के संयोग से उत्पन्न हुए एक बड़े रुई के गोलेरूप अवयवि द्रव्य में महत्त्वं = महत्परिमाण को आरभते = उत्पन्न करता है, न, = नहीं उत्पन्न करते, वहुत्वमहत्वानि संख्या अथवा महत्परिमाण जो दो गोलो में रहते हैं। समानसंख्यापलपरिमाणैः = समानसंख्या तथा पल (तौल) इत्यादिपरिमाण वालों से, आरब्धे = उत्पन्न हुए कार्य द्रव्य में, अतिशयदर्शनात् = अधिकता के दृष्टिगोचर होने से। द्वित्वसंख्या च = और द्वित्वसंख्या भी, अण्वोः = दो परणुमाओं में वर्तमाना = रहनेवाली, द्व्यणुक रूप अवययि द्रव्य में, अणुत्वं = अणुपरिमाण को, आरभते = उत्पन्न करती है। महत्ववत् (महत्परिमाण के समान) = त्र्यणुकादौ = त्र्यसरेणु इत्यादि अवयवि द्रव्यों में, कारणवहुत्वमहत्त्वसमानजातीय प्रचयेभ्यः = कारणगत बहुत्व संख्या, समान जाति के कारण गतमहत्परिमाण, तथा प्रचय नामक संयोग से, दीर्घत्वस्य = दीर्घपरिमाण की, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है। अणुत्ववत् = अणुपरिमाण के समान, द्व्यणुके = द्व्यणुक रूप अवयवि द्रव्य में, द्वित्वसंख्यातः = परमाणुगत द्वित्वसंख्या से, ह्रस्वत्वस्य = ह्रस्व परिमाण की, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार संख्याजन्य तथा परिमाणजन्य परिमाण का निरूपण कर तृतीय प्रचयजन्य परिमाण का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि दो रुई के पिण्डों से बनने वाले द्वितूलक दो रुई के ढेरों से एक अवयवि द्रव्य के जनक दो तूलपिण्ड (दो रुई के गोलों) में रहने वाला तूल (रुई) के धुनने से उत्पन्न शिथिलता (रुई के एक-एक रग का ढीला होना) नामक द्रव्यारंभक (१ धुनी हुई रुई के गोलेरूप द्रव्य को उत्पन्न करने वाला) संयोग विशेष प्रत्येक तूलपिण्डों के उत्पन्न करने वाले अतिशिथिल अवयवों के संयोगों की, अथवा परस्पर दोनों तूलपिण्डों के अवयवों के परस्पर संयोगों की अपेक्षा करता हुआ द्वितूलके (दो तूलपिण्डों के संयोग से उत्पन्न) एक पिण्डरूप अवयवि द्रव्य में महत्परिमाण को उत्पन्न करता है, उसके कारण दो तूल पिण्डों में रहने वाली अनेक संख्या या महत्परिमाण उस द्वितूलक एक पिण्डरूप अवयवि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रव्य के महत्परिमाण की जनक नहीं हो सकती क्योंकि दो पृथक् तूल पिंडों में बहुत्व संख्या नहीं है, महत्परिमाण रहने पर भी वह प्रचय की अपेक्षा रखता है, नरक्खे तो गुरुत्व (तौल) के समान होने से तथा उसके मूलकारण त्र्यणुकादि अवयविरूप अवयवों के समान होने से भी द्वितूलं द्रव्य में जो परिमाण अधिक दिखाई पड़ता है वह नहीं दिखाई पड़ेगा । तात्पर्य यह है कि यदि उस द्वितूलक द्रव्य के परिमाण का कारण संख्या को माना जाय तो समान संख्या वाले तीन धुने हुए तथा तीन न धने रूई के पिण्डों के संयोगों से उत्पन्न हुए दो पृथक्-पृथक् त्रितूलक दो अवयवि द्रव्यों में से धुनी रूई के पिण्डों से बने हुए त्रितूल एक पिण्ड में, न धुनी रुई के पिण्डों से बने हुए एक त्रितूलक पिण्डरूप अवयवी की अपेक्षा जो परिमाण बहुत बड़ा दिखाई पड़ता है वह न दिखाई देगा, क्योंकि दोनों के कारणों की संख्या समान ही है। इसी प्रकार कारण रूप तीन पिण्डों का महत्परिमाण यदि कार्य पिण्ड के परिमाण का कारण माना जाय तो न धुनी हुई ३ पिण्डों से बने हुए त्रितूल द्रव्य की अपेक्षा से धुनी हुई रुई के तीन पिण्डों से बने त्रितूलक द्रव्यरूप अवयवि द्रव्य में जो परिमाण में अधिकता होती है वह न होगी, अर्थात् न धुनी हुई तथा धुनी हुई रुई के पिण्डों में जब महत् परिणाम समान है तो उनसे उत्पन्न संयुक्तावयव, अवयवि द्रव्यों में परिमाण का छोटा तथा बड़ा होना; बिना रुई के धुनने से उत्पन्न रुई के रंग-रंग के अलग होने रूप अवयवों की शिथिलता नामक प्रचय संयोग से न बनेगा, अतः प्रचय ही को धुने रुई के ढेरों से उत्पन्न द्वितूलकादिरूप अवयवि द्रव्य के परिमाण में कारण मानना उचित है।

इस प्रकार प्रचयजन्य परिमाण का वर्णन कर द्व्यणुक से अणु परिमाण की उत्पत्ति का कारण कहते हैं कि दो परमाणुओं में रहने वाली द्वित्वसंख्या द्व्यणुक में अणु परिमाण को उत्पन्न करती है, क्योंकि द्व्यणुक का अणु परिमाण कार्य है जिसका समवायि कारण द्व्यणुक है, अतः उस द्व्यणुक के अणु परिमाण का असमवायि कारण भी अवश्य होना चाहिये, परमाणु परिमाण द्व्यणुक के और छोटा होने की आपत्ति से असमवायि कारण हो नहीं सकता, अतः परमाणुओं में वर्तमान द्वित्व संख्या ही द्व्यणुक के अणु परिमाण की उत्पत्ति में कार्यकारणैकार्थ समवायसंबंध से कारण है यह सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार महत्परिमाण की उत्पत्ति में जैसे कारण की बहुत्व संख्या, समान जातीय महत्परिमाण, तथा प्रचय कारण हैं, उसी प्रकार त्र्यणुकादि रूप अवयवि द्रव्यों में दीर्घ परिमाण की उत्पत्ति में भी वे ही कारण हैं, अर्थात् त्र्यणुक में कारण के बहुत्व संख्या से ही दीर्घता होती है, द्वितन्तुक (दो सूत के संयोग से उत्पन्न) अवयवि रूप द्रव्य में कारण की दीर्घता से ही दीर्घता होती है, द्वितन्तुक अवयवि द्रव्य में कारणगत बहुत्व संख्या तथा दीर्घता से दीर्घता होती है, तथा तीन धुनी रूई से बने हुए त्रितूलक रूप अवयवि द्रव्य में अत्यन्त शिथिल रूई के अवयवों के संयोग से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ त्र्यणुकादिषु वर्तमानयोर्महत्त्वदीर्घत्वयोः परस्परतः को विशेषः, द्व्यणुकेषु चाणुत्वह्रस्वत्वयोरिति ?

तत्रास्ति महत्त्वदीर्घत्वयोः परस्परतो विशेषः–महत्सु दीर्घेषु च महदानीयतामिति विशिष्टव्यवहारदर्शनादिति । अणुत्वह्रस्वत्वयोस्तु परस्परतो विशेषस्तद्दर्शिनां प्रत्यक्ष इति ।

तच्चतुर्विधमपि परिमाणमुत्पाद्यमाश्रयविनाशादेव विनश्यतीति ।

उत्पन्न मिलित कारणगत बहुत्व संख्या, दीर्घता, तथा प्रचय संयोगों से दीर्घत्व उत्पन्न होता है यह 'महत्त्ववत्' इस परिभाषा के अतिदेश का तात्पर्य है ।

इसी प्रकार अणु परिमाण के समान द्वित्व संख्या से ह्रस्व परिमाण की भी उत्पत्ति होती है, अर्थात् जिस प्रकार दूसरे कारण का असंभव होने से परमाणुओं में रहने वाली द्वित्वसंख्या द्व्यणुक के अणु परिमाण की जनक है, उसी प्रकार वह द्व्यणुक के ह्रस्व परिमाण की उत्पत्ति में भी कारण है ऐसा 'अणुत्ववत्' इस भाष्य के अतिदेश (समानोक्ति) का आशय है ।

पदपदार्थ—अथ = शंका है, = त्र्यणुकादिषु = त्र्यसरेणु आदि अवयवि द्रव्यों में, वर्तमानयोः = रहने वाले, महत्त्वदीर्घत्वयोः = महत् तथा दीर्घ परिमाणों में, परस्परतः = परस्पर में, को = कौन, विशेषः = भेद है । द्व्यणुकेषु च = और द्व्यणुकों में भी, अणुत्वह्रस्वत्वयोः = अणु तथा ह्रस्व परिमाण में (क्या भेद है) इति = ऐसी । तत्र = उनमें, अस्ति = है, महत्त्वदीर्घत्वयोः = महत् तथा दीर्घ परिमाणों में, परस्परतः = परस्पर में, विशेषः = भेद है, महत्सु = बड़ों में, दीर्घ = लम्बा, आनीयतां, = ले आओ, दीर्घेषु च = और लम्बों में, महत् = बड़ा, आनीयताम् = ले आओ, इति = इस प्रकार, विशिष्टव्यवहारदर्शनात् = विशेष व्यवहार दिखाने से, इति = ऐसा (भेद) है । अणुत्वह्रस्वत्वयोः तु = तथा अणु तथा ह्रस्व परिमाणों का, परस्परतः = परस्पर में, विशेषः = भेद तो, तद्दर्शिनां = परमाणु तथा द्व्यणुकों का योगबल से प्रत्यक्ष करने वाले योगियों को, प्रत्यक्षः = प्रत्यक्ष होता है, इति = इस प्रकार (भेद) है ।

तत् = उक्त स्वरूप, चतुर्विधं अपि = चारों प्रकार का भी अनित्य परिमाण, आश्रयविनाशात् एव = आधार द्रव्य के नाश ही से, विनश्यति = नष्ट होता है, इति = इस प्रकार परिमाण निरूपण समाप्त है ।

भाषाभाष्य—यहां पर पूर्वोक्त परिमाण गुण का चार प्रकार का प्रदर्शित विभाग अयुक्त है, क्योंकि दीर्घ तथा ह्रस्व परिमाण का क्रम से महत् तथा अणु परिमाण में अन्तर्भाव हो सकता है' ऐसा पूर्वपक्षी का आक्षेप भाष्यकार दिखाते हैं कि त्र्यसरेणु आदि द्रव्यों में रहने वाले महत् तथा दीर्घ परिमाण का परस्पर में क्या विशेष (भेद) है तथा द्व्यणुरूप अवयवि द्रव्य में वर्तमान अणु तथा ह्रस्व परिमाण में भी क्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(९) पृथक्त्वप्रकरणम् ।

पृथक्त्वमपोद्धारव्यवहारकारणम् । तत्पुनरेकद्रव्यमनेकद्रव्यं च । तस्य तु नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः संख्यया व्याख्याताः ।

एतावांस्तु विशेषः—एकत्वादिवदेकपृथक्त्वादिष्वपरसामान्याभावः संख्यया

भेद है, अतः परिमाण गुण का उक्त चतुर्विध विभाग असंगत है। इसका उत्तर देते हुए प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं कि महत् (बड़े परिमाण वाले) बांस में से लम्बे लाना, तथा लम्बे बांसों में से बड़ा बांस लाना, इस प्रकार के लोकसिद्ध व्यवहार के दर्शन से महत् तथा दीर्घ परिमाण का परस्पर भेद सिद्ध होता है, अर्थात् यदि महत् तथा दीर्घ परिमाण का अभेद हो तो लम्बों में से बड़ा ही बांस लाना वह ज्ञान न हो सकेगा। अतः महत् तथा दीर्घ परिमाण भिन्न हैं। द्वयणुक में रहने वाले अणु तथा ह्रस्व परिमाण का परस्पर भेद तो उस द्वयणुक द्रव्य को योग समाधि बल से प्रत्यक्ष देखने वाले योगियों को ही प्रत्यक्ष से ज्ञात हो सकता है क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थों का भी उन्हें योगबल से दर्शन होता है। हमारे ऐसों के लिये भाक्त व्यवहार यहां पुनः क्यों नहीं कहा गया इस की अन्यथा उपपत्ति न होना ही द्वयणुक के अणु तथा ह्रस्व परिमाण के भिन्न होने में प्रमाण है, अर्थात् तु शब्द से यह अर्थ प्रतीत होता है कि योगियों का द्वयणुकों में अणु तथा ह्रस्व परिमाण का प्रधान (मुख्य) भेद ज्ञान न माना जाय तो पूर्व-प्रदर्शित समिधादिक में गौण ह्रस्व व्यवहार न बनेगा। इस प्रकार परिमाण गुण की उत्पत्ति को दिखाकर उसके नाश का प्रकार भाष्यकार दिखाते हैं कि उक्त चारों प्रकार के जन्य परिमाणों का आश्रय द्रव्य के नाश ही से नाश होता है विरोधि गुणान्तर से ज्ञान के समान नाश नहीं होता। सूत्र २६५, २६६, २७७। शरीर रूप आश्रय के रहने पर भी उसके पूर्व परिमाण का नाश तथा दूसरे परिमाण की उत्पत्ति होती है अतः आश्रयनाश ही से नाश होता है यह कहना अयुक्त है। इस मीमांसकों की शंका का उत्तर यह है कि अवयवों के उपचयापचय से आश्रयनाश वहाँ भी मानना ही पड़ेगा इसी आशय से भाष्य में 'एव' कार दिया गया है।

(९) पृथक्त्वं प्रकरण ।

पदपदार्थ—पृथक्त्वं = पृथक्त्व नामक गुण, अपोद्धारव्यवहारकारणं = अपोद्धार (अलग करना) इसव्यवहार का कारण है। तत् = वह पृथक्त्वगुण, पुनः = फिर संख्या के समान, एकद्रव्यम् = एक आश्रय द्रव्य में रहनेवाला, अनेकद्रव्यं च = और अनेक आश्रय द्रव्यों में रहता है। तस्य तु = किन्तु उसकी, नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः = नित्य तथा अनित्य की सिद्धि, संख्यया = संख्यागुण से, व्याख्याता = व्याख्यात है। एतावान् तु = किन्तु इतना, विशेषः = विशेष है, एकत्वादिवत् = एकत्वादि संख्या के समान, एकपृथक्त्वादिषु = एक पृथक्त्वादिकों में, अपरसामान्याभावः = पृथक्त्व की व्याप्य जाति नहीं है, संख्यया तु = किन्तु संख्या से पृथक्त्व गुण में एक पृथक्त्व द्विपृथक्त्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तु विशिष्यते तद्विशिष्टव्यवहारदर्शनादिति ।

इत्यादि, विशिष्यते = विशेषता आती है, तद्विशिष्ट व्यवहारदर्शनात् = एकादि संख्या को लेकर एक पृथक्त्व इत्यादि व्यवहार देखने में आता है, इति = इस प्रकार पृथक्त्व गुण का वर्णन है ।

भाषाभाष्य—परिमाण निरूपण के पश्चात् क्रमप्राप्त पृथक्त्व गुण का भाष्यकार ने यह लक्षण किया है कि अपोद्धार (पृथक्करण) ज्ञान तथा व्यवह्रियतेऽनेन' जिससे व्यवहार हो इस व्युत्पत्ति बल से अभिधान (पृथक् शब्द) इन दोनों के कारण गुण को पृथक्त्व कहते हैं, इस लक्षण का पृथक्त्वगुण इतर पदार्थों से भिन्न है, अथवा पृथक् शब्द से इसका व्यवहार होता है, इस प्रकार प्रयोजन पूर्व लक्षणों में कहे अनुसार जान लेना चाहिये । तथा 'यह इससे पृथक है' यह विशिष्ट व्यवहार के विना विशेषण के न हो सकने के कारण भी पृथक्त्वगुणरूप विशेषण उसका निमित्त है यह सिद्ध होता है, बिना रूपादिकों के ज्ञान के भी यह व्यवहार होता है इस कारण तथा रूपादिव्यवहार से विलक्षण होने से भी उक्त व्यवहार से पृथक्त्व नामक एक अतिरिक्त गुण मानना आवश्यक है ।' यह इससे पृथक् है.' इस बाधरहित प्रत्यक्ष को भी पृथक्त्व गुण की सत्ता में प्रमाण मानना उचित है, अर्थात् पूर्वप्रदर्शित अनुमान तथा प्रत्यक्ष दोनों पृथक्त्व गुण मानने में प्रमाण हैं । यदि पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप करें कि 'घट पट से पृथक् है अथवा भिन्न है, इस प्रकार की दोनों प्रतीतियों में कोई वैलक्षण्य न होने के कारण अन्योन्याभाव में पृथक्त्वगुण का अन्तर्भाव जब हो सकता है तो अतिरिक्त एक पृथक्त्वगुण मानने की क्या आवश्यकता है' तो इसका समाधान यह है कि पृथक्त्व नामक गुण पंचम्यन्त पद से सूचित किसी पदार्थ की अवधि से दूसरे पदार्थ का वैलक्षण्य बतलाने वाला दो भाव पदार्थों का पृथक् स्वरूप है जैसे घट पट से (पृथक् है विलक्षण है) यह पृथक्त्व गुण है, और अन्योन्याभाव (जो अत्यन्ताभावादि चार अभावों में से विरोधरूप एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अभाव है) जैसे घट पट नहीं है जिसमें अवधि की पंचम्यन्त पद से सूचना नहीं होती वह पटरूप विरोधी से सूचित होता है तथा परस्पर वस्तुस्वरूप का विरोधरूप अभाव को कहता है, अर्थात् घट पट से पृथक् वस्तु रूप है, और घट पट नहीं है इन दोनों प्रतीतियों में भेद होने से पृथक्त्वगुण अन्योन्याभाव में अन्तर्भूत नहीं हो सकता । इसी कारण कन्दलीकार श्रीधराचार्य ने कहा है कि विधिरूप ज्ञान का विषय होने के कारण पृथक्त्वगुण अन्योन्याभाव नहीं हो सकता । व्योमशिवाचार्य ने उक्त आक्षेप का समाधान इस प्रकार किया है कि अन्य पदार्थ की अवधि के बिना एकत्वादि 'संख्याविशिष्ट घट पट से पृथक है' इत्यादि व्यवहार अन्योन्याभाव से अर्थान्तर (भिन्न अर्थ है) क्योंकि पदार्थों का परस्पर अभाव विशिष्ट व्यवहार दूसरे पदार्थ की अवधि को लेकर होता है न कि पृथक्त्वगुण के एकत्वादि-संख्या के सम्बन्ध को लेकर और पूर्वोक्त प्रकार से विलक्षण भी है, अतः पृथक्त्वगुण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(१०) संयोगप्रकरणम् ।

संयोगः संयुक्तप्रत्ययनिमित्तम्। स च द्रव्यगुणकर्महेतुः। द्रव्यारम्भे

अन्योन्याभाव से भिन्न है। और भी इस विषय में विस्तृत विचार किरणावली आदि निबन्धों में स्वयं देख लेना चाहिये।

यह पृथक्त्वगुण एक आधारद्रव्य में तथा अनेक आधारद्रव्यों में रहता है। एक द्रव्य में रहने वाले पृथक्त्व से अनेक द्रव्यों में रहने वाले पृथक्त्व गुण का अनेक द्रव्यों में रहना ही विशेषता है इसी बात को भाष्यकार ने 'तु' शब्द से प्रकट किया है। अर्थात् परिमाण नामक गुण एक द्रव्याश्रित ही होता है और पृथक्त्वगुण एक तथा अनेक द्रव्यों मे भी रहता है यह विशेषता है ॥

इस पृथक्त्वगुण के नित्य तथा अनित्य ऐसे भेद संख्यागुण से ही सिद्ध होते हैं, अर्थात् जिस प्रकार एक द्रव्य में वर्तमान एकत्व संख्या परमाणुओं में नित्य है, तथा कार्य द्रव्य में कारण गुणानुसारी है और आधार द्रव्य के नाश से नष्ट होती है, उसी प्रकार एक द्रव्याश्रित पृथक्त्व भी नित्यगत नित्य तथा अनित्यगत अनित्य है, और जिस प्रकार द्वित्वादि संख्या अनेक गुणाश्रय अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है, और अपेक्षा बुद्धि के विनाश से नष्ट होती है, तथा कहीं-कहीं आश्रय द्रव्य के नाश से नष्ट होती है, उसी प्रकार अनेक द्रव्यों में रहने वाला द्विपृथक्त्वादि गुण भी, इस कारण पृथक्त्वगुण की नित्यता तथा अनित्यता संख्यागुण के समान है न कि परिमाण के समान यह सिद्ध होता है ॥

इस प्रकार पृथक्त्वगुण के संख्यागुण के समान धर्म को वर्णन कर उन दोनों का परस्पर वैधर्म्य वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिस प्रकार संख्यात्वरूप व्यापक जाति की एकत्वद्वित्व आदि व्याप्य जाति हैं उस प्रकार पृथक्त्व जाति की एक पृथक्त्व आदि व्याप्य जातियां नहीं हैं, क्योंकि एक द्रव्य में वर्तमान पृथक्त्वगुण एक घटादि पदार्थ में संख्या तथा पृथक्त्व का समवायसम्बन्ध होने के कारण एकार्थ में समवेत एकत्वादि संख्या को लेकर 'यह एक पृथक है, ये दो पृथक् हैं, इत्यादि व्यवहार में विशेषता आ सकती है, अतः 'पृथक् है पृथक है' इस अनुगत बुद्धि से सिद्ध पृथक्त्व सामान्य मानने पर भी, द्विपृथक्त्वादि (दो घट पट से पृथक् हैं) इत्यादि बुद्धियों की विलक्षणता द्वित्वादि संख्या ही को लेकर ही हो सकती है इस कारण द्विपृथक्त्व इत्यादि पृथक्त्व जाति की व्याप्य जाती मानने की आवश्यकता नहीं है यह भाष्यकार का अभिप्राय है। किन्तु द्विपृथक्त्वादिकों की अवान्तर जाति हैं, द्वित्वत्वादि जाति नहीं है, क्योंकि द्वित्वादि विशिष्ट बुद्धि द्वित्वादि गुणों के अधीन होने से ही हो सकती हैं ऐसा उदयनाचार्य का यहां मत है। सूत्र (२८४)।

(१०) संयोगप्रकरण

पदपदार्थ—संयोगः = संयोग नामक गुण, संयुक्त प्रत्यय निमित्तम् = ये दोनों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निरपेक्षः—तथा भवतीति सापेक्षेभ्यो निरपेक्षेभ्यश्चेति वचनात्। गुणकर्मारम्भे तु सापेक्षः—'संयुक्तसमवायाद अग्नेर्वैशेषिकमिति' वचनात्।

अथवा ये अनेक संयुक्त हैं 'इस प्रतीति का कारण है। स च = और वह, द्रव्यगुणकर्महेतुः = द्रव्य, गुण, तथा कर्म तीन पदार्थों का कारण है। (उनमें से) द्रव्यारंभे = द्रव्यों को पैदा करने में, निरपेक्षः = किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करता हुआ, तथा = कारण, भवति = होता है, इति = इस प्रकार, सापेक्षेभ्यः = अपेक्षा सहित, निरपेक्षेभ्यः च = और अपेक्षा न करने वाले संयोगों से, इति = इस प्रकार, वचनात् = सूत्रकार के वचन स। गुणकर्मारंभे तु = किन्तु गुण तथा कर्म पदार्थ को उत्पन्न करने में, सापेक्षः = अपेक्षा सहित होता है, संयुक्तसमवायात् = संयुक्त समवायसम्बन्ध से, अग्नेः = अग्नि के, वैशेषिकम् = पाकजरूपादि विशेष गुण होते हैं, इति—ऐसा, वचनात् = सूत्रवचन होने से।

भाषाभाष्य—क्रमप्राप्त संयोग नामक गुण का भाष्यकार लक्षण दिखाते हैं कि ये दो पदार्थ अथवा अनेक पदार्थ परस्पर संयुक्त हैं इत्यादि ज्ञान तथा शब्द व्यवहार के कारण गुण का नाम है संयोग। अर्थात् संपूर्ण कार्य द्रव्यों में असमवायि कारण होते हैं संयोग, जैसे घटरूप कार्य में कपालों का परस्पर संयोग, उसमें रहने वाली तथा गुणत्व की व्याप्य संयोगत्व जातिमान् गुण को संयोग कहते हैं यह संयोग का लक्षण है। रूपादि प्रतीति से विलक्षण उपरोक्त 'यह इससे संयुक्त है' इत्यादि सर्वजनानुभव से ही सिद्ध संयुक्तप्रतीति का कारण संयोग है इस भाष्य वचन से संयोगगुण है, इसमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण है यह सूचित होता है। कार्य द्वारा संयोगगुण के सद्भाव में तर्क दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उक्त संयोग नामक गुण द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थों को उत्पन्न करता है जैसे तन्तु आदि अवयवों का संयोग पटादि द्रव्य में, आत्ममनः संयोग बुद्धि आदि गुण में, तथा भेरी आकाश का संयोग भी शब्द गुण में, प्रयत्नवान् आत्मा तथा हस्त का संयोग हस्तक्रिया में करण होता है यह स्वयं जान लेना चाहिये एवं च यदि संयोगगुण न माना जाय तो संयोगरूप कारण के न रहने से द्रव्यगुण तथा कर्म पदार्थ रूप कार्य बिना कारण के न होंगे, अथवा संयोगरूप कारण की अपेक्षा न होने से द्रव्यादि रूप कार्य सर्वदा होने लगेगा, क्योंकि पूर्वसिद्ध द्रव्यादि पदार्थ सदा समान रूप हैं, क्योंकि प्रातिक्षण में वस्तु नष्ट होती है तथा दूसरी उत्पन्न होती है ऐसे क्षणभङ्गवाद (बौद्धमत) तथा प्रतिक्षण में पदार्थ परिणामी हैं ऐसा सांख्यमत नैयायिकों के मत से अन्यत्र खण्डित है, अर्थात् परिणामवाद और क्षणभंगवाद नैयायिक नहीं मानते। उक्त संयोगगुण द्रव्यों को उत्पन्न करने में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि जैसे पटरूप कार्य द्रव्य को उत्पन्न करने में तन्तु परस्पर के संयोग की अपेक्षा करता है। संयोग के पश्चात् किसी की पटरूप कार्योत्पत्ति में अपेक्षा नहीं रहती, अतः कारणान्तर की अपेक्षा न करने वाला तन्तु-संयोग पटोत्पत्ति में कारण है, यह सिद्ध होता है। इस विषय में सूत्रकार की संमति दिखाते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ कथंलक्षणः कतिविधश्चेति ?

अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः । स च त्रिविधः—अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः,

हैं कि संयोग द्रव्यों की उत्पत्ति में निरपेक्ष कारण होता है, क्योंकि 'सा पेक्षेभ्यो निरपेक्षेभ्यश्च' ऐसा सूत्र है। अर्थात् यहाँ पर सूत्रकार ने 'भवति' इस वर्तमान प्रतीति के कारण कहे हुए संयुक्त तन्तुओं में अनपेक्ष शब्द का प्रयोग किया है जिससे संयोग द्रव्य को उत्पन्न करने में अनपेक्ष है यह तात्पर्य निकलता है। सूत्र के 'सापेक्षेभ्यः' इस पद से संयोग के उत्पत्ति के पूर्व भविष्यदवस्था को लेकर तन्तुरूप समवायिकारण कहे गये हैं जो संयोग रूप असमवायिकरण की पटरूप द्रव्य को उत्पत्ति में अपेक्षा करते हैं। किन्तु गुण तथा क्रिया को उत्पन्न करने में तो संयोगगुण सापेक्ष ही कारण होता है निरपेक्ष नहीं, क्योंकि 'संयुक्तसमवायात् अग्नेर्वैशेषिकम्' इस सूत्र में 'पार्थिव-परमाणुओं से सयुक्त अग्नि में समवेत होने से अग्नि में वर्तमान उष्णस्पर्श पाकज रक्तादि रूप में निमित्त कारण होता है इस कथन से संयोग को उत्पन्न न करने वाले अग्नि में वर्तमान उष्णस्पर्श की अपेक्षा करने के कारण संयोग सापेक्ष ही गुण का जनक होता है, यह सिद्ध है। इसी प्रकार क्रिया को उत्पन्न करने में भी तो दोनों तथा अभिघात नामक सयोग, स्पर्श, वेग इत्यादिकों की अपेक्षा करते हैं यह भी उक्त सूत्र वचन के बल से सिद्ध होता है। किन्तु यह नियम नहीं हो सकता कि सर्वत्र गुण तथा क्रिया को उत्पन्न करने में संयोग निमित्तान्तर की अपेक्षा करता है, क्योंकि आत्ममनः संयोग से ज्ञानादि गुणों की उत्पत्ति होने में पश्चात् होने वाले दूसरे निमित्त की अपेक्षा नहीं है, तथा क्रिया के उत्पत्ति में भी सर्वत्र सयोगगुण को अन्तिम किसी दूसरे निमित्त की अपेक्षा नहीं होती, जैसे पेड़ पर ढेला मारने से गिरने वाले आम का भूमि पर गिरना गुरुत्व की अपेक्षा नहीं करता, तथा नदी के प्रवाह में द्रवत्व की अपेक्षा न करने पर भी तृण तथा जल के संयोग से तृणादिकों में गमनरूप क्रिया होती है, अतः उक्त नियम नहीं हो सकता—इस प्रकार यहाँ व्योमशिवराचार्य ने समालोचना की है, जिससे यह सिद्ध होता है कि गुण कर्मारंभ में ही संयोग सापेक्ष है न कि सापेक्ष ही है, क्योंकि प्रदर्शित प्रकार से अनपेक्षत्व भी संयोग में ज्ञात होता है, इस प्रकार से 'गुणकर्मारथे सापेक्षः' इस सूत्र का सापेक्षत्व के असम्बन्ध के व्यावृत्ती में तात्पर्य नहीं है, यह सिद्ध होता है। सूत्र—३६३, ३६६, ३६७, ३६८, २७, २९ तथा १८१ सूत्र से १८६ तक तथा १९०, १९४, १९७, १९९, २०३, २०४, २०६, २१३ के सूत्र देखना।

पदपदार्थ—अथ = प्रश्न है, कथं लक्षणः = संयोग कैसे लक्षण वाला, कतिविधिः च = और उसके कितने भेद हैं ?

अप्राप्तयोः तु = उत्तर है अप्राप्त दो द्रव्यों के, प्राप्तिः = प्राप्त होने को, संयोगः = संयोगगुण कहते हैं। स च = और वह त्रिविधः = तीन प्रकार का है—अन्यतर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संयोगश्च। तत्रान्यतरकर्मजः—क्रियावता निष्क्रियस्य यथा स्थाणोः श्येनेन विभूनां च मूर्त्तैः। उभयकर्मजो—विरुद्धदिक्क्रिययोः सन्निपातः यथा मल्लयोर्मेषयोर्वा। संयोगजस्तूत्पन्नमात्रस्य चिरोत्पन्नस्य वा निष्क्रियस्य कारणसंयोगिभिरकारणैः कारणाकारणसंयोगपूर्वकः कार्याकार्यगतः संयोगः।

कर्मजः = दो में से एक की क्रिया से उत्पन्न उभयकर्मजः = दोनों की क्रिया से उत्पन्न (२) संयोगजः च = और संयोग से उत्पन्न (३) तत्र = उन तीनों से, अन्यतरकर्मजः = दो में से एक किसी की क्रिया से उत्पन्न संयोग का उदाहरण है—क्रियावता = क्रियाश्रय से, निष्क्रियस्य = क्रियारहित का संयोग, यथा = जैसे, स्थाणोः = क्रियाशून्य वृक्ष का, श्येनेन = क्रिया (गति) वान् बाजपक्षी से, विभूनां च = और क्रियारहित आकाशादि व्यापक द्रव्यों का, मूर्तैः = क्रियाश्रय पृथिवी आदि मूर्त द्रव्यों का संयोग। उभयकर्मजः = दोनों की क्रिया से उत्पन्न संयोग का उदाहरण है—विरुद्धदिक्क्रिययोः = विरुद्ध दिशाओं में क्रिया करनेवालों का, सन्निपातः = संयोगरूप मिलन, यथा = जिस प्रकार, मल्लयोः = दो मल्लों (पहलवानों) का मिलन, मेषयोः वा = अथवा दो मेषों (मेढों) का मिलनरूप संयोग। संयोगजः तु = किन्तु संयोग से उत्पन्न संयोग है, उत्पन्नमात्रस्य = तत्काल उत्पन्न भये द्रव्य का, चिरोत्पन्नस्य वा = अथवा देर से उत्पन्न द्रव्य का, निष्क्रियस्य = जो क्रियाशून्य है, कारणसंयोगिभिः = कारण में संयुक्त, अकारणैः = अकारणों के साथ, कारणाकारण संयोगपूर्वकः = कारण तथा अकारणों के संयोग से होनेवाला, कार्याकार्यगतः = कार्य तथा अकार्य में वर्तमान, संयोगः = संयोग।

भाषाभाष्य—अविरलगति क्रिया में संयोगगुण का अन्तर्भाव माननेवाले बौद्धमत से यहाँ प्रश्न होता है कि उक्त संयोग का क्या लक्षण है, तथा उसके कितने भेद हैं ?—उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि जो दो वर्तमान द्रव्य प्रथम अप्राप्त थे उनकी प्राप्ति को संयोग कहते हैं। यहाँ पर सम्बद्ध ही उत्पन्न भये दो पदार्थों के समवाय नामक नित्य सम्बन्ध के निवारणार्थ अप्राप्तयोः यह विशेषण दिया है। उक्त संयोग का लक्षण भी उसके इतर पदार्थों के भेद अथवा संयुक्त व्यवहार का साधक होता है यह प्रयोजन और पदार्थों के लक्षण के समान पूर्ववत् जान लेना चाहिये। इस संयोग गुण के दो में से एक द्रव्य की क्रिया से उत्पन्न (अन्यतरकर्मज) १, दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न (उभयकर्मज) २, तथा संयोग से उत्पन्न (संयोगजसंयोग) ३, ऐसे तीन भेद हैं। दो द्रव्यों में से एक द्रव्य में क्रिया होकर जो दोनों द्रव्यों का संयोग होता है वह अन्यतरकर्मजन्य संयोग होता है जैसे बाज पक्षी के गतिक्रिया से क्रियारहित वृक्ष का संयोग तथा व्यापक तथा क्रियाशून्य आकाशादि द्रव्यों का क्रियाश्रय मूर्तद्रव्यों का संयोग १॥ विरुद्ध पूर्व-पश्चिम तथा दक्षिण-उत्तर दो दिशाओं में जिन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स चैकस्माद् द्वाभ्यां बहुभ्यश्च भवति। एकस्मात् तावत् तन्तुवीरणसंयोगात् द्वितन्तुवीरणसंयोगः। द्वाभ्यां तन्त्वाकाशसंयोगाभ्यामेको द्वितन्तुकाकाशसंयोगः बहुभ्यश्च तन्तुतुरीसंयोगेभ्य एकः पटतुरीसंयोगः।

एकस्माच्च द्वयोरुत्पत्तिः। कथम्? यदा पार्थिवाप्ययोरण्वोः संयोगे सत्यन्येन पार्थिवेन पार्थिवस्यान्येनाप्येन चाप्यस्य युगपत्संयोगौ भवतस्तदा ताभ्यां संयोगाभ्यां पार्थिवाप्ये द्व्यणुके युगपदारभ्येते। ततो यस्मिन् काले द्व्यणुकयोः

दो द्रव्यो में क्रिया होकर जो दो द्रव्यों का मेलन होता है उसे उभयकमजन्य संयोग कहते हैं, क्योंकि दोनों की क्रिया परस्पर मिलन की कारण है, जैसे दो मल्लों का परस्पर युद्धार्थं मिलना अथवा दो मेषों (मेढों) का परस्पर टक्कर लेना २।। तत्काल में उत्पन्न अथवा बहुत पूर्वकाल में उत्पन्न क्रियाशून्य द्रव्य के कारण में संयुक्त जो उस द्रव्य के कारण नहीं हैं, उनसे कारण तथा अकारणों के संयोगपूर्वक कार्य तथा अकार्य में वर्तमान संयोग संयोगजसंयोग होता है। यहाँ पर कारण शब्द से समवायिकारण और अकारण शब्द से समवायिकारण से भिन्न लेना चाहिये। इसका उदाहरण में स्पष्टीकरण होगा।

पदपदार्थ—स च = और वह संयोगजन्य संयोग, एकस्मात् = एक संयोग से उत्पन्न, द्वाभ्यां = दो संयोगों से उत्पन्न, बहुभ्यः च = और अनेक संयोग से उत्पन्न, (भवति = होता है, इस प्रकार तीन संयोगजन्य संयोग के भेद हैं) एकस्मात् = एक संयोग से उत्पन्न, तावत् = प्रथम है, तन्तुवीरणसंयोगात् = तन्तु (सूत्र) तथा वीरण (जिससे कपड़ा बुना जाता है) के संयोग से, द्वितन्तुकवीरणसंयोगः = दो तन्तु से उत्पन्न पररूप अवयवी तथा वीरण का संयोग ॥ १ ॥ द्वाभ्यां = दो, तन्त्वाकाशसंयोगाभ्यां = तन्तु तथा आकाश के संयोगों से, एकः = एक, द्वितन्तुकाकाशसंयोगः = द्वितन्तुक पट तथा आकाश का संयोग ॥ २ ॥ बहुभ्यः च = और अनेक, (तन्तुतुरीसंयोगेभ्यः = तन्तु तथा तुरी के संयोगों से, एकः = एक, पटतुरी संयोगः = पट तथा तुरी का संयोग ॥ ३ ॥ एकस्मात् च = और एक संयोग से, द्वयोः = दो संयोगों की, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है। कथम् = कैसे ?, यदा = जिस समय में, पार्थिवाप्ययोः = पार्थिव तथा जलीय, अण्वोः = दो परमाणुओं के, संयोगेसति = संयोग होने पर, अन्येन = दूसरे, पार्थिवन = पार्थिव परमाणु से, पार्थिवस्य = पार्थिव परमाणु का, अन्येन = दूसरे, आप्येन च = और जलीय परमाणु से, आप्यस्य = जलीय परमाणु का, युगपत् = एककाल में, संयोगौ = दो संयोग, भवतः = होते हैं, तदा = उस समय, ताभ्यां = उन दोनों, संयोगाभ्यां = संयोगों से, पर्थिवाप्ये = पार्थिव तथा जलीय, द्व्यणुके = दो द्व्यणुकरूप अवयवि द्रव्य, युगपत् = एककाल में, आरभ्येते = उत्पन्न होते हैं। ततः = इसके अनन्तर, यस्मिन् = जिस, काले = समय में, द्व्यणुकयोः = उन दो द्व्यणुक रूप अवयवि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कारणगुणपूर्वक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः तस्मिन्नेव काले इतरेतरकारणाकारणगतात् संयोगादितरेतरकार्याकार्यगतौ संयोगौ युगपदुत्पद्येते ।

द्रव्यों में, रूपाद्युत्पत्तिः = रूप आदि गुणों को उत्पत्ति होती है, तस्मिन्नेव = उसी समय में, इतरेतर कारणाकारणगतात् = परस्पर के कारण तथा अकारणों में वर्तमान, संयोगात् = संयोग से, इतरेतर कार्याकार्यगतौ = परस्पर कार्य तथा अकार्य में वर्तमान, संयोगौ = दो संयोग, उत्पद्येते = उत्पन्न होते हैं ॥

भाषाभाष्य—पूर्वोक्त तीन प्रकार के संयोगों में से एक संयोग से उत्पन्न संयोगी, दो संयोगों से उत्पन्न संयोग तथा अनेक संयोगों से उत्पन्न संयोग इस भेद से संयोग-जन्य संयौग भी तीन प्रकार का है। जिनमें से प्रथम का उदाहरण भाष्यकार देते हैं कि एक तन्तु तथा वीरण के संयोग से द्वितन्तुक पट तथा वीरण का संयोग एक-संयोगजन्य संयोग का उदाहरण है, अर्थात् वीरण से संयुक्त तन्तु के दूसरे तन्तु के साथ संयोग से उत्पन्न क्रियारहित द्वितन्तुक पट के समवायिकारण स्वरूप एक तन्तु में संयुक्त वीरण से जो संयोग होता है वह कारण पूर्वक एक तन्तु वीरण संयोग से उत्पन्न होता है और वह समवायिकारण तन्तु और समवायि करण से भिन्न होने से अकारण वीरण के संयोगपूर्वक है तथा कार्य पट तथा अकार्य वीरण इन दोनों में समवेत भी है। द्वितीय का उदाहरण भाष्यकार ने यह दिया है कि दो तन्तु तथा आकाश के संयोगों से द्वितन्तुक पट तथा आकाश का संयोग दो संयोगों से उत्पन्न संयोग है, क्योंकि द्वितन्तुक पट तथा आकाश के संयोग में द्वितन्तुक पट के कारण दो तन्तुओं के आकाश के साथ दो संयोग ही कारण हो सकते हैं दूसरा कोई नहीं हो सकता। अनेक तुरी तथा तन्तुओं के संयोगों से एक पट तथा तुरी का संयोग अनेक संयोग-जन्य संयोग का भाष्य में उदाहरण दिया हैं। दो संयोग से एक संयोग के सामान एक संयोग से दो संयोग भी उत्पन्न होते हैं। कैसे ? इस प्रश्न के उत्तर भाष्यकार कहते हैं—कि जिस समय पार्थिव तथा जलीय दो परमाणुओं का संयोग होने पर, एक दूसरे पार्थिव परमाणु से उस पार्थिव परमाणु का, तथा एक दूसरे जलीय परमाणु से उस जलीय परमाणु का ऐसे दो संयोग एककाल में होते हैं उस समय उन दोनों संयोगो से पार्थिव तथा जलीय द्वयणुकरूप दो अवयवि द्रव्य एककाल में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि समान जातीय परमाणु आदि अवयवों का संयोग अवयवि द्रव्य का उत्पादक होता है। इसके पश्चात् जिस समय उन उक्त द्वयणुक रूप अवयवि द्रव्यों में कारण-गुण पूर्वक्रम के अनुसार रूपादि गुण उत्पन्न होते हैं उसी समय इतर (भिन्न) पार्थिव द्वयणुक का कारण पार्थिव परमाणु तथा अकारण जलीय परमाणु तथा इतर जलीय द्वयणुक द्रव्य का कारण, जलीय परमाणु और अकारण पार्थिव परमाणु, इन दोनों में समवायसम्बन्ध से रहने वाले संयोग से, इतर (दूसरे) पार्थिव परमाणु का कार्य पार्थिव द्वयणुक रूप अवयवि तथा अकार्य जलीय परमाणु तथा दूसरे जलीय परमाणु का कार्य जलीय द्वयणुक रूप अवयवि और अकार्य पार्थिव परमाणु इन दोनों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किं कारणम् ? कारणसंयोगिना ह्यकारणेन कार्यमवश्यं संयुज्यते इति न्यायः । अतः पार्थिवं द्व्यणुकं कारणसंयोगिनाप्येनाणुना सम्बद्ध्यते आप्यमपि द्व्यणुकं कारणसंयोगिना पार्थिवेनेति । अथ द्व्यणुकयोरितरेतरकारणाकारणसम्बद्धयोः कथं परस्परतः सम्बन्ध इति ? तयोरपि संयोगजाभ्यां संयोगाभ्यां सम्बन्ध इति ।

कार्य तथा अकार्य में समवायसम्वन्व से वर्तमान, पार्थिव परमाणु तथा जलीय द्व्यणुक का संयोग एक, तथा जलीय परमाणु एवं पार्थिव द्व्यणुक का दूसरा संयोग ऐसे दो संयोग पूर्वोक्त कारणाकारण गत एक ही संयोग से एक ही काल में उत्पन्न होते हैं। यह एक संयोगजन्य दो संयोगों का उदाहरण भाष्य में दिखलाया है ॥

पदपदार्थ—किं कारणम् = उक्त एक संयोग से दो संयोगों की उत्पत्ति होने में, कारणम् = कारण है ? कारणसंवोगिना = कारण में संयुक्त, हि = निश्चय से, अकारणेन = अकारण के साथ, कार्यं = कार्य, अवश्यं = अवश्य, संयुज्यते = संयुक्त होता है, इति = ऐसा, न्यायः = नियम है । अतः = इसकारण, पार्थिवं = पृथिवी सम्बन्धी, द्व्यणुकं = द्व्यणुक रूप अवयवि द्रव्य, कारणसंयोगिना = पार्थिव परमाणु रूप कारण में संयुक्त, आप्येन = जलीय परमाणु से, सम्बध्यते = संयुक्त होता है, आप्यम् अपि = जलीय भी, द्व्यणुक = द्व्यणुक रूप अवयवि द्रव्य, कारणसंयोगिना = जलीय परमाणु रूप कारण में संयुक्त, पार्थिवेन = पार्थिव परमाणु से सम्बद्ध होता है ॥ अथ = 'प्रश्न है'—द्व्यणुकयोः = पार्थिव तथा जलीय द्व्यणुक रूप दो अवयवि द्रव्यों का, इतरेतर कारणाकारणसम्बद्धयोः = जो परस्पर के कारण तथा अकारण परमाणुओं में सम्बद्ध हैं उनका, कथं = कैसे होता है, परस्परतः = परस्पर में, सम्बन्धः = सम्बन्ध,—इति = इस प्रकार ? तयोः अपि = उन दोनों का भी, संयोगजाभ्यां = संयोगजन्य, संयोगाभ्यां = दो संयोगों से, सम्बन्धः = सम्बन्ध होता है, इति = इसलिये ॥

भाषाभाष्य—उक्त एक संयोगजन्य दो संयोगों की प्रक्रियायें पार्थिव तथा जलीय दो द्व्यणुकरूप अवयवि द्रव्यों के, विजातीय परमाणुओं (पार्थिव द्व्यणुक के विजातीय जल परमाणु तथा जलीय द्व्यणुक के विजातीय पार्थिव परमाणु) के संयोग होने में क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार ने यह किया है कि कारण में संयुक्त अकारण के साथ कार्य का संयोग अवश्य होता है, यह अनुमान ही उसमें प्रमाण है, अर्थात् पार्थिव द्व्यणुक रूप अवयवि द्रव्य अपने कारण पार्थिव परमाणु में संयुक्त जलीय परमाणु में संयुक्त है, उसका (जलीय परमाणु का) उससे संयुक्त (जलीय प्रमाणु से संयुक्त) पार्थिव परमाणु का कार्य होने से, जैसे तुरी संयुक्त तन्तुओं का कार्य पट-तुरी से, इस अनुमान से पार्थिव तथा जलीय द्व्यणुकों का विजातीय परमाणुओं के साथ संयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार जलीय परमाणु, स्वसंयुक्त पार्थिव परमाणु के कार्य पार्थिव द्व्यणुकरूप कार्य से संयुक्त है द्वितन्तुक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नास्त्यजः संयोगो नित्यपरिमण्डलवत् पृथगनभिधानात् । यथा चतुर्विधं परिमाणमुत्पाद्यमुक्त्वाऽऽह नित्यं परिमण्डलमित्येवमन्यतरकर्मजादिसंयोगमुत्पाद्यमुक्त्वा पृथङ्नित्यं ब्रूयान्न त्वेवमब्रवीत् तस्मान्नास्त्यजः संयोगः । परमाणुभिराकाशादीनां प्रदेशवृत्तिरन्यतरकर्मजः संयोगः । विभूनां तु परस्परतः संयोगो नास्ति युतसिद्ध्यभावात् । सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वं पृथगाश्रयाश्रयित्वं चेति ।

पट में संयुक्त वीरण तुरी के समान संयोगी होने से इस अनुमान से भी उक्त विजातीय संयोगसिद्ध होता है, अतः यह सिद्ध हुआ कि पार्थिव द्वचणुक का अपने कारण में संयुक्त जलीय परमाणु का तथा जलीय द्वचणुक भी पार्थिव परमाणु का सम्बन्ध है ।

इस पर भी पुनः प्रश्न होता है कि 'पार्थिव द्वचणुक का जो पार्थिव परमाणु कारण है वह उससे इतर (भिन्न) जलीय द्वचणुक का अकारण (कारण नहीं) है तथा जलीय द्वचणुक का जो जलपरमाणुरूप कारण है वह उससे इतर पार्थिव द्रव्य का अकारण है, उन दोनों में सम्बद्ध द्वचणुक रूप दोनों अवयवियों का परस्पर सम्बन्ध कैसे हो सकता है' ? इसका उत्तर भाष्यकार इस प्रकार कहते हैं—कि संयोगजन्य दो संयोगों से उनका भी सम्बन्ध होता है, अर्थात् जो दो कार्य तथा अकार्यगत संयोग एक संयोग से उत्पन्न भये हैं उन दोनों से यह भी सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि पार्थिव द्वचणुक का जलीय परमाणु के साथ जो संयोगजन्य संयोग है। तथा जलीय द्वचणुक का पार्थिव परमाणु का जो संयोगजन्य संयोग है, उन दोनों से द्वचणुकों का परस्पर सयोग होता है, जिसमें 'कारण संयुक्त अकारण से कार्य का अवश्य सयोग होता है' यह अनुमान प्रमाण दिखा चुके हैं ।

पदपदार्थ—न अस्ति = नहीं है, अजः = नित्य, संयोगः = संयोग, नित्यपरिमण्डलवत् = नित्य परमाणुपरिमाण के समान । यथा = जिस प्रकार, चतुर्विधं = महत् आदि भेद से चार प्रकार का, परिमाणं = परिमाण नामक गुण, उत्पाद्यं = अनित्य (जन्य), उक्त्वा=कहकर, न आह = नहीं कहा है, नित्यं = नित्य है, परिमण्डलं=परमाणु परिमाण, इति = ऐसा, एवं = इस प्रकार, अन्यतरकर्मजादिसंयोगं = अन्यतर कर्मजन्य तीन प्रकार के अनित्य संयोगों को, उत्पाद्यं = जो अनित्य हैं, उक्त्वा = कहकर, पृथक् = उनसे भिन्न, नित्य = नित्य संयोग को, ब्रूयात् = कहते, नतु = किन्तु नहीं, एव = ऐसा, अब्रवीत् = कहा है (सूत्र कारने), तस्मात् = इस कारण न अस्ति = नहीं है, अजः = नित्य, संयोगः = संयोग । परमाणुभिः = पार्थिवादि परमाणुओं से, आकाशादीनां = आकाश, काल इत्यादि व्यापकद्रव्यों का, प्रदेशवृत्तिः = अव्याप्य वृत्ति, अन्यतरकर्मजः = दो में से एक परमाणुओं के क्रिया से उत्पन्न, संयोगः = संयोग है, विभूनां तु = किन्तु व्यापक द्रव्यों का, परस्परतः = परस्पर में, संयोगः = संयोगरूप सम्बन्ध, न अस्ति = नहीं है, युतसिद्ध्यभावात् = वक्ष्यमाणयुत सिद्धि न होने से ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सा पुनः = और वह है, द्वयोः = दो द्रव्यों की, अन्यतरस्य वा = अथवा दो में से एक द्रव्य की, पृथग्गतिमत्त्वं = भिन्न गति की आधारता, पृथगाश्रयाश्रितत्वं वा, = अथवा भिन्न आधार में आश्रित होना (रहना), इति = इस प्रकार ।

भाषाभाष्य—'चौथे नित्यसंयोग को न कहने से संयोग उक्त तीन प्रकार का ही है यह विभाग अयुक्त है' इस शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि नित्य परमाणु परिमाण के समान सूत्रकार ने नित्य संयोग को नहीं कहा है. इस व्यतिरेक दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त संयोग का विभाग संगत है, क्योंकि यदि नित्य संयोग भी होता तो चार प्रकार के महत् इत्यादि अनित्य परिमाण को वर्णन कर जिस प्रकार नित्य परमाणु परिमाण की 'पारिमाण्डल्यं' संज्ञा का सर्वज्ञ महर्षि ने वर्णन किया, उसी प्रकार अन्यतर कर्मजन्य आदि तीन प्रकार के प्रदर्शित अनित्य संयोगों का वर्णन कर नित्यसंयोग को भी कहते, किन्तु उसे न कहा इससे सिद्ध है कि नित्यसंयोग नहीं है। यदि पुनः पूर्वपक्षी आक्षेप करें कि 'नित्य होने से तथा अप्राप्ति का सम्भव न होने के कारण भी परमाणु तथा आकाशादि व्यापक द्रव्यों का भी नित्यसंयोग मानना पड़ेगा, सर्वज्ञ होने पर भी महर्षि कणाद ने भ्रम से उसे न कहा होगा, क्योंकि भ्रम होना पुरुषमात्र का धर्म है' इसका समाधान भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि परमाणुओं से आकाशादि व्यापक द्रव्यों का अव्याप्यवृत्ति दो में से एक परमाणुओं की क्रिया से संयोग उत्पन्न होता है, अर्थात् जिस प्रकार बड़े बड़े के पेड़ के (जो जड़ से सिरे तक व्यापक एक है) जड़ से लेकर सिरे तक तथा सिरे से जड़ तक चढ़ने तथा उतरनेवाले पुरुष के साथ संयोग, वृक्ष तथा पुरुष इन दो में से केवल पुरुष की चढ़ने-उतरने रूप क्रिया से होता है. उसी प्रकार व्यापक भी आकाशादि द्रव्य का परमाणुओं से संयोग केवल परमाणुओं की क्रिया से उत्पन्न है, क्योंकि वह अव्याप्य वृत्ति है अतः परमाणु और आकाशादि व्यापक द्रव्यों का संयोग नित्य नहीं हो सकता। यदि कहो कि 'आकाश मूर्त भिन्नकाल द्रव्य से संयुक्त है, मूर्त द्रव्यं से संयुक्त होने से शरीर के समान इस अनुमान प्रमाण से व्यापक द्रव्यों का भी संयोग हो सकता है; किन्तु वह व्यापक द्रव्यों के क्रियाशून्य होने से कर्मजन्य नहीं हो सकता तथा निरवयव होने से संयोगजन्य भी नहीं हो सकता' इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं—कि व्यापक द्रव्यों का युतसिद्धि न होने से संयोग हो ही नहीं सकता, अर्थात् जहाँ-जहाँ संयोग होता है वहाँ-वहाँ युतसिद्धि होती है ऐसी व्याप्ति के कारण संयोग की व्यापक युतसिद्धि न होने से आकाशादि व्यापक द्रव्यों में व्याप्य संयोगगुण नहीं हो सकता। उपरोक्त वादि का अनुमान उभय पक्ष में समान होने से साधक नहीं हो सकता तथा जिस प्रकार आकाशादिकों का संयोग इस अनुमान से सिद्ध होगा, उसी प्रकार विभाग भी व्यापकों का सिद्ध हो सकता है, किन्तु यह हो नहीं सकता, क्योंकि संयोग तथा विभागगुण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विनाशस्तु सर्वस्य संयोगस्यैकार्थसमवेताद्विभागात्, क्वचिदाश्रयविनाशादपि। कथम्? यदा तन्त्वोः संयोगे सत्यन्यतरतन्त्वारम्भके अंशो कर्मोत्पद्यते तेन कर्मणा अंश्वन्तराद्विभागः क्रियते विभागाच्च तन्त्वारम्भकसंयोगविनाशः संयोगविनाशात् तन्तुविनाशस्तद्विनाशे तदाश्रितस्य तन्त्वन्तरसंयोगस्य विनाश इति ॥

में एक के निरत होने से दूसरा हो नहीं सकेगा और इस प्रकार परस्पर प्रतिबन्ध के कारण संयोग तथा विभाग दोनों ही व्यापक द्रव्यों के न हो सकेंगे। पूर्वप्रदर्शित युतसिद्धि का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न के उत्तर द्वारा भाष्यकार उसका स्वरूप ऐसा वर्णन करते हैं कि दो सम्बन्धी द्रव्यों की अथवा दो द्रव्यों में एक द्रव्यरूप सम्बन्धी की भिन्न गति होना, अर्थात् उन दोनों के परस्पर विभाग को उत्पन्न करनेवाले क्रिया का सम्बन्ध इसे युतसिद्धि कहते हैं, अथवा युताश्रयाश्रितत्व अर्थात् परस्पर को छोड़कर भिन्न-भिन्न आधार में रहना भी युतसिद्धि का स्वरूप है। इन दोनों प्रकार की युतसिद्धि में प्रथम युतसिद्धि नित्य पदार्थों में होती है और दूसरी अनित्य द्रव्यों की ऐसा कन्दलीकार का मत है। अप्राप्तों की विद्यमानता दोनों का सामान्य लक्षण है। यह व्यापक द्रव्यों के उत्तरकाल में प्राप्ति का कारण न होने से नहीं हो सकती, ऐसा उदयनाचार्य का मत है। अर्थात् व्यापक आकाशादि द्रव्यों के अमूर्त होने से विभिन्न गति नहीं हो सकती, अतः उनमें प्रथम युतसिद्धी का असम्भव है तथा अकार्य होने से भिन्न आधार में समवेत होना भी असम्भव होने से द्वितीय युतसिद्धि भी नहीं हो सकती, अतः व्यापक द्रव्यों का संयोग मानना असङ्गत है ऐसा व्योमशिवाचार्य का अभिप्राय है।

पदपदार्थ—विनाशः तु = किन्तु नाश होता है, सर्वस्य = सम्पूर्ण, संयोगस्य = संयोगगुण का, एकार्थसमवेतात् = एक पदार्थ में समवायसम्बन्ध से विद्यमान, विभागात् = विभाग से, क्वचित् — कहीं-कहीं आश्रयविनाशात् अपि = आश्रय के नाश से भी। कथम् = किस प्रकार, यदा = जिस समय में, तंत्वोः = दो तन्तुओं का, संयोगे सति = संयोग होने पर, अन्यतरतंत्वारंभके = दो में से एक तन्तु के जनक और अंशु नामक अवयव में, कर्म = क्रिया, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, तेन = उस, कर्मणा = क्रिया से, अश्वन्तरात् = दूसरे अंशु अवयव से, विभागः = विभाग, क्रियते = किया जाता है, विभागात् च = और विभाग से, तंत्वारंभकसंयोगविनाशः = तन्तु के जनक संयोग का नाश होता है, संयोगविनाशात् = संयोग के नाश से, तन्तुविनाशः = तन्तु का नाश होता है, तद्विनाशे = उसका नाश होने पर, तदाश्रितस्य = उसके आधार से रहने वाले, तंत्वन्तरसंयोगस्य = दूसरे तन्तु के संयोग का, विनाशः = विनाश होता है, इति = इसलिये ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार संयोग की उत्पत्ति का निरूपण कर उसके विनाश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(११) विभागप्रकरणम् ।

विभागो विभक्तप्रत्ययनिमित्तम् । शब्दविभागहेतुश्च ।

प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभागः । स च त्रिविधः—अन्यतरकर्मज, उभयकर्मजो विभागजश्च विभाग इति । तत्रान्यतरकर्मजोभयकर्मजौ संयोगवत् । विभागजस्तु द्विविधः कारणविभागात् कारणाकारणविभागाच्च ।

का प्रकार भाष्यकार कहते हैं कि संपूर्ण तीनों प्रकार के संयोगगुण का नाश तो जिन दो द्रव्यों का संयोग रहता है उन्हीं दो द्रव्यों में उत्पन्न होने वाले विरोधी विभागगुण से वह संयोग नष्ट हो जाता है । किन्तु कहीं २ संयोगाश्रय द्रव्य के नाश से भी संयोग का नाश होता है । किस प्रकार ? इस प्रश्न के उत्तर में आधार द्रव्य के नाश से संयोगनाश का उदाहरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिस समय दो तन्तुओं का परस्पर संयोग होने पर, दो में से एक तन्तु के उत्पादक उसके अंशु नामक अवयव में तन्तुनाशक क्रिया उत्पन्न होती है और पश्चात् उस क्रिया से दूसरे अंशु अवयव से उस तन्तु का विभाग होता है, और क्रम से उस विभाग से तन्तु के जनक अंशु अवयवों का पूर्व संयोग नष्ट होने से तन्तुरूप अवयवि द्रव्य नष्ट हो जाता है, तो उसके आश्रित (सहारे) रहने वाले दूसरे तन्तु से उस तन्तु का संयोग भी नष्ट हो जाता है ।। अर्थात् 'क्रिया क्रियातो विभाग' इत्यादि नियम के अनुसार उक्त प्रकार से द्रव्य का नाश होने पर उसमें रहने वाले रूपाद गुण के समान संयोग भी नष्ट हो जाता है । यदि तन्तु-संयोग के विनाश के समय दूसरे तन्तु में भी विभागजनक क्रिया हो तो आश्रय नाश तथा विभाग दोनों से संयोग का नाश हो सकता है यह भी जान लेना चाहिये, अर्थात् कहीं केवल विभाग से, कहीं-कहीं आश्रय द्रव्य के नाश से और कहीं-कहीं दोनों से संयोग का नाश होता है ।। सूत्र (२९०) ।

(११) विभाग प्रकरण ।

पदपदार्थ—विभागः = विभाग नामक गुण, विभक्तप्रत्यय कारणं = ये दोनों विभक्त हैं इस ज्ञान का कारण है, शब्दविभाग हेतुः च = और शब्द तथा विभाग का कारण है । प्राप्तिपूर्विका = संयोगपूर्वक, अप्राप्तिः = अप्राप्ति (प्राप्ति के अभाव) को, विभाग = विभाग कहते हैं । स च = वह विभाग भी, त्रिविधः = तीन प्रकार का है—अन्यतरकर्मजः = दो में से एक की क्रिया से उत्पन्न (१), उभयकर्मजः = दो की क्रिया से उत्पन्न (२), विभागजः च = और विभागजन्य (३) । तत्र = उन तीनों में से, अन्यतरकर्मजोभयकर्मजो = अन्यतर कर्मजन्य तथा उभय कर्मजन्य विभाग हैं संयोगवत् = संयोग के समान ।। विभागजः तु = किन्तु विभागजन्य तीसरा विभाग है, द्विविधः = दो प्रकार का है—कारणविभागात् = कारण के विभाग से उत्पन्न, कारणाकारणविभागात् च = और कारण तथा अकारण के विभाग से उत्पन्न ।।

भाषाभाष्य—विभागगुण संयोगपूर्वक होता है इस कारण संयोगगुण के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनन्तर विभागगुण का वर्णन भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि ये दोनों पदार्थ विभक्त हैं इस प्रकार के ज्ञान तथा व्यवहार के कारण गुण का नाम है विभाग। अर्थात् विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रिया के उत्पत्ति के आधार क्षण रूप काल के अव्यहित उत्तरकाल में उत्पन्न होने वाले गुण में वर्तमान तथा गुण स्वरूप व्यापक जाति की साक्षात् व्याप्य विभागत्वजातिमान् गुण को विभाग कहतें हैं। यह विभाग गुण शब्द तथा विभाग का हेतु है इस कथन से विभागगुण अतिरिक्त है इसमें प्रमाण आगे दिखलायेंगे कुछ लोगों का ऐसा कथन है कि 'संयोगाभाव ही को विभाग मानेंगे, अर्थात् विभाग अभावरूप है अतिरिक्त गुण नहीं है' तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि विभाग के न रहने पर संयोग का अभाव किससे होगा। यदि कहो कि 'क्रिया से, तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि क्रिया का गुण का नाश करने मे सामर्थ्य नहीं है। विरोधी गुण ही गुण के नाशक होते हैं यह देखने में आता है तथा संयोगाभाव रूप विभाग मान कर ये दोनों विभक्त हैं, इत्याकारक सर्वजनसिद्ध अनुभव का अपलाप करना भी उचित नहीं है। इसलिये विभाग भी एक अतिरिक्त गुण अवश्य मानना उचित है। इस विषय में अधिक विस्तार कणादरहस्यादि निबंध में देख लेना चाहिये। उक्त विभागगुण शब्द तथा विभाग का कारण है इस कथन से शब्द तथा विभाग-रूप कार्य से कारण का अनुमान विभागगुण के अंगीकार में प्रमाण दिखाया गया है, जो इस प्रकार है—फाड़े जाने वाले बाँसका शब्द, संयोगादिकों से भिन्न कारण से उत्पन्न है, संयोगादि कारण का असंभव होने पर भी उत्पन्न होता है, इस कारण, जैसे अवयविरूप—इस प्रकार अन्वयि हेतुक अनुमान। अथवा जो उक्त हेतु का अधिकरण नहीं होता उसमें साध्य भी नहीं रहता जैसे संयोगजन्य शब्द इस प्रकार व्यतिरेकि हेतुकानुमान॥ वह संयोगादि भिन्न हेतु विभाग है जिसका फाड़े हुए बाँस का शब्द कार्य है, यह आगे स्पष्ट किया जायगा॥ सू० २९१, ११०॥

उपरोक्त विभक्त प्रत्यय के निमित्त विभाग गुण का इतरव्यावर्तक अथवा व्यवहार-साधक लक्षण दिखलाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि प्राप्ति (संयोग) पूर्वक अप्राप्ति के विभाग कहते हैं, संयोग की अनुत्पत्ति ही अप्राप्ति शब्द का अर्थ है न कि प्राप्ति-पूर्वक। प्राप्ति विरोधी-गुण का नाम है विभाग। यदि कहो कि 'संयोगरूपप्राप्ति के साथ देश से या काल से या स्वरूप से विभाग का विरोध क्योंकर होगा' तो यह कहना अनुचित है क्योंकि संयोगपूर्वक अप्राप्ति को विभाग कहते हैं जिससे प्राप्ति (संयोग) नाश्य है तथा विभाग घातक है, यह सिद्ध होता है। अतः संयोगनाशक गुण विभाग कहाता है'—ऐसा उदयनाचार्य का मत है। उक्त विभागगुण का विभाग (भेद) दिखलाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि विभागगुण भी संयोग के समान अन्य-तरकर्मजन्य १, उभयकर्मजन्य २ तथा विभागजन्य ३। इस भेद से तीन प्रकार का है। जिनमें से अन्यतरक्रियाजन्य तथा उभयक्रियाजन्य विभाग संयोग के समान हैं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र कारणविभागात् तावत्–कार्याविष्टे कारणे कर्मोत्पन्नं यदा तस्यावयवान्तराद्विभागं करोति न तदाऽऽकाशादिदेशात् यदा त्वाकाशादिदेशाद्विभागं करोति न तदावयवान्तरादिति स्थितिः । अतोऽवयवकर्मावयवान्तरादेव

अर्थात् वृक्ष तथा पक्षी इन दोनों में से केवल पक्षी की क्रिया से वृक्ष तथा पक्षी का विभाग होता है यह अन्यतर क्रियाजन्य विभाग का, तथा दोनों मल्ल या मेषों की क्रिया से दोनों का परस्पर पृथक् होना यह उभयक्रियाजन्य द्वितीय विभाग का उदाहरण संयोग के समान जान लेना चाहिये । विभागजन्य तृतीय विभाग में विशेषता दिखलाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि संयोगजन्यसंयोग कारणाकारणसंयोग एक ही प्रकार का है (जिसका संयोग प्रकरण में निरूपण हो चुका है, किन्तु विभागजन्य विभाग केवल कारण के विभाग से उत्पन्न एक तथा कारण और अकारण के विभाग से उत्पन्न एक, ऐसे दो विभाग हैं ।

सामग्री भेद से यह विभाग का भेद है, ऐसा भाष्य का तात्पर्य है, इसलिये यहाँ यह शंका नहीं हो सकती कि एक कारण से भी अनेक कार्य की उत्पत्ति दिखाती है, अतः कारणभेद से भेद क्यों माना जाय । इससे यह सारांश निकलता है कि एक सामग्री केवल कारण विभाग से युक्त है । तथा दूसरा कारण तथा अकारण के विभाग से युक्त । अतः सामग्री के भेद से विभागजन्य विभाग का भेद होना संगत है तथा विरुद्धधर्माश्रय होने से और भिन्न प्रतिभास ज्ञान, को विषय करने से भी उक्त भेद हो सकता है, क्योंकि कारण विभागजन्य विभाग क्रियाश्रय ही का होता है और कारण तथा अकारण के विभाग से उत्पन्न विभागजन्यविभाग निष्क्रिय द्रव्य का ही होता है एवं कारणविभागपूर्वक विभाग शब्द का उत्पादक होता है और कारण तथा अकारण के विभाग से उत्पन्न विभागजविभाग विभाग ही को उत्पन्न करता है ऐसा भिन्न प्रतिभास होता है । उक्त विरुद्धधर्माश्रयता तथा भिन्न प्रतिभास विषयता से अन्य स्थलों में जब भेद दिखाई देता है तो यहाँ भी उक्त हेतुओं से भेद मानना आवश्यक है ।

पदपदार्थ—तत्र = उक्त उन दोनों विभागज विभागों में, कारणविभागात् = कारण के विभाग से उत्पन्न होनेवाला, तावत् = प्रथम है, कार्याविष्टे = कार्य से व्याप्त, कारणे = कारण में, कर्म = क्रिया, उत्पन्न = उत्पन्न होकर, यदा = जिस समय में, तस्य = उस अवयव का, अवयवान्तरात् = दूसरे अवयव से, विभागं = विभाग को, करोति = करती है, न = नहीं करती, तदा = उस समय में, आकाशादिदेशात् = आकाशादि प्रदेश से, यदा तु = और जिस समय में, आकाशादिदेशात् = आकाशादि देश से, विभागं = विभाग को, करोति = करती है, न = नहीं करती, तदा = उस समय में, अवयवान्तरात् = दूसरे अवयव से, इति = ऐसा, स्थितिः = नियम है। अतः = इस कारण, अवयवकर्म = अवयव की क्रिया, अवयवान्तरात् एव = दूसरे अवयव-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विभागमारभते ततो विभागाच्च द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः तस्मिन् विनष्टे कारणाभावात् कार्याभाव इत्यवयविविनाशः, तदा कारणयोर्वर्तमानो विभागः कार्यविनाशविशिष्टं कालं स्वतन्त्रं वावयवमपेक्ष्य सक्रियस्यैवावयवस्य कार्यसंयुक्तादाकाशादिदेशाद्विभागमारभते न निष्क्रियस्य कारणाभावादुत्तरसंयोगानुत्पत्तावनुपभोग्यत्वप्रसङ्गः ।

से ही, विभागं = विभाग को, आरभते = उत्पन्न करती है, ततः = उस, विभागात् च = विभाग से भी, द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः = द्रव्य के उत्पादक पूर्व संयोग का नाश होता है, तस्मिन् = उस संयोग के, विनष्टे = विनाश होने पर, कारणाभावात् = कारण के न होने से, कार्याभावः = कार्यद्रव्य का अभाव होना है, इति = इस प्रकार, अवयविविनाशः = अवयविद्रव्य का विनाश हो जाता है, तदा = उस समय में, कारणयोः = दो कारणों में, वर्तमानः = रहनेवाला, विभागः = विभाग, कार्यनाशविशिष्टं = अवयविरूप कार्यनाशयुक्त, कालं = समय की, स्वतंत्रं वा = अथवा स्वतंत्र, अवयवं = अवयव की, अपेक्ष्य = अपेक्षाकर, सक्रियस्य एव = क्रियासहित ही, अवयवस्य = अवयव का, कार्यसंयुक्तात् = कार्य से संयुक्त, आकाशादिदेशात् = आकाशादि प्रदेश से, विभागं = विभाग को, आरभते = उत्पन्न करता है, न = नहीं करता, निष्क्रियस्य = क्रियारहित अवयव का, कारणाभावात् = क्रियारूप कारण के न होने से, उत्तरसंयोगानुत्पत्तौ = उत्तरसंयोगरूप कार्य की उत्पत्ति न होने से, अनुपभोग्यत्वप्रसङ्गः = उपभोग की योग्यता न आने की आपत्ति आ जायगी ।

भाषाभाष्य—उक्त दो प्रकार के विभागजन्य विभागों में से प्रथम कारण मात्र के विभाग से उत्पन्न विभाग का निरूपण करते हुए प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं कि जिस समय कार्य से व्याप्त कारण अवयवरूप में नाशक क्रिया उत्पन्न होकर, उस अवयव का दूसरे अवयव से अवयवि द्रव्य के उत्पन्न करनेवाले पूर्वसंयोग के विनाश करनेवाले विभाग को उत्पन्न करती है, उस समय अवयविरूप द्रव्य को न उत्पन्न करनेवाले आकाशादि प्रदेश से विभाग को उत्पन्न नहीं करती, और जिस समय उक्त स्वरूप आकाशादि प्रदेश से विभाग को उत्पन्न करती है उस समय अवयवि द्रव्य के उत्पादक दूसरे अवयव से विभाग को उत्पन्न नहीं करती । अर्थात् द्रव्य के उत्पन्न करनेवाले संयोग के अविरोधी विभाग को उत्पन्न करनेवाली क्रिया द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं करती, और जो क्रिया द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करती है वह द्रव्य के आरम्भक संयोग का विरोध न करनेवाले विभाग को उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि विकसित होनेवाले कमल की कली इत्यादिकों में ऐसा देखने में आता है—अर्थात् यदि अवयवि को नष्ट करनेवाली क्रिया अवयवि नाशक हो तो खिलती हुई कमल की कली विनष्ट हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जायगी ।--पूर्वोक्त नियम मानने से क्या हुआ ? ऐसे प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि अवयवि द्रव्य के आरम्भक अवयव की विशेष क्रिया अवयवान्तर से ही विभाग को करती है, अर्थात् द्रव्य के आरम्भक संयोग के विरोधी दूसरे अवयव से ही विभाग को उत्पन्न करती है, न कि उसके अविरोधी विभाग को। उस जल विभागविशेष से द्रव्य के उत्पादक पूर्वसंयोग के नष्ट होने के कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है इस प्रकार पूर्व अवयवि द्रव्य का विनाश हो जाता है। यदि कहो कि इस प्रक्रिया से विभागजन्य विभाग कैसे सिद्ध हुआ ? तो इस पर भाष्यकार विभागजन्य विभाग को सिद्ध करने के लिये अग्रिम प्रक्रिया इस प्रकार दिखाते हैं कि अवयवि द्रव्य का नाश होने पर उसके दो अवयवरूप कारणों में रहने वाला विभाग, अवयवि •द्रव्यनाश विशिष्ट समय अथवा स्वतन्त्र अपने अवयव की अपेक्षा कर क्रियाधार ही अवयव का अवयविद्रव्य से पूर्व में संयुक्त रहनेवाले आकाशादि प्रदेश से विभाग को उत्पन्न करता है, अर्थात् विभाग दूसरे विभाग को उत्पन्न करने में अवश्य किसी दूसरे की अपेक्षा करेगा, यदि न करे तो उसमें 'संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्म' इस कर्म लक्षण के उसमें संगत होने से वह कर्मरूप हो जायगा। अतः कार्य अवयविद्रव्य के नाश के समय की अथवा स्वतन्त्र अवयव की अपेक्षा कर ही पूर्वोक्त विभाग क्रियाधार ही अवयव का अवयविद्रव्य से पूर्व में संयुक्त आकाशादि देश से विभाग को उत्पन्न करता है। कारणों में रहनेवाला विभाग क्रियाधार ही का विभाग क्यों उत्पन्न करता है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ भाष्यकार आगे कहते हैं कि विभाग से विभाग की उत्पत्ति में क्रिया के निमित्त कारण होने के कारण क्रिया यदि अवयव में न हो तो विभाग उत्पन्न न होगा तथा उत्तर संयोग के न हो सकने से उपभोग योग्यता न रहने की भी आपत्ति आ जायगी। तात्पर्य यह है कि उत्तरसंयोग से क्रिया की निवृत्ति होती है, इस कारण अर्थात् उत्तर संयोग ही उत्पादक क्रिया का नाशक है, वह विभाग-जन्य विभाग से पूर्व संयोग के निवृत्त होने पर होगा, क्योंकि पूर्वसयोग के रहते उत्तर संयोग कभी हो नहीं सकता, यदि प्रथम ही क्रिया निवृत्त हो जायगी तो कारण के न रहने से उत्तर संयोगरूप कार्य के न होने से क्रिया उपभोग की योग्यता न रख सकेगी तथा उसमें पुरुषार्थता भी न आ सकेगी। अर्थात् उत्तरसंयोग की कारणरूप क्रिया की कार्यरूप उत्तरसंयोग से विभाग की निवृत्ति देखने मे आती है, इस कारण उत्तरसंयोग के उत्पन्न न होने पर निष्प्रयोजनता तथा विनाशिता की आपत्ति हो जायगी, क्योंकि क्रिया का पूर्वसयोग को निवृत्त कर उत्तरसंयोग की उत्पत्ति करना ही प्रयोजन है, तथा उसका विनाश होता है, यह दोनों सङ्गत हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न तु तदवयवकर्माकाशादिदेशाद्विभागं करोति तदारम्भकालातीतत्वात्। प्रदेशान्तरसंयोगं तु करोत्येव अकृतसंयोगस्य कर्मणः कालात्ययाभावादिति। कारणाकारणविभागादपि कथम् ?

यदा हस्ते कर्मोत्पन्नमवयवान्तराद् विभागमकुर्वदाकाशादिदेशेभ्यो

पदपदार्थ—नतु = किन्तु नहीं, तत् = वह, अवयवकर्म, अवयव की क्रिया, आकाशादिप्रदेशात् = आकाशादि प्रदेश से, विभागं = विभाग को, करोति = कर ली है, तदारम्भक कालातीतत्वात् = उसके विभाग को उत्पन्न करने का समय व्यतीत होने से। प्रदेशान्तरसंयोग = दूसरे आकाशप्रदेश के साथ संयोग को तु = किन्तु, करोति एव = करती ही है। अकृत संयोगस्य = बिनासंयोग को उत्पन्न करनेवाले, कर्मण: = क्रिया का, कालात्ययाभावात् = समय व्यतीत न होने से। कारणाकारण-विभागात् अपि = कारण तथा अकारण के विभाग से भी (विभागजन्य विभाग) कथम् = किस प्रकार होता है ? ॥

भाषाभाष्य—यदि इतने समय तक क्रिया रहती है ऐसा माना जाय तो, वही उत्तर विभाग की उत्पादक है ऐसा क्यों न माना जाय, विभागजन्य विभाग मानने की क्या आवश्यकता है' ? इस शंका के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि वह अवयव की क्रिया आकाशादि देश से विभाग को नहीं कर सकती, क्योंकि उसका विभाग को उत्पन्न करने का समय व्यतीत हो गया है, अर्थात् क्रिया का यह स्वभाव है कि वह असमवायिकारण होने से विभाग को अपने उत्पत्ति के अव्यवहित (व्यवधानरहित) उत्तरक्षण में ही उत्पन्न करती है, अन्य क्षण में नहीं, वह उसका विभाग का उत्पादक समय द्वितीय विभाग के उत्पत्तिक्षण में व्यतीत हो चुका है, अत: उस क्रिया से आकाशादि प्रदेश का विभाग नहीं हो सकता। यदि कहो कि उत्तरसंयोग को भी अनेक क्षणों का व्यवधान होने से वह क्रिया न कर सकेगी' तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि बिना संयोग के किये क्रिया का काल अतीत नहीं होने से आकाशादि प्रदेशान्तर में वह अवश्य संयोग के कर सकती है, अर्थात् उत्तरसंयोग को उत्पन्न करने में पूर्वसंयोग प्रतिबन्धक है, क्योंकि क्रिया प्राप्त के परित्याग किये बिना अप्राप्त की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं होती। अत: उसके अभाव का काल ही संयोग के आरम्भ का काल है, और वह अतीत (बीता) नहीं है इस कारण वह क्रिया प्रदेशान्तर में उत्तर-संयोग को अवश्य ही कर सकती है।

इस प्रकार कारणमात्र के विभाग से उत्पन्न विभागजन्य विभाग के वर्णन का कारण तथा अकारण दोनों के विभाग से उत्पन्न होनेवाले द्वितीय विभागजन्यविभाग का वर्णन करने के लिये भाष्यकार प्रश्न उठाते हैं कि कारण तथा अकारण के विभाग से विभाग किस प्रकार होता है ? ॥

पदपदार्थ—यदा = जिस समय में, हस्ते = हाथ में, कर्म = क्रिया, उत्पन्नं = उत्पन्न होकर, अवयवान्तरात् = दूसरे अवयव से, विभागं = विभाग को, अकुर्वत् = न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विभागानारभ्य प्रदेशान्तरे संयोगानारभते तदा ते कारणाकारणविभागाः कर्म यां दिशं प्रति कार्यारम्भाभिमुखं तामपेक्ष्य कार्याकार्यविभागानारभन्ते, तदनन्तरं कारणाकारणसंयोगाच्च कार्याकार्यसंयोगानिति । यदि कारण-विभागानन्तरं कार्यविभागोत्पत्तिः कारणसंयोगानन्तरं कार्यसंयोगोत्पत्तिः । नन्वेवमवयवावयविनोर्युतसिद्धिदोषप्रसङ्गः इति । न । युतसिद्ध्यपरिज्ञानात् ।

करते हुए, आकाशादिदेशेभ्यः = आकाशादि प्रदेशों से, विभागान् = विभागों को, आरभ्य = आरंभकर, प्रदेशान्तरे = दूसरे आकाशादि प्रदेश में, संयोगान् = संयोगों को, आरभते = उत्पन्न करती है, तदा = उस समय में, ते = वे, कारणाकारणविभागाः = कारण (अवयव) तथा अकारण (आकाशदिप्रदेश) के विभाग, कर्म = क्रिया, यां = जिस, दिशं प्रति = दिशा के सम्मुख, कार्यारम्भाभिमुखं = कार्य के उत्पन्न करने में अग्रसर होता है, तां = उस दिशा की, अपेक्ष्य = अपेक्षा कर, कार्याकार्यविभागान् = अवयविरूप कार्य तथा आकाशादि प्रदेशरूप अकार्यों के विभागों को, आरभन्ते = उत्पन्न करते हैं, तदनन्तरं = इसके पश्चात् , कारणाकारणसंयोगात् = च अवयवरूप कारण तथा आकाशादि प्रदेशरूप अकारण के संयोग से भी, कार्याकार्यसंयोगान् = अवयविरूप कार्य तथा आकाशादिप्रदेशरूप संयोगों को भी उत्पन्न करते हैं । यदि = यदि, कारणविभागानन्तरं = कारण (अवयव) के विभाग के पश्चात् , कार्यविभागोत्पत्तिः = अवयविरूपकार्य के विभाग की उत्पत्ति होती है, कारणसंयोगानन्तरं = अवयवरूप-कारण के संयोग के पश्चात् , कार्यसयोगोत्पत्तिः = अवयविरूप कार्य के संयोग की उत्पत्ति, हो सकती है । ननु = शंका है, एवं = ऐसा मानने से, अवयवावयविनोः = अवयव तथा अवयवि में, युतसिद्धिदोषप्रसङ्गः = पृथक् सिद्धिरूप दोष की आपत्ति आ जायगी । न = ऐसी शंका नहीं हो सकती । युतसिद्ध्यपरिज्ञानात् = शंका करनेवाले को युतसिद्धि का परिज्ञान न होने से ।

भाषाभाष्य—प्रश्न के उत्तर में कारण तथा अकारण के विभाग से जन्य विभाग की प्रक्रिया का भाष्यकार इस प्रकार वर्णन करते हैं कि जिस समय किसी कारण हस्त में क्रिया उत्पन्न होकर उस हस्त का दूसरे अवयव से विभाग को न कर आकाशादि प्रदेशों से 'क्रिया क्रियातो विभागः' इस न्याय से विभागों को उत्पन्न कर दूसरे आकाशादि प्रदेशों से जिस समय उत्तर संयोगों को करती है उस समय शरीर के अवयव रूप कारण हस्त का तथा अकारण आकाशादि देशों के भी विभाग, क्रिया ने जिस दिशा में अपने कार्य के करने में अभिमुख होकर उत्तर संयोग रूप कार्य को उत्पन्न किया उसी दिशा की अपेक्षा कर हस्त के कार्य शरीर तथा अकार्य आकाशादि प्रदेशों के विभागों को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि भीत से हाथ के पृथक होने से शरीर का भी भीत से पृथक् होना देखाई देता है । यह विभाग जन्य विभाग शरीर के क्रिया रहित होने से शरीर की क्रिया से उत्पन्न नहीं माना जा सकता, न तो यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वमियन्तु नित्यानाम् , अनित्यानां तु

शरीर से भीत का विभाग हस्त की क्रिया से उत्पन्न है ऐसा मान सकते हैं क्योंकि व्यधिकरण (भिन्न आश्रय में वर्तमान) क्रिया, भिन्न आश्रय में विभाग की कारण नहीं हो सकती । अतः पूर्वोक्त रीति से कारण तथा अकारण का विभाग ही उसका कारण है यह सिद्ध होता है । यहाँ पर 'आदि' पद आकाश काल दिशादि सपूर्ण व्यापक द्रव्यों का सूचक है, अन्यथा 'विभागान्' यह बहुवचन असगत हो जायगा यह जान लेना चाहिये । उक्त विभाग जन्य विभाग के पश्चात् होने वाले संयोग निरूपण में पूर्व प्रदर्शित संयोग जन्य संयोग का भी प्रसंग से स्मरण कराते हुए भाष्यकार कहते हैं कि विभाग जन्य विभाग के अनन्तर शरीर के अवयव रूप कारण हस्त का तथा उसके अकारण आकाशादि प्रदेशों के क्रिया जन्य संयोग क्रिया रहित हस्त कार्य शरीर को तथा हस्त के अकार्य आकाशादि प्रदेशों के संयोगों को उत्पन्न करते हैं, न कि हस्त की क्रिया, क्योंकि वह अपने आश्रय हस्त के ही अन्य देश में संयोग का कारण है । यहाँ पूर्व पक्षी इस प्रकार आक्षेप उठाता है कि-यदि कारण हस्त विभाग के पश्चात् कार्य शरीर के विभाग की उत्पत्ति होती है, तथा कारण हस्त के संयोग के पश्चात् हस्त कार्य शरीर के संयोग की उत्पत्ति होती है एक काल में नहीं होती ऐसा स्वीकार करें , तो हस्त रूप अवयव तथा शरीर रूप अवयवी इन दोनों में युतसिद्धि (पृथक् वर्तमानता) रूप दोष आ जायगा, अर्थात् यदि हस्त के शरीर आश्रित है तो हस्त के चलने से शरीर भी साथ ही चलने लगेगा, ऐसा होने से संयोग तथा विभाग का क्रम न बन सकेगा, और यदि हस्त तथा शरीर के संयोग तथा विभाग क्रम से हों तो हात के चलने से शरीर का गमन न होगा, जिससे शरीर में स्वतंत्रता दोष आ जायगा, यह पूर्व पक्षी के आक्षेप का अभिप्राय है । इस आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि पूर्व पक्षी ने वास्तविक युत् सिद्धि शब्द के अर्थ को नहीं समझा है, अतः वह ऐसा आक्षेप करता है । क्योंकि परस्पर में संयोग तथा विभाग होने की योग्यता का नाम है युतसिद्धि, अवयवों की दूसरे पदार्थों के साथ संयोग तथा विभाग की योग्यता है, इसी प्रकार अवयवी की भी हो सकती है, किन्तु अवयव तथा अवयवी की परस्पर में संयोग तथा विभाग होने की योग्यता नहीं है, अतः यह युतसिद्धि व्यभिचार रहित है । यदि अवयव तथा अवयवी का परस्पर में सयोग तथा विभाग का संभव हो तो युतसिद्धि के कारण उनका समवाय सम्बन्ध न होगा, समवाय ही सम्बन्ध अवयव तथा अवयवी का परस्पर में होता है यह आगे सिद्ध करेंगे ।

पदपदार्थ—सा पुनः = और वह युतसिद्धि है, द्वयोः = दो पदार्थों की, अन्यतरस्य वा = दो में से एक किसी की, पृथग्गतिमत्वं = विभिन्न गति रूप क्रिया की आधारता, इयं तु = किन्तु यह युतसिद्धि है, नित्यानां = नित्यपदार्थों की, अनित्यां तु = और अनित्यों की, युतेषु = पृथक् सिद्धि आश्रय आधार पदार्थों में, समवायः = समवेत होना,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

युतेष्वाश्रयेषु समवायो युतसिद्धिरिति। त्वगिन्द्रियशरीरयोः पृथग्गतिमत्त्वं नास्ति युतेष्वाश्रयेषु समवायोऽस्तीति परस्परेण संयोगः सिद्धः। अण्वाकाशयोस्त्वाश्रयान्तराभावेऽप्यन्यतरस्य पृथग्गतिमत्त्वात् संयोगविभागौ सिद्धौ। तन्तुपटयोरनित्ययोराश्रयान्तराभावात् परस्परतः संयोगविभागाभाव इति। दिगादीनान्तु पृथग्गतिमत्त्वाभावादिति परस्परेण संयोगविभागाभाव इति।

युतसिद्धिः = युतसिद्धि कहलाती है, इति = इस कारण। त्वगिन्द्रियशरीरयोः = त्वगिन्द्रिय तथा शरीर इन दानों में, पृथग्गतिमत्व = विभिन्न गती, न अस्ति = नहीं है, युतेषु = पृथक्‌सिद्ध, आश्रयेषु = अपने अवयव रूप आधार में, समवायः = समवाय सम्वन्ध है, इति = इस कारण, परस्परेण = परस्पर में, संयोगः = संयोग सम्वन्ध, सिद्धः = सिद्ध होता है। अण्वाकाशयोः तु = किन्तु परमाणु और आकाश का, आश्रयान्तरा भावेऽपि = दूसरा आधार न होने पर भी, अन्यतरस्य = दो में से एक परमाणु के, पृथग्गति मत्त्वात् = पृथक् गति का आधार होने से, संयोग विभागौ = अणु तथा आकाश का संयोग तथा विभाग, सिद्धौ = सिद्ध हैं। तन्तुपटयोः तु = किन्तु तन्तु तथा पट का तो, अनित्ययोः = जो दोनों अनित्य हैं, आश्रयान्तराभावात् = दूसरे आश्रय के न होने से, परस्परतः = परस्पर में, संयोग विभागा भावः = संयोग तथा विभाग का अभाव है, इति = इसलिये। दिगादीनां तु = दिशाकाल इत्यादि व्यापक द्रव्यों का तो, पृथग्गतिमत्त्वाभावात् = पृथिक् गती की आधारता न होने से, इति = इस कारण, परस्परेण = परस्पर में, संयोगविभागाभावः = संयोग तथा विभाग का अभाव है, इति = इस प्रकार उत्तर है।

भाषाभाष्य—विशेष की सामान्य से व्याप्ति होने के कारण पूर्व प्रदर्शित सामान्य युतसिद्धि का सामान्य लक्षण विशेष लक्षण से लब्ध होता है इस कारण युतसिद्धि का लक्षण दिखाते हुए भाष्यकार पूर्व प्रदर्शित आक्षेप का समाधान करते हैं कि दो द्रव्यों के अथवा दो में से एक द्रव्य के परस्पर में संयोग तथा विभाग होने की कारण रूप क्रिया के समवेत होने की योग्यता रूप युतसिद्धि नित्य द्रव्यों की ही होती है, क्योंकि दो परमाणु में तथा परमाणु आकाश इन दोनों में से केवल एक परमाणु में पृथक् गति देखने में आती है। इसी प्रकार दो द्रव्य अथवा दो में से किसी एक द्रव्य का परस्पर को छोड़कर अन्य आधार में समवेत होना यह युतसिद्धि अनित्य द्रव्यों की होती है क्योंकि दो पक्षी और आकाश तथा पक्षी इन दोनों में से एक पक्षी की विभिन्न अपने अवयव रूप आश्रय में समवेत रहना दृष्टिगोचर होता है। यदि बादी कहे कि 'अनित्य द्रव्यों में पृथग्गति क्यों नहीं होती' तो भाष्यकार कहते हैं कि त्वगिन्द्रिय तथा शरीररूप दो अनित्य द्रव्यों में पृथग्गति की आधारता नहीं है किन्तु पृथक् आश्रयों में उनकी समवेतता है अर्थात् वे अपने-अपने अवयव रूप आधार में रहते हैं इस कारण उनका परस्पर में संयोग सिद्ध होता है, तात्पर्य यह है त्वगिन्द्रिय तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विनाशस्तु सर्वस्य विभागस्य क्षणिकत्वादुत्तरसंयोगावधिसद्भावात् क्षणिक इति। न तु संयोगवद्द्वयोरेव विभागस्तयोरेव संयोगाद्विनाशो भवति।

शरीर में पृथक् गति न होने से वे दोनों अयुतसिद्ध हो जायेंगे, जिससे पृथक् सिद्धि के कारण होनेवाला परस्पर उन दोनों का संयोग न हो सकेगा। उक्त दो प्रकार के युतसिद्धि के लक्षणों में प्रथम लक्षण का प्रयोजन दिखलाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि परमाणु तथा आकाश का नित्य होने से दूसरा आश्रय न होने पर भी दो में से एक परमाणुओं में पृथक् गतिमत्ता होने के कारण परमाणु तथा आकाश का परस्पर-संयोग तथा विभाग सिद्ध होता हैं। इसी को दृढ़ करने के लिये अन्वयव्याप्ति दिखाकर उक्त दो प्रकार की युतसिद्धि का जिस स्थल में अभाव होता है वहां संयोग तथा विभाग का भी अभाव होता है इस व्यतिरेकव्याप्ति को दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि अनित्य तन्तु तथा पटका तो अतिरिक्त आधार के न होने से परस्पर में संयोग तथा विभाग नहीं हो सकता यह सिद्ध है यद्यपि तन्तु अपने अवयव अंशुओं में रहते हैं, तथापि पटरूप द्रव्य तन्तुओं को छोड़कर अन्य आधार में नहीं रहता इस कारण पृथक् आधार में समवेतत्व उसमें नहीं है, और उसके न होने से परस्पर में तन्तु तथा पट का संयोग तथा विभाग नहीं हो सकता। किन्तु व्यापक आकाशादि द्रव्यों में से दोनों या किसी एक विभुद्रव्य में पृथक् गति के न होने के कारण उनका परस्पर में संयोग न होने से विभाग भी नहीं हो सकता, किन्तु वे अपने स्वरूप से ही स्थित होते हैं। इस प्रकार पूर्व पक्षी के आक्षेप का समाधान समाप्त है, अर्थात् हस्त की गति से शरीर में गति नहीं होती इतने से ही उनकी युतसिद्धि नहीं हो सकती, यदि हस्त तथा शरीर में विभिन्न आधार में रहना सिद्ध होता तो इन दोनों में युतसिद्धि हो सकती, शरीर के हस्त में समवेत होने से पृथक् आश्रय में आश्रित होना असंभव है॥

यहां पर पृथग्गतिमत्तामें यहा विशेष है कि घट और परमाणु इन दोनों में पृथग्गतिमत्व, तथा विभिन्नाधाराश्रयत्व का क्रम से संभव होने से दोनों का संग्रह होता है, क्योंकि एक ही का संग्रह करने में कोई विशेष कारण नहीं है, अर्थात् नित्य परमाणु में पृथक् गति है, और अनित्य घट में पृथक् आधार में वर्तमानता है, क्योंकि दोनों में उक्त दोनों युतसिद्धिओं का अन्वय तथा व्यतिरेक से ग्रहण होता है, इस लिये संभव के अनुसार ग्रहण करना चाहिये, जहां अनित्य ही है वहां पृथक् गतिमत्व के रहने पर भी विभिन्न आधार में रहने का भी संग्रह हो सकता है जैसे घट तथा आकाश में अथवा दो घटों में ऐसी व्योमशिवाचार्य ने समालोचना की है॥

पदपदार्थ—विनाशःतु = किन्तु नाश होता है, सर्वस्य संपूर्ण, विभागस्य = विभाग का, क्षणिकत्वात् = क्षणिक होने से, उत्तरसंयोगावधिसद्भावात्=उत्तर संयोग रूप अवधी होने से, क्षणिकः = क्षणिक है इति = इस कारण। नतु = किन्तु नहीं, संयोगवत् = संयोग के समान, ययोः एव = जिन दो द्रव्यों का ही, विभागः = विभाग, तयोः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कस्मात् ? संयुक्तप्रत्ययवद्विभक्तप्रत्ययानुवृत्त्यभावात् । तस्मादुत्तरसंयोगावधिसद्भावात् क्षणिक इति ।

एव = उन्हीं दो द्रव्यों का ही, संयोगात् = संयोग से, विनाशः = नाश, भवति = होता है, कस्मात् = क्यों: ! संयुक्तप्रत्ययवत् = संयुक्त ज्ञान के समान, विभक्त-प्रत्ययानुवृत्त्य-भावात् = विभक्तज्ञान की अनुवृत्ति न होने से, तस्मात् = इस कारण उत्तरसंयोगावधि-सद्भावात् = उत्तर संयोग रूप विभाग की अवधि होने से, क्षणिकः = विभाग का नाश क्षणिक है ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार विभाग गुण की उत्पत्ति को कहकर उसके विनाश का प्रकार भाष्यकार वर्णन करते हैं कि तीनों उक्त (अन्यतर कर्मज इत्यादि) प्रकार के विभाग के विनाश में उत्तर संयोग अवधि (सीमा) होने से विभाग क्षणिक है अर्थात् अत्यन्त शीघ्र नष्ट हो जाता है, तथा उत्तर संयोग रूप अवधि के कारण शीघ्र विनाश के प्रत्यक्ष होने रूप क्षणिकत्व के कारण भी संपूर्ण विभाग विनाशी अर्थात् क्षणिक हैं । इसमें उत्तर संयोगावधि संद्भाव रूप प्रथम हेतु क्षणिकता का कारक हेतु है, तथा आशुतर विनाशिता रूप क्षणिकता द्वितीय हेतु उसका ज्ञापक है ऐसा यहाँ उदयनाचार्य का मत है । 'शीघ्र विनाश में' उत्तर संयोग विभाग की अवधि क्यों है' इस प्रश्न का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिस प्रकार सयोग जिन दो या अनेक द्रव्यों का होता है उन्हीं द्रव्यों के विभाग से नष्ट होता है न कि अन्य द्रव्यों के विभाग से, इस प्रकार विभाग जिन द्रव्यों का परस्पर में होता है उन्हीं द्रव्यों के उत्तर संयोग से नष्ट नहीं होता अर्थात् विभाग के आश्रय द्रव्यों के ही पुनः उत्तर संयोग से यदि विभाग का नाश हो तो वह चिरकार पर्यन्त स्थिर होने लगेगा । यदि कहो कि ऐसा होने से क्या अनिष्ट (आपत्ति) होगी ? तो इस शंका का भाष्यकार ऐसा समाधान करते हैं कि जिस प्रकार संयुक्त ज्ञान संयुक्त द्रव्यों के विभाग होने के काल तक चिरकाल (बहुत देर तक) हुआ करता है उस प्रकार अपने आधार द्रव्यों के देशान्तर मे संयोग होने पर पूर्व संयुक्त द्रव्य विभक्त हैं एसी प्रतीति चिरकाल तक नहीं होती, अतः विभाग गुण केवल किसी में भी उत्तर संयोग होते ही नष्ट हो जाता है यह सिद्ध होता है । तात्पर्य यह है कि संयुक्त ज्ञान के जागृत रहने से संयोग गुण चिरकाल पर्यन्त स्थिर होता है, क्यों कि 'उसका जिस किसी भी द्रव्य के विभाग से नाश होता है'—यदि ऐसा हो तो अवयवों के संयोग के नाश होने पर द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, तथा नोदनादि संयोग भी न हो सकेंगे, इस कारण जिन दो द्रव्यों का संयोग होता है उन्हीं के परस्पर विभाग से आधार द्रव्यके रहते उसका नाश होता है यह सिद्ध होता है । किन्तु इस प्रकार 'विभक्त हैं' इस प्रतीति के सर्वदा न होने से चिरस्थायिता न होने के कारण उसका कोई न कोइं नाशक है यह मानना होगा क्रिया ही उसको नाशक नहीं हो सकती, क्यों कि उत्तरार्ध भाग की उत्पत्ति न होवेगी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्वचिच्चाश्रयविनाशादेव विनश्यतीति। कथम् ? यदा द्वितन्तुकंकारणावयवे अंशौ कर्मोत्पन्नमंश्वन्तराद्विभागमारभते तदैव तन्त्वन्तरेऽपि कर्मोत्पद्यते विभागाच्च तन्त्वारम्भकसंयोगविनाशः तन्तुकर्मणा तन्त्वन्तराद्विभागः क्रियते इत्येकः कालः। ततो यस्मिन्नेव काले विभागात् तन्तुसंयोगविनाशस्तस्मिन्नेव काले संयोगविनाशात् तन्तुविनाशस्तस्मिन् विनष्टे तदाश्रितस्य तन्त्वन्तरविभागस्य विनाश इति। एवं तर्ह्युत्तरविभागानुत्पत्तिप्रसङ्गः कारणविभागाभावात्, ततः प्रदेशान्तरसंयोगवति संयोगाभाव इत्यतो विरोधिगुणासम्भवात् कर्मणश्चिरकालावस्थायित्वं नित्यद्रव्यसमवेतस्य च नित्यत्वमिति दोषः।

तस्मात् कहीं भी उत्तर संयोग होने से ही विभाग का नाश होता है, उत्तर संयोग होने पर संयुक्त प्रत्यय के समान ये दोनों विभक्त हुए ऐसी प्रतीति नहीं हुआ करती अतः विभाग क्षणिक है अर्थात् उत्तर देश संयोग मात्र से नष्ट हो जाता है ॥

पदपदार्थ—क्वचित् = और कहीं २, आश्रय विनाशात् एव = आधार द्रव्यों के नाश से ही, विनश्यति = नष्ट होता है, इति = इस कारण विभाग क्षणिक है। कथम् = कैसे ! यदा = जिस समय, द्वितन्तुककारणावयवे = दो तन्तुओं से उत्पन्न पटरूप कार्य के कारण तन्तुओं के अवयव रूप, अंशौ = अंशुनामक अवयव में, कर्म = नाशक क्रिया, उत्पन्नं = उत्पन्न होकर, अंशवन्तरात् = दूसरे अंशुरूप अवयव से, विभागं = विभाग को, आरभते = उत्पन्न करती है, तदैव = उसी समय, तन्त्वन्तरे अपि = दूसरे तन्तु में भी, कर्म = अनाशक क्रिया, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, विभागात् च = और पूर्वोक्त अंशवन्तर विभाग से, तन्त्वारंभकसंयोगविनाशः = तन्तु को उत्पन्न करने वाले संयोग का नाश होता हैं, तन्तुकर्मणा = दूसरे तन्तु की अनाशक क्रिया से, तन्त्वन्तरात् = दूसरे तन्तु से, विभागः = विभाग, क्रियते = किया जाता है, इति = इस सबका, एकः = काल एक है। ततः = इसके पश्चात्, यस्मिन् एव = जिस समय में ही, विभागात् = नाशक क्रिया से उत्पन्न विभाग से तन्तुविनाशः = तन्तु रूप द्रव्य का विनाश होता है, तस्मिन् = उसके, विनष्टे = नष्ट होने पर, तदाश्रितस्य = उसके आश्रयसे रहने वाले तन्त्वन्तरविभागस्य = दूसरे तन्तु के विभाग का, विनाशः = विनाश होता है, इति = इस कारण। एवं तर्हि = तब ऐसा होने पर, उत्तर विभागानुत्पत्तिप्रसंगः = उत्तर विभाग जन्य विभाग की उत्पत्ति न हो सकेगी, कारणविभागाभावात् = कारण विभाग के न होने से, ततः = इससे प्रदेशान्तरसंयोगवति = देशान्तर में संयोग रखने वाले में, संयोगाभावः = उत्तर संयोग न होगा, इति अतः = इस कारण, विरोधिगुणासंभवात् = उत्तर संयोग रूप विरोधिगुण का असंभव होने से, कर्मणः = क्रियामें, चिरकालावस्थायित्व = चिरकाल तक स्थिर होना, नित्यद्रव्य समवेतस्य च = और नित्य द्रव्यों मे समवेत क्रिया की = नित्यत्वं = नित्यता होगी इति = यह दोनो, दोषः = दोष आ जायंगे ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाषाभाष्य—इस प्रकार उत्तर संयोग रूप विरोधिगुण विभाग का साधारण नाश का कारण है यह प्रतिपादनकर आश्रय नाश रूप असाधारण कारण भी विभाग के नाश का कारण होता है यह प्रश्नपूर्वक वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिस समय दो तन्तु रूप अवयवों से उत्पन्न द्वितन्तुक पट रूप अवयवी के समवायि कारण तन्तु के अंशुनामक अवयव में नाशक क्रिया उत्पन्न होकर दूसरे अंशु अवयव से उस अंशु का 'क्रिया क्रियातो विभागः' इस क्रम से विभाग करती है, उसी समय उस पट के अवयव दूसरे तन्तुमें केवल परस्पर विभाग जनक क्रिया होती है, और नाशक क्रिया जन्य विभाग से तन्तु को उत्पन्न करने वाले पूर्व संयोग का नाश, तथा अनाशक दूसरे तन्तु की क्रिया से परस्पर तन्तुओं का विभाग भी एक ही समय में होता है। इसके पश्चात् जिस समय अनाशक क्रिया जन्य विभाग से पूर्व तन्तु संयोग का नाश होता है उसी समय तन्तु के उत्पादक दो अंशुओं के संयोग के नष्ट होने से तन्तु रूप अवयव के नष्ट हो जाने के कारण उसके आश्रित रहने वाले दूसरे तन्तु से उत्पन्न हुए विभाग का नाश हो जाता है, इस प्रकार आधार का नाश भी कहीं कहीं विभाग गुण का नाशक होता है ।।

इस पर पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप करता है कि 'सिद्धान्ती ने कारण का विभाग द्रव्यनाश विशिष्टकाल अथवा स्वतन्त्र अवयव को अपेक्षा रखते हुए उत्तर विभाग जन्य विभाग को करता है ऐसा पूर्व में सिद्धान्त किया है, किन्तु वह विभाग अपेक्षा के कारण को न प्राप्त कर ही आश्रय नाश से जब नष्ट हो गया, तो कारण के न रहने से उत्तर विभाग की उत्पत्ति न हो सकेगी यह दोष आ जायगा, जिससे प्रदेशान्तर में संयोग होने से उत्तर संयोग न हो सकेगा अर्थात् उत्तरविभाग के उत्पन्न होने पर पूर्वसंयोग की निवृत्ति होने से उत्तर संयोग हो सकता है किन्तु पूर्वसंयोगरूपप्रतिबन्धक के रहते उत्तरसंयोग नहीं हो सकता। यदि आक्षेपकर्ता कहे कि 'इससे क्या हानि होगी' तो सिद्धान्ती कहता है कि उत्तरसंयोगरूपनाशक के न रहने से क्रिया बहुत काल तक स्थायी हो जायगी अर्थात क्रिया के विनाश करने वाले उत्तर संयोग के न होने से जब तक आश्रय द्रव्य का नाश नहीं होता तब तक वह बनी रहेगी। यह किसी क्रिया का चिर काल तक रहना प्रमाण से बाधित होने के कारण असम्भव है, अर्थात् कोई भी क्रिया चिरकाल नहीं रहती। तथा क्रिया नित्य भी होने लगेगी, क्योंकि नित्य द्रव्यों में रहने वाली क्रिया का आश्रय नाश रूप नाश के कारण का असंभव होने से नाश न हो सकेगा।। अतः उक्त प्रकार से पूर्व संयोग रूप प्रतिबंधक के रहने से उत्तर संयोग न होने के कारण क्रिया चिरकाल स्थायिनी होगी, तथा नित्य भी होगी ऐसे दो दोष आ जायंगे ऐसा पूर्व पक्षी के आक्षेप का अभिप्राय है। पूर्व पक्षी का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार क्रिया में चिरकाल स्थायिता के प्राप्त होने से सिद्धान्ती की क्रिया क्षणिक ही होती है इस सिद्धान्त की तथा क्रिया में नित्यत्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कथम् ? यदाप्यद्व्यणुकारम्भकपरमाणौ कर्मोत्पन्नमण्वन्तराद्विभागं करोति तदैवाण्वन्तरेऽपि कर्म, ततो यस्मिन्नेव काले विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः तदैवाण्वन्तरकर्मणा द्व्यणुकाण्वोर्विभागः क्रियते ततो यस्मिन्नेव काले विभागात् द्व्यणुकाणुसंयोगस्य विनाशः तस्मिन्नेव काले संयोगविनाशात् द्व्यणुकस्य विनाशः तस्मिन् विनष्टे तदाश्रितस्यं द्व्यणुकाणुविभागस्य विनाशः। ततश्च विरोधिगुणासम्भवान्नित्यद्रव्यसमवेतकर्मणां नित्यत्वमिति । तन्त्वंश्वन्तरविभागाद्विभाग इत्यदोषः। आश्रयविनाशात्तन्त्वोरेव विभागो विनष्टो न तन्त्वंश्वन्तरविभाग इति एतस्मादुत्तरो विभागो जायते अङ्गुल्याकाशविभागा-

---

आने से क्रिया अनित्य ही होती है इस सिद्धान्त का भी व्याघात हो जायगा।

पदपदार्थ—कथं = कैसे (उक्त दोनों दोष होंगे), यदा = जिस समय में, आप्यद्व्यणुकारंभकपरमाणौ = जलीयद्व्यणुक रूप अवयवि द्रव्य के उत्पन्न करने वाले जलीय परमाणु में कर्म = क्रिया उत्पन्नं उत्पन्न होकर, अण्वन्तरात् = दूसरे जलीय परमाणु से, विभागं = विभाग को, करोति = करती है, तदैव = उसी समय में, अण्वन्तरे अपि = दूसरे जलीय परमाणू में भी, कर्म = केवल विभाग जनक क्रिया, (होती हैं) ततः = इसके अनन्तर, यस्मिन् एव = जिस ही, काले = समय में, विभागात् = नाशक क्रिया से उत्पन्न विभाग से, द्रव्यारंभकसंयोगविनाशः = जलीयद्व्यणुक को उत्पन्न करने वाले पूर्व संयोग का विनाश होता है, तदा एव = उसी समय में, अण्वन्तरकर्मणा = केवल विभाग जनक दूसरे जलीय परमाणु की क्रिया से, द्व्यणुकाण्वोः = द्व्यणुक तथा परमाणु का, विभागः = विभाग, क्रियते = किया जाता है। ततः = इसके पश्चात्, यस्मिन् एव = जिसी सयय में, विभागात् = विभाग से, द्व्यणुकाणुसंयोगस्य = द्व्यणुक तथा परमाणु के पूर्व संयोग का नाश होता है, तस्मिन् एव = उसी, काले = समय में, संयोगविनाशात् = पूर्व संयोग के विनाश से, द्व्यणुकस्य= जलीयद्व्यणुकरूप अवयवि द्रव्य का, विनाशः = नाश होता है, तस्मिन् = उसके, विनष्टे = नष्ट होने पर, तदाश्रितस्य = उसके आश्रय से वर्तमान, द्व्यणुकाणुविभागस्य= द्व्यणुक तथा परमाणु के परस्पर विभाग का, विनाशः = नाश होता है, ततः च = और इस कारण, विरोधिगुणासंभवात् = विरोधि गुण का असंभव होने से नित्यद्रव्यसमवेतस्य = परमाणुरूप नित्यद्रव्यमे समवाय सम्बन्धसे रहने वाले, कर्मणः = क्रियाको, नित्यत्वम् = नित्यता आ जायगी, इति = इस कारण ।। तन्त्वंशवन्तरविभागात् = दूसरे तन्तु के अवयव अंशु के विभागसे, विभागः = विभाग होता है, इति = इस कारण, अदोषः = उक्त दोष नहीं हो सकता। आश्रयविनाशात् = जलीय द्व्यणुक रूप आधार के नाश से, तन्त्वोः एव = दो तन्तुओंका ही, विभागः = परस्पर विभाग विनष्टः = नष्ट हुआ है, न = नहीं तन्त्वंशवन्तरविभागः = दूसरे तन्तुके अवयव अंशुका विभाग, इति = इस कारण, एतस्मात् = इसविभागसे, उत्तरः = आगेका, विभागः =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न्छरीराकाशविभागवत् तस्मिन्नेव काले कर्म संयोगं कृत्वा विनश्यतीत्यदोषः ।

विभाग जायते = उत्पन्न होता है, अङ्गल्याकाशविभागात् = अंगुली तथा आकाश प्रदेशके विभाग होने से, शरीरकाशविभागवत् = शरीर तथा आकाशके विभागके समान, तस्मिन् एव = उसी, काले = समयमें, कर्म = क्रिया, उक्तसंयोग = उत्तर संयोगरूप कार्य को, कृत्वा = कर, विनश्यति = नष्ट हो जाती है, इति = इस कारण, अदोषः = उक्तदोष नहीं हो सकता ।।

भाषाभाष्य—प्रश्नपूर्वक पूर्वपक्षि मतसे उक्तदोष का समर्थन करते हैं कि जिस समयमें जलीय द्वयशुकरूप अवयवि द्रव्यको उत्पन्न करने वाले दो परमाणुओं में से एक परमाणुमें नाशक क्रिया उत्पन्न होकर द्वयणुकारभंक परमाणु में संयुक्त दूसरे परमाणु से विभाग को करती है उसी समय द्वयणुक के उत्पन्न करनेवाले में संयुक्त दूसरे परमाणुमें भी क्रिया होती है, अर्थात् द्वयणुकरूपी अवयविद्रव्य के उत्पन्न करनेवाली क्रिया से द्रव्य के उत्पादक संयोग के नाशक विभागके समान समयमें दूसरे परमाणुमें अनारंभक क्रिया की उत्पत्ति होती है, इसके पश्चात् जिस समय नाशका क्रियाजन्य विभागसे द्वयणुक रूप अवयवि द्रव्यके उत्पन्न करनेवाले परमाणुद्वयके पूर्व संयोग का नाश होता है उसी समय दूसरे परमाणु की केवल विभागजनक क्रियासे द्व्यणुक द्रव्य तथा परमाणु का विभाग होता है, इसके पश्चात् जिस समय उस विभागसे द्वयणुक तथा परमाणुके पूर्व संयोग का नाश होता है उसी समय द्वयणुक को उत्पन्न करने वाले परमाणुओंके पूर्व संयोग का नाश होनेसे द्वयणुकरूप अवयवि द्रव्य नाश हो जाता है, जिससे उसके आश्रित रहने वाले द्वयणुक तथा परमाणु का विभाग भी नष्ट हो जाता है, इस कारण उत्तर देश संयोग रूप विरोधीगुणका असंभव होने से नित्य परमाणु द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान क्रिया का नाश न होने के कारण वह क्रिया नित्य हो जायगी, इस प्रकार उत्तर संयोग रूप क्रिया का निवर्तक न होने से उसमें चिरस्थायिता तथा उक्त प्रकार से नित्य परमाणु द्रव्यमें समवेत होनेसे नित्यता ये दोनों दोष अवश्य आवेंगे। इस प्रकार पूर्वपक्षि मतके समर्थन का समाधान न करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह दोष नहीं हो सकता क्योंकि तन्तुके अवयव अंशुके विभागसे उत्तरविभाग होता है, इस कारण क्रिया में चिरकालावस्थायिता दोष न आवेगा । अर्थात जिस समय तन्तु में वर्तमान क्रियासे दूसरे तन्तु का विभाग होता है उस समय उस तन्तुके अंशुनामक अवयव से भी विभाग होता है (जैसे अंगुली में उत्पन्न चलन क्रियासे भीतके पृथक् होनेके समय भीत के अवयवों से भी अंगुली पृथक् हो ही जाती है) और वह विभाग नाशक न होने से वर्तमान न रहने के कारण उत्तर विभाग को जिस समय उत्पन्न करता है (जिस प्रकार अंगुली के आकाश प्रदेश से विभक्त होने से शरीर का भी आकाशप्रदेश के साथ विभाग होता है) उसी समय अर्थात् उत्तर विभागके समय पूर्व संयोग रूप प्रतिबन्धक-के न रहनेसे तन्तुमें समवेत क्रिया उत्तर संयोगको उत्पन्न कर नष्ट हो जाती है इस कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथवा अंश्वन्तरविभागोत्पत्तिसमकालं तस्मिन्नेव तन्तौ कर्मोत्पद्यते ततोंश्वन्तरविभागात् तन्त्वारम्भकसंयोगविनाशः तन्तुकर्मणा च तन्त्वन्तराद्विभागः क्रियते इत्येकः कालः। ततः संयोगविनाशात् तन्तुविनाशः तद्विनाशाच्च तदाश्रितयोर्विभागकर्मणोर्युगपद्विनाशः।

क्रिया में चिरकालावस्थायिता न होनेसे, परमाणुसमावेत भी क्रिया का के नाश होने कारण उसमें नित्यता दोष भी न आ सकेगा ।

यहाँ पर ऐसा आक्षेप हो सकता है कि 'अंशुरूप तन्तु का अवयव द्वितन्तुक पट की उत्पत्तिमें आकाशके समान कारण न होनेसे तन्तु तथा अंशु का विभाग तन्तु क्रिया का कार्य नहीं हो सकता, तथा तन्तु की उत्पत्ति में दूसरे तन्तु के भी आकाश के समान कारण न होनेसे अंशु की क्रिथा का भी कार्य नहीं हो सकता, कारण में उत्पन्न हुयी क्रिया का कारणान्तर के विभाग के समान कालीन कारण से विभागके विशिष्ट विभाग की अनुत्पत्ति की आपत्ति से उत्पन्न नहीं कर सकती यह पूर्व में कह चुके हैं तथा विना कारण कार्य हो नहीं सकता इस कारण तन्तु तथा अंशके विभाग होने का सभव ही नहीं है" इसका समाधान यह है कि अंशु में उत्पन्न हुई 'क्रिया से उत्पन्न विभागसे उस तन्तु तथा अंशु के विभाग की उत्पत्ति हो सकती है, अर्थात् अंशु क्रिया से उत्पन्न विभाग संयोगनाश विशिष्टकाल की अपेक्षा से तन्तुनाशके समय आकाश देश के सामान दूसरे तन्तु से भी विभाग को उत्पन्न करता है, और तन्तुनाश विशिष्टकाल की अपेक्षा से द्वितन्तुक पट के नाश से तन्तुओं का ही परस्पर विभाग नष्ट हुआ है न कि अंशु क्रियाजन्य विभाग से उत्पन्न तन्त्वन्तर का विभाग, इस कारण एक तन्त्वन्तर विभाग से उत्तर विभाग तन्तुओं का शादिविभाग अंगुल्याकाश विभाग से शरीरकाश के विभाग के समान हो सकता है इत्यादि पूर्वोक्त प्रक्रिया संगत है ऐसी व्योमशिवाचार्य ने समालोचना यहाँ पर की है।

पदपदार्थ--अथवा = वा, अश्वन्तरविभागोत्पत्तिसमकालं = दूसरे अंशू के विभाग के उत्पत्ति के समय में, तस्मिन् एव = उसी ही, तन्तौ = तन्तू में, कर्म = क्रिया, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, ततः = इसके अनन्तर, अश्वन्तरविभागात् = दूसरे अंशू के विभाग से, तन्त्वारम्भकसंयोगविनाशः = तन्तू के उत्पादक पूर्वसंयोग का नाश होता है, तन्तुकर्मणा च = और तन्तू की क्रिया से, तन्त्वन्तरात् = दूसरे तन्तू से, विभागः = विभाग, क्रियते = किया जाता है, इति = यह एकः = एक, कालः = समय है, ततः = इसके पश्चाव, संयोगविनाशात् = तन्तू के आरम्भक पूर्वसंयोग के विनाश से, तन्तुविनाशः = तन्तू का नाश होता है, तद्विनाशात् च = और उसके नष्ट होने से, तदाश्रितयोः = उस तन्तू के आश्रित, विभागकर्मणोः = विभाग तथा क्रिया का, युगपत् = एक समय में, विनाशः = नाश होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तन्तुवीरणयोर्वा संयोगे सति द्रव्यानुत्पत्तौ पूर्वोक्तेन विधानेनाश्रयविनाश-संयोगाभ्यां तन्तुवीरणविभागाविनाश इति ॥

तन्तुवीरणयोः वा = अथवा तन्तु और वीरण के, संयोगे सति = संयोग होनेपर, द्रव्यानुत्पत्तौ = पटरूपद्रव्य की उत्पत्ति न होकर, पूर्वोक्तेन = पूर्वमे कथित, विधानेन = प्रक्रियासे, आश्रयविनाशसंयोगाभ्यां = आश्रय (तन्तु) का नाश तथा उत्तरदेश संयोग दोनों से, तन्तुवीरणविभागविनाशः = तन्तु तथा वीरण के विभाग का नाश हो जाता है, इति = इस प्रकार की विभागनाशप्रक्रिया है ।

भाषाभाष्य—आधार के विनाश से विभाग के नाश की दूसरी प्रक्रिया दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि अथवा तन्तू के अवयव अंशू के विभक्त होने के समय उसी तन्तू में नाशकक्रिया विभज्यमान अंशू से उत्पन्न होकर अंशुओं के परस्पर विभक्त होने से तन्तू के उत्पन्न करनेवाले अंशुओं के सर्वसंयोग का नाश होता है, और तन्तु-क्रिया से उसी समय में तन्त्वन्तर से विभाग होता है, इसके पश्चात् आरम्भक पूर्वसंयोग के नष्ट होने से तन्तू का नाश तथा तन्त्वन्तर (दूसरे तन्तु) के विभाग से उसके पूर्वसंयोग का नाश होता है, इसके पश्चात् उभय नाश से द्वितन्तुक पट का नाश होता है तथा तन्तु के नाश से तदाश्रित विभाग तथा क्रिया का एक ही समय में नाश हो जाता है, यह भी आश्रय नाश से विभाग नाश की प्रक्रिया हो सकती है । इस पक्ष का जिस अवयव में क्रिया तथा उससे विभाग का आरम्भ होता है, उसीका 'अवयव में क्रिया उससे विभाग' इत्यादि प्रक्रिया से नाश होकर क्रिया के साथ विभाग का नाश हो जाता है यह तात्पर्य है ।

पूर्वोक्त नित्यद्रव्यसमवेतक्रिया में नित्यतापत्तिदोष का समाधान दिखाते हुए भाष्यकार उत्तरसंयोग तथा आश्रय नाश इन दोनों में से प्रत्येक से होनेवाले विभाग के नाश को कहकर मिलित उन दोनों से विभाग नाश को दिखाते हैं कि तन्तु तथा वीरण के संयोग से विजातीय होने के कारण जैसे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार अनित्यद्व्यणुक तथा नित्यपरमाणु के संयोग के विजातीय होने से विजातीय संयोग के द्रव्योत्पादक न होने के कारण द्रव्य की उत्पत्ति न होने पर पूर्वकथित विधि के अनुसार—अर्थात् तन्तू के उत्पादक अंशू में क्रिया के उत्पत्ति समय में वीरण में क्रिया होने के अनन्तर अंशुक्रिया से दूसरे अंशू से विभाग होता है और वीरण की क्रिया से विभज्यमान अवयववाले तन्तू तथा आकाश देश के साथ विभाग होकर अंशुविभाग से अंशुसंयोग का नाश, और वीरण के विभाग से तन्तुवीरणसंयोग तथा आकाशवीरण संयोग का नाश होकर अंशुसंयोग के विनाश से तन्तू का नाश होता है, और वीरण का उत्तरदेश में संयोग होता है इस कारण उत्तरसंयोग तथा आश्रय नाश दोनों से तन्तु तथा विरण के विभाग का नाश हो जाता है यह पूर्वोक्त प्रक्रिया यहां पर जान लेना । सू० २९१ । इस प्रक्रिया से यह भी सिद्ध हुआ कि नित्यपरमाणु में उत्पन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१२) परत्वापरत्वप्रकरणम् ।

परत्वमपरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम् । तत्तु द्विविधं दिक्कृतं कालकृतं च । तत्र दिक्कृतं दिग्विशेषप्रत्यायकम् । कालकृतं च वयोभेद-प्रत्यायकम् । तत्र दिक्कृतस्योत्पत्तिरभिधीयते । कथम् ?

क्रिया भी आकाशादि देश से विभाग को उत्पन्न करने से पूर्वसंयोग निवृत्ति द्वारा उत्तरसंयोग को उत्पन्न कर नष्ट हो जाती है अतः क्रिया में नित्यता दोष नहीं हो सकता ।

(१२) परत्वापरत्वप्रकरण ।

पदपदार्थ—परत्वं = परत्व, अपरत्वं च = और अपरत्व नामक दो गुण, परावराभिधानप्रत्ययनिमित्तम् = पर तथा अपरप्रतीति के कारण हैं । तत् तु = किन्तु यह दोनो गुण, द्विविधं = दो प्रकार के हैं—दिक्कृतं = दिशानिमित्त से उत्पन्न, कालकृत च = और कालनिमित्त से उत्पन्न । तत्र = उन दोनो में से, दिक्कृतं = दिशानिमित्त से उत्पन्न, दिग्विशेषप्रत्यायकम् = विशेष दिशा का बोधक होता है, कालकृतं च = और कालनिमित्त से उत्पन्न, वयोभेदप्रत्यायकम् = अवस्थाभेद (विशेष) का बोधक होता है । तत्र = उन दोनों में से, दिक्कृतस्य = दिशानिमित्त से उत्पन्न परत्व तथा अपरत्वगुण की, उत्पत्तिः = उत्पत्ति का प्रकार, अभिधीयते = कहा जाता है । कथम् ! = दिशानिमित्त से उत्पन्न परत्व तथा अपरत्वगुण की उत्पत्ति कसे होती है ! ॥

भाषाभाष्य—विभागगुण के वर्णन के पश्चात् परस्पर सम्बद्ध दूर, पास, बड़ा, छोटा इत्यादि व्यवहार का कारण होने से उनका ज्ञान स्पष्ट होने के लिये तथा दोनों के साथ वर्णन करने से ग्रन्थ का संक्षेप होने के लिये भी एक ही ग्रन्थ में परत्व तथा अपरत्व गुण का निरूपण करते हुए भाष्यकार परत्व तथा अपरत्वगुण का लक्षण इस प्रकार करते हैं कि संख्यानुसार पर तथा अपर शब्द और पर तथा अपर ज्ञान का निमित्त, अर्थात् विशेषण परत्व तथा अपरत्व गुण हैं, जिस विशेषण को लेकर द्रव्य में परशब्द का प्रयोग होता है, अथवा ज्ञान होता है उसे परत्वगुण, तथा जिस विशेषण को लेकर द्रव्य में अपर ऐसा शब्द प्रयोग, या ज्ञान होता है उसे अपरत्वगुण कहते हैं, यह उक्त दोनों गुणों का लक्षण तथा उन दोनों में यही प्रमाण भी है, अर्थात् दूर है, पास है तथा ज्येष्ठ है, कनिष्ठ है इत्यादि सर्वलोकसिद्ध व्यवहार के कारण क्रम से दैशिक तथा कालिक परत्व तथा अपरत्व अवश्य ही मानना पड़ेगा । यदि यहां पर पूर्वपक्षी ऐसी शंका करे कि 'दूर तथा पास इन दोनों ज्ञानों में संयुक्त संयोग की अधिकता तथा न्यूनता क्रम से कारण होने के कारण अन्यथा भी उन दोनों ज्ञानों की सिद्धि हो सकती है तो दैशिक परत्व तथा अपरत्वगुण पृथक् मानने की क्या आवश्यकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकस्यां दिश्यवस्थिततयोः पिण्डयोः संयुक्तसंयोगबह्वल्पभावे सत्येकस्य द्रष्टुः सन्निकृष्टमवधिं कृत्वा एतस्माद्विप्रकृष्टोऽयमिति परत्वाधारेऽसन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्तामपेक्ष्य परेण दिक्प्रदेशेन संयोगात् परत्वस्योत्पत्तिः । तथा विप्रकृष्टं चावधिं कृत्वा एतस्मात् सन्निकृष्टोऽयमित्यपरत्वाधारे इतरस्मिन् सन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्तामपेक्ष्यापरेण दिक्प्रदेशेन संयोगा-

---

है' तो ऐसा मानने से प्रमाता (जानने वाले) में ही दैशिकपरत्व तथा अपरत्व का व्यवहार होने लगेगा, पर ऐसा नहीं होता, क्योंकि मुझसे काशी दूर है यह व्यवहार होता है न कि काशी से मैं दूर हूं ऐसा व्यवहार । जिस प्रकार भेरी (नगाडा) तथा आकाश का संयोग आकाश में ही शब्द को उत्पन्न करता है भेरी में नहीं करता, उसी प्रकार संयुक्तसंयोग की न्यूनता तथा अधिकता में विशेष न होने पर भी कारण की शक्ति के नियम से प्रमेयपदार्थ में परत्व तथा अपरत्वगुण की उत्पत्ति होती है प्रमाता में नहीं होती ॥ सूत्र (३०२)

कारणभेद से उक्त दोनों गुणों का भेद दिखाते कि हैं वह दिशा तथा पिण्ड (पदार्थ) के संयोग से उत्पन्न दिक्कृत तथा काल और पिण्ड के संयोग से उत्पन्न कालकृत इस भेद से दो प्रकार का है । कार्यभेद भी उक्त भेद का निमित्त है यह दिखलाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि दिशाविशेष का बोधक दैशिकपरत्व तथा अपरत्व तथा अवस्था भेद का बोधक कालिक परत्व तथा अपरत्वगुण होते हैं । उन दोनों में से दैशिकपरत्व तथा अपरत्वगुण की उत्पत्ति का आगे उत्पत्ति का प्रकार कहा जाता है । इस पर प्रश्न है कि किस प्रकार दैशिकपरत्व तथा अपरत्व गुण की उत्पत्ति होती है ।

पदपदार्थ—एकस्यां = एक, दिशि = दिशामें, अवस्थितियोः = वर्तमान रहने वाले, पिण्डयोः = दो पदार्थों में, संयुक्तसंयोगबह्वल्पभावे = संयुक्त संयोग सम्बन्ध के अधिकता तथा न्यूनता के, सति रहने पर, एकस्य = एक, द्रष्टुः = दर्शक को, सन्निकृष्टं = सन्निहित पदार्थ को, अवधिं = मर्यादा, कृत्वा = कर, एतस्मात् = इस पदार्थ से विप्रकृष्टः = यह दूर है, अयं = यह पदार्थ, इति = इस प्रकार, परत्वाधारे = परत्व के आश्रय में, असन्निकृष्टा = असन्निहित हैं, ऐसीबुद्धिः = ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है । ततः = इसके पश्चात्, तां = उस बुद्धी की, अपेक्ष्य = अपेक्षाकर, परेण— दूसरे, दिक्प्रदेशेन = दिशाप्रदेश से, संयोगात् = संयोग से, परत्वस्य = परत्वगुण की, उत्पत्तिः = उत्पत्ती होती है । तथा = उसी प्रकार, विप्रकृष्टं च = दूर रहने वाले पदार्थ को भी, अवधिं = अवधी, कृत्वा = कर, एतस्मात् = इस पदार्थ से, सन्निकृष्टः = सन्निहित है, अयं = यह पदार्थ, इति = इस प्रकार अपरत्वाधारे = अपरत्व के आधार मे, इतरस्मिन् = दूसरे पदार्थ में, सन्निकृष्टा = सन्निहित, बुद्धिः = ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है । ततः = इसके पश्चात् , तां = उस बुद्धी की अपेक्ष्य = अपेक्षा कर,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दपरत्वस्योत्पत्तिः । कालकृतयोरपि कथम् ?

वर्तमानकालयोरनियतदिग्देशसंयुक्तयोर्युवस्थविरयो रूढश्मश्रुकार्कश्यव-

---

अपरेण = दूसरे, दिक्प्रदेशेन = दिशा देश से, संयोगात् = संयोग से, अपरत्वस्य = अपरत्वगुण की, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है ।

कालकृतयोः अपि = काल सम्बन्ध से होने वाले भी परत्व तथा अपरत्व गुण की भी उत्पत्ति, कथम् = किस प्रकार होती है ॥

भाषाभाष्य—उक्त प्रश्न के उत्तर में दैशिक परत्व तथा अपरत्व गुण की उत्पत्ति दिखाते हुए कहते हैं कि 'एक पूर्व दिशा में रहने वाले दो पदार्थों में एक दर्शक से संयुक्त भूप्रदेश के साथ दूसरे प्रदेश का संयोग, और उसके साथ भी दूसरे प्रदेश का, इस प्रकार संयुक्त संयोग सम्बन्धों के बहुत होने पर, अल्प संयोग वाले सन्निहित पदार्थ को अवधी कर, इस पदार्थ से यह दूर हैं' इस प्रकार बहुत उक्त संयोगाधिकरण भविष्य परत्व के आश्रय पदार्थ में दूर है यह बुद्धि होती है, पश्चात् उस बुद्धि की अपेक्षा कर दूसरे बहुत संयोग वाले दिशाप्रदेश के संयोग रूप असमवायि कारण से दूर रहने वाले समवायि कारण पदार्थ में परत्वगुण रूप कार्य की उत्पत्ति होती है तथा द्रष्टा (देखने वाले) के शरीर की अपेक्षा से संयुक्त संयोग की अधिकता वाले दूरस्थ पदार्थ को अवधि मानकर न्यून संयुक्त संयोग वाले दूसरे पदार्थ में 'सन्निहित' हैं ऐसी बुद्धि होती है उसके निमित्त से संयुक्त संयोग की न्यूनता वाले दूसरे दिक् प्रदेश के साथ संयोग रूप असमवायि कारण से सन्निहित पदार्थ रूप समवायि कारण में अपरत्वगुण की उत्पत्ति होती है । इसमें एकदिशा के नियम से सर्वपदार्थ में, एकद्रष्टा के नियम से सर्वथा, तथा अपेक्षा बुद्धि के नियम के कारण सम्पूर्ण समयो में दैशिक परत्व तथा अपरत्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती यह जान लेना चाहिये । आचार्य उदयन का यहां ऐसा कथन है कि सन्निहितता तथा दूरस्थता और विशेष अपेक्षा बुद्धिओं की अपने-अपने कारण से उत्पत्ति होने के कारण तथा अपने-अपने प्रमाण से प्रतीति होने के कारण भी परस्पर अपेक्षा न होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता । इस प्रकार पदार्थ तथा दिशा का संयोग, और अपेक्षा बुद्धि रूप क्रम से समवायि असमवायि, तथा निमित्त कारण से दैशिक परत्वापरत्व की उत्पत्ति को वर्णन करने के अनन्तर कालिक परत्व तथा अपरत्व गुण की उत्पत्ति को प्रश्नपूर्वक वर्णन करते हैं ।

पदपदार्थ—वर्तमानकालयोः = वर्तमान समय में रहने वाले, अनियतदिग्देश संयुक्तयोः = अनियमित दिक्देश में संयुक्त, युवस्थविरयोः = तरुण तथा वृद्ध में, रूढश्मश्रुकार्कश्यवलिपलितादिसांनिध्ये सति = डाढी तथा मूछ का होना, कठोरता, वली (सिकुडी) तथा बुढौती की श्वेतता इत्यादि क्रम से तरुण तथा वृद्ध में संनिहित रहने पर, एकस्य = एक, द्रष्टुः = दर्शक पुरुष को, युवानं = तरुण को, अवधिं = अवधि, कृत्वा=

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिपलितादिसान्निध्ये सत्येकस्य द्रष्टुर्युवानमवधिं कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्तामपेक्ष्य परेण कालप्रदेशेन संयोगात् परत्वस्योत्पत्तिः । स्थविरं चावधिं कृत्वा यूनि सन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्तामपेक्ष्यापरेण कालप्रदेशेन संयोगादपरत्वस्योत्पत्तिरिति । विनाशस्त्वपेक्षाबुद्धिसंयोगद्रव्य-नाशात् ।

कर, स्थविरे = वृद्ध में, विप्रकृष्टा = दूरता रूप, बुद्धिः = ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता हैं । ततः = इसके पश्चात्, तां = उस बुद्धि की, अपेक्ष्य = अपेक्षाकर, परेण = अधिक, कालप्रदेशेन = काल के प्रदेश (अंश) के साथ, संयोगात् = संयोग से, परत्वस्य = कालिक परत्व (ज्येष्ठत्व) गुण की, उत्पत्तिः=उत्पत्ति होती है । स्थविरं च = तथा वृद्ध को, अवधिं = अवधि, कृत्वा = कर, यूनि = तरुण में, सन्निकृष्टा=संनिहित, बुद्धिः=ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है । ततः = इसके पश्चात्, तां = उस बुद्धि की, अपेक्ष्य = अपेक्षा कर, अपरेण = न्यून रूप दूसरे, कालप्रदेशेन = काल के प्रदेश से, संयोगात् = संयोग से, अपरत्वस्य = कालिक अपरत्व (कनिष्ठत्व) गुण की, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है, इति = इस प्रकार ।। विनाशः तु = किन्तु उक्त दोनों प्रकार के परत्व तथा अपरत्वका नाश होता है, अपेक्षाबुद्धिसंयोगद्रव्यनाशात् = अपेक्षा बुद्धि (निमित्त कारण), संयोग (असमवायि कारण, तथा द्रव्य, समवायि के नाश से ।।

भाषाभाष्य—अवर्तमान पदार्थ अवधि न होने के कारण वर्तमान तथा दैशिक परत्वापरत्व से भिन्न होने के कारण जिनका दिशा प्रदेश सम्बन्ध नियत नहीं, ऐसे अनियत दिशा में या एक दिशा में रहने वाले तरुण तथा वृद्ध पुरुष में समय की अधिकता तथा अल्पता के सूचक डाढी मोछ होना कर्कशत (कठोरता) वलियों की उत्पत्ति (सिकुड़न होना) रंग का फीका पड़ना इत्यादि क्रम से तरुण तथा वृद्ध के लक्षणों के वर्तमान होने के कारण एक देखने वाले पुरुष को डाढी मूंछ आदि वृद्ध के लक्षणो के न रहन के कारण अनुमान से सिद्ध तरुण्य का जन्म अल्प समय में हुआ है ऐसा समझ कर उसकी अपेक्षा स सिकुड़न आदि लक्षण संपन्न वृद्ध में काल की दूरता (अधिकता) का ज्ञान होता है, और उस ज्ञान (परनिमित्त कारण) की अपेक्षा से अधिक सूर्य गति वाले काल के एकदेश से वृद्ध शरीर के संयोग रूप असमवायि कारण से उस समवायि कारण वृद्ध शरीर में कालिक परत्व गुण रूप कार्य की उत्पत्ति होती है । तथा वृद्ध को अवधि मानकर तरुण में संनिहित बुद्धि होती है, इस बुद्धि रूप निमित्त कारण से न्यून सूर्यगती वाले काल तथा तरुण शरीर के संयोग रूप असमवायि कारण में युवा शरीर रूप समवायि कारण में कालिक अपरत्व रूप गुण कार्य की उत्पत्ति होती है । 'पलितादौ' इस भाष्य में आदि पद से शरीर का परिमाण, सामर्थ्य, इन्द्रियों की असमर्थता को लेना चाहिये । उदयनाचार्य ने अधिक सूर्य क्रिया वाले जन्म को विप्रकृष्टता (अवस्था की ज्येष्ठता), तथा न्यून सूर्य क्रिया वाले जन्म को सन्निकृष्टता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपेक्षाबुद्धिविनाशात् तावदुत्पन्ने परत्वे यस्मिन् काले सामान्यबुद्धिरुत्पन्ना भवति ततोऽपेक्षाबुद्धेर्विनश्यत्ता सामान्यज्ञानतत्सम्बन्धेभ्यः परत्वगुणबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः। ततोऽपेक्षाबुद्धिविनाशाद् गुणस्य विनश्यत्ता गुणतत्सम्बन्धेभ्यो द्रव्यबुद्धेरुत्पद्य मानतेत्येकः कालः । ततो द्रव्यबुद्धेरुत्पत्तिर्गुणस्य विनाश इति ।

संयोगविनाशादपि कथम् ? अपेक्षाबुद्धिसमकालमेव परत्वाधारे कर्मोत्पद्यते तेन कर्मणा दिक्पिण्डविभागः क्रियते अपेक्षाबुद्धितः परत्वस्योत्पत्तिरि-

---

(अवस्था की कनिष्ठता) कही है, यही दोनों क्रम से कालिकपरत्व तथा अपरत्व गुण कहे जाते हैं । सूत्र (३०२) इस प्रकार दोनों प्रकार के परत्वापरत्व गुणों की उत्पत्ति का प्रकार दिखला कर उनकी विनाश की प्रक्रिया को वर्णन करते हैं कि उक्त परत्व तथा अपरत्वगुणों का अपेक्षा रूप निमित्त, तथा संयोग रूप असमवायि और द्रव्य रूप समवयि कारण के नाश से नाश होता है ।

पदपदार्थ—(१) अपेक्षाबुद्धिविनाशात् = अपेक्षा बुद्धिरूपनिमित्त कारण के नाश से, तावत् = प्रथम, उत्पन्ने = उत्पन्न होने पर, परत्वे = परत्व गुण के, यस्मिन् = जिस काले = समय में, सामान्यबुद्धिः = परत्वत्व सामान्य ज्ञान, उत्पन्ना = उत्पन्न, भवति = होती हैं, ततः = उसी समय, अपेक्षा बुद्धेः = अपेक्षा बुद्धि रूप निमित्त कारण में, विनश्यत्ता = विनाशाभिमुख अवस्था आती है, सामान्यज्ञानतत्सम्बन्धेभ्यः = परत्व सामान्य, उसका ज्ञान, तथा उसके सम्बन्ध से, परत्वगुणबुद्धेः = परत्व गुण ज्ञान में, उत्पद्यमानता = उत्पत्ती के अभिमुख अवस्था आती है, इति = यह संपूर्ण, एकः = एक, कालः = समय है । ततः = इसके पश्चात्, अपेक्षाबुद्धेः = अपेक्षा बुद्धि रूप निमित्त कारण का, विनाशः = नाश होता है, गुणबुद्धेः च = और गुण बुद्धि की, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है । ततः = इसके पश्चात् , अपेक्षाबुद्धिविनाशात् = अपेक्षा बुद्धिरूपनिमित्त कारण के नाश से, गुणस्य = परत्वापरत्व गुण मे, विनश्यत्ता = विनाशाभिमुख अवस्था होती है, गुणज्ञानतत्सम्बन्धेभ्यः = गुण तथा उसका ज्ञान और उसके सम्बन्ध से, द्रव्यबुद्धेः = द्रव्य ज्ञान में, उत्पद्यमानता = उत्पत्ति के अभिमुख होने की अवस्था आती है, इति = यह संपूर्ण, एकः = एक, कालः=समय है । ततः = इसके पश्चात्, द्रव्य बुद्धेः = द्रव्य ज्ञान का, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है, गुणस्य = गुण का विनाशः = नाश होता है- इति = इस प्रकार ॥ (२) संयोगविनाशात् अपि=संयोगरूप असमवायि कारण के नाश से भी, कथम् = कैसे होता है परत्वापरत्वका नाश, अपेक्षाबुद्धिसमकाल एव = अपेक्षा बुद्धि के समय में ही, परत्वाधारे = परत्वाश्रयपदार्थ में, कर्म = क्रिया, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, तेन = उस, कर्मणा = क्रिया से, दिग्पिण्डविभागः = दिशा तथा पदार्थ का विभाग, क्रियते = किया जाता है, अपेक्षाबुद्धितः = अपेक्षा बुद्धि से, परत्वस्य = परत्वगुण की उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है, इति=यह, एकः = एक, कालः =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्येकः कालः । ततः सामान्यबुद्धेरुत्पत्तिः दिक्पिण्डसंयोगस्य च विनाशः ततो यस्मिन् काले गुणबुद्धिरुत्पद्यते तस्मिन्नेव काले दिक्पिण्डसंयोगविनाशाद्-गुणस्य विनाशः ।

समय है । ततः = इसके पश्चात्, सामान्यबुद्धेः = परत्वसामान्य का ज्ञान की, उत्पत्ति । उत्पत्ति होती है, दिक्पिण्डसंयोगस्य च = और दिशा तथा पदार्थ के पूर्वसंयोग का, विनाशः = नाश होता है, ततः = इसके अनन्तर, यस्मिन् = जिस, काले = समय में, गुणबुद्धिः = गुण का ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तस्मिन् एव = उसी, काले = समय में, द्रिक्पिण्डसयोगविनाशात् = दिशा तथा पदार्थ के पूर्वसंयोगरूप असमवायि कारण के नाश से, गुणस्य = परत्व गुण का, विनाशः = नाश होता है ॥

भाषाभाष्य—पूर्वोक्त तीन कारणों के नाश से होने वाला परत्व तथा अपरत्व का नाश ।

अपेक्षाबुद्धिसंयोगद्रव्यसंयोगनाशनात् । पृथक् द्वाभ्यां च सर्वेभ्यो विनाशः सह-वाऽनयोः ॥

अर्थात् अपेक्षाबुद्धि, संयोग तथा द्रव्यरूप क्रम से निमित्त कारण, असमवायि कारण तथा निमित्त कारण के नाश से होने वाला परत्वापरत्व गुणों का नाश, विभिन्न एक-एक कारणों से होने के कारण तीन प्रकार का तथा दो-दो से होने वाला (असमवायि कारण तथा निमित्त कारण के नाश से १, समवायि कारण तथा निमित्त कारण नाश से २, असमवायि कारण तथा समवायि के नाश से होने वाला ३) तीन प्रकार का, एवं मिलित, तीनों कारणों के नाश से होने वाला १, ऐसे सात प्रकार का होता है । उन सात में से प्रथम केवल अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त कारण के नाश से होने वाले १ भेद का भाष्यकार इस प्रकार वर्णन करते हैं कि परत्वगुण के उत्पन्न होने पर जिस क्षण में परत्वत्वसामान्य का ज्ञान होता हैं उसी क्षण में अपेक्षा बुद्धि रूप निमित्त कारण के नाश के कारण सन्निहित होते हैं, और परत्वत्वसामान्य उसका ज्ञान, और परत्वगुण के सम्बन्ध से परत्वगुण ज्ञान इतनी प्रक्रिया एक ही क्षण में होती है, क्योंकि परत्वत्वसामान्य ज्ञान अपेक्षाबुद्धि के नाश का कारण है तथा गुण ज्ञान के उत्पत्ति का भी कारण है, इस कारण सामान्य ज्ञान के उत्पत्ति के समय में ही अपेक्षाबुद्धि विनाशाभिमुख अवस्था में, तथा परत्वगुण ज्ञान उत्पत्ति के अभिमुख (उत्पद्यमानता) अवस्था में आ जाती है । इसके पश्चात् दूसरे क्षण में अपेक्षा बुद्धि का नाश तथा परत्वगुण ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अनन्तर अपेक्षा बुद्धि के नाश से परत्वगुण में विनश्यत्तावस्था, तथा गुण, उसका ज्ञान और उसके सम्बन्धों से द्रव्यबुद्धि उत्पन्न होने की अवस्था में आती है यह सब एक ही क्षण में होता है । यहाँ पर गुण नाश तथा द्रव्यबुद्धि के कारण एक काल में प्रगट भये अपेक्षा बुद्धि नाश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रव्यविनाशादपि कथम्? परत्वाधारावयवे कर्मोत्पन्नं यस्मिन्नेव कालेऽवयवान्तराद्विभागं करोति तस्मिन्नेव कालेऽपेक्षाबुद्धिरुत्पद्यते ततो विभागाद्यस्मिन्नेव काले संयोगविनाशः तस्मिन्नेव काले परत्वमुत्पद्यते ततः संयोगविनाशाद् द्रव्यविनाशः तद्विनाशाच्च तदाश्रितस्य गुणस्य विनाशः।

और गुणबुद्धि के उत्पाद से गुण में विनश्यत्ता, तथा द्रव्यज्ञान में उत्पद्यमानता भी एक ही समय में होती है यह भी जान लेना चाहिये। इसके पश्चात् परत्वविशिष्ट द्रव्यज्ञान तथा परत्वगुण का विनाश हो जाता है। इस प्रकार केवल अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त कारण के नाशमात्र से परत्वगुण के नाश की प्रक्रिया है, इसी प्रकार अपरत्व गुण के नाश की प्रक्रिया भी जान लेनी चाहिये जो दैशिक तथा कालिक परत्व और अपरत्व में समान है।

केवल दिग्पिण्ड संयोगादि रूप असमवायि कारण के नाश से होने वाले (दैशिक तथा कालिक में समान तथा परत्वापरत्व साधारण) परत्वगुण के नाश की प्रक्रिया भाष्यकार इस प्रकार दिखाते हैं कि एक प्रथम क्षण में अपेक्षाबुद्धि तथा परत्वाश्रय द्रव्य में नाशक क्रिया होती है,—अपेक्षाबुद्धि से परत्व की उत्पत्ति तथा क्रिया से दिशा तथा द्रव्य का विभाग होता है (१) उसके पश्चात् द्वितीय क्षण में क्रम से परत्वोत्पत्ति से परत्वत्व सामान्य का ज्ञान तथा पूर्वदिक्पिण्ड संयोग का नाश होता है (२), इसके पश्चात् परत्वत्वसामान्य ज्ञान से अपेक्षा बुद्धि का नाश तथा परत्वगुण ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी समय दिशा तथा परत्वाश्रय द्रव्य के संयोग रूप असमवायि कारण के नाश से परत्व गुण नष्ट हो जाता है। इसमें अपेक्षा बुद्धि का विनाश कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह भी परत्वगुण नाश के ही समय में उत्पन्न हुआ है, अतः समानकालीन होने से अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त कारण का विनाश यहां परत्वगुण का नाशक नहीं हो सकता ॥ २ ॥

पदपदार्थ—(३) द्रव्यविनाशात् अपि = द्रव्य रूप समवायि कारण के नाश से भी, कथं = किस प्रकार परत्व का नाश होता है। परत्वाधारावयवे = परत्वाश्रय-द्रव्य के अवयव में, कर्म = नाशक क्रिया, उत्पन्नं = उत्पन्न होकर, यस्मिन् एव = जिसी, काले = समय में, अवयवान्तरात् = उसके दूसरे अवयव से, विभागं = विभाग को, करोति = करती है, तस्मिन् एव = उसी, काले = समय में, अपेक्षाबुद्धिः = अपेक्षा बुद्धि, उत्पद्यते = उत्पन्न होती हैं, ततः = इसके पश्चात्, विभागात् = विभाग से, यस्मिन् एव = जिसी, काले = समय में, संयोगनाशः = द्रव्योत्पादकपूर्वअवयवसंयोग-का नाश होता है, तस्मिन् एव = उसी काले = समय में, परत्वं = परत्वगुण, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, ततः = इसके अनन्तर, संयोगविनाशात् = उक्त संयोग विनाश से, द्रव्य विनाशः = परत्वाधार द्रव्य का नाश होता है, तद्विनाशात् च = और उस द्रव्य के नाश से, तदाश्रितस्य = उस के आश्रित रहने वाले, गुणस्य = परत्वगुण का, विनाशः = नाश होता है ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रव्यापेक्षाबुद्ध्योर्युगपद्विनाशादपि कथम् ? यदा परत्वाधारावयवे कर्मोत्पद्यते तदैवापेक्षाबुद्धिरुत्पद्यते कर्मणा चाऽवयवान्तराद्विभागः क्रियते परत्वस्योत्पत्तिरित्येकः कालः । ततो यस्मिन्नेव कालेऽवयवविभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशस्तस्मिन्नेव काले सामान्यबुद्धिरुत्पद्यते तदनन्तरं संयोगविनाशाद् द्रव्यविनाशः सामान्यबुद्धेश्चापेक्षाबुद्धिविनाश इत्येकः कालः । ततो द्रव्यापेक्षाबुद्ध्योर्विनाशात् परत्वस्य विनाशः ।

---

(४) द्रव्यापेक्षाबुद्ध्योः = समवायि कारण द्रव्य तथा निमित्त कारण अपेक्षाबुद्धि दो के युगपत् = एक समय में, विनाशात् अपि = नाश से भी, कथं = परत्व का नाश कैसे होता है ? यदा = जिस समय, परत्वाधारे = परत्वाश्रय द्रव्य में, कर्म = नाशक क्रिया, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, तदा एव = उसी समय में, अपेक्षाबुद्धिः = अपेक्षाबुद्धि, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, कर्मणा च = और उक्त क्रिया से, अवयवान्तरात् = द्रव्य का दूसरे अवयव से, विभागः = विभाग, क्रियते = किया जाता है, परत्वस्य = परत्वगुण की, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है, इति = यह, एकः = एक, कालः = काल है । ततः = इसके पश्चात् , यस्मिन् = जिस, एव = ही, काले = समय में, अवयवविभागात् = उक्त अवयव विभाग से, द्रव्यारंभकसंयोगविनाशः = द्रव्यजनक पूर्व अवयवसंयोग का नाश होता है, तस्मिन् एव = उस ही, काले = समय में, सामान्यबुद्धिः = परत्वत्वसामान्यज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तदनन्तरं = उसके पश्चात्, संयोगविनाशात् = उत्पादक संयोग के नाश से, द्रव्यविनाशः = द्रव्य का नाश होता है, सामान्य बुद्धेः च = और परत्वत्व सामान्य ज्ञान से, अपेक्षाबुद्धि विनाशः = अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है । इति = यह, एकः = एक, कालः = काल है । ततः = इसके अनन्तर, द्रव्यापेक्षाबुद्ध्योः = द्रव्य तथा अपेक्षा बुद्धि के, विनाशात् = नाश से, परत्वस्य = परत्वगुण का, विनाशः = नाश होता है ।

भाषाभाष्य—केवल निमित्त कारण तथा असमवायि कारण के नाश से परत्व नाश की प्रक्रिया का वर्णन करने के पश्चात् केवल द्रव्य रूप समवायि कारण के नाश से परत्व नाश की प्रक्रिया का वर्णन भाष्यकार करते हैं । यह प्रक्रिया परत्वाश्रय द्रव्य के अवयव से उत्पन्न द्रव्यनाशक क्रिया से उत्पन्न विभाग के समय अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति मानने के पक्ष से सिद्ध होती है । वह इस प्रकार है । प्रथम क्षण में परत्वाश्रय द्रव्य के अवयव में उत्पन्न द्रव्य नाशक क्रिया से उत्पन्न परस्पर अवयवों का विभाग तथा अपेक्षा बुद्धि से क्रम से द्रव्यारंभक अवयवों के पूर्वसंयोग का नाश तथा परत्वगुण की उत्पत्ति होती है (१), पश्चात् क्रम से उक्त संयोगनाश से द्रव्य का नाश, तथा परत्वगुणोत्पत्ति से परत्वत्वसामान्य का ज्ञान होता है (२), जिससे क्रम से द्रव्य नाश से परत्व का नाश तथा उक्त सामान्य ज्ञान से परत्वगुण का ज्ञान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रव्यसंयोगविनाशादपि कथम् ? यदा परत्वाधारावयवे कर्मोत्पन्नमवयवान्तराद्विभागं करोति तस्मिन्नेव काले पिण्डकर्मापेक्षाबुद्ध्योर्युगपदुत्पत्तिः ततो यस्मिन्नेव काले परत्वस्योत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोग-

---

होता है अतः यह केवल द्रव्य रूप समवायि कारण के नाश से परत्व नाश की प्रक्रिया है ॥ ३ ॥

इस प्रकार केवल द्रव्य रूप समवायि कारण के नाश से परत्व नाश का उदाहरण देकर, द्रव्य तथा अपेक्षा बुद्धि रूप निमित्त कारण इन दोनों के नाश से परत्व के नाश के चौथी प्रक्रिया को दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं (यह प्रक्रिया द्रव्य के अवयव में नाशकक्रिया के समय में अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति मानने से संगत होती है) कि प्रथम क्षण में परत्वाश्रय द्रव्य के अवयव में द्रव्य की नाशक क्रिया तथा अपेक्षाबुद्धि रूप परत्व गुण का निमित्त कारण यह दोनों उत्पन्न होने के अनन्तर क्रम से उक्त नाशक क्रिया से द्रव्य के अवयवों का परस्पर में विभाग तथा अपेक्षाबुद्धि से परत्वगुण की उत्पत्ति यह दोनों होते हैं (१), इसके पश्चात् जिस समय में क्रम से उक्त अवयव-विभाग से द्रव्य के उत्पादक 'पूर्वसंयोग का नाश होता है उसी सयय में परत्वत्व-सामान्य का ज्ञान होकर क्रम से द्रव्य के आरंभक पूर्व संयोग के नाश, मे परत्वाश्रय समवायि-कारण द्रव्य का नाश तथा उक्त परत्वत्वसामान्य के ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त कारण का भी नाश हो जाता है (२), इसके पश्चात् तृतीय क्षण में द्रव्य रूप-समवायि कारण तथा अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त कारण के नाश इन दोनों से मिलकर परत्वगुण का नाश हो जाता है (३) प्रत्येक द्रव्य रूप समवायि के नाश को तथा अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त कारण के नाश से परत्वगुण का नाश होने में कारण यह है कि प्रथम तथा तृतीय परत्व नाशक प्रक्रिया में निश्चित होने से इस चतुर्थ परत्वगुण के नाश के कारण का वर्णन करने वाली प्रक्रिया में द्रव्य रूप समवायि कारण का नाश तथा अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त कारण का नाश इन दोनों के परत्वगुण नाश के पूर्व समय में वर्तमान होने के कारण द्रव्य नाश तथा अपेक्षा बुद्धि विनाश दोनों परत्वगुण के नाश के कारण हैं यह निश्चित है ॥ ४ ॥

पदपदार्थ—(५) द्रव्यसंयोगनाशात् अपि = द्रव्य तथा संयोग के नाश से भी, कथं = परत्व का नाश कैसे होता हैं, यदा = जिस समय में, परत्वाधारावयवे = परत्वाश्रय द्रव्य के अवयवमें, कर्म = नाशकक्रिया, उत्पन्न होकर, अवयवान्तरात् = उस द्रव्य के दूसरे अवयव से विभागं = विभाग को, करोति = करती है, तस्मिन् एव = उसी, काले= समय में, पिण्डकर्मापेक्षाबुद्धयोः = द्रव्य में केवल विभागजनक क्रिया तथा अपेक्षा बुद्धि बुद्धि की, युगपत् = एक साथ, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है, ततः = इसके पश्चात, यस्मिन् एव = जिसी, काले = समयमें, परत्वस्य=परत्वगुणकी, उत्पत्तिः=उत्पत्ती होती है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विनाशः पिण्डकर्मणा दिक्पिण्डस्य च विभागः क्रियते इत्येकः कालः। ततो यस्मिन्नेव काले सामान्यबुद्धिरुत्पद्यते तस्मिन्नेव काले द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशात् पिण्डविनाशः पिण्डविनाशाच्च पिण्डसंयोगविनाशः ततो गुणबुद्धिसमकालं पिण्डदिक्पिण्डसंयोगविनाशात् परत्वस्य नाशः।

तस्मिन् एव=उसी है, काले समयमें, विभागात्=नाशकक्रिया से उत्पन्न अवयव विभाग से, द्रव्यारंभकसंयोग [3]विनाशः=द्रव्य के उत्पादक पूर्वसंयोग का नाश होता है, पिण्ड कर्मणा च=और केवल विभागजनक उक्तपिन्ड क्रिया से, दिग्पिण्डस्य च = और दिशा तथा द्रव्य का भी, विभागः विभाग क्रियते = किया जाता है, इति=यह संपूर्ण, एकः = एक कालः= काल है । ततः = इसके अनंतर यस्मिन् एव = जिसी, काले = समय में, समान्यबुद्धिः= परत्वत्वसामान्य का ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तस्मिन् एव = उसी, काले = काल में, द्रव्यारंभकसंयोगविनाशात् = द्रव्य के जनक अवयवों के पूर्वसंयोग के विनाश से पिण्डविनाशः = द्रव्य का नाश होता है, पिण्डविनाशात् च = और द्रव्य के नाश से, पिण्डसंयोगविनाशः = द्रव्य का पूर्व दिशा के साथ रहनेवाले संयोग का नाश होता है, ततः = इसके अनंतर, गुणबुद्धिसमकालं = परत्वगुण ज्ञान के समय में, पिण्डादि पिण्डसंयोग विनाशात् = द्रव्य तथा उसके दिशा के साथ पूर्वसंयोग के नाश से, परत्वस्य = परत्वगुण का नाशः = नाश होता है ॥

आषाभाष्य—चतुर्थ प्रक्रिया के बाद द्रव्य रूप समवायि कारण तथा दिशा और द्रव्य के संयोग रूप समवायि कारण के नाश से होने वाले परत्व नाश की पांचवीं विधि का वर्णन करते हैं । यह विधि परत्वाश्रय द्रव्य में केवल दिशा से विभक्त करने वाली दूसरी क्रिया तथा अपेक्षा बुद्धि के एक साथ होने के पक्ष में संगत होती है जो इस प्रकार है—प्रथम क्षण में द्रव्य में उत्पन्न हुई द्रव्य नाशक क्रिया से उत्पन्न परस्पर अवयवों का विभाग, केवल दिशा से द्रव्य के विभक्त होने की दूसरी क्रिया तथा अपेक्षाबुद्धि क्रम से उत्पन्न होकर, उसके क्रमानुसार परस्पर अवयवों का द्रव्य उत्पादक पूर्वसंयोग का नाश, तथा केवल विभाग जनक क्रिया से दिशा तथा द्रव्य के पूर्वसंयोग नाश, तथा अपेक्षाबुद्धि से परत्वगुण की उत्पत्ति होती है (१), द्वितीय क्षण में क्रमसे द्रव्य के आरंभक पूर्वअवयवसंयोग के नाश से द्रव्य का विनाक, द्रव्य तथा दिशा के विभाग सें पूर्व दिशा तथा द्रव्य के संयोग का नाश, और परत्वगुण की उत्पत्ति से परत्वत्वसामान्य ज्ञान उत्पन्न होते हैं (२), पश्चात् उन दोनों नाशों से तृतीय क्षण में परत्वगुण का नाश होता है । इसके पश्चात् उक्त सामान्य ज्ञान से परत्वगुण का ज्ञान और अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है, इसी कारण पश्चात् होने में अपेक्षा बुद्धि का नाश परत्वगुण नाशक नहीं हो सकता क्योंकि उस समय भी परत्वत्वसामान्य ज्ञान परत्वगुण उत्पन्न करने वाला वर्तमान ही है। परत्वगुण के ज्ञान के समय द्रव्य तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संयोगापेक्षाबुद्ध्योर्युगपद्विनाशादपि कथम् ? यदा परत्वमुत्पद्यते तदा परत्वाधारे कर्म ततो यस्मिन्नेव काले परत्वसामान्यबुद्धिरुत्पद्यते तस्मिन्नेव काले पिण्डकर्मणा दिक्पिण्डसंयोगर्विभागा क्रियते ततः सामान्यबुद्धितोऽपेक्षाबुद्धिविनाशो विभागाच्च दिक्पिण्डसंयोगविनाश इत्येकः कालः। ततः संयोगपेक्षाबुद्धिविनाशात् परत्वस्य विनाशः।

त्रयाणां समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां युगपद् विनाशादपि कथम् ? यदापेक्षाबुद्धिरुत्पद्यते तदा पिण्डावयवे कर्म ततो यस्मिन्नेव काले कर्मणाऽवयवान्तराद्विभागः क्रियतेऽपेक्षाबुद्धेः परत्वस्य चोत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले पिण्डेपि

संयोग के नाश से परत्व का नाश होता है परत्वत्वसामान्य ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है, अतः समान काल होने के कारण अपेक्षाबुद्धि का नाश परत्व के नाश में कारण नहीं हो सकता ऐसा यहाँ पर व्योमशिवाचार्य का मत है। केवल इन दोनों नाशों को प्रत्येक में कारणता पूर्व में है, अतः इसमें दोनों को इस विधि से परत्वनाशकता हो सकती है।

पदपदार्थ—(६) संयोगापेक्षाबुद्ध्योः = असमवायि कारण संयोग तथा निमित्तकारण अपेक्षाबुद्धि के, युगपत् = साथ, विनाशात् अपि = विनाश से भी, कथं = परत्व नाश किस प्रकार होता है, यदा = जिस समय, परत्वं = परत्वगुण, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तदा = उस समय, परत्वाधारे = परत्वाश्रयमें, कर्म = केवल विभागजनक क्रिया होती है, ततः = इसके पश्चात्, यस्मिन् एव = जिसी, काले = समयमें, परत्वसामान्यबुद्धि = परत्वत्वसामान्य का ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तस्मिन् एव = उसी, काले = समय में, पिण्डकर्मणा = द्रव्य की उक्त क्रिया से, दिग्पिण्डविभागः = दिशा तथा द्रव्य का विभाग, क्रियते = किया जाता है, ततः = इसके पश्चात् सामान्य बुद्धितः = परत्वत्वसामान्य के ज्ञान से, अपेक्षाबुद्धिविनाशः = अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है, विभागात् = और विभाग से, दिग्पिण्डसंयोगविनाशः = पूर्वदिशा तथा द्रव्य का संयोग नष्ट होता है, इति = यह, एकः = एक, कालः = काल है। ततः = इसके पश्चात्, संयोगपेक्षाबुद्धिनाशात् = संयोग रूप असमवायि कारण तथा अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त कारण के नाश इन दोनों से, परत्वस्य = परत्वगुण का, विनाशः = नाश होता है।

(७) त्रयाणां—तीनों, समवाय्यसमवायिनिमित्तानां = समवायि कारण (द्रव्य) असमवायि कारण (संयोग) तथा अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त कारण के, युगपत् = एक साथ, विनाशात् अपि = नाश से भी, कथं = परत्व का नाश कैसे होता है ? यदा = जिस समय में, अपेक्षाबुद्धिः = अपेक्षाबुद्धि, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, तदा = उस समय, पिण्डावयवे = द्रव्य के अवयव में, कर्म = नाश की क्रिया होती है, ततः = इसके अनन्तर, यस्मिन् एव = जिसी, काले = समय में, कर्मणा = उक्त क्रिया से, अवयवान्तरात् = दूसरे अवयव से, विभागः = विभाग, क्रियते = किया जाता है, अपेक्षाबुद्धिः =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्म ततोऽवयवविभागात् पिण्डारम्भकसंयोगविनाशः पिण्डकर्मणा च दिक्-पिण्डविभागः क्रियते सामान्यबुद्धेश्चोत्पत्तिरित्येकः कालः ।

अपेक्षाबुद्धि की, परत्वस्य च = परत्वगुण की भी, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है, तस्मिन् एव = उसी, काले = समय में, पिण्डे अपि = द्रव्य में भी, कर्म = केवल विभागजनक क्रिया होती है. ततः = इसके पश्चात् अवयवविभागात् = नाशक क्रियाजन्य अवयव विभाग से, पिण्डारंभकसंयोग विनाशः = द्रव्य के उत्पादक पूर्व अवयवसंयोग का नाश होता है, पिण्डकर्मणा च = और केवल विभागजनकक्रिया से, दिग्पिण्ड-विभागः = दिशा तथा द्रव्य का विभाग, क्रियते = किया जाता जाता है, सामान्यबुद्धेः च = परत्वत्वसामान्य ज्ञान की भी, उत्पत्तिः=उत्पत्ति होती है, यह सब एक समय है ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार परत्व नाश का पाँचवां प्रकार वर्णन कर भाष्यकार संयोगरूप असमयवायि कारण तथा अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्त कारण इन दोनों के नाश से साथ होने वाले परत्वगुण नाश के षष्ठप्रकार का वर्णन प्रश्नपूर्वक करते हैं। यह प्रकार परत्वगुण की उत्पत्ति के समय द्रव्य में क्रिया के स्वीकार करने के पक्ष में संगत होती है। जो इस प्रकार है कि प्रथम क्षण में परत्वगुण तथा परत्वाधार द्रव्य में केवल विभागजनक क्रिया उत्पन्न होकर, परत्वत्वसामान्य का ज्ञान तथा दिशा और द्रव्य का विभाग दोनों क्रम से होते हैं, पश्चात् अपेक्षाबुद्धि नाश तथा दिशा और द्रव्य के पूर्वसंयोग का नाश क्रम से होते हैं (१), और दूसरे क्षण में उन दोनों नाशों से परत्वगुण का नाश होता है (२), इस प्रकार असमवायि कारण संयोग तथा अपेक्षा-बुद्धिरूप निमित्त कारण के नाश से होने वाले परत्व नाश की षष्ठ प्रक्रिया है।

इस प्रकार परत्वनाशक छः प्रकार की विधि का निरूपण कर समवायि कारण द्रव्य, असमवायिकारण संयोग, तथा अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्त इन तीनों के नाश से होने वाली परत्वगुण नाश की सप्तम प्रक्रिया का भाष्यकार वर्णन करते हैं। जो परत्वगुण की उत्पत्ति तथा नाशक क्रिया से उत्पन्न अवयवविभाग की उत्पत्ति के समय में केवल विभागजनक द्रव्य में क्रिया मानने से सम्पन्न होती है। इस सप्तम प्रक्रिया का प्रश्नपूर्वक प्रतिपादन करते हैं कि समवायिकारण, असमवायि कारण तथा निमित्त कारणों के एक साथ हुये नाशों से परत्वनाश किस प्रकार होता है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए तीनों के नाशों से होने वाला परत्वनाश ऐसे स्थल में होता है जिस समय अपेक्षाबुद्धि होती है उस समय द्रव्य के अवयव में द्रव्यनाशक क्रिया होकर जिसी समय में द्रव्य नाश क्रिया से परस्पर अवयवों का विभाग होता है और अपेक्षाबुद्धि से परत्वगुण की उत्पत्ति भी होती है, उसी समय द्रव्य में केवल विभागजनक क्रिया होती है, इसके पश्चात् नाशक क्रिया से उत्पन्न परस्पर अवयवों के विभाग से पूर्व द्रव्योत्पादकसंयोग का नाश, और अनाशक द्रव्य की क्रिया से दिशा तथा द्रव्य का परस्पर विभाग भी होता है, तथा परत्वत्वसामान्य ज्ञान की भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ततः संयोगविनाशात् पिण्डविनाशः विभागाच्च दिक्पिण्डसंयोगविनाशः सामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनाश इत्येतत् सर्वं युगपत्त्रयाणां समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां विनाशात् परत्वस्य विनाश इति ।

(१३) बुद्धिप्रकरणम् ।

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः । सा चानेकप्रकाराऽर्थानन्त्या-प्रत्यर्थनियतत्वाच्च ।

उत्पत्ति होती है, यह सब एक ही काल में होता है । अर्थात् प्रथम क्षण में अपेक्षाबुद्धि तथा अवयवक्रिया से परत्वगुण और अवयवविभाग ये दोनों होते हैं, और अपने कारण से अवयव में क्रिया भी होती है (१) ।

पदपदार्थ—ततः = इसके पश्चात् , संयोगविनाशात् = द्रव्योत्पादक पूर्वसंयोग के नाश से, पिण्ड विनाशः = द्रव्य का नाश, विभागात् च = और अवयवि क्रियाजन्य विभाग से, दिक्पिण्डसंयोगविनाशः = दिशा तथा द्रव्य के पूर्वसंयोग का नाश, सामान्यज्ञानात् = परत्वत्वसामान्य के ज्ञान से, अपेक्षाबुद्धेः = अपेक्षाबुद्धि का विनाशः= नाश होता है, इति = इस प्रकार, एतत् = यह, सर्वं = सम्पूर्ण, युगपत् = एक साथ, त्रयाणां = तीन, समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां = समवायिकारण द्रव्य, संयोग-रूप असमवायिकारण, तथा अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त कारणों के, विनाशात् = नाश से, परत्वस्य = परत्वगुण का विनाशः = नाश होता है, इति = इस प्रकार है ॥

भाषाभाष्य—इसके पश्चात् द्रव्य के उत्पादक अवयवसंयोग के नाश से द्रव्य का नाश तथा अवयवकर्म से उत्पन्न विभाग से पूर्व दिशा तथा द्रव्य के संयोग का नाश होता है, अर्थात् द्वितीय क्षण में परत्वत्वसामान्य का ज्ञान, अवयवसंयोग का नाश तथा दिग्पिण्ड विभाग होता है (२) इसके पश्चात् उक्त संयोग के विनाश से समवायि कारण द्रव्य नाश तथा दिशा और द्रव्य के विभाग से उनके असमवायि कारण पूर्वसंयोग का नाश, और परत्वत्वसामान्य के ज्ञान से अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्त कारण का नाश तृतीय क्षण में होता है, और उन तीनों नाशों से परत्वगुण का नाश होता है । यही सातों प्रकार की प्रक्रिया दैशिक तथा कालिक परत्व तथा अपरत्वगुण के नाश में समझ लेनी चाहिये । प्रत्येक परत्वगुणनाशक प्रक्रिया जो पूर्व में कहीं गई है उसका एकत्र सम्भव होने से यह अन्तिम पक्ष भी हो सकता है इस कारण इसमें अनेक परत्वनाश के कारणों का वर्णन किया है । (यह सब स्वतन्त्र प्रशस्तपादाचार्योक्त भाष्य की व्याख्या है) ॥

(१३) बुद्धिप्रकरण ।

पदपदार्थ—बुद्धिः=बुद्धि, उपलब्धिः = उपलब्धि, ज्ञानं = ज्ञान, प्रत्ययः = प्रतीति, इति = यह सम्पूर्ण, पर्यायाः=पर्याय (एक ही वस्तु के नाम हैं) । सा च=और बहुबुद्धि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्याः सत्यप्यनेकविधत्वे समासतो द्वे विधे—विद्या चाविद्या चेति। तत्राविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा।

रूप गुण पदार्थ, अनेक प्रकारा = अनेक प्रकार है, अर्थानन्त्यात् = पदार्थ विषयों के अनन्त होने से, प्रत्यर्थनियतत्वात् च = प्रतिविषय में 'नियत होने से। तस्याः = उस बुद्धि से, सति अपि = होने पर भी, अनेकविधत्वे = अनेक (बहुत) प्रकार के, समासतः = संक्षेप से, द्वे = दो, विधे = प्रकार हैं। विद्या = विद्या (यथार्थ ज्ञान), च अविद्या = और (अयथार्थ ज्ञान)। तत्र = उन दोनों में से, अविद्या = अयथार्थ ज्ञान, चतुर्विधः = चार प्रकार है, संशयविपर्ययअनध्यवसायस्वप्नलक्षणा = संदेह, मिथ्या ज्ञान, अनिश्चयज्ञान तथा स्वप्नरूप।

भाषाभाष्य—बुद्धि से उत्पन्न परत्वादि गुणों का पूर्व में वर्णन हुआ है इस प्रसंग संगति से क्रमप्राप्त बुद्धिगुण का निरूपण भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि बुद्धि, ज्ञान, उपलब्धि, प्रतीति इत्यादि पर्याय शब्दों से जिसका ज्ञान होता है उसे बुद्धि कहते हैं। इच्छा के साक्षात्कारण आत्मा के विशेष गुण में वर्तमान तथा गुणत्व जाति की साक्षात्व्याप्य बुद्धित्वरूप जातिमान् गुण को बुद्धि कहते हैं। यद्यपि—'बुद्धिर्ज्ञान' बुद्धि ज्ञान शब्द से कही जाती है इतने से ही निर्वाह बुद्धि लक्षण का हो सकता है क्योंकि इसीसे 'जानामि' जानता हूँ इस प्रकार अनुव्यवसाय (ज्ञान का अनुभव) हो जायगा, तब उपलब्धि आदि पर्याय शब्दों का ग्रहण भाष्यकार ने क्यों किया— ऐसी यहाँ शंका हो सकती है, तथापि सांख्यमतादिवादी कुछ लोग बुद्धि आदि शब्दों का भेद मानते हैं, उनका मत खण्डन करने के लिये अनेक पर्याय शब्द दिये हैं ऐसा यहाँ पर भाष्यकार का अभिप्राय है। क्योंकि सांख्यमतावलम्बियों का ऐसा मत है कि—महत्तत्वनाम का अन्तःकरणविशेष जो सृष्टिकर्त्री सत्व-रज तथा तमगुण रूप प्रकृति का प्रथम परिणाम है उसी का नाम है बुद्धि। और उस बुद्धि को विषयाकार परिणाम 'घट है पट है' इत्यादि को ज्ञान कहते हैं। आदर्श (दर्पण के) समान स्वच्छ (निर्मल) बुद्धि में वर्तमान ज्ञान से चैतन्यशक्तिरूप पुरुष (आत्मा) का भेद ज्ञान न होने से आत्मा में ज्ञानाश्रय होने के अभिमान को उपलब्धि कहते है। 'सुखादि गुण भी बुद्धि के परिणामविशेष हैं न कि आत्माके'—इस मत का ज्ञान उपलब्धि तथा प्रत्यय एक ही गुण पदार्थ का बोधक है इस वैशेषिक मत से खण्डन हो जाता है। वैशेषिक मत में अन्तःकरण मन ही है, उससे अतिरिक्त विलक्षण महत्तत्वनामक अन्तःकरण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि विषयों के (क्रमसे) त्याग करने तथा ग्रहण करने के अनुकूल उत्पत्ति विनाशशाली एक है तथा एक दूसरा है जिसकी उत्पत्ति से प्राणिमात्र को प्रवृत्ति तथा निवृत्ति हो सकती है इन्हीं दोनों का प्रत्येक आत्मा को अनुभव होता है दूसरे किसी प्रकार का अनुभव नहीं होता है। और सांख्यवादी को हम ऐसा भी प्रश्न कर सकते हैं कि बुद्धि की ज्ञान रूप वृत्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(व्यापार) बुद्धि से भिन्न है या अभिन्न (अपृथक्) है, यदि भिन्न हो तो सांख्य को अभिप्रेत उन दोनों का नियत अभेद न बनेगा। और अभिन्न (एक रूप) मानें तो बुद्धि के एक होने से उसके ज्ञान रूप व्यापारों के भी एक होने के कारण तीन-चार-पाँच इत्यादि प्रतीति न हो सकेगी। इसी कारण वृद्ध नैयायिकों ने कहा है—'वृत्तीनां वा नानात्वे बुद्धेरपि नानात्वादेकत्वव्याघात' इति। अर्थात् बुद्धि वृत्तियों को अनेक माना जाय तो बुद्धियों में भी अनेकत्व आने से सांख्याभिमत बुद्धि पदार्थ के एकत्व का व्याघात हो जायगा।

विषयभेद से वह बुद्धि अपने विषय पदार्थों के अनन्त होने से अनन्त (अनेक) प्रकार की है क्योंकि कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता। यदि कहो कि 'विषय पदार्थों के अनेक होने से बुद्धि के अनेक प्रकार सिद्ध होने पर सिद्धान्ती का क्या अभिप्राय सिद्ध हुआ' तो भाष्यकार कहते हैं कि हमारी बुद्धियों के प्रत्येक विषय में नियमित होने के कारण विषय पदार्थों के अनन्त होने से वह बुद्धि भी अनन्त है। जिस प्रकार विषय के भेद से बुद्धिरूप गुण पदार्थ का भेद है उसी प्रकार कारण भेद से भी उसके भेद हो सकते हैं यह वर्णन करते हुए प्रशस्तदेव कहते हैं कि उस बुद्धि के उक्त प्रकार से अनेक प्रकार होने पर भी संक्षेप से विद्या तथा अविद्या ऐसे दो भद हैं, जिनमें विशेष्य में विशेषण के न रहने को विषय न करनेवाले, अर्थात् विशेष्य में विशेषण के रहनेवाले ज्ञान को विद्या तथा उसके विपरीत विशेष्य में विशेषण की वर्तमानता को कहनेवाले ज्ञान को अविद्या (मिथ्याज्ञान) कहते हैं। जिन दो में से अविद्या संशय, विपर्यय (मिथ्या ज्ञान) अनध्यवसाय (निश्चय न करनेवाला ज्ञान) तथा स्वप्न इस भेद से चार प्रकार की है। उद्देश में पश्चात् कही हुई भी अविद्या का दोनों बुद्धियों की विवक्षा (कहने की इच्छा) मात्र भाष्यकार को वर्णन करने में अभिप्रेत होने से प्रथम अविद्या का ही वर्णन भाष्य में किया है ऐसा कन्दलीकार श्रीधराचार्य का यहाँ अभिप्राय है, किन्तु उदयनाचार्य का ऐसा अभिप्राय है कि अविद्या के विद्यापूर्वक होने के कारण पश्चात् कही हुई भी अविद्या का ज्ञान लाघव से हो सकता है अतः प्रथम अविद्या का ही विभाग भाष्यकार ने कहा है।

यहां पूर्वपक्षी का ऐसा आक्षेप होता है 'कि यह अविद्या का विभाग युक्त नहीं है, क्योंकि तर्क का भी इसमें प्रवेश होना उचित है, कारण यह की प्रमाणों के अनुग्राहक ऊह नामक तर्क के एक कोटि विषयक होने से संशय में, तथा अयथार्थ होने के कारण निर्णय में, और सत्य ज्ञानरूप होने से अनिश्चयरूप अनध्यवसाय, अथवा स्वप्न में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता, यदि तर्क को न माना जाय तो अनिष्टापत्ति रूप प्रसङ्ग भी परमत में न हो सकेगा।' इस आक्षेप की समालोचना कन्दलीकार ने इस प्रकार की है कि यह तर्क क्या परपक्षा भाव रूप है, अथवा अपने पक्ष की संभावना रूप है? प्रथम पक्ष में यह तर्क प्रमाण ही हो जायगा, क्योंकि 'यदि आत्मा उत्पत्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धर्म वाला अनित्य हो तो एक को अनेक शरीरादि सम्बन्ध रूप संसार, तथा उससे आत्यन्तिक निवृत्ति रूप मोक्ष दोनों ही न हो सकेंगे, और अनुत्पत्ति धर्म वाले नित्य आत्मा मानने से संसार और मुक्ति दोनों हो सकेंगे इस तर्क से ज्ञाता आत्मा को अनित्य मानने से संसार तथा मोक्ष का असंभव है यह ज्ञान यदि अप्रमाण हो तो इससे परपक्ष के अभाव की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि अप्रमाण से असिद्धि होने से प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि विपक्ष का अभाव सिद्ध होता है तो यह तर्क अप्रमाण नहीं होगा, जिससे इसका प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जायगा, क्योंकि बिना प्रमाण के किसी की सिद्धि नहीं होती। स्वपक्ष संभावना रूप द्वितीय पक्ष में इस तर्क की उत्पत्ति में क्या कारण प्रमाण है? क्योंकि स्वपक्ष साधक प्रमाण उसका कारण नहीं हो सकता, अतः उसकी प्रवृत्ति ही नहीं है, तर्क से विषय का विवेचन होने पर स्वपक्षसाधन की प्रवृत्ति होती है वही उसका कारण हो तो अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा। यदि कहो कि 'विपक्ष के अभाव की प्रतीति उसका कारण है' तो विपक्षाभाव से सिद्ध होने वाले स्वपक्ष संभावना का ज्ञान अनुमानप्रमाण में ही अन्तर्गत हो जायगा। कुछ नैयायिकों ने तर्क को निश्चयात्मक न होने के कारण संशय में अन्तर्गत माना है। उदयनाचार्य ने तो तर्क को मिथ्या ज्ञान का भेद मान कर भी तर्क को न मानने वाले तार्किकों का तर्क को भूल जाना घोड़े पर चढ़े हुए घुड़सवार के घोड़े को भूल जाने के समान अयुक्त है' इस प्रकार प्रशस्तदेव के भाष्य पर आक्षेप किया है जिसे किरणावली निबन्ध में स्वयं देख लेना चाहिये। व्योमशिवाचार्य ने तर्क के विषय में इस प्रकार समालोचना की है 'कि संशय तथा निश्चय को छोड़कर ऊह नामक तर्क का अनुभव ही नहीं होता अतः संभावना रूप तर्क नहीं है। यदि कहो कि वृक्ष है या पुरुष ऐसे संदेह के अनन्तर बाहर के दहलीज में है ऐसा सम्बन्ध ज्ञान होने से वृक्षपक्ष का निषेध होने से यह पुरुष होगा ऐसी संभावना ज्ञान रूप तर्क हो सकता है' तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह तो उस वस्तु में उसके स्वरूप का ज्ञानरूप होने से निश्चय ही है। अतः 'यह वृक्ष या मनुष्य होगा' इस प्रकार वृक्ष और पुरुष इन दोनों के प्रसंग में एक के निषेध से उससे भिन्न की सिद्धि हो ही जाती है, अतः तर्क नहीं ही हो सकता। यदि इसे ज्ञानान्तर रूप माने तो ऊहज्ञान के अव्यभिचारिविषयक ज्ञान होने से प्रमाणान्तर मानना होगा, अभिधेय में प्रमाण के बिना उसका फल नहीं हो सकता, अथवा प्रमाण सामान्य लक्षण ही व्यभिचारी हो जायगा। यदि इन्द्रिय सन्निकर्षादिक ही को तर्क की उत्पत्ति में प्रमाण माना जाय, तो वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों का फल होने से तर्क को ज्ञानान्तर नहीं माना जा सकता। कुछ दार्शनिक तर्क के विषय में ऐसी समालोचना करते हैं कि षोडश पदार्थ आदि नैयायिकों के समान तन्त्र में ऊहा (तर्क) की प्रसिद्धि होने से ही वैशेषिकों के मत में उसको लाभ हो जाता है, अतः प्रशस्तपाद भाष्य में उसे नहीं कहा है। यदि कहो कि 'तब तो प्रत्यक्षादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१४) संशयप्रकरणम् ।

संशयस्तावत् प्रसिद्धानेकविशेषयोः सादृश्यमात्रदर्शनादुभयविशेषानुस्मरणादधर्माच्च किंस्विदित्युभयावलम्बी विमर्षः संशयः। स च द्विविधः— अन्तर्बहिश्च ।

प्रमाणों का भी समान तंत्र में प्रसिद्धि होने से उन्हें भी प्रशस्तदेव के भाष्य में कहने की क्या आवश्यकता थी' सो यह नहीं हो सकता, क्योंकि स्वमत न रहने पर समान तंत्र की असिद्धि नहीं होती। सूत्र–२५१–२५३, तक तथा ३४८, ९३, ॥

(१४) संशय प्रकरण ।

पदपदार्थ—संशयः = संशय रूप अविद्या, तावत् = प्रथम है, प्रसिद्धानेकविशेषयोः = प्रसिद्ध अनेक विशेष धर्माश्रय दो द्रव्यों के, सादृश्यमात्रदर्शनात् = केवल सादृश्य के देखने से, उभयविशेषानुस्मरणात् = दोनों द्रव्यों के विशेष धर्मों के पश्चात् स्मरण से, अधर्मात् च = और अधर्म से, किंस्वित् = क्या है, इति = इस प्रकार, उभयावलम्बी = दो धर्मों को विषय करने वाला, विमर्षः = ज्ञान, संशयः = संशय रूप अविद्या है। स च = और वह भी, द्विविधः = दो प्रकार है, अन्तः = आन्तरिक, वहिः च = और बाह्य ॥

भाषाभाष्य—चार प्रकार की उक्त अविद्याओं में उद्देश क्रम के अनुसार संशय रूप अविद्या का स्वरूप भाष्यकार इस प्रकार क्रम से कहते हैं कि जिन दो वृक्ष तथा पुरुष के क्रम से वक्र कोटर (टेढ़ा खोखला देश) तथा सिर हाथ इत्यादि विशेष धर्मों का ज्ञान जिस मनुष्य को पहिले हो चुका है उसी मनुष्य को कालान्तर में किसी ऊंचे धर्मीरूप द्रव्य में उन दोनों वृक्ष तथा पुरुष के ऊंचाई रूप साधारण धर्म के सादृश्य मात्र के देखने से, तथा वृक्ष और पुरुष के वक्र कोटर आदि तथा सिर हाथ इत्यादि असाधारण धर्मों के (जो पूर्व में ज्ञात है) स्मरण, तथा अधर्म से भी 'क्या है' इस प्रकार का विरुद्ध वक्र कोटर, तथा सिर हाथ आदि उभय प्रकारक विरुद्ध वृक्ष तथा पुरुष विषयक 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह वृक्ष है या पुरुष इत्याकरक जो ज्ञान होता है उसे संशय कहते हैं। यहां 'प्रसिद्धानेकविशेषयोः' इत्यादि विशेषण से संशय के कारण को भाष्यकार ने दिखाया है। मात्र पद से संशय के समय दोनों में से एक किसी विशेष धर्म का अज्ञान सूचित किया है, यह बोधित होता है। और 'अधर्मात्' इस संशय के कारणोक्ति से संशय नामक अविद्या पुरुष को इष्ट नहीं है, यह सूचित होता है। जिससे एकधर्मी में विरुद्ध नाना धर्म प्रकारक ज्ञान का नाम संशय है यह संशय का लक्षण सम्पन्न होता है। वह यह उक्त संशय समान धर्म से, तथा विरुद्धकोटि ज्ञान से उत्पन्न इस प्रकार उभय स्वरूप है। जिस संशय में निषेध कोटि (पक्ष) गौण है वह समान धर्म से उत्पन्न है, क्योंकि उंचाई रूप समान धर्म वृक्ष तथा पुरुष का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तस्तावत्—आदेशिकस्य सम्यङ्मिथ्या चोद्दिश्य पुनरादिशतस्त्रिषु कालेषु संशयो भवति किन्नु सम्यङ्मिथ्या वेति ।

बहिर्द्विविधः—प्रत्यक्षविषये चाप्रत्यक्षविषये च। तत्राप्रत्यक्षविषये तावत्—साधारणलिङ्गदर्शनादुभयविशेषाऽनुस्मरणादधर्माच्च संशयो भवति। यथाऽटव्यां विषाणमात्रदर्शनाद् गौर्गवयो वेति ।

स्मारक होने से समान धर्म की प्रधानता है। विप्रतिपत्ति (विरुद्ध पक्ष) से उत्पन्न जिसमें चार कोटि (पक्ष) प्रधान हैं, वह संशय होता है क्योंकि शब्द नित्य ही है १ अनित्य नहीं है, २ अनित्य ही है, ३ नित्य नहीं है, ४ इत्यादि स्थल में भी संशय होता है। चाक्षुषत्वादि धर्म से सांकर्य होने के कारण संशयत्व जाता नहीं है ऐसा कुछ नैयायिकों का मत है। और कुछ नैयायिकों का ऐसा आशय है कि संशय सर्वत्र मानस ही होता है, बिजली के चमकने से धर्मिर्वान् (पदार्थ) के देखने पर अन्धकार में भी विरुद्ध पक्षों के स्मरण करने वाले को संशय होता है, सांकर्य के न होने से संशयत्व जाती ही है। कन्दलीकार ने अनिश्चय रूप प्रत्यय ज्ञान को संशय कहा है। यदि कहो कि 'अनिश्चय रूप ज्ञान में निश्चय रूप प्रत्ययता कैसे होगी' तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सामान्य विशिष्ट धर्मी के ज्ञान होने से निश्चयात्मक तथा धर्मविशेष की अनुपलब्धि से संशय में अनिश्चयरूपता दोनों हो सकता है। क्योंकि सामग्री के भेद से कार्य विलक्षण होता है। उक्त संशय के ज्ञाता के धर्म से उत्पन्न आन्तरिक, तथा विषय के धर्म से उत्पन्न बाह्य ऐसे दो आभ्यान्तर भेद हैं।

पदपदार्थ—अन्तः=आन्तरिक संशय है, तावत् = प्रथम, आदेशिकस्य = ज्योतिषी विद्वान् के, सम्यक् = सत्य, मिथ्या च = और मिथ्या भी, उद्दिश्य=कहकर, पुनः=फिर, पश्चात्, आदिशतः = ग्रहसंचार आदि को कहते हुए, त्रिषु = तीनों, कालेषु = समयों में, संशयः = सन्देह, भवति = होता है, कि नु = क्या मुझे, सम्यक्=सत्य, मिथ्या वा = या असत्य ज्ञान, हुआ, इति = इस प्रकार ॥

बहिः = बाह्य संशय है, द्विविधः=दो प्रकार, प्रत्यक्ष विषये च = प्रत्यक्ष विषय में, अप्रत्यक्ष विषये च = और अप्रत्यक्ष विषय में भी, तत्र = उन दोनों में से, अप्रत्यक्ष विषये = प्रत्यक्ष न होने वाले विषय में, तावत् = प्रथम, साधारणलिङ्गदर्शनात् = सामान्य लिङ्ग को देखने से, उभयविशेषानुस्मरणात् च = दोनों के विशेष धर्मों के पश्चात् स्मरण से भी, अधर्मात् च = और अधर्म से भी, संशयः = संशय होता हैं, यथा = जिस प्रकार, अटव्यां = अरण्यमें, विषाणमात्रदर्शनात् = केवल शृंग (सींग) के देखने से, गौ = गौ है, गवहः वा = अथवा गवय है, इति = इस प्रकार ।।

भाषाभाष्य—उक्त दो प्रकार के संशयों में से अन्तरिक संशय वह है जो किसी ज्योतिषी के पूर्व में कहे हुए सूर्यग्रहण इत्यादि ग्रहसंचार का कथन विपरीत न होने के कारण सत्य, तथा किसी समय में कहे हुए उक्त ग्रहसंचार के कथन के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रत्यक्षविषयेऽपि स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वतामात्रसादृश्य दर्शनात् वक्रादिविशेषानुपलब्धितः स्थाणुत्वादिसामान्यविशेषानभिव्यक्तावुभयविशेषानुस्मरणादुभयत्राकृष्यमाणस्यात्मनः प्रत्ययो दोलायते किं नु खल्वयं स्थाणुः स्यात्पुरुषो वेति ।

ठीक न मिलने से असत्य होने पर, पश्चात् कालान्तर में कहने के समय स्वयं उस ज्योतिषी को आन्तरिक संदेह होता है कि मेरा यह कहा हुआ ग्रहसंचार ज्ञान जो नैमित्तिक हुआ है वह सत्य अथवा मिथ्या है ।।

बाह्यसंशय :-प्रत्यक्ष होने वाले, तथा प्रत्यक्ष न होने वाले दो प्रकार के बाह्य विषयों में उत्पन्न होने के कारण दो प्रकार का है, जिनमें से अप्रत्यक्ष विषय में उत्पन्न होने वाला प्रथम बाह्य प्रदेश के संशय का उदाहरण भाष्यकार ने इस प्रकार वर्णन किया है कि गो तथा गवय (जंगली गवय नामक गो के समान पशु) दोनों में रहने वाले केवल शृंग (सींग) रूप तथा चतुःपदतारूप साधारण धर्म के दर्शन से तथा गो और गवय रूप विशेष के स्मरण तथा अधर्म से अरण्य की झाड़ी में होने से प्रत्यक्ष न होने वाले पशु के सामान्य रूप से केवल शृङ्ग को देखकर अनुमान से सिद्ध पशु के संशय का विषय होने के कारण यह अप्रत्यक्ष विषय बाह्य संशय है ।। यदि कहो कि 'इसका प्रत्यक्ष से क्या विशेष है ? तो विशेष लक्षण के कथन से सामान्य विशेषित धर्मि का प्रत्यक्ष होना । यदि कहो कि 'गो तथा गवय (के शृंग में) क्या सामान्यता है ? तो समान अवयवों की रचना का सम्बन्ध ही दोनों की सामान्यता (सादृश्य) है । क्योंकि जैसी गो के शृंगों की अवयव रचना देखी है उसी प्रकार की गवय के शृंगों की रचना देखी है, जो गौके शृंगविशेष तथा गवय के शृंग के विशेष प्रथम ज्ञात हैं वह यहां उपलब्ध नहीं हैं इस कारण सादृश्यमात्र से विशेषित शृंग को देखने वाले प्रमाता को उक्त विशेष की उपलब्धि न होने के कारण, तथा उसके स्मरण से क्या यह गाय है अथवा गवय ऐसा अप्रत्यक्ष बाह्य विषय में संशय होता है ।।

पदपदार्थ—प्रत्यक्ष विषये अपि = प्रत्यक्ष विषय में भी, स्थाणुपुरुषयोः = वृक्ष तथा पुरुष दोनों के, ऊर्ध्वतामात्र सादृश्य दर्शनात् = केवल ऊँचाई मात्र सादृश्य को देखने से, वक्राकोटरादि विशेषानुपलब्धितः = टेढे कोटर (खोखले) तथा सिर हाथ इत्यादि विशेष धर्म की उपलब्धि न होने के कारण, स्थाणुत्वादि सामान्य विशेषानुपलब्धौ = वृक्षत्व तथा पुरुषत्व जातिविशेष की अभिव्यक्ति न होने से, उभयविशेषानुस्मरणात् = वृक्ष तथा पुरुषके पूर्वोक्त विशेष धर्मों के स्मरण से, उभयत्र = वृक्ष तथा पुरुष दोनों में, आकृष्यमाणस्य = आकृष्ट होनेवाले, आत्मनः = प्रमाता का, प्रत्ययः = ज्ञान, दोलायते = हिंडोले के समान चंचल होता है, किन्तु = क्या, खलु = निश्चय से, अयं = यह धर्मी, स्थाणु = वृक्ष, स्यात् = होगा, पुरुषो वा = अथवा मनुष्य ! ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१५) विपर्ययप्रकरणम् ।

विपर्ययोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव भवति ।

प्रत्यक्षविषये तावत्—प्रसिद्धानेकविशेषयोः पित्तकफानिलोपहतेन्द्रियस्या-

(१५ विपर्यय प्रकरण)

विपर्ययः अपि = विपर्ययरूप अविद्या भी, प्रत्यक्षानुमानविषय एव = प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के विषय में ही, भवति = होता है ।

भाषाभाष्य—अप्रत्यक्ष विषय में बाह्यसंशय के वर्णन के अनन्तर प्रत्यक्ष विषय में बाह्यसंशय का वर्णन भाष्यकार करते हैं कि 'दूर से किसी ऊँचे पदार्थ को देखकर उसमें वृक्ष तथा मनुष्य मे रहने वाले केवल ऊर्ध्वतारूप सादृश्य के दर्शन से, वृक्ष के टेढ़े कोटर इत्यादि तथा मनुष्य के शिर-हस्त इत्यादि विशेष धर्म की दूरता के कारण ज्ञान न होने से अर्थात् वृक्षता के अभिव्यंजक वक्र कोटरादि तथा मनुष्यता के अभि-व्यञ्जक शिर-हाथ इत्यादि विशेष के उपलब्ध न होने से वृक्षता तथा मनुष्यता की अभिव्यक्ति न होने पर प्रत्येक वृक्ष तथा मनुष्य में पूर्वकाल में उपलब्ध हुए दोनों के उक्त विशेष धर्मों के स्मरण से वृक्ष तथा मनुष्य में ऊंचाई रूप सादृश्य के कारण आकृष्ट होनेवाले आत्मा (ज्ञाता) का ज्ञान निश्चित नहीं होने पाता, यह प्रसिद्ध प्रत्यक्षविषयक संशय का उदाहरण है । सूत्र—(९६ से ९९ तक)

(१५) विपर्यय प्रकरण

इस प्रकार संशयरूप अविद्या के निरूपण के पश्चात् विपर्ययरूप द्वितीय अविद्या का निरूपण करते हैं कि संशय तथा अनध्यवसायरूप अविद्या से भिन्न जागृत अवस्था में होनेवाली मिथ्या ज्ञान रूप अविद्या का नाम विपर्यय है । और वह विपर्यय प्रत्यक्ष तथा अनुमान के विषय में ही होने से दो प्रकार का है । अपि शब्द से संशय के समान विपर्यय भी उक्त दोनों प्रकार का है यह सूचित होता है, जिससे संशय निरूपण में आए हुए 'स च द्विविधः' यहाँ के द्विविध पद की अनुवृत्ति (लाने) यहां होती है यह सूचित होता है । विपर्यय के विषय, स्वरूप तथा कारण के निरूपण करने के लिये केवल संशय ही नहीं किन्तु विपर्यय भी प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष विषय में होता है, अतः विपर्यय भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषय ही में होता है ऐसा भाष्य है । अथवा संशय के प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषय में होने की स्वीकृति से विपर्यय का कोई विषय न होने के कारण उसका सम्भव ही नहीं है, अर्थात् विपर्यय नाम की अतिरिक्त कोई अविद्या नहीं है इस शंका के समाधान के लिये विपर्यय भी संशय के समान प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषय में होता है ऐसी भाष्यकार की उक्ति है । इस प्रकार व्योम-शिवाचार्य का यहाँ मत है ।

पदपदार्थ—प्रत्यक्ष विषये = प्रत्यक्ष के विषय में, तावत् = प्रथम, प्रसिद्धानेक-विशेषयोः = पूर्व में जिन दोनों के विशेष धर्म ज्ञात हैं ऐसे दो द्रव्यों के पित्तकफानिलो-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथार्थालोचनात् असन्निहितविषयज्ञानजसंस्कारापेक्षादात्मनसोः संयोगाद-धर्माच्चातस्मिंस्तदिति प्रत्ययो विपर्ययः। यथा गव्येवाश्व इति। असत्यपि प्रत्यक्षे प्रत्यक्षाभिमानो भवति यथा व्यपगतघनपटलमचलजलनिधिसदृशम म्बरमञ्जनचूर्णपुञ्जश्यामं शार्वरं तम इति।

पहृतेन्द्रियस्य = जिस प्रमाता पुरुष के इन्द्रिय पित्त, कफ तथा वायु के प्रकोप के कारण दूषित हैं उसे, अयथार्थालोचनात् = मिथ्या ज्ञान से, असन्निहित विषयज्ञानजसंस्कारा-पेक्षात् = दूर रहनेवाले विषय के ज्ञान से उत्पन्न भावनासंस्कार की अपेक्षा करनेवाले, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगात् = संयोग रूप असमवायिकारण से, अधर्मात् च = और अधर्म से भी, अतस्मिन् = तद्भिन्न पदार्थ में, तत = वह है, इति = ऐसा, प्रत्ययः = ज्ञान, विपर्ययः = मिथ्याज्ञान (कहा जाता है), यथा = जिस प्रकार, गवि एव = गौ में ही, अश्वः = अश्व हैं, इति = इस प्रकार का ज्ञान। असति अपि = न होने पर भी, प्रत्यक्षे = प्रत्यक्ष का विषय, प्रत्यक्षाभिमानः = प्रत्यक्ष के विषय का अभिमान, भवति = होता है, यथा = जैसे, व्यपगत घनपटकं = जिसमें मेघसमूह नहीं है, अचल जलनिधि सदृशं = स्थिर समुद्र के समान, अम्बरं = आकाश है, अञ्जनचूर्ण पुञ्जश्यामं = काजल के चूर्ण के समान श्याम वर्ण है, शार्वरं = रात्रि का, तमः = अन्धकार, इति = इस प्रकार।

भाषाभाष्य—उक्त दो प्रकार के विपर्ययों में से प्रथम प्रत्यक्ष विषय विपर्यय का भाष्यकार इस प्रकार वर्णन करते हैं कि जिन दो गौ तथा अश्वके सास्ना (गलकम्बल) इत्यादि तथा केसर (गर्दन के केश) इत्यादि विशेष धर्मों का पूर्व में ज्ञान हो चुका है, ऐसे द्रव्यों के पित्त-कफ तथा वायु के प्रकोप से दूषित चक्षु आदि इन्द्रिय वाले प्रमाता मनुष्य को अयथार्थ ग्रहण से दूरस्थ विषय के ज्ञान से उत्पन्न भावनाख्यसंस्कार की अपेक्षा करनेवाले आत्ममनः संयोग रूप असमवायि कारण से तथा अधर्म से भी, अश्व भिन्न गौ में अश्व है ऐसे होनेवाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। यहां पर अयथार्थ ग्रहण से 'गौ आदि में विशेष धर्म की प्रतीति होती है या नहीं, यदि होती है तो मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्याज्ञान होने से उसकी निवृत्ति कैसे होगी' ऐसी शंका निवृत्त हो जाती है, अर्थात् गौ जैसी सास्नादिमती है वैसा ग्रहण नहीं हुआ है, इससे विशेष धर्म का अनुपलम्भ विपर्यय कारण है यह सूचित होता है। प्रमाता के पित्तादि दोष से दूषित इन्द्रियों का होना, समीप में वर्तमान गौ में उसका ज्ञान न होकर दूरस्थ अश्व प्रतिभास में कारण है, यह सूचित करता है, जिससे वात-पित्तादि दोषों को दूरस्थ अश्व के प्रतिभास तथा समीपस्थ गौ के अप्रतिभास में सामर्थ्य है यह सिद्ध होता है। तथा असन्निहित इत्यादि संयोगात्' इत्यन्त हेतु से भाष्यकार ने यह सूचित किया है कि सबका सर्वत्र प्रतिभास नहीं हो सकता। अर्थात तात्पर्य यह है कि गौ में चक्षु का संयोग होकर दोष के कारण गोत्व का उस गौ में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रहण न होने पर भी उस गो द्रव्य को (पदार्थ के अंशसहित होने से) गो के सादृश्य से विशिष्ट यह पिण्ड है ऐसा ग्रहण होता है, जिससे अश्व विषयक संस्कार जागृत होकर अश्व के स्मरण की उत्पत्ति की प्राप्ति होने पर मन के दोष से चक्षु इन्द्रिय संयुक्त भी गो में अश्व के सादृश्य के अनुरोध से अनुभव रूप अश्वाकार प्रतीति को उक्त संस्कार ही करता है इस कारण सर्वत्र सर्व के प्रतिभासप्रतीता का दोष नहीं हो सकता, क्योंकि सादृश्य तथा संस्कार उक्त विपर्यय में व्यवस्थापक हेतु हैं। इसी कारण गुरु मीमांसक मन में इन्द्रियजन्य भ्रम होता है यह सिद्धान्त किया है।

उक्त विपर्यय का दूसरा उदाहरण भाष्यकार ऐसा देते हैं कि प्रत्यक्ष न होने परभी प्रत्यक्ष का अभिमान होना यह प्रत्यक्ष विषयविपर्यय कहा जाता है जैसे रूपरहित होने से अप्रत्यक्ष भी आकाश में इस समय आकाश मेघसमुदाय के न रहने से अचल समुद्र के समान दिखाता है ऐसा प्रत्यक्ष का अभिमान रूप मिथ्या ज्ञान होता है। अर्थात् आकाश के देखने की उत्कण्ठा से ऊपर उठी हुई चक्षु की किरणें दूर जाने से मन्दगति होकर सूर्य की किरणों से प्रतिहत होकर अपनी (चक्षु की) रहने के स्थान आंख की पुतली की श्यामता को आकाश नामक देशान्तर में प्रकाशित करने के कारण 'मेघरहित होने से तरंगरहित समुद्र के समान आकाश है' इस प्रकार प्रत्यक्ष रूपवान् द्रव्य के प्रत्यक्ष के समान अप्रत्यक्ष आकाश में चक्षु के किरणप्रत्यक्ष का अभिमान कर देते हैं, इसमें जिस प्रकार कामला इत्यादि चक्षु इन्द्रिय में दोष होने से जिस प्रकार श्वेत भी शंख पीत प्रतीत होता है; जिस में कामला आंख की पुतली की पीतिमा (पीलापन) शंख के पीत मालूम पड़ने में कारण है, उसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय के स्थान उसकी पुतली की श्यामता ही आकाश-प्रदेश में श्यामता प्रतीति का कारण है, इस प्रकार तद्गुण के अनुविधान की व्यवस्था का नियम ही प्रमाण है; यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार इसका दूसरा उदाहरण भाष्यकार ने यह दिया है कि तेज के अभाव रूप अन्धकार पदार्थ में रात्रि के अन्धकार समूह का जल के समूह के समान श्याम वर्ण है' ऐसा ज्ञान आरोपित रूप मात्र को विषय करने के कारण प्रत्यक्ष विषय न होने पर भी प्रत्यक्ष विषय सा प्रतीत होता है। व्योमशिवाचार्य ने एकदेश मत से उक्त दोनों उदाहरणों को एक पक्ष से आकाश के अतीन्द्रिय होने के कारण 'समुद्र के समान आकाश है यह ज्ञान तथा काजल के समान अन्धकार है' यह ज्ञान अभावरूप अन्धकार में श्यामरूप का सम्बन्ध न होने से निर्विषय है ऐसा सिद्ध किया है। तथा चक्षु इन्द्रिय के स्थान आंख की पुतली की श्यामता का ही आकाश देश में प्रतिभास होता है इस विषय में जिस प्रकार आदर्श (दर्पण) पर गिरी हुई चक्षु की किरणें आदर्श की रश्मि (चकचकाहट) से प्रतिहत होकर अपने मुख में आदर्श में मुख है, इस प्रकार विपर्यय ज्ञान (प्रत्यक्षाभिमान रूप मिथ्याज्ञान) को उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार दूर से लौटी हुई चक्षु की किरणें ही अपनी पुतली रूप स्थान की श्यामता ही को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुमानविषयेऽपि—बाष्पादिभिर्धूमाभिमतैर्वह्न्यनुमानं गवयविषाणदर्शनाच्च गौरिति ।

त्रयीदर्शनविपरीतेषु शाक्यादिदर्शनेष्विदं श्रेय इति मिथ्याप्रत्ययः विपर्ययः शरीरेन्द्रियमनस्स्वात्माभिमानः, कृतकेषु नित्यत्वदर्शनं, कारणवैकल्ये कार्योत्पत्तिज्ञानं, हितमुपदिशत्स्वहितमिति ज्ञानम् अहितमुपदिशत्सु हितमिति ज्ञानम् ॥

आकाश तथा तम में समुद्र के समान तथा अंजन के समान प्रत्यक्ष का अभिमान कराती हैं ।

पदपदार्थ—अनुमान विषये अपि = अनुमान के विषय में भी, बाष्पादिभिः = भाप इत्यादिकों से, धूमाभिमतैः = धूम समझे हुए, वह्न्यनुमानं = अग्नि का अनुमान, गवयविषाणदर्शनात् च = और गवय के शृंग को देखने से, गौः = गौ है, इति = इस प्रकार विपर्यय होता है ।

त्रयीदर्शनविपरीतेषु = तीनों वेद के अनुसारी दर्शनों से विपरीत, शाक्यादि दर्शनेषु = बौद्धादिदर्शनों में, इदं = यह दर्शन, श्रेयः = कल्याणकारक है, इति = यह, मिथ्याप्रत्ययः = मिथ्याज्ञान, विपर्ययः = विपर्यय है । शरीरेन्द्रियमनःसु = शरीर इन्द्रिय तथा मन में, आत्माभिमानः = शरीरादि आत्मा हैं ऐसा समझना, कृतकेषु = अनित्य-पदार्थों में = नित्यत्वदर्शनं = नित्यता ज्ञान, कारणवैकल्ये = कारण के न रहते, कार्योत्पत्तिविज्ञानं = कार्य के उत्पन्न होने का ज्ञान, हितं = हित का, उपदिशत्सु = उपदेश करने वालों मे, अहितं = हितकारक नहीं हैं, इति = ऐसा, ज्ञानं = ज्ञान अहितं = अहित का, उपदिशत्सु = उपदेश करने वालों में, हितं = हितकारक है, इति = ऐसा, ज्ञानं = ज्ञान, (विपर्यय है) ।

भाषाभाष्य—क्रम प्राप्त अनुमान के विषय में विपर्यय का भाष्यकार वर्णन करते हैं कि धूम (धूंआ) है ऐसा समझे हुए भाप इत्यादिकों से अर्थात् वाष्प को धूम मान कर उससे किया हुआ अग्नि का अनुमान, तथा गवय के शृंग को देखकर 'गौ है' ऐसा अनुमान ज्ञान भी अनुमान विषय में विपर्यय होता है ।

इसी प्रकार अत्यन्त दुष्ट दर्शनों के अभ्यास से भी विपर्यय होता है जैसे तीन वैदिक दर्शनों के अनुसारि वेदान्तादिदर्शनों के विरुद्धे बौद्ध जैन आदि दर्शनों में यह कल्याणकारक है ऐसा उपदेश मिथ्या ज्ञान है, क्योंकि उनको अल्प (थोड़े से) ही म्लेच्छों ने माना है, तथा उनमें प्रमाण विरुद्ध विषयों का वर्णन है । इसी प्रकार आत्मभिन्न शरीर इन्द्रिय, तथा मन को ये आत्मा हैं ऐसा मानना, मिथ्याज्ञान है, क्योंकि उनसे भिन्न ज्ञाता आत्मा की सिद्धि की गई है । तथा अनित्य वेद वाक्यों को नित्य है ऐसा पूर्व मीमांसकों का मानना मिथ्याज्ञान है । इसी प्रकार धर्म तथा अधर्म रूप कारण के न रहते सुखदुःखादिकों की विचित्रता रूप कार्य होता है ऐसा चार्वाकों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१६) अनध्यवसायप्रकरणम्

अनध्यवसायोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव सञ्जायते ।

तत्र प्रत्यक्षविषये तावत्–प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा व्यासङ्गादर्थित्वाद्वा किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः । यथा वाहीकस्य पनसादिष्वनध्यवसायो भवति । तत्र सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्ववृक्षत्वरूपवत्त्वादिशाखाद्यपेक्षोऽध्यवसायो भवति । पनसत्वमपि पनसेष्वनुवृत्तमाम्रादिभ्यो व्यावृत्तं प्रत्यक्षमेव केवलं तूपदेशाभावाद्विशेषसंज्ञाप्रतिपत्तिर्न भवति ।

का ज्ञान विपर्यय है । इसी प्रकार हिंसा न करना हितकारक है ऐसा उपदेश करने वालों के उपदेश को हितजनक नहीं है. ऐसा मानना, तथा प्राणिहिंसा श्रेयस्कर है ऐसा अहित का उपदेश करने वालों के उपदेश को हितकारक समझना भी विपर्यय है । निर्दिष्ट विपर्ययों में प्रथम बौद्धादिदर्शनों को हित समझना विपर्यय है इसका कारण आस्तिक वेदान्ता दिदर्शनों को यह अभिप्रेत है कि जिन दर्शनों से स्वर्ग तथा अपवर्ग रूप पुरुषार्थ का साधन हो सके उसी को दर्शनवाच्यता हो सकती है जो वेद त्रयानुगामी वेदान्तादिदर्शनों में ही है न कि बौद्धादिदर्शनों में । (सू० ३५१)

(१६) अनध्यवसायप्रकरण

पदपदार्थ—अनध्यवसायोऽपि = अनिश्चयज्ञान भी, प्रत्यक्षानुमानविषय एव = प्रत्यक्ष तथा अनुमान के विषय में ही, संजायते = होता है । तत्र = उन दोनों में से, प्रत्यक्षविषये = प्रत्यक्ष के विषय में तावत् = प्रथम, प्रसिद्धार्थेषु = पूर्वज्ञात पदार्थों में, अप्रसिद्धार्थेषु वा = अथवा पूर्व काल में अज्ञात पदार्थों में, व्यासङ्गात् = विषयान्तर में आकृष्ट होने से, अर्थित्वात् वा = अथवा विशेष ज्ञान की इच्छा होने से, किम् = क्या है, इति = इस प्रकार. आलोचनमात्रं = सामान्य रूप से जानना, अनध्यवसायः = अनिश्चयात्मक ज्ञान अनध्यवसाय कहाता है । यथा = जैसे, वाहीकस्य = वाहीक नामक देश में रहनेवाले मनुष्य को, पनसादिषु = कटहर आदि उस देश में न होनेवाले वृक्षों में, अनध्यवसायः = अनिश्चयात्मक ज्ञान, भवति = होता है । तत्र = उस कटहर आदि वृक्ष में, सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्ववृक्षत्वरूपवत्त्वादिशाखाद्यपेक्षः = यह वृक्ष सत्ता जातिमान् , तथा द्रव्यत्व और पृथिवीत्व जाति धिकरण, तथा वृक्षत्व जाति और रूप का आश्रय शाखादि विशिष्ट है इस प्रकार सत्ता जाति से लेकर शाखादिपर्यन्त की अपेक्षा रखता हुआ, अध्यवसायः = ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान, भवति = होता है, पनसत्वम् अपि = उसका पनसत्व धर्म भी, पनसेषु = सम्पूर्ण पनस (कटहर) वृक्षों में, अनुवृत्तं = अनुगत रहने वाला, आम्रादिभ्यः = आम्र (आम) इत्यादि वृक्षों से, व्यावृत्तं = आम्रादि वृक्षों में न रहने वाला, प्रत्यक्ष एव = प्रत्यक्ष ही है, केवलं = केवल, तु = किन्तु, उपदेशाभावात् = आप्त पुरुष के उपदेश के न होने से, विशेषसंज्ञाप्रति-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पत्तिः = यह पनस नामक वृक्ष है यह ज्ञान, न = नहीं, भवति = होता ।।

भाषाभाष्य—क्रमप्राप्त अनध्यवसाय नामक तृतीय अविद्या का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि अनध्यवसाय भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान के विषय में होता है। अपि शब्द से विपर्यय के समान अनध्यवसाय भी दो प्रकार का है यह सूचित होता है। जिस धर्म का सपक्ष तथा विपक्ष में स्पर्श न हो ऐसे धर्म का देखकर विशेष रूप से जिसका एक पक्ष उपलब्ध हो तथा एक पक्ष की उपलब्धि न हो, ऐसे ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं, और संशय में सपक्ष तथा विपक्ष को स्पर्श करने वाले धर्म को देखकर अव्यवस्थित पक्षों की उपलब्धि होती है अतः उसमें अनध्यवसाय के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, ऐसा यहां पर आचार्य उदयन का अभिप्राय है। उक्त दो प्रकार के अनध्यवसायों में से प्रथम का उदाहरण देने के लिये भाष्यकार इस प्रकार वर्णन करते हैं कि प्रथम प्रत्यक्ष विषय में होनेवाला अनध्यवसाय इस प्रकार होता है कि पूर्वकाल में ज्ञात (जाने हुए) पदार्थों में अथवा अज्ञात पदार्थों में विषयान्तर (दूसरे विषय) में चित्त के आकृष्ट होने के कारण, अथवा विशेष ज्ञान की इच्छा होने से यह क्या है ? इस प्रकार आलोचन मात्र (सामान्य रूप से केवल ज्ञान) को अनध्यवसाय कहते हैं। किन्तु उदयनाचार्य ने विशेष निश्चय न होने से ऐसा अर्थ किया है जिससे उन्हें 'अनर्थित्वाद्वा' ऐसा भाष्य का पाठ संमत है यह प्रतीत होता है। यहां पर प्रसिद्ध अर्थ में भाष्यकार ने अनध्यवसाय का उदाहरण नहीं दिया है क्योंकि जैसे प्रसिद्ध राजा के राजमार्ग से जाने पर भी चित्त के विषयान्तर में व्यासक्त होने से कोई इस मार्ग से गया उसे ठीक पता नहीं है ऐसा अनध्यवसाय अनिश्चयात्मक ज्ञान लोक में प्रसिद्ध ही है।। अप्रसिद्ध पदार्थ में जो प्रत्यक्ष का विषय है उसका उदाहरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जैसे वाहीक नामक देशविशेष में (जहां पनस (कटहर) इत्यादि वृक्ष नहीं होते) रहनेवाले मनुष्य को अनध्यवसाय ज्ञान होता है। पनसादि वृक्षों में उक्त देशवासी को यह वृक्ष सत्ता जातिमान् होने से भाव पदार्थ है, द्रव्यत्व जाति तथा पृथिवीत्व जाति का आधार होने से पृथिवी नाम का द्रव्य है, वृक्षत्व जाति का आश्रय होने से वृक्ष है यह रूपाश्रय है इसमें शाखा इत्यादिक भी हैं, ऐसा निश्चय तो होता ही है, तथा पनसत्व जाति भी पनस वृक्ष का प्रत्यक्ष होने से प्रत्यक्ष ही है, (जो पनसत्व जाति संपूर्ण पनसवृक्षों में अनुगत, तथा आम्र (आम) आदि वृक्षों से व्यावृत्त है (अर्थात् आम्रादि वृक्षों में नहीं रहती), किन्तु केवल आप्तपुरुष के उपदेश (कथित) न होने के कारण वाहीक देशवासी मनुष्य को यही पनसवृक्ष है इस प्रकार उसके नाम का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार उसे पनस नामक वृक्ष के निश्चय के निषेध से अनिश्चय रूपता दिखाई है, नकि निश्चय का केवल अभाव, क्योंकि विशेष निषेध अवशिष्ट के स्वीकार के लिये होता है। सामान्य रूप से उक्त प्रकार से सत्ता जाति इत्यादि निमित्त से यह कोई पार्थिव द्रव्य है इत्यादि संज्ञा की प्रवृत्ति है यह निश्चित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुमानविषयेऽपि—नारिकेलद्वीपवासिनः सास्नामात्रदर्शनात् को नु खल्वयं प्राणी स्यादित्यनध्यवसायो भवति ॥

(१७) स्वप्नप्रकरणम् ।

उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेणेव यदनुभवनं मानसं तत् स्वप्नज्ञानम् । कथम् ?

ही है, किन्तु कोई विशेष न होने से यह अप्रसिद्ध अथवा प्रसिद्ध संज्ञा है ऐसा अनिश्चय न होना ही अनध्यवसाय है ऐसा यहां पर आचार्य उदयन का आशय है ॥ 'यदि पनस वृक्ष का ज्ञान न होना अनध्यवसाय नामक अविद्या है तो उसके ज्ञानाभाव रूप होने से अविद्या में अन्तर्भाव किस प्रकार होगा ऐसा यहां आक्षेप हो सकता है, किन्तु संशयादिकों से विलक्षण सर्वानुभवसिद्ध यह वृक्ष किस नाम का है इस प्रकार अनिश्चयात्मक ज्ञान का अपलाप न होने के कारण ज्ञानाभाव में अनध्यवसाय का अन्तर्भाव न होने से वह अतिरिक्त अविद्या ही है इस प्रकार व्योमशिवाचार्य ने यहां समालोचना की है ।

पदपदार्थ—अनुमानविषयेऽपि = अनुमान के विषय में भी, नारिकेलद्वीपवासिनः = नारियल के द्वीप (टापू) में रहने वाले की, सास्नामात्रदर्शनात् = केवल सास्ना (गलकम्बल) के देखने से, कः = कौन, नु खलु = निश्चय से, अयं = यह, प्राणी = प्राणधारी जीव, स्यात् = होगा, इति = इस प्रकार, अनध्यवसायः = अनिश्चयात्मक ज्ञान, भवति = होता है ॥

(१७) स्वप्नप्रकरण ।

उपरतेन्द्रियग्रामस्य = बाह्यइन्द्रियों के समूह के व्यापार से रहित, प्रलीनमनस्कस्य = तथा जिसका मन निश्चल है ऐसे प्राणी को, इन्द्रियद्वारेण इव = बाह्येन्द्रिय से उत्पन्न प्रत्यक्ष के समान, यत् = जो, अनुभवनं = अनुभव होता है, मानसं = केवल मन से, तत् = वह, स्वप्नज्ञानं = स्वप्नज्ञान नामक चतुर्थ अविद्या है ॥ कथम् ? = उक्त स्वप्नज्ञान किस प्रकार होता है ?

भाषाभाष्य—अनुमानविषयक द्वितीय अनध्यवसाय का उदाहरण भाष्यकार इस प्रकार वर्णन करते हैं कि नारियल के द्वीप (टापू) में गो के न होने से वहां के निवासी लोगों को गोमात्र का ज्ञान न होने के कारण दूसरे देश के अरण्य में केवल गो के गले के कम्बलरूप सास्नाको देखकर सामान्यरूपसे किसी पशुका यह शरीर है ऐसा अनुमान कर किस जातिका वह पशु होगा यह निश्चय नहीं होता वह अनुमानविषयक अनध्यवसाय नामक अविद्या है । इसका अनिश्चयरूप होने पर भी कारण तथा स्वरूप इत्यादि का भेद होनेसे संशयमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता, तथा विशेषविषयकी प्रतीति न होने पर भी यह अनध्यवसाय हो सकता है, इसकारण दोनों विशेषांशोंके स्मरणसे भी यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदा बुद्धिपूर्वादात्मनः शरीरव्यापारादहनि खिन्नानां प्राणिनां निशि विश्रमार्थमाहारपरिणामार्थं वाऽदृष्टकारितप्रयत्नापेक्षादात्मान्तःकरणसम्बन्धान्मनसि क्रियाप्रबन्धादन्तर्हृदये निरिन्द्रिये आत्मप्रदेशे निश्चलं मनस्तिष्ठति तदा प्रलीनमनस्क इत्याख्यायते, प्रलीने च तस्मिन्नुपरतेन्द्रियग्रामो भवति, तस्यामवस्थायां प्रबन्धेन प्राणापानसन्तानप्रवृत्तावात्ममनःसंयोगविशेषात्

भिन्न है ऐसा श्रीधराचार्य का यहाँ अभिप्राय है ।। यह स्वतंत्र भाष्य है अथवा संशय सूत्रमें असाधारणधर्म दर्शन को अनध्यवसायका कारण कहा है, अतः संशयसूत्रकी व्याख्या भी मानी जा सकती है ।।

अनध्यवसायनामक अविद्याके निरूपणके पश्चात् चतुर्थ स्वप्ननामक अविद्या का निरूपण भाष्यकार इसप्रकार करतेहैं कि जिसमें चक्षुरादिबाह्यइन्द्रियोंका व्यापार नहीं होने पर भी निश्चल मन को मैं चक्षु से देख रहा हूँ, कर्णसे सुन रहा हूँ इत्याकारक ज्ञानका अनुभव होता है उसे स्वप्ननामक अविद्या कहते हैं। यहाँ पर बाह्येन्द्रियोंके व्यापारके न होते इस पदसे मिथ्याज्ञान की व्यावृत्ति होती है। तथा स्वप्नज्ञानके नियतपक्षक होनेसे तथा संशय और अनध्यवसाय का भी, अनुभव होनेके कारण स्वप्नज्ञान स्मरण नहीं हो सकता। यद्यपि कभी कभी, स्वप्नज्ञानभी यथार्थ होता है, तथापि उसमें बाह्येन्द्रिय द्वारा विषय का अनुभव प्रतीत होना अयथार्थ ही है यह सूचित करने के लिए उक्त स्वप्नलक्षणमें 'इन्द्रियद्वारा' ऐसा कहा गया है, तथा इन्द्रिय व्यापार के न होनेमें शान्तचित्तता (प्रलीनमनस्कता) कारण कही गई है। प्रश्नपूर्वक उक्त स्वप्नज्ञानका वर्णन करने के लिये भाष्यकार प्रश्न दिखाते हैं कि पूर्वोक्त स्वप्नज्ञानकी प्रक्रिया किस प्रकार है ? ।

पदपदार्थ—यदा = जिस समय, बुद्धिपूर्वात् = बुद्धिपूर्वक किये हुए, आत्मनः = आत्मा के, शरीरव्यापारात् = शारीरिक गमनादिरूप व्यापार से, अहनि = दिन में खिन्नानां = श्रम से खिन्न हुये, प्राणिनां = प्राणियों के, निशि = रात्रिमें, विश्रमार्थं = विश्राम करने के लिये, आहारपरिपाकार्थं वा = अथवा आहार परिपाक के लिये, अदृष्टकारितप्रयत्नापेक्षात् = अदृष्ट से कराये हुए आत्मा के प्रयत्न की अपेक्षा करने वाले, आत्मान्तःकरणसम्बन्धात् = आत्मा तथा अन्तःकरण सम्बन्ध से, मनसि = मन में, क्रियाप्रबन्धात् = क्रियासन्तान से, अन्तःहृदये = हृदय के भीतर, निरिन्द्रिये = इन्द्रियरहित, आत्मप्रदेशे = आत्मा के प्रदेश में, निश्चलं = चंचलतारहित, मनः = अन्तःकरण, तिष्ठति = स्थिर रहता है, तदा = उस समय, प्रलीनमनस्कः = लीन मनवाला आत्मा है, इति = इस प्रकार, आख्यायते = कहा जाता है, प्रलीने च = और लीन होने पर, तस्मिन् = उस मन के, उपरतेन्द्रियग्रामः = आत्मा बाह्येन्द्रिय-व्यापाररहित, भवति = होता है, तस्यां = उस, अवस्थायां = अवस्था में, प्रबन्धेन = अधिकता से, प्राणापानसंतानप्रवृत्तौ=प्राण तथा अपान वायु के समुदाय की निर्गम तथा प्रवेशरूप प्रवृत्ति होने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वापाख्यात् संस्काराच्चेन्द्रियद्वारेणेवासत्सु विषयेषु प्रत्यक्षाकारं स्वप्नज्ञानमुत्पद्यते ।

तत्तु त्रिविधम् । संस्कारपाटवाद्धातुदोषाददृष्टाच्च ।

तत्र संस्कारपाटवात् तावत्—कामी क्रुद्धो वा यदा यमर्थमादृतश्चिन्तयन् स्वपिति तदा सैव चिन्तासन्ततिः प्रत्यक्षाकारा सञ्जायते ।

धातुदोषाद्वातप्रकृतिस्तद्दूषितो वा आकाशगमनादीन् पश्यति । पित्तदूषितो वाऽग्निप्रवेशकनकपर्वतादीन् पश्यति । श्लेष्मप्रकृतिः श्लेष्मदूषितो वा सरित्समुद्रप्रतरणहिमपर्वतादीन् पश्यति ।

यत्स्वयमनुभूतेष्वननुभूतेषु वा प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा यच्छुभावेदकं गजारोहणच्छत्रलाभादि तत्सर्वं संस्कारधर्माभ्यां भवति, विपरीतं च तैलाभ्य-

---

पर, आत्ममनःसंयोगविशेषात् = आत्मा तथा मनके विशेष संयोग से, स्वापाख्यात् = निद्रा नामवाले, संस्कारात् च = और संस्कार से भी, इन्द्रियद्वारेण इव = इन्द्रिय द्वारा होनेवाले के समान, असत्सु = न रहने पर, विषयेषु = विषय पदार्थों के, प्रत्यक्षाकारं = प्रत्यक्ष ज्ञानके समान ज्ञान, स्वप्नज्ञानं = स्वप्नज्ञान नामक अविद्या, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है ।। तत् तु = किन्तु वह स्वप्नज्ञान, त्रिविधं = तीन प्रकार का है—संस्कारपाटवात् = संस्कारके सामर्थ्य से (१), धातुदोषात = धातु दोष से (२), अदृष्टात् च = और अदृष्ट से (३), तत्र = उन तीनों में से संस्कारपाटवात् = संस्कार के सामर्थ्य से, तावत् = प्रथम इस प्रकार है—कामी = कामी पुरुष, क्रुद्धः वा = अथवा क्रोधी पुरुष, यदा = जिस समय, यं = जिस, अर्थं = विषय को, आदृतः = आदरपूर्वक, चिन्तयन् = चिन्ता करता हुआ, स्वपिति = सोता है, तदा = उस समय, सा एव = वही, चिन्तासन्ततिः = चिन्तासन्तान, प्रत्यक्षाकारा = प्रत्यक्ष के समान, संजायते = हो जाता है । धातुदोषात् = धातुदोषोंसे, वातप्रकृतिः = वातस्वभाव पुरुष, तद्दूषितः वा = अथवा दूषित वायुवाला, आकाशगमनादीन् = आकाश में गमन इत्यादि, पश्यति = स्वप्न देखता है । पित्तप्रकृतिः = पित्तस्वभावपुरुष, पित्तदूषितः वा = अथवा दूषित पित्तवाला, अग्निप्रवेशकनकपर्वतादीन = अग्नि में प्रविष्ट होना तथा सुवर्ण के पर्वत इत्यादि, पश्यति = स्वप्न में देखता है । श्लेष्मप्रकृतिः = कफस्वभावपुरुष, श्लेष्मदूषितः वा = अथवा दूषित कफवाला, सरित्समुद्रप्रतरणहिमपर्वतादीन् = नदी तथा समुद्र में तैरना या बरफ के पहाड़ों को, पश्यति = स्वप्न में देखता है ।।

यत् = जो, स्वयं = स्वतः, अनुभूतेषु = अनुभव किये हुए, अननुभूतेषु वा = या न अनुभव किये हुए, प्रसिद्धार्थेषु = इस जन्म में जाने हुए, अप्रसिद्धार्थेषु वा = या इस जन्म में न जाने हुए (पदार्थों में) यत = जो, शुभावेदकं = शुभफल को निवेदन करने वाला, गजारोहणछत्रलाभादि = हाथी पर चढ़ना, मस्तक पर छत्र धारण इत्यादि (देखता है), तत् = वह, सर्वं = सम्पूर्ण = संस्कारधर्माभ्यां = संस्कार और धर्म के,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खलखरोष्ट्रारोहणादि तत्सर्वमधर्मसंस्काराभ्यां भवति । अत्यन्ताप्रसिद्धार्थेष्वदृष्टादेवेति । स्वप्नान्तिकं यद्यप्युपरतेन्द्रियग्रामस्य भवति, तथाप्यतीतस्य ज्ञानप्रबन्धस्य प्रत्यवेक्षणात् स्मृतिरेवेति भवत्येषा चतुर्विधाऽविद्येति ॥

भवति = होता है, विपरीतं च = विपरीत भी, तैलाभ्यंजन खरोष्ट्रारोहणादि = तेल-से स्नान गर्दभ तथा ऊँट पर चढ़ना इत्यादि देखता है । तत् = वह, सर्वं=संपूर्ण, अधर्म-संस्काराभ्यां=अधर्म तथा संस्कार से, भवति = होता है । अत्यन्ताप्रसिद्धार्थेषु = अत्यन्त अप्रसिद्ध पदार्थों में. अदृष्टात् एव=अदृष्ट ही से स्वप्न देखता है । स्वप्नान्तिकं अपि = स्वप्न के अन्त में पूर्व स्वप्न का ज्ञान भी, यद्यपि = यद्यपि, उपरतेन्द्रियग्रामस्य=बाह्य इन्द्रियोंके व्यापाररहित मनुष्य को, भवति = होता है, तथापि = तथापि, अतीतस्य = अतीत, ज्ञानप्रबन्धस्य=ज्ञानसन्तान के, प्रत्यवेक्षणात् = अनु(पश्चात्) दर्शनरूप होने से, स्मृतिः = स्मरण, एव = ही (है), इति = इस प्रकार, भवति = होती है, एषा = यह, चतुर्विधा = चार प्रकार की, अविद्या = अविद्या, इति = इस प्रकार अविद्या प्रकरण समाप्त है ॥

भाषाभाष्य—उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार स्वप्नज्ञान की प्रक्रिया का निरूपण करते हैं कि जिस समय बुद्धिपूर्वक किये हुए चलना-फिरना इत्यादि दिन में किये हुए आत्मा के शरीर व्यापार से श्रम से थकावट के कारण खिन्न भये प्राणियों के रात्रि में विराम करने अथवा भोजन किये हुये अन्न के पाचन के लिये अदृष्ट से कराये हुए प्रयत्न की अपेक्षा करने वाले आत्म तथा अन्तःकरण के सम्बन्ध से मन में होनेवाले क्रिया सन्तान से हृदय के भीतर इन्द्रियरहित आत्मप्रदेश में मन निश्चल हो रहता है उस समय 'प्रलीनमनस्क' लीनमनवाला आत्मा कहा जाता है, तथा मन के लीन होने पर वह उपरतेन्द्रियग्राम शान्त इन्द्रियसमुदाय हो जाता है, उस अवस्था में (प्रलीन मन की अवस्था में) अधिक मात्र रूप से प्राण तथा अपान वायु के सन्तानों के निर्गमन तथा प्रवेशस्वरूप श्वासप्रश्वास हो सकने से स्वापनामक (निद्रा नामक) पुरीततिनाडीगत आत्ममनःसंयोगविशेष तथा पूर्वानुभूतविषयक संस्कार से भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के समान विषयपदार्थों के न रहने पर भी प्रत्यक्ष के सदृश जो ज्ञान होता है उसे स्वप्नज्ञानरूप अविद्या कहते हैं । वह संस्कारसामर्थ्य, धातुदोष तथा अदृष्ट से उत्पन्न होने के कारण तीन प्रकार का है । जिसमें संस्कारजन्य स्वप्नज्ञान वह है जो कामी या क्रोधी प्राणी निद्रा आने के समय कामिनी या शत्रु को बड़े आदर से मन में सोचता हुआ जब निन्द्राधीन होता है तो वही कामिनी या शत्रु की चिन्ता नींद में प्रत्यक्षाकार प्रतीत होती है । दूसरा धातुदोषजन्य स्वप्नज्ञान भी तीन प्रकार का है क्योंकि वातप्रकृति प्राणी अथवा दूषित वायु प्राणी को स्वप्न में आकाश में जाना इत्यादि (१) तथा पित्तस्वभाव अथवा दूषित पित्तवाले प्राणी को अग्नि में प्रवेश करना तथा सुवर्ण का पर्वत या वृक्ष इत्यादि (२) एवं कफप्रकृति या दुष्ट कफ-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१८) प्रत्यक्षप्रकरणम् ।

विद्यापि चतुर्विधा । प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा ॥

तत्राक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम् । अक्षाणीन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षु-

---

वाले प्राणी को नदी-समुद्रादि जलाशय में तैरना तथा बरफ के पहाड़ इत्यादि (३) स्वप्न में प्रत्यक्ष के समान दिखाई पड़ते हैं ॥ तीसरा अदृष्टजन्य स्वप्नज्ञान वह है जो स्वयं अनुभव से प्राप्त अथवा अप्राप्त, तथा इस जन्म में जाने हुए अथवा न जाने हुए पदार्थों में जो हाथी पर चढ़ना, छत्र धारण करना तथा पर्वत पर चढ़ना, पायस-भक्षण इत्यादि शुभसूचक स्वप्न दिखाई देता है वह सम्पूर्ण स्वप्न संस्कार तथा धर्म से होता है । इसके विपरीत जो तेल से स्नान, गर्दन पर या ऊँट पर चढना तथा अन्धकार में गिरना, कीचड़ में फँसना इत्यादि अशुभसूचक स्वप्न दिखाई पड़ता है, वह सम्पूर्ण स्वप्न अधर्म तथा संस्कार से होता है। किन्तु अत्यन्त अप्रसिद्ध सूर्यमंडल का गल जाना इत्यादि जो कभी-कभी स्वप्न में दिखाई देता है वह केवक अदृष्ट से ही उत्पन्न होता है क्योंकि सूर्यमंडल के गलने का कभी भी अनुभव न हो ने से वह संस्कार, जन्य हो नहीं सकता । यद्यपि स्वप्नज्ञान में बाह्य विषयों के स्वरूप का आरोप होने से वह मिथ्या ज्ञान होने के कारण विपर्यय नामक अविद्या में ही स्वप्नज्ञान का अन्तर्भाव होना युक्त है, तथापि अवस्थाविशेष में होने के कारण स्वप्नज्ञान को विपर्यय से पृथक् माना गया है ॥ यदि यहाँ ऐसा प्रश्न हो कि स्वप्न में देखे हुए विषय का भी स्वप्न में अनुसंधान होता है, और वह प्रथम अनुभव किये हुए स्वप्न के अन्त में होता है इस कारण उसे 'स्वप्नान्तिक' स्वप्न के अन्त में होने वाला कहा जाता है, उससे भी 'उपरतेन्द्रियग्रामस्य' इत्यादि स्वप्न का लक्षण है अतः अतिव्याप्ति दोष हो जायगा, इस शंका का समाधान भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि यद्यपि इन्द्रियव्यापार न रहने पर ही उक्त रूप स्वप्नान्तिक ज्ञान होता है तथापि स्वप्न में व्यतीत हुये ज्ञानसमूह का पश्चात् दर्शनरूप होने से उसका स्वप्नस्मृतिरूप होने के कारण स्मरण में अन्तर्भाव हो जायगा, अर्थात् उस स्वप्नान्तिक का स्मरण में अन्तर्भाव होने से तथा स्वप्नलक्षण में 'अनुभवन' पद होने से पूर्वदर्शित अतिव्याप्ति दोष भी न होगा इसलिये स्वप्नज्ञान ही चतुर्थ अविद्या है यह सिद्ध होता है ॥ तस्मात् संशय विपर्यय-अनध्यवसाय तथा स्वप्नज्ञान ऐसी चार प्रकार की ही अविद्या है यह कणाद मत में सिद्धान्त है ॥

(१८) प्रत्यक्षप्रकरण

पदपदार्थ—विद्या अपि = यथार्थज्ञानरूप विद्या भी, चतुर्विधा = चार प्रकार है, प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा = प्रत्यक्ष, अनुमिति, स्मृति तथा आर्षज्ञान स्वरूप । तत्र = उनमें से जो, अक्षं अक्षं = इन्द्रिय-इन्द्रिय को, प्रतीत्य = प्राप्त कर, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, इति = वह, प्रत्यक्षं = प्रत्यक्ष नाम की विद्या है । अक्षाणि = अक्ष नाम, इन्द्रियाणि = इन्द्रिय हैं, घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्रमनांसि = घ्राण, जिह्वा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्त्वक्छ्रोत्रमनांसि षट्। तद्धि द्रव्यादिषु पदार्थेषूत्पद्यते। द्रव्ये तावद् त्रिविधे महत्यनेकद्रव्यवत्त्वोद्भूतरूपप्रकाशचतुष्टयसन्निकर्षाद् धर्मादिसामग्र्ये च स्वरूपालोचनमात्रम्।

स्थान रसन, चक्षु त्वग् (त्वग्स्थान स्पर्शन श्रोत्र (कर्ण) तथा मन, षट् = छः प्रकार हैं। तत् हि = वह प्रत्यक्ष, द्रव्यादिषु = द्रव्यगुणादि पदार्थों में, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है। द्रव्यं = द्रव्ये में, तावत् = प्रथम, त्रिविधे = पृथिवी, जल तथा तेज इस प्रकार के तीन में, महति = महापरिमाणवाले में, अनेकद्रव्यवत्त्वोद्भूतरूपप्रकाश-चतुष्टयसंनिकर्षात् = सावयवता, उद्भूत (प्रकट) रूप, प्रकाश (आलोक) तथा आत्मा मन, इन्द्रिय तथा विषय पदार्थ इन चारों के सन्निकर्ष से, धर्मादिसामग्र्ये च = और धर्म इत्यादिकों के सन्निधान रहने पर, स्वरूपालोचनमात्रम् = पदार्थ स्वरूप का सामान्यरूप से ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पक नाम का प्रत्यक्ष होता है॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार बुद्धिरूप गुण पदार्थ के अविद्या का विभाग विस्तार से निरूपण कर विद्यारूप बुद्धि के विभाग का वर्णन करते हैं कि अविद्या ही नहीं किन्तु विद्यारूप बुद्धि भी प्रत्यक्ष, लिङ्ग से होनेवाली अनुमिति, स्मृति, तथा आर्ष विज्ञान नाम से चार प्रकार की है। विद्या का सामान्य लक्षण बुद्धि विभाग में कह चुके हैं अतः उसके प्रत्यक्षादि चार भेद को यहाँ निरूपण किया, जिसमें प्रत्यक्ष संपूर्ण वादियों को सम्मत होने से प्रथम निर्देश कर, अनुमिति नामक विद्या के प्रत्यक्षपूर्वक होने के कारण प्रत्यक्ष के पश्चात् अनुमान को, तथा प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में स्मरण होता है, इसलिये अनुमान के पश्चात् स्मृति को कहकर, आर्ष विज्ञान-रूप विद्या लोकोत्तर आर्ष दृष्टि वाले ऋषि मुनि आदि की अपेक्षा के कारण अन्त में आर्षविद्या को महर्षि कणादने स्थान दिया है, इस प्रकार उक्त चार विद्याओं के क्रम से रखने का कारण है॥ सूत्र—१३४, ३४२, २४७, ३५४॥

उन चार विद्याओं में से प्रथम प्रत्यक्ष नामक विद्या वह है जो इन्द्रियों को प्राप्त कर उत्पन्न होता है। यहां पर सम्पूर्ण चक्षुरादि इन्द्रियों का संग्रह करने के लिये 'अक्षम् अक्षं' इस प्रकार वीप्सा (दो बार अक्ष शब्द का ग्रहण) किया है, नहीं तो बाह्य इन्द्रियजन्य ही प्रत्यक्ष होता है ऐसा प्राप्त होगा। उक्त अक्ष शब्द 'द्यूतपाश' (जूए के पाँसे) इत्यादि अनेक अर्थों का वाचक होने से यहां उसके विशेष अभिप्रेत अर्थ को दिखाते हैं कि घ्राण रसन (जिह्वास्थान इन्द्रिय) चक्षु, त्वक् (त्वचा में रहने वाला स्पर्शन इन्द्रिय), श्रोत्र (कर्ण) तथा मन (अन्तःकरण) ऐसे वैशेषिक मत में इन्द्रिय, छ प्रकार के ही हैं, जिसमें सांख्य तथा बौद्ध से स्वीकृत एकादश (पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय और मन) तथा पांच प्राणादि वायु ऐसे षोडश-इन्द्रिय वाद का निरास हो जाता है। असत् को विषय करने वाली स्मृति में अतिव्याप्ति निरास के लिये प्रत्यक्षविद्या के विषय का निरूपण करते हैं कि वह प्रत्यक्ष द्रव्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुण कर्म तथा सामान्य इन चार ही भावपदार्थों में होता है। विशेष तथा समवाय में नहीं होता, यही सूचित करने के लिये अवधारणार्थ के 'हि' शब्द भाष्यकार ने दिया है ।। उन चारों में भी द्रव्य प्रधान होने से उसके प्रत्यक्ष होने का प्रकार कहते हैं कि पृथिवी, जल तथा तेजरूप महत् परिमाणाश्रय द्रव्यों में सावयवता, उद्‌भूत रूप, तथा प्रकाश एवं आत्मा, मन, बहिरिन्द्रिय, तथा विषय इन चारों के संयोग रूप कारणों से धर्म, दिशा, तथा काल के सान्निध्य रहते केवल पृथिव्यादि तीन द्रव्यों के स्वरूप ज्ञान रूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। यहां पर महत्परिमाणाश्रय पृथिव्यादि तीन द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है इस उक्ति से महत् परिमाण प्रत्यक्ष में कारण है यह सूचित होता है, क्योंकि उसे प्रत्यक्ष में कारण न माना जाय तो महत्परिमाण की विशेषता के अनुसार प्रत्यक्ष में उत्कर्ष का विशेष जो दिखाता है वह संगत नहीं होगा, अर्थात् जैसा विशेष महत्परिमाण पृथिव्यादिकों में होता है वैसा प्रत्यक्ष में भी उत्कर्ष होता है, यह तरतमभाव न बन सकेगा। तथा पृथिव्यादि द्रव्यों के अवयवों के प्रचुर होने रूप सावयवता को प्रत्यक्ष में कारण न माना जाय तो उसके उत्कृष्ट होने से प्रत्यक्ष में स्पष्टता कर उत्कर्ष तथा उक्त सावयवता के उत्कृष्ट न होने से प्रत्यक्ष में अस्पष्ट न होने का अनुभव न हो सकेगा, अतः उक्त रूप सावयवता भी कारण है यह सिद्ध होता है। तथा उद्भूत रूप प्रकाश अर्थात् उद्‌भूत नामक रूप प्रकाश स्वरूप रूप का धर्म भी प्रत्यक्ष में कारण है, जिसके न रहने से जल मे रहनेवाले तेज का प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा यहां कन्दलीकार का मत है। प्रकाश शब्द का आलोक ऐसा अर्थ है ऐसा उदयनाचार्य का आशय है अर्थात् उद्भूत रूप आलोक प्रत्यक्ष में कारण है यह उन्हें अभिप्रेत है। महत्परिमाण तथा सावयवत्व के रहने पर भी वायु का प्रत्यक्ष न होने के कारण कारण यहां रूप प्रकाशन अर्थात् उद्‌भूत रूप को भी प्रत्यक्ष में कारण कहा गया है। एवं आत्मा, मन, बहिरिन्द्रिय और ग्राह्य (प्रत्यक्ष होने योग्य) द्रव्य इन चारों के सन्निकर्ष से अर्थात् आत्मा मन से, मन बहिरिन्द्रिय से, और इन्द्रिय पदार्थ से संयुक्त होकर इस प्रकार चतुष्टय संयोग रूप कारण समुदाय से तथा धर्म, अधर्म, दिशा, काल इत्यादि सम्पूर्ण वर्तमान रहते पृथिव्यादि तीन द्रव्यों का सामान्य रूप से केवल स्वरूप-ग्रहण रूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। सम्पूर्ण ज्ञानों से सुख दुःखादि होना ही उनका प्रयोजन होने के कारण, तथा देश काल इत्यादिकों के नियम से ही ज्ञानों की उत्पत्ति होती है इस कारण भी धर्माधर्मदिशा इत्यादिकों को ज्ञानोत्पत्ति में कारण माना गया है। तथा उक्त आत्मा मन इत्यादि चतुष्टय संयोग के बिना प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः चतुष्टय संनिकर्ष को भी ज्ञान में कारण माना गया है। यहां पर उक्त प्रकार से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है इस उक्ति से सिद्ध होने वाला निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है इसमें क्या प्रमाण ?' इस प्रश्न के समाधान में सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्मविशेषणापेक्षादात्ममनःसन्निकर्षात् प्रत्यक्षमुत्पद्यते सद् द्रव्यं पृथिवी विषाणी शुक्लो गौर्गच्छतीति ।

रूपरसगन्धस्पर्शेष्वनेकद्रव्यसमवायात् स्वगतविशेषात् स्वाश्रयसन्नियतेन्द्रियनिमित्तमुत्पद्यते ।

होना ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के उद्भाव में प्रमाण है ऐसा नैयायिकों का उत्तर होता है । अथवा विना निर्विकल्पक ज्ञान के विशेषण विशिष्ट पदार्थों के ज्ञान के न होने विशिष्ट संकेतस्मरण के न होने के कारण सविकल्पक ज्ञान न होगा, क्योंकि वह सविकल्पक ज्ञान विशिष्ट संकेतस्मरण का कार्य है । संकेतस्मरण ही उसका कारण नहीं हो सकता क्योंकि स्थिर पदार्थों का निर्विकल्पक ज्ञानोत्पत्ति के समान सविकल्पक ज्ञानोत्पत्ति में भी अन्वय तथा व्यतिरेक से व्यापार उपलब्ध होता है ऐसी व्योमशिवाचार्य ने यहां समालोचना की है ।

पदपदार्थ = सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्मविशेषणापेक्षात् = जाति, विशेष, द्रव्य, गुण, तथा कर्म रूप विशेषणों की अपेक्षा करने वाले, आत्ममनःसन्निकर्षात् = आत्मा तथा मन के संनिकर्ष से, प्रत्यक्षं = प्रत्यक्ष उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, सत् = सत्ताजातिमान् , द्रव्यं = द्रव्य है, पृथिवी = पृथिवीत्वरूपविशेष विशिष्ट है, विषाणी = शृंगवाली (इस प्रकार शृंगरूप द्रव्य विशिष्ट, शुक्लः=श्वेत है इस प्रकार गुण विशिष्ट), गौः = गौ, गच्छति = गमन करती है इस प्रकार गमनरूप कर्म विशिष्ट, इति = इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है । रूपरसगन्धस्पर्शेषु = रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श नाम के गुणों में, अनेकद्रव्यसमवायात् = अनेक द्रव्य वाले द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होने से, स्वगतविशेषात् = अपने में (रूपादिकों) में रहने वाले रूपत्वादि सामान्य विशेष से, स्वाश्रयसन्निकर्षात् = रूपादि गुणों के आधार द्रव्यों के ग्राहक इन्द्रिय के सन्निकर्ष से भी, नियतेन्द्रियनिमित्तं = अपने-अपने ग्रहण में नियमित इन्द्रियों के कारण, उत्पद्यते = प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है ॥

भाषाभाष्य—क्षणविनाशी वस्तु (पदार्थ) के स्वरूप के साथ ही अन्वय तथा व्यतिरेक को विषय करने वाला निर्विकल्पक ही पदार्थस्वरूप में भ्रमरहित होने से प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है, उसी के वासना से द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाला सविकल्पक उस वस्तु के द्वितीय क्षण में न रहने से उस पदार्थ के वास्तविक स्वरूप में अनुगत न होने के कारण केशादि ज्ञान के समान प्रथम क्षण के स्वलक्षण वस्तु में भ्रमरूप होने से प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता, इस प्रकार के सौगतमत का खंडन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि सामान्य, विशेष, द्रव्य, गुण, तथा क्रियारूप विशेषणों की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष से, सत्ताजातिवाला गो द्रव्य है इत्याकारक सामान्य विशिष्ट, गो पृथिवी द्रव्य हैं इत्याकारक विशेष विशिष्ट, तथा विषाणी (शृंगवाली) गौ है, इस प्रकार शृंगरूप द्रव्य विशिष्ट, इसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्दस्य त्र्यसन्निकर्षाच्छ्रोत्रसमवेतस्य तेनैवोपलब्धिः । संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वस्नेहद्रवत्ववेगकर्मणां । प्रत्यक्षद्रव्यसमवायाच्चक्षु स्पर्शनाभ्यां ग्रहणम् । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां द्वयोरात्ममनसोः संयोगादुपलब्धिः । भावद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनामुपलभ्याधारसमवेतानामा-

---

प्रकार शुक्ल गौ है इत्याकारक शुक्लरूप गुण विशिष्ट और गच्छति (गौ जा रही है) इत्याकारक गमनरूप क्रियाविशिष्ट प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है । अर्थात् 'घटोयं' यह घट है इस प्रकार के ज्ञान में कम्बुग्रीवाद्याकारवाली सम्पूर्ण और द्रव्यों से व्यावृत्त पदार्थ की जो सर्वानुभव से प्रतीति होती है वह विना सविकल्पक प्रत्यक्ष के नहीं हो सकती, अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष भी प्रमाण है यह मानना पड़ेगा । सौगत मत में पदार्थों को क्षण-क्षण में विनाशी मानने की प्रक्रिया का आगे विस्तार से खण्डन करेंगे । (सूत्र–१६२, १३४, ३१५, ३१६)

इस प्रकार द्रव्य प्रत्यक्ष को वर्णन कर गुण प्रत्यक्ष का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श नाम के गुणों में अनेक द्रव्य वाले द्रव्यों में समवाय होने से तथा महत्परिमाण वाले द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से संम्बद्ध होने के कारण, तथा रूपादि गुणों में वर्तमान रूपत्वरसत्व आदि रूप सामान्य विशेष होने से, एवं रूपादि गुण के आश्रय द्रव्यों के ग्रहण करने वाले इन्द्रियों के सन्निकर्ष से भी नियमित इन्द्रियों से गृहीत होने वाले रूपादि गुणों में चक्षु आदि नियमित इन्द्रियों में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है । रूपादिकों में रहने वाले रूपत्वादि विशेषों के कारण होने से ही रूपादि गुणों के ग्रहण में चक्षु आदि इन्द्रियों की व्यवस्था संगत हो सकती है अन्यथा विशेष के न होने से चाहे जिस इन्द्रिय से चाहे जिस गुण का ग्रहण होने लगेगा ऐसी अव्यवस्था हो जायगी ऐसी यहाँ श्रीधराचार्य ने समालोचना की है । (सूत्र–३१३, १६४, १६५)

पदपदार्थ—शब्दस्य = शब्द गुण की, त्र्यसंनिकर्षात् = आत्मा, मन, तथा कर्ण तीन के संनिकर्ष से, श्रोत्रसमवेतस्य = कर्ण में समवेत शब्द की । तेन एव = उसी श्रोत्र से, उपलब्धिः = प्राप्ति होती है । संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वस्नेहद्रवत्ववेगकर्मणां = संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, और वेग नामक गुण तथा कर्म की, प्रत्यक्षद्रव्यसमवायात् = प्रत्यक्ष योग्य द्रव्यों में समवेत होने से, चक्षुःस्पर्शनाभ्यां = चक्षु तथा त्वगिन्द्रिय से, ग्रहणम् = ग्रहण होता है । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां = बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न नामक आत्मा के गुणों की, द्वयोः = दो, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगात् = संयोग से, उपलब्धिः = ग्रहण होता है । भावद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनां = सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि जातियों का, उपलभ्याधारसमवेतानां = उपलब्ध होने वाले आश्रय में जो समवेत हों, आश्रयग्राहकैः = आधार पदार्थों के ग्रहण करनेवाले, इन्द्रियैः =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अयग्राहकैरिन्द्रियैर्ग्रहणमित्येतदस्मदादीनां प्रत्यक्षम् ।

अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा

इन्द्रियों से, ग्रहणं = ग्रहण होता है, इति एतद् = इस प्रकार यह, अस्मदादीनां = हमारे ऐसे योगी जीवों को, प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष होता है ।

भाषाभाष्य—तथा श्रोत्र इन्द्रिय में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान शब्दगुण का आत्मा, मन, तथा श्रोत्र इन तीनों के संनिकर्ष से प्रत्यक्ष शब्द का प्रत्यक्ष होता है। सूत्र—१००, ३।३। ।

एवं संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, वेग नामक गुण तथा क्रिया का, जो प्रत्यक्ष योग्य द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान हों चाक्षुष तथा त्वाचप्रत्यक्ष होता है । गमनाश्रय द्रव्य में उत्तरदेश का संयोग तथा पूर्वदेश के विभाग से भिन्न पदार्थ का ग्रहण न होने से (संयोग विभाग भिन्न क्रिया-का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, 'चलति' चलता है, यह प्रतीति संयोग तथा विभाग को ही विषय करती है, इस प्रकार कर्म को भिन्न न मानने वाले बौद्ध कहते हैं किन्तु यह मत युक्त नहीं है, क्योंकि यदि अप्रत्यक्ष कर्म को संयोग तथा विभाग से अनुमान किया जाय तो अन्य स्थलों में भी सर्वत्र उन्हीं दोनों से क्रिया का अनुमान होगा, किन्तु जड़ से शिखर तक जाने वाले बन्दर में उसके संयोग तथा विभाग के आधार वृक्ष में चलता है यह ज्ञान नहीं होता इस कारण बन्दर में चलनक्रिया प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है । सूत्र—१६७, ३१२ ।

बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न नामक आत्मा में समवेत गुणों का आत्मा तथा मन इन दो के ही संयुक्त समवाय संनिकर्ष से ग्रहण होता है, क्योंकि मन से संयुक्त आत्मा में बुद्धि आदि गुण समवेत हैं। सू० १३४, ३१३ । तथा सत्ता जाति और द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्वादि जातियों का (जिनमें आधारद्रव्य में प्रत्यक्ष होने की योग्यता के कारण प्रत्यक्ष की योग्यता हो) प्रत्यक्ष योग्य आश्रय में समवेत होने से आश्रय पदार्थ के ग्रहण करने वाले इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है । उनमें से द्रव्य का संयोग से, गुणादिकों का संयुक्त समवाय से, गुणत्वादि जातिओं का संयुक्त समवाय से, शब्द का समवाय से, शब्दत्व का समवाय समवेत से, अभाव का सम्बद्ध विशेषणता संनिकर्ष से ग्रहण होने के कारण छः प्रकार के संनिकर्ष होते हैं । संयुक्त समवेत विशेषणतादि संनिकर्ष से रूपादि गुणों में रसाभावादिकों के ग्रहण लिये अधिक संनिकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सम्बन्ध विशेषणता में ही विशेषणतात्वेन उनका अन्तर्भाव हो सकता है । यह पूर्वोक्त सब प्रत्यक्ष योगिभिन्न हमारे ऐसे जीवों को ही होता है । सू० २१४० १६९ ।

पदपदार्थ—अस्मद्विशिष्टानां तु = किन्तु हमारे ऐसे जीवों से विशिष्ट, योगिनां = योगियों को, युक्तानां = जो युक्तनाम के हैं, योगजधर्मानुगृहीतेन = योगजन्य धर्म से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते । वियुक्तानां पुनश्चतुष्टयसन्निकर्षाद्योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते ।

अनुग्रह प्राप्त, मनसा = मनसे, स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु = अपने तथा दूसरे आत्मा, आकाश, काल दिशा, परमाणु, वायु, तथा मन मे, तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु = उक्त द्रव्यों में समवायसम्बन्ध से वर्तमान गुण, क्रिया, सामान्य, तथा विशेष, में समवाये च=और समवायसम्बन्ध में, अवितथं = सत्य, स्वरूपदर्शनं = स्वरूप का दर्शन, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है । वियुक्त नामक दूसरे योगियों को, पुनः=किन्तु, चतुष्टयसंनिकर्षात् = आत्मा, मन, इन्द्रिय-तथा पदार्थ इन चारों के सनिकर्ष से, योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् = योगजन्य धर्म के अनुग्रह के सामर्थ्यसे, सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु= सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त, तथा दूरस्थ पदार्थों में, प्रत्यक्षं = प्रत्यक्षज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है ॥

भाषाभाष्य—हमारे ऐसे प्राणियों से विशिष्ट युक्त तथा वियुक्त नाम के दो प्रकार के योगियों में से प्रथम समाधि में निमग्न योगियों को योगजन्य धर्म सहकृत अन्तःकरण के द्वारा अपनी अथवा दूसरे की आत्मा, आकाश, दिशा तथा काल, और पृथिवी जल, तेज और वायु इन चारों द्रव्यों के परमाणु तथा मन में, इसी प्रकार उक्त द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान गुण, कर्म, जाति, और विशेष पदार्थों में तथा समवाय सम्बन्ध में भी विपर्यय से रहित होने के कारण वास्तविक उनके स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होता हैं ।। इन्द्रियों से हटा कर अर्थात् विषयो में संलग्न इन्द्रियों को इनसे हटाकर प्रत्यक्ष के अभिमत पदार्थ में अन्तःकरण को लगा कर चिन्ता संतान की आवश्यकता न रखने वाले योगियों का नाम युक्त है, तथा योग क अत्यन्त अभ्यास करने से अत्यन्त वशीकार को प्राप्त आवरणरहित सर्व विषयों में जिनका अन्तःकरण प्रकाशमान रहता है तथा जिन्होंने योगाभ्यास पूर्ण करदिया है ऐसे योगियों को वियुक्त योगी कहते हैं ऐसा उदयनाचार्य का विवेचन है ।। यद्यपि किसी-किसी समय हमारे ऐसे जीवों को भी शरीर इन्द्रियादि विषय का भान न होने से क्षणमात्र योगजधर्म की स्थितिके समान ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है तथापि बलवान् अविद्या के संस्कार में होने वाला यह ज्ञान विरुद्ध कक्षा में प्रविष्ट होने से जिसने शरीर को वश कर लिया है ऐसा होने पर भी, अज्ञानसमूह से ग्रस्त चित्त की भूमि में, पृथ्वी में पड़े (बोये), हुए धानके बीज के समान समाधि संस्कार रूप अंकुरों को उत्पन्न नहीं कर सकता, इस कारण अविद्यमान के समान होने सं क्षणिक हमारे ऐसे जीवों की स्थिर अवस्था वाले ज्ञान का वर्णन नहीं किया है यह विद्वान लोग स्वयं विचार लें ।। सू० ३३७ ३३८ ।।

और वियुक्त नामक योगियों को जिनको संसार के समस्त पदार्थ योगज बल से सन्मुख होते हैं, तथा जिनके कारण इन्द्रियों का कहीं गति की रुकावट नहीं होती,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणं प्रमेया द्रव्यादयः पदार्थाः प्रमाताऽऽत्मा प्रमितिर्द्रव्यादिविषयं ज्ञानम् सामान्यविशेषज्ञानोत्पत्तावविभक्तमालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम् अस्मिन्नान्यत्प्रमाणान्तरमस्ति अफलरूपत्वात् ।

ऐसे योगियों को आत्मा, मन बहिरिन्द्रिय तथा विषयों इन चारों के संनिकर्ष से योगजन्य धर्म के अनुग्रह की सहायता से उत्पन्न योग के सामर्थ्य से मन तथा परमाणुरूप सूक्ष्मपदार्थों का, पाताल आदि पृथिवी के व्यवधान से युक्त व्यवहित पदार्थों का, तथा दूर रहनेवाले ब्रह्मलोकादि पदार्थों का भी प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ सूत्र ३३९ ३४०,३४१ ॥

पदपदार्थ—तत्र = उसमें, सामान्यविशेषेषु = सामान्य और विशेष पदार्थों में, स्वरूपालोचनमात्रं = केवल स्वरूप ग्रहण, प्रत्यक्षं = प्रत्यक्ष नामक, प्रमाणं = प्रमाण है, प्रमेयाः = जानने योग्य विषय हैं, द्रव्यादयः = द्रव्य इत्यादि, पदार्थाः = पदार्थ, प्रमाता = ज्ञाता है, आत्मा = जीवात्मा, प्रमितिः = ज्ञान है, द्रव्यादि विषयं = द्रव्य गुण इत्यादि विषयक, ज्ञानम् = ज्ञान । सामान्यविशेषज्ञानोत्पत्तौ=जाति तथा विशेष के ज्ञान की उत्पत्ति होने में, अविभक्तं=विभागरहित, आलोचनमात्रं = केवल ग्रहणरूप, प्रत्यक्षं = प्रत्यक्षनामक, प्रमाणं=प्रमाण है, अस्मिन् = इसमें, न = नहीं, अन्यत् = दूसरा, प्रमाणान्तरं = भिन्न प्रमाण, अस्ति = है, अफलरूपत्वात् = फलरूप न होने के कारण ॥

भाषाभाष्य—यहाँ पर प्रत्यक्ष शब्द प्रमाकरण विशेष का वाचक प्रसिद्ध होने के कारण इसमें प्रमाण क्या है तथा उसका फल क्या है इस प्रकार को शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार प्रमाण और फल का विभाग दिखाते हैं कि सत्ता द्रव्यत्व गुणत्व इत्यादि विशेष व्यक्तियों में विकल्परहित केवल स्वरूप ग्रहण प्रमा का अतिशय से साधक होने के कारण प्रमाण है क्योंकि उसके रहने पर ज्ञानेच्छु पुरुष को यथार्थ ज्ञानरूप प्रमाफल अवश्य होता ही है यह उसमें अतिशय है । अर्थात् प्रमाता तथा प्रमेयविषय के रहने पर प्रमा होती है न कि होती ही है, किन्तु विशेषण ज्ञानादिरूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के रहने पर विशेष्यज्ञान स्वरूप प्रमा होती ही है यह प्रमाण में अतिशय है । तथा द्रव्य गुण कर्म तथा सामान्य यह चार पदार्थ प्रमेय अर्थात् ज्ञान के विषय हैं; अर्थात् उनका ज्ञान होने पर उनमें त्याग तथा ग्रहण करने का व्यवहार होता है । एवं (ज्ञानका आधार होने से) प्रमाता है आत्मा, द्रव्यादि विषयक ज्ञान है प्रमिति, अर्थात् जब निर्विकल्पक सामान्य विशेषज्ञान प्रमाण होता है तब द्रव्यादि विषयक विशिष्ट ज्ञान प्रमिति होती है । सामान्य तथा विशेष ज्ञान की उत्पत्ति में केवल आलोचन ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । अर्थात् जब निर्विकल्पक सामान्य विशेष ज्ञान भी अर्थ प्रतीति रूप होने से प्रमारूप होता है तब उसकी उत्पत्ति में अविभक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षादवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं, प्रमेया द्रव्यादयः पदार्थाः, प्रमाताऽऽत्मा, प्रमितिर्गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति ॥

(केवल, ज्ञान की अपेक्षा न करने वाला आलोचन 'आलोच्यते अनेन' जिससे ग्रहण होता है इस व्युत्पत्ति से इन्द्रियार्थसंनिकर्षमात्र सामान्यविशेष ज्ञानोत्पत्ति में प्रमाण होता है। विशेष्य का ज्ञान उत्पन्न होने में भी प्रमा का कारण होने से इन्द्रियार्थसंनिकर्ष प्रमाण होता ही है, किन्तु विशेषण ज्ञान की सहायता से, न कि केवल और सामान्यविशेष ज्ञान की उत्पत्ति में विशेषण ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता यह इसमें विशेष है। उक्त विषय में युक्ति दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि सामान्यविशेष ज्ञान में दूसरा ज्ञानरूप प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसका दूसरा ज्ञान फल नहीं हो सकता, अर्थात् विशेष्य ज्ञान विशेषण ज्ञान का फल है किन्तु विशेष्य ज्ञान का दूसरा फल नहीं हो सकता, यदि हो तो उसका भी फल इस प्रकार अनवस्थादोष हो जायगा, इसलिए विशेषण ज्ञान में इन्द्रियार्थसंनिकर्षमात्र प्रमाण है यह सिद्ध होता है ॥

पदपदार्थ—अथवा = या, सर्वेषु = सम्पूर्ण, पदार्थेषु = पदार्थों में, चतुष्टयसन्निकर्षात् = आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विषय इस चार के संनिकर्ष से, अवितथं = विपर्याससहित, अव्यदेश्यं = शब्द से उत्पन्न होनेवाला, यत् = जो, ज्ञानं = ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तत् = वह, प्रत्यक्षं = प्रत्यक्ष नामक, प्रमाणं = प्रमाण है, प्रमेयाः = प्रमायोग्य हैं, द्रव्यादयः = द्रव्यगुण इत्यादि, पदार्थाः = पदार्थ, प्रमाता = ज्ञाता हैं, आत्मा = जीवात्मा, प्रमितिः = ज्ञान का फल है, गुणदोषमाध्यस्थदर्शनं = गुणदोष तथा उदासीनता ज्ञान, इति = इस प्रकार प्रत्यक्ष समाप्त है ॥

भाषाभाष्य—उक्त ग्रन्थ में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूप फल में तथा सामान्यविशेष ज्ञानरूप निर्विकल्पक विशेष ज्ञान में प्रमाण है यह कह, हान, उपादान, तथा उदासीन बुद्धिरूप फल जहाँ होता है उसमें विशेषज्ञान प्रमाण होता है यह अग्रिम ग्रन्थ में प्रशस्तदेव वर्णन करते हैं कि अथवा सम्पूर्ण पदार्थों में आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विषय, इन चारों के अथवा कहीं-कहीं केवल आत्मा तथा मन दो के, या आत्मा, मन तथा इन्द्रिय इन तीन के संनिकर्ष से, संशय तथा विपर्ययरहित होने के कारण अवितथ (सत्य) तथा अव्यपदेश्य (शब्द से अजन्य) जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। अर्थात् सन्निहित पदार्थ में चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार के पश्चात्, गो है ऐसा शब्द सुनकर, जो गो का ज्ञान होता है उसमें इन्द्रिय भी कारण है यह मानना पड़ेगा, नहीं तो रेखा-उपरेखा इत्यादि विशेषों का ज्ञान न हो सकेगा, किन्तु वह प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि उस ज्ञान में शब्द ही अतिशय साधक है, इन्द्रिय तो केवल सहायक-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१९) अनुमानप्रकरणम् ।

लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम् । लिङ्गं पुनः—

यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥
विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा ।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥

मात्र है ऐसे ज्ञान के व्यावृत्ति के लिये 'अव्यपदेश्य' यह विशेषण दिया है। तथा द्रव्यगुण इत्यादि पदार्थ प्रमेय (ज्ञान के विषय) हैं, तथा प्रमाता है जीवात्मा, और उक्त प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है गुणदर्शन (उपादेयता ज्ञान), दोषदर्शन (हेयता ज्ञान) अथवा माध्यस्थ्यदर्शन (न हेय न उपादेय ज्ञान किन्तु उदासीनता ज्ञान)। 'द्रव्यादि पदार्थ ज्ञान उत्पन्न होने के बहुत काल के पश्चात् उपादेयतादि ज्ञान के उत्पन्न होने से वह द्रव्यादि ज्ञान का फल कैसे हो सकता है' इस शंका का समाधान व्योमवतीकार ने इस प्रकार किया है कि परम्परा से उपादेयतादि ज्ञान द्रव्यादि पदार्थ ज्ञान का फल हो सकता है. क्योंकि उसका द्रव्यत्वादि जाति के पदार्थ से पूर्वकाल में सुखदुःख का अनुभव हो चुका है, अतः उसी जाति का यह पदार्थ है यह जानकर, जो-जो उक्त द्रव्यत्वादि जाति का पदार्थ है वह-वह सुखदुःख का साधन है, इस प्रकार का व्याप्ति स्मरण होगा, उसके पश्चात् यह द्रव्यत्वादि जातीय पदार्थ वैसा ही सुखदुःख का साधन है ऐसा परामर्श ज्ञान हो कर यह भी सुखदुःख का साधन है ऐसा निश्चय होकर यह उपादेय (ग्राह्य) है, अथवा हेय (त्याज्य) है इत्यादि ज्ञान होता है, अतः परम्परया उपादेयतादि ज्ञान द्रव्यादि ज्ञान का फल हो सकता है।

(१९ अनुमानप्रकरण)

पदपदार्थ—लिङ्गदर्शनात् = लिंग (साधक हेतु) के ज्ञान से, सजायमानं = निश्चय से उत्पन्न ज्ञान, लैङ्गिकम् = अनुमान कहाता है। लिङ्गं = लिङ्ग कहाता है, पुनः = और, यत् = जो, अनुमेयेन = अनुमानयोग्य पक्ष के साथ, सम्बद्धं = सम्बद्ध हो, प्रसिद्धं च = और प्रसिद्ध हो, तदन्विते = निश्चित साध्यवाले सपक्ष में। तदभावे च = और साध्याभाव के आश्रय विपक्ष में, न अस्ति एव = नहीं ही हो, तत् = वह, लिङ्गं = साधक हेतु, अनुमापकम् = अनुमिति साधक होता है। विपरीतं = विपरीत, अतः = उक्त लिङ्ग लक्षण से, यत् = जो हेतुः, स्यात् = हो, एकेन = एक लिङ्ग लक्षण से, द्वितयेन वा = या दो लिङ्ग के लक्षण से, विरुद्धासिद्धसन्दिग्धं = उस विरुद्ध, असिद्ध, तथा सन्दिग्ध हेतु को, अलिङ्गं = असाधक हेतु, काश्यपः = कश्यपगोत्री कणाद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदनुमेयेनार्थेन देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितमनुमेयधर्मान्विते चान्यत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धमनुमेयविपरीते च सर्वस्मिन् प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्यानुमापकं लिङ्गं भवतीति ॥

ने, अब्रवीत् = कहा है। यत् = जो लिंग, अनुमेयेन = अनुमानविषय, अर्थेन = पक्ष के साथ, देशविशेषे = देशविशेष में, कालविशेषे वा = या कालविशेष में, सहचरितं = वर्तमान हो, अनुमेयधर्मान्विते च = और साध्यधर्मयुक्त भी, अन्यत्र = दूसरे सपक्ष में भी,, सर्वस्मिन् = सम्पूर्ण में, एकदेशे वा = या एकदेश में, प्रसिद्धं = प्रसिद्ध हो, अनुमेयविपरीते च = और अनुमेय साध्य धर्म से शून्य विपक्ष में; सर्वस्मिन् = संपूर्ण में, प्रमाणतः = प्रमाण से, असत् एव = वर्तमान नहीं ही हो, तत् = वह, अप्रसिद्धार्थस्य = असिद्ध पदार्थ धर्म का, अनुमापकं = अनुमान कराने वाला, लिङ्गं = (साधक हेतु) भवति = होता है ॥

भाषाभाष्य—उद्देशक्रम के अनुसार प्रत्यक्ष नामक विद्या के निरूपण के पश्चात् अनुमान की व्याख्या का भाष्यकार प्रारंभ करते हैं कि लिङ्ग ज्ञान से संशय तथा विपर्ययरहित होने के कारण सम्यक् रूप होने वाली विद्या का नाम है लैङ्गिक ज्ञान। अर्थात् संशय तथा विपर्यय वास्तविक अर्थ के ज्ञापक नहीं होते, तथा स्मृति भी, अनुभव के अनुसार होने से स्वतंत्र पदार्थ की प्रतिपादक नहीं होती। यहाँ पर यद्यपि 'अनुमान' यह पद 'अनुमीयते तद् अनुमानं' ऐसे भावव्युत्पत्ति बल से भाववाचक, तथा 'अनुमीयतेऽनेन' इस करणवाचक व्युत्पत्ति से करणवाचक इस प्रकार उभय (दोनों) का बोधक होने पर भी, प्रमाणरूप होने से करण का स्वरूप ही प्रतिपादन करने में भाष्यकार का आशय होना उचित है, तथापि करण कारक विशेष स्वरूप होने से क्रिया के सम्बन्धरूप उपाधि ही से प्रमाकरणरूप करणता संगत होने के कारण प्रमारूप क्रिया के सम्बन्ध के दिखाने से करणता दिखाई जा सकती है, इस कारण भाष्यकार ने भाव (क्रिया) को प्रधान मान कर ही व्याख्या की है इस प्रकार यहां उदयनाचार्य का अभिप्राय है। लैङ्गिक ज्ञान में लिङ्ग किसे कहते हैं ऐसी शिष्य की जिज्ञासा निवारण करने के लिये लिङ्ग का लक्षण प्रशस्तदेव इस प्रकार वर्णन करते हैं कि जो साधक सिद्ध करने की इच्छा के विषय साध्यधर्मविशिष्ट धर्मि (पक्ष) के साथ समवेत हो, तथा साध्यधर्म से समन्वित सपक्ष में प्रसिद्ध हो, तथा अनुमानयोग्य साध्यधर्म से रहित विपक्ष में नहीं ही हो, वह अनुमापक लिङ्ग अथात् अनुमितिरूप प्रमा का करण होता है, अर्थात् 'यदनुमेयेन' इस प्रथम पद्य में यत्पद से गृहीत तीन वाक्यों से पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्वरूप, तीन स्वरूप से युक्त होना लिङ्गता (साधकता) का प्रयोजक है यह सूचित होता है। लोक में भी उपाधिरहित साध्यसम्बन्धवाले को लिङ्ग कहते हैं यह प्रसिद्ध है ॥ (सू०—२४२) ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार उक्त रूपत्रय विशिष्ट सत् लिङ्ग (हेतु) निरूपण के अनन्तर प्रसंगसंगति से लिङ्गाभास (असत् हेतू) का संज्ञाविशेषपूर्वक भाष्यकार पद्य में निरूपण करते हैं कि उक्त स्वरूप लिंङ्ग से जो लिङ्ग पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व इन तीनों में से एक या दो अथवा चार शब्द से गृहीत तीनों लिङ्ग लक्षण रूपों से विपरीत (रहित) हो वह लिङ्गाभास (हेत्वाभास) विरुद्ध, असिद्ध तथा सन्दिग्ध इन तीन विशेष संज्ञा (नाम) से युक्त साध्य का साधक न होने से अलिङ्ग है ऐसा कश्यप-गोत्रोत्पन्न महर्षि कणाद ने कहा है। अर्थात् विरोध नामक दोष से युक्त विरुद्ध नामक दुष्टलिंग (दुष्टहेतु), असिद्धिदोष से युक्त असिद्ध दुष्टहेतु, तथा संदेहदोष से युक्त संदिग्ध, दुष्टहेतु ऐसे तीन दुष्टहेतु कणाद मत में हैं। इनमें से एक भी दोष दिखाई देने पर यथायोग्य और भी बहुत से दोष हो सकते हैं, सभासदों को जिज्ञासा हो तो संपूर्ण दोषों को प्रगट करना चाहिये, नहीं तो एक ही दोष का उद्भावन करना चाहिये ऐसा उदयनाचार्य का यहाँ अभिप्राय है। (सू० १३१) ॥

इस प्रकार सत् लिङ्ग तथा असत् लिङ्ग के लक्षण को क्रम से संग्रह कर वर्णन करने वाले दो श्लोकों में से प्रथम संग्रह श्लोक का अर्थ स्वयं भाष्य करते हैं कि जो लिङ्ग अनुमान करने योग्य साध्य के साथ देशविशेष या कालविशेष में सहचरित (वर्तमान) हो, (यहाँ पर जिस देश या काल में दृष्टान्तरूप धर्मि में लिङ्ग का साध्यधर्म के साथ अविनाभाव (व्याप्ति) दिखाई गई हो उतने ही में उसे साध्य-धर्मिपक्ष में प्रतीत हुए साध्य का वह लिङ्ग गमक (अनुमापक) होता है यह सूचित करने के लिये देशविशेष कालविशेष वा सहचरितं ऐसा विशेषण दिया है तथा अनुमानयोग्य साध्यधर्म से युक्त अन्य संपूर्ण दृष्टान्तधर्मि में अथवा किसी एक दृष्टान्त में प्रसिद्ध हो एवं अनुमानयोग्य साध्यधर्म से रहित सम्पूर्ण विपक्षों में नहीं ही रहे, वह असिद्ध (साधनयोग्य) साध्यरूप अर्थ का अनुमापक (साधक) लिङ्ग (सद्धेतु) होता है। यहां सम्पूर्ण सपक्ष (निश्चितसाध्यधर्मि) में व्यापक हेतु जैसे सद्धेतु होता है वैसे ही सपक्ष के एकदेश में वर्तमान हेतु भी सद्धेतु होता है। यह सूचित करने के लिये 'सर्वस्मिन्नेकदेशे वा' (सम्पूर्ण अथवा एकदेश में रहनेवाला) ऐसा कहा है तथा संपूर्ण विपक्षों (निश्चित साध्याभावाधिकरणों) में व्यापक के समान विपक्ष के एकदेश में रहने वाला भी लिङ्ग सद्धेतु नहीं होता यह दिखाने के लिये 'सर्वस्मिन्नसदेव' अर्थात् सम्पूर्ण विपक्ष में नहीं ही रहने वाला ऐसा भाष्य में कहा है ॥ सूत्र ३४२ ॥

यहाँ पर व्योमवतीकार के मत से प्रथम श्लोक के अर्थ में सम्बद्ध शब्द का सहचरित ऐसा अर्थ भाष्यकार ने किया है जिससे अनुमेय पक्ष में (जो साध्यधर्मविशिष्ट है) उसके साथ साध्यधर्मिक व्याप्ति से सम्बद्ध हेतु ऐसा अर्थ किया है। जिसमें सहचरित पद से व्याप्ति का लाभ होता है ऐसी समालोचना किया है, क्योंकि अन्यथा पक्ष के एकदेश में वर्तमान हेतु में भी साध्य साहचर्य गृहीत होगा, अर्थात् पक्ष के एक-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यत्तु यथोक्तात् त्रिरूपाल्लिङ्गादेकेन धर्मेण द्वाभ्यां वा विपरीतं तदनुमेयस्याधिगमे लिङ्गं न भवतीत्येतदेवाह सूत्रकारः—"अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चेति" ॥

देश में वर्तमान हेतु भी सद्धेतु हो जायगा। जैसे परमाणु नित्य हैं गन्धाधिकरण होने से इस अनुमान में केवल पृथिवी परमाणुरूप पक्ष के एकदेश में वर्तमान गन्धाधिकरणता, इसकी व्यावृत्ति के लिये सहचरित पद व्याप्तिबोधक दिया है ॥

पदपदार्थ—यत् तु = किन्तु जो, यथोक्तात् = पूर्वोक्त, त्रिरूपात् = तीन रूपवाले लिङ्गात् = हेतु से, एकेन = एक, धर्मेण = धर्म से, द्वाभ्यां वा = अथवा दो धर्मों से, विपरीतं = विपरीत हो, तत् = वह लिङ्ग, अनुमेयस्य = अनुमानयोग्य साध्यधर्म के, अधिगमे = ज्ञान में, लिङ्गं = अनुमापक हेतु, न = नहीं, भवति = होता है, इति एतत् = वहाँ यह, आह = कहा है, सूत्रकारः = सूत्रकार ने, अप्रसिद्धः = असिद्ध, अनपदेशः = साधक नहीं होता, असत् = अवर्तमान, सन्दिग्धः च = और संदेहयुक्त भी, इति = इस प्रकार ॥

भाषाभाष्य—द्वितीय संग्रहश्लोक की भाष्यकार व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पूर्वोक्त पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व ऐसे तीन रूप वाले लिङ्ग से एकरूप धर्म या दोरूप धर्मों से जो विपरीत (रहित) हो वह अनुमानयोग्य साध्यधर्म के ज्ञान में साधक लिङ्ग नहीं होता अर्थात् दुष्टलिङ्ग (असद्धेतु) होता है, इस विषय में महर्षि कणाद जो वैशेषिकदर्शन के सूत्रों के निर्माता हैं उनकी भी संमति प्रमाणरूप में दिखाते हैं कि असिद्ध, अवर्तमान तथा संदिग्ध हेतु साध्यसाधक न होने से 'अनपदेश' अर्थात् साधक न होने से तीन प्रकार के दुष्ट हेतु होते हैं। इन तीन प्रकार के असद्धेतुओं में जो हेतु एकरूप धर्म से रहित होता है उसका उदाहरण यह है कि—शब्द अनित्य है, प्रमेय (ज्ञान) विषय होने से, इस अनुमान में प्रमेयत्वरूप हेतु नित्य आकाशादि पदार्थों में भी ज्ञानविषयत्वहेतु के वर्तमान होने से विपक्षासत्त्वरूप एकरूप से रहित होने के कारण सन्दिग्धानैकान्तिक नामक असद्धेतु है तथा शब्द नित्य है, कार्य होने से इस अनुमान में कार्यत्वरूप हेतु शब्दरूप पक्ष में वर्तमान होने पर भी न सपक्ष आत्मादि नित्य पदार्थों में रहता है, न अनित्य घटादि विपक्षों से व्यावृत्त है, अतः इस अनुमान में दोरूप धर्मों के न रहने से यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। असिद्ध दुष्टहेतु एक, दो तथा तीनों रूपों से रहित होने के कारण तीन प्रकार का होता है जिनमें से शब्द, अनित्य है, जातिमान् होते हुए, चाक्षुष होने से, इस अनुमान में उक्त हेतु अनित्य घटादि सपक्षों में वर्तमान होने पर भी तथा विपक्ष जाति आदि पदार्थों से व्यावृत्त होने पर भी, शब्दरूप पक्ष में चाक्षुषत्व न होने के कारण पक्षसत्त्वरूप एक धर्म से शून्य है यह प्रथम का उदाहरण है तथा शब्द, अनित्य है अप्रमेय होने से इस अनुमान में अप्रमेयत्व हेतु के विपक्ष आत्मादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नित्य पदार्थों में न रहने पर भी, पक्ष शब्द तथा अनित्य घटादि रूप सपक्ष में अप्रमेयत्व न रहने से इसमें पक्षसत्त्व तथा सपक्षसत्त्व यह दो रूप न होने से यह द्वितीय का उदाहरण है। एवं शब्द अनित्य है, अकार्य होने से इस अनुमान में अकार्यत्व पक्ष शब्द तथा सपक्ष घटादिकों में भी नहीं रहता तथा विपक्ष आत्मादि नित्य पदार्थों में रहने से विपक्ष व्यावृत्त भी न होने से उक्त हेतु में त्रिरूपशून्यता होने से यह तृतीय विरुद्ध का उदाहरण है। यहाँ पर यदि पक्षसत्त्व इत्यादि रूपत्रय होने से ही हेतु साध्य का साधक हो तो कालप्रत्ययापदिष्ट (बाधित) तथा प्रकरणसमास (सत्प्रति-पक्ष) में भी तीनों रूपों के वर्तमान होने से अतिव्याप्ति दोष उक्त लक्षण में आ जायगा। इस प्रकार एकदेशिमत से शङ्का करते हैं। जिसका कुछ नैयायिक ऐसा समाधान करते हैं कि उन दोनों के वैशेषिकमत में अनैकान्तिक (सव्यभिचार) में अन्तर्भाव हो सकता है, क्योंकि पूर्वोक्त सन्दिग्ध विपक्ष वाले साध्यधर्मी में सत्प्रति-पक्ष (प्रकरण सम) तथा निश्चित विपक्ष में कालात्ययापदिष्ट (बाधित) दुष्टहेतु हो सकते हैं। क्योंकि शब्द में नित्य तथा अनित्य धर्म की उपलब्धि न होने के कारण शब्द में नित्यता तथा अनित्यता का संशय होने पर निर्णय के लिए उपदिष्ट तथा जिसका विपक्ष हो सकता है ऐसे धर्मी में वर्तमान प्रकरणसम का एक पक्ष में नियत होने के कारण अनैकान्तिक (सव्यभिचार) में अन्तर्भाव हो सकता है। तथा जिस वह्नि में प्रत्यक्ष से उष्णता गृहीत होती है अनुष्ण जलादिरूप विपक्ष में कृतकत्व हेतु के रहने से बाधित भी दुष्टहेतु अनैकान्तिक ही होता है। कन्दलीकार का ऐसा उत्तर है कि उक्त दोनों का 'जो अनुमेय से सम्बद्ध हो' इस उक्ति से ही निराकरण होता है, क्योंकि बाधित तथा सत्प्रतिपक्ष में अनुमेयाभासाश्रयत्व है। और उदयनाचार्य का ऐसा कहना है कि इसी अरुचि से इस विषय में 'आह सूत्रकारः' ऐसी सूत्रकार का संमति इस विषय में प्रमाण दिखाई है, अर्थात् उक्त बाधित तथा सत्प्रतिपक्ष का तीनों में अन्तर्भाव हो सकने से तीन ही हेत्वाभास हैं। उक्त सूत्र का अर्थ इस प्रकार है, जिससे अपदेश किया जाय वह अपदेश अर्थात् हेतु होता है और जो ऐसा न हो वह अनपदेश, अर्थात् उसका विरोधी हेत्वाभास होता है। वह अप्रसिद्ध (१), असिद्ध (२) तथा सन्दिग्ध (३) इस भेद से तीन प्रकार का है। जिनमें से प्रथम अप्रसिद्ध नामक हेत्वाभास में विरुद्ध तथा असाधारण नाम के अनैकान्तिक का समावेश होता है। दूसरा पक्ष में असत (असिद्ध) नामक हेत्वाभास है। तीसरा सन्दिग्ध नामक हेत्वाभास है जिसमें अनैकान्तिक (सव्यभिचार) नामक हेत्वाभास का समावेश होता है। चकार से तथा अनपदेश शब्द की द्विरावृत्ति से भी कालात्ययापदिष्ट (बाधित) तथा प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) भी हेत्वाभास होते हैं यह सूचित होता है। समर्थ प्रत्यक्षादि प्रमाण बाध तथा विरोधी-रहित ही हेतु साध्य साधन योग्य होता है इस कारण लोकप्रसिद्ध होने से बाधित तथा सत्प्रतिपक्षित दो हेत्वाभासों को स्पष्टरूप से वर्णन नहीं किया है। तथा अप्रसिद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमोऽपि न भवतीति । एवं प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवतीति ।

शब्द से उन दोनों का संग्रह होता है न कि उनका अभाव है ऐसा आगे कहेंगे इस कारण कोई दोष न हो सकेगा यह भाष्यकार का यहाँ तात्पर्य है। अप्रसिद्धपद से ही बाधित तथा सत्प्रतिपक्ष इन दोनों का संग्रह हो जाता है, क्योंकि ये दोनों अबाधित विषय तथा असत्प्रतिपक्ष रूप से प्रसिद्ध नहीं हैं। अथवा षोडशपदार्थवादी गौतममतरूप समानशास्त्र (तन्त्र) में प्रसिद्ध होने से उन दोनों का संग्रह होता है ऐसी व्योमशिवाचार्य ने यहाँ समालोचना की है ।। सूत्र—१३१ ।।

पदपदार्थ—विधिः तु = और विधि (व्याप्ति) है, यत्र = जहाँ पर, धूमः = धुआँ होता है, तत्र = वहां पर, अग्निः = वह्नि होता है, अग्न्यभावे = अग्नि के न रहने पर, धूमः अपि = धूम (धुवाँ) भी, न = नहीं, भवति = रहता है, इति = इस प्रकार होता है। एवं = इस प्रकार, प्रसिद्धसमयस्य = जिस पुरुष को व्याप्ति ज्ञान है, उस पुरुष को, असन्दिग्धधूमदर्शनात् = निश्चित धूम के दर्शन से, साहचर्यानुस्मरणात् = अग्नि तथा धूम के साथ रहनेरूप व्याप्ति के स्मरण से, तदनन्तरं = इसके पश्चात्, अग्न्यध्यवसायः = अग्नि का अनुमानरूप निश्चित ज्ञान होता है।

भाषाभाष्य—उक्त स्वरूप भी हेतु जिस मनुष्य को व्याप्ति ग्रहण न हो, अथवा जिसे व्याप्ति का विस्मरण हो गया हो उसके लिये साध्य का साधक नहीं हो सकता, इसलिये व्याप्ति का स्वरूप दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि अविनाभाव (व्याप्ति) के ज्ञान का यह प्रकार है कि जिस-जिस स्थल में धूम होता है उस-उस स्थल में अग्नि रहता है, तथा जिस-जिस स्थल में अग्नि न हो, उस-उस स्थल में धूम नहीं रहता यह विधि (व्याप्ति) का स्वरूप है, इससे जिस-जिस स्थल महानस (रसोई के घर) इत्यादिकों में जहाँ-जहाँ धूम होता है वहां-वहां अग्नि अवश्य रहता है इस प्रकार अनेक बार देखने की सहायता से उत्पन्न अन्वय व्याप्ति (जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है) तथा व्यतिरेक जहां-जहां अग्नि नहीं रहती वहां-वहाँ धूम भी नहीं रहता) इस प्रकार के अन्वय तथा व्यतिरेक ही व्याप्ति ज्ञान के उपाय हैं। इस प्रकार जिस पुरुष को अविनाभावरूप व्याप्तिज्ञान प्रसिद्ध है उस पुरुष को संदेहरहित धूमदर्शन, तथा पूर्वोक्त अग्नि तथा धूम के साथ रहनेरूप व्याप्ति के स्मरण के पश्चात् यहाँ अग्नि है ऐसा अनुमानरूप निश्चित ज्ञान होता है। यहाँ पर असंदिग्ध धूमदर्शन से पर्वतादि रूप पक्ष में धूमरूप हेतु के वर्तमान होने रूप पक्षधर्मता ज्ञान तथा धूम और अग्नि के साथ में वर्तमान रहनेरूप व्याप्ति ज्ञान के स्मरण से स्मरणात्मक व्याप्ति का ज्ञान, ये दोनों अनुमिति में कारण हैं यह सूचित होता है। प्रथम धूमादि लिङ्ग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का दर्शन महानसादि दृष्टान्त में, द्वितीय लिंगदर्शन पर्वत आदि पक्ष में, इसके पश्चात् 'वह्निव्याप्य धूमवान् यह पर्वत है' इस प्रकार के परामर्शरूप अग्नि के निश्चित ज्ञान में तृतीय लिङ्गदर्शन होता है इस प्रकार अनुमिति में तीन लिङ्गदर्शन कारण हैं ऐसा उदयनाचार्य का यहाँ अभिप्राय है।

विनश्यत् अवस्था में प्राप्त द्वितीय लिङ्गदर्शन उक्त परामर्श में कारण होने पर भी जिस स्थल में दिखाते ही वह्नि के निवृत्त होने से अग्नि भी निवृत्त हो गया, किन्तु कालान्तर में जिज्ञासा होने से परामर्श (ज्ञान) होता है, ऐसी अवस्था में प्रथम तथा द्वितीय लिङ्गदर्शन के व्यतीत हो जाने के कारण परामर्श ज्ञान में केवल व्याप्ति का स्मरण ही कारण है। यदि सर्वथा परामर्श को न माना जाय तो पंचावयव वाक्यों में उपनय मानना भी असंगत होगा। लिङ्गदर्शन तथा व्याप्तिस्मरण इन दोनों ही से अनुमिति की उत्पत्ति हो सकती है इस कारण द्वितीय लिङ्गदर्शन अनुमिति में कारण नहीं है, किन्तु प्रथम तथा द्वितीय लिंङ्गदर्शन यह दोनों व्यर्थ भी नहीं हैं, क्योंकि दूसरे अवयवों से न कहे गये हेतु में पक्षवृत्तित्व प्रतिपादन के लिये उन दोनों का उपयोग हो सकता है, ऐसा कन्दलीकार का इस विषय में आशय है। व्याप्ति नामक व्यभिचाररहित सम्बन्ध को अविनाभाव कहते हैं। साध्य के अत्यन्ताभाव के अधिकरण में वर्तमान होना व्यभिचार पदार्थ है उसके अभाव अर्थात् साध्याभावाधिकरण में न रहने का नाम अव्यभिचार पदार्थ है, वह 'घटे ज्ञेयः अभिधेयत्वात्' घट, ज्ञान विषय है, वाच्य होने से इत्यादि केवलान्वयी हेतु में साध्य प्रमेयता का अभाव संसार में अप्रसिद्ध होने के कारण अव्यभिचारि सम्बन्धरूप व्याप्ति लक्षण के न जाने से अव्याप्तिरूप दोष आ जायगा—इस आक्षेप का समाधान यह है कि ऐसे केवलान्वयी में केवल सम्बन्ध ही व्याप्ति मान लेंगे। यदि आक्षेप्ता कहे कि 'तब तो व्याप्ति पदार्थ सर्वत्र अनुगत न होने से अननुगम दोष होगा' तो अननुगत (भिन्न-भिन्न) ही अनुमितियों में कारण मानने से वह दोष नहीं हो सकता। अनुमितित्वावच्छिन्न (अनुमिति सामान्य) के प्रति पक्षधर्मता ज्ञान ही कारण है, और उससे (पक्षवृत्तिता) से युक्त हेतु में व्याप्तिविशेष प्रयोजक है। अविनाभाव नामक सम्बन्ध ही व्याप्ति है, या कात्स्न्येन (सम्पूर्णरूप से) साध्य का हेतु में सम्बन्ध ही का नाम व्याप्ति है, इत्यादि पूर्वपक्ष व्याप्तियों का विस्तार तथा उनका खण्डन शंकरमिश्र ने उपस्कार नामक वैशेषिक सूत्रों की व्याख्या में किया है जिसको स्वयं उपस्कार में पाठकों को देख लेना चाहिए। वस्तुतः अनौपाधिक (उपाधिरहित) सम्बन्ध ही का नाम व्याप्ति है। जितने हेतु के अव्यापक पदार्थ हों उनकी व्याप्ति से रहित साध्य के अधिकरण में वर्तमानता ही अनौपाधिकता उपाधिशून्यता होती है। अथवा हेतु के आधार में वर्तमान अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगि साध्य के अधिकरण में वर्तमानता ही हेतुनिष्ठ व्याप्ति का नाम है। साधने सोपाधिः साध्ये निरुपाधिः'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिंगम्। शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्। कस्मात्? व्यतिरेकदर्शनात्। तद्यथा अध्वर्युरोंश्रावयन् व्यवहितस्य हेतुर्लिङ्गम्, चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकाशस्य च शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति। एवमादि तत्सर्वमस्येदमिति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धम्।

तत्तु द्विविधम्—दृष्टं सामान्यतो दृष्टं च।

इत्यादि नैयायिकों के उक्ति के अनुसार साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक उपाधि होता है, जैसे पर्वत धूमवान् है, वह्निमान् होने से ऐसे अनुमान में आर्द्रेन्धन संयोग (गीली लकड़ियों का संयोग) धूम का व्यापक तथा तपे हुए लोहे में वह्नि के रहने पर भी आर्द्रेन्धन संयोग के न रहने से उपाधि होने के कारण वह्निरूप धूमवत्ता का साधक हेतु आर्द्रेन्धन संयोगरूप उपाधियुक्त होने से वह्नि का साधक न होने से व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास होता है यह उपस्कारादि ग्रंथों में स्वयं देख लेना चाहिये। तथा उपाधि के केवल साध्यव्यापक इत्यादि विभाग तथा उनके उदाहरण किरणावली आदि निबन्धों में स्वयं देख लेना चाहिये। सूत्र—३४२॥

पदपदार्थ—एवं = इस प्रकार, सर्वत्र = संपूर्ण स्थलों में, देशकालाविनाभूतं = देश तथा काल से व्याप्त, इतरस्य = दूसरे साध्य का, लिङ्गं=साधक हेतु होता है। शास्त्रे= शास्त्र में, कार्यादिग्रहणं = कार्य आदि हेतुओं का वर्णन, निदर्शनार्थम् = केवल उदाहरणमात्र के लिये, कृतं = किया है, न = नहीं, अवधारणार्थम् = इतने ही हेतु होते हैं इस निश्चय के लिये। कस्मात् = क्यों, व्यतिरेकदर्शनात् = कार्य आदि के न रहने पर भी अनुमान के दिखाने से। तत् = वह, यथा = जैसे, अध्वर्युः = यज्ञ में मंत्र पढ़ने वाला श्रोत्रिय विद्वान्, ओंश्रावयन् = ओंकार को सुनाता हुआ, व्यवहितस्य = व्यवधानयुक्त छिपे हुए, हेतुः = हवनकर्त्ता का, लिङ्ग = साधक हेतु होता है, चन्द्रोदयः = तथा चन्द्रमा का उदय, समुद्रवृद्धेः = समुद्र के वृद्धि का, कुमुदविकाशस्य च = और कमल के विकास का भी, शरदि = और शरद ऋतु में, जलप्रसादः = जल का निर्मल होना, अगस्त्योदयस्य = अगस्ति नामक तारा के उदय का, साधक लिङ्ग होता है, इति = इसलिये। एवं आदि = इस प्रकार इत्यादि, तत् = वह, सर्वं = सम्पूर्ण, अस्य = इस साध्य का, इदं = यह साधक है, इति = यह, सम्बन्धमात्रवचनात् = केवल व्याप्तिरूप सम्बन्ध की उक्ति से, सिद्धं = सिद्ध होता है ततु = किन्तु वह अनुमान, द्विविधं = दो प्रकार का है,—दृष्टं = दृष्ट नाम का, सामान्यतो दृष्ट च = सामान्यतो दृष्ट नाम का भी॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार प्रसिद्ध धूम से वह्नि के अनुमान के प्रकार का वर्णन कर दूसरे अनुमानों में भी उसका अतिदेश (निर्देश) करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि धूमानुमान के समान संपूर्ण अनुमानों में व्याप्ति का निश्चय होता है। क्योंकि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सभी अनुमानों में देश तथा काल को लेकर साध्य के साथ व्याप्ति रखनेवाला साधन दूसरे साध्य धर्म का साधक लिङ्ग होता है जिसमें काश्मीर देश में सुवर्ण के भांडार-गृह (सोने के खजाने) के रक्षकों से यववाटिका (जौ के झाड़ी) की रक्षा करना यव के नालों (यव के डण्ठियों) में हेमाङ्कुरोद्भेद हो, (सुवर्ण के अंकुरों के उत्पत्ति का) उसी देश में साधक होता है, अन्य देश में नहीं । अतः यह देश को लेकर व्याप्ति रखने वाले लिङ्ग का उदाहरण है । तथा राजाओं के अन्तःपुरों में प्रातःकाल का ही गायन राजा के प्रबोध (जग जाने का) साधक लिङ्ग होता है न कि मध्याह्नादि समय का, अतः यह काल को लेकर व्याप्ति रखने वाले लिङ्ग का उदाहरण है । यदि देश तथा काल के साथ व्याप्ति रखने वाला ही लिङ्ग उक्त प्रकार से साध्य का साधक के हो तो 'अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि च' अर्थात् इस कारण का यह कार्य, इस कार्य का यह कारण, यह संयोगी, यह विरोधी. यह समवायि लिङ्ग साधक होता होता है इस सूत्र में वर्णन किये लिङ्गों के साथ विरोध होने से सूत्र-विरोध हो जायगा, इस आक्षेप के समाधान में भाष्यकार कहते हैं कि सूत्र में कार्यादि हेतुओं का ग्रहण केवल उदाहरणमात्र है न कि इतने ही हेतु होते हैं इस अवधारण के लिये । क्योंकि कार्यकारणादिरूप व्याप्ति के न रहने पर भी अनुमान होते हैं । जिस प्रकार अध्वर्यु नामक यज्ञ में मंत्रपाठ करने वाला श्रोत्रिय विद्वान् ब्राह्मण दूर न रहने वाले हवनकर्ता (होता) से अनुसंधानयुक्त है, यज्ञभूमि में 'ओंश्रावय' इस शब्द का उच्चारण करने से, पूर्व में इस प्रकार ज्ञात अध्वर्यु के समान, इस अनुमान में कार्यकारणादिभाव न होने पर भी साध्य का साधन होता ही है तथा चन्द्र के उदय से समुद्र की वृद्धि तथा कुमुद के विकसित होने का, एवं शरद ऋतु में जल की निर्मलता से अगस्ति नामक तारा के उदय का भी अनुमान विना कार्यकारण-भावादिकों के होता है इसलिये सूत्र केवल उदाहरणमात्र हैं न कि निश्चयार्थ यह सिद्ध होता है । चन्द्रोदयादिकों के अनंतर समुद्रवृद्धि आदि होते हैं इस कारण केवल अनन्तरता से कार्य हैं ऐसी शंका नहीं हो सकती, क्योंकि वह अन्यथासिद्ध है अर्थात् कार्यत्व न रहने पर भी अनंतरता होती है । उत्तरदेश प्राप्तिरूप समुद्र की वृद्धि, तथा कुमुद के परस्परदलों के विभागरूप विकास एवं पूर्वरूप के निवृत्त होने पर अन्य रूप की उत्पत्तिरूप जल की निर्मलता के भी उस समय में संनिहित होनेवाले अपने-अपने चन्द्रोदय इत्यादि कारणों के कर्म (अदृष्ट) के कारण होने से उनका अथवा अवयव वृद्धि आदि कारणों से होने से कार्यादि हेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । यदि ऐसा है तो कार्यकारण इत्यादि उक्त सूत्र में वर्णित लिङ्गों से भिन्न पूर्वोक्त लिङ्गों के अधिक होने के कारण उक्त सूत्र में न्यूनता हो जायगी' इस शंका के समाधानार्थ भाष्यकार आगे कहते हैं कि कार्यकारणादि लिङ्गों से भिन्न उपरोक्त चन्द्रोदय आदि लिङ्गों का उक्त सूत्र में किये हुए 'अस्य इदं' इस वचन में केवल सम्बन्ध के वचन से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र दृष्टं प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजात्यभेदेऽनुमानम्। यथा गव्येव सास्नामात्रमुपलभ्य देशान्तरेऽपि सास्नामात्रदर्शनाद्गवि प्रतिपत्तिः।

सूत्रकार ने भी प्रमाण से सिद्धि दिखाई है अतः सूत्र में न्यूनता नहीं हो सकती। यहाँ पर 'सम्बन्धमात्र' ऐसे मात्र पद देने से कार्यकारणादिकों की व्यावृत्ति हो जाती है, अर्थात् कार्यकारणादिरूपविशेष संबन्ध ही नहीं किन्तु सामान्यरूप व्याप्तिरूप सम्बन्ध लेना चाहिये, जिनमें कार्यकारणादि तथा उनसे भिन्न सभी अव्यभिचरित सम्बन्धों का ग्रहण हो सकता है यह तात्पर्य है।

यहां पर व्योमशिवाचार्य ने एक पक्ष इस प्रकार अन्य मत से सूचित किया है जिस मत में 'अस्येद'मिति यह सूत्र कार्य आदि हेतुओं का अवधारण करता है कि इतने ही प्रकार के हेतु होते हैं और 'शास्त्र में कार्यादिग्रहण उदाहरणार्थ है' इस भाष्य की दूसरे प्रकार से व्याख्या की है कि कार्यकारण आदि लिङ्गों में ही चन्द्रोदय इत्यादि लिङ्गों का अन्तर्भाव हो सकता है, अतः सूत्र में उनका कथन अवधारणार्थ ही है, इसलिये भाष्यकार का कार्यादिकों को छोड़कर भी साधक लिङ्ग होते हैं, अतः सूत्र में उनका ग्रहण केवल उदाहरणमात्र के लिये है न कि अवधारणार्थ यह कहना असंगत है, क्योंकि होता के सन्निहित रहने पर ही ऊर्ध्वयु 'ओंश्रावय' इस वाक्य का उच्चारण करता है न कि होता के बिना, तो होतृसन्निधान अध्वर्यु के उच्चारण में कारण क्यों न होगा, एवं अन्वय तथा व्यतिरेक होने से (चन्द्रमा का उदय होने पर समुद्र का जल बढ़ता है, न होने पर नहीं, इस व्याप्तिबल से, मेघ में रहनेवाला चन्द्रोदय भी समुद्रजल के वृद्धि का कारण है यह अनुमान से सिद्ध होता है, इसलिये चन्द्रोदय, समुद्रजलवृद्धि तथा इसी प्रकार कुमुदविकास का भी कारण हो सकता है। व्याप्तिग्रहण होने पर देशान्तर में भी चन्द्रोदय दिखाने से समुद्रवृद्धि का एवं कुमुदविकास का अनुमान हो सकता है। अथवा चन्द्रकिरण द्वारा संयोगी हेतु हो सकता है। अतः सूत्र में कहे हुए ही कार्य आदि लिंग हो सकते हैं। किन्तु भाष्यकार के सम्बन्धमात्र के वचन से यह मत असंगत होने पर भी व्योमवतीकार ने इन दोनों में गुणदोष का विचार स्वयं किया है जिसे परीक्षक कर ले ऐसा कहकर उपेक्षा की है। सूत्र—३४३ तथा १२५—सूत्र से १३० सूत्र पर्यन्त, एवं १२३,१२४ तक जानना।

इस प्रकार अनुमानाङ्ग लिंग तथा व्याप्ति का निरूपण करने के पश्चात् लैङ्गिक ज्ञान (अनुमान) का विभाग दिखाते हैं कि वह अनुमान दृष्ट(१) तथा सामान्यतोदृष्ट(२) नाम से दो प्रकार का है।

पदपदार्थ—तत्र = उन दोनों में से, दृष्टं नाम = दृष्टनामक होता है, प्रसिद्धसाध्ययोः = पूर्वदर्शन से सिद्ध तथा अनुमेय ऐसे दोनों साध्य धर्मों के, अत्यन्तजात्यभेदे = जाति से अत्यन्त अभेद रहते, अनुमानं = अनुमान। यथा = जिस प्रकार, गवि एव = गौ में ही, सास्नामात्रं = केवल सास्ना (गलकम्बल) को, उपलभ्य = प्राप्तकर, देशान्तरे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजातिभेदे लिंगानुमेयधर्मसामान्यानुवृत्तितोऽनुमानं सामान्यतो दृष्टम् । यथा कर्षकवणिग्राजपुरुषाणां च प्रवृत्तेः फलवत्त्वमुपलभ्य वर्णाश्रमिणामपि दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्य प्रवर्तमानानां फलानुमानमिति ।

अपि = अन्य देश में भी, सास्नामात्रदर्शनात् = केवल सास्ना को देखकर, गवि = गौ विषय में, प्रतिपत्तिः=ज्ञान । प्रसिद्धसाध्ययोः=पूर्व ज्ञात तथा अनुमेयसाध्य धर्मों का, अत्यन्तजातिभेदे = जातियों का अत्यन्त भेद रहते, लिङ्गानुमेयधर्मसामान्यानुवृत्तितो= लिंगसामान्य तथा ध्वनिसामान्य धर्मों की अनुवृत्ति (अविनाभाव से होनेवाला). अनुमानं = अनुमान, सामान्यतो दृष्टं = सामान्यतोदृष्ट नामक होता है । यथा = जैसे, कर्षकवणिग्राजपुरुषाणां च = कृषक, वणिक् (बनिया) तथा राजसेवक पुरुषों के भी, प्रवृत्तेः = अपने-अपने कार्य कृषी इत्यादि प्रवृत्ति की, फलवत्त्वं = सफलवत्ता को, उपलभ्य = जानकर, वर्णाश्रमिणां अपि = वर्णाश्रमधर्मियों के भी, दृष्टं = प्रत्यक्ष, प्रयोजनं = फल को, अनुद्दिश्य = उद्देशन कर, प्रवर्तमानानां = वर्णाश्रमधर्म में प्रवृत्त होनेवालों के, फलानुमानं = फल का अनुमान, इति = इस प्रकार ।

भाषाभाष्य—उक्त दो प्रकार के अनुमानों में से दृष्ट नामक प्रथम अनुमान वह है, जो पूर्वकाल में लिङ्ग के साथ देखे हुए तथा सांप्रतकाल में अनुमान करने योग्य साध्यधर्म इन दोनों के जातियों का अत्यन्त ऐक्य रहते अनुमान होता है । जैसे पूर्वकाल में गोत्वजातिविशिष्ट गौ में उसका सास्नादि रूप लक्षण जानकर वर्तमानकाल में भी उसी गोत्वविशिष्ट गौ द्रव्य में इस प्रकार दोनों गौ व्यक्तियों में गोत्वजाति के अभेद से अनुमान दृष्ट अनुमान होता है । सांख्यमत में इसी को दृष्टस्वलक्षण विषय अनुमान कहा गया है, क्योंकि केवल सास्ना को देखकर दूसरे वन में जो गोत्वसामान्य का अनुमान होता है उसका स्वलक्षण पूर्वकाल में नगर में दृष्ट है । द्वितीय सामान्यतोदृष्ट अनुमान वह है, जो पूर्वप्रतीत तथा अनुमेय साध्य धर्मों का जाति से अत्यन्त भेद रहते लिङ्गसामान्य का साध्यसामान्य के साथ अविनाभाव (व्याप्ति) के दर्शन से जो अनुमान होता है । जिस प्रकार कृषक, बनिया तथा राजसेवकों की क्रम से धान्यादिक, सुवर्णादिक तथा अश्व-हस्ति इत्यादि प्राप्ति के लिये अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्ति फल देती है, इसी प्रकार प्रवृत्तिरूप हेतु की सफलता साध्य के साथ व्याप्ति ग्रहण कर, वर्णाश्रम धर्म करने वालों की जो किसी प्रत्यक्ष फल की प्राप्ति के लिये वर्णाश्रम धर्म में प्रवृत्ति नहीं होती उनकी भी प्रवृत्ति सफल है ऐसा अनुमान होता है, इस अनुमान का साध्य तथा कृषकादि प्रवृत्ति का साध्यफल अत्यन्त भिन्न जाति का है । सिद्धसाध्यतादोष के निवारणार्थ यहाँ पर 'दृष्ट प्रयोजन को उद्देश्य न रखकर' ऐसा कहा गया है । अर्थात् प्रवृत्तित्वसामान्य की फलवत्त्वसामान्य के साथ व्याप्ति ज्ञान होने से वर्णाश्रमधर्मियों की प्रवृत्ति स्वर्गरूप अदृष्टफल है, फलवान् होने से, कृषकादि इत्याकारक अनुमान सामान्यरूप से नियमदर्शन के कारण सामान्यतो-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र लिंगदर्शनं प्रमाणं प्रमितिरग्निज्ञानम् ।

अथवाऽग्निज्ञानमेव प्रमाणं प्रमितिरग्नौ गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमित्येतत् स्वनिश्चितार्थमनुमानम् ॥

शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् । यथा प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धलिंगदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेवं शब्दादिभ्योऽपीति ।

दृष्ट अनुमान कहा जाता है इस अनुमान में स्वर्गादि रूप फलविशेष की पक्षवृत्ति तो बल से लाभ होता है। ऐसा उदयनाचार्य का आशय है। स्वर्गादिरूपविशेष के नियम के अदर्शन से इसे सांख्यों ने अदृष्ट स्वलक्षण सामान्यविषय अनुमान कहा है।

पदपदार्थ—तत्र = उसमें लैङ्गिक ज्ञान, लिङ्गदर्शनं = लिङ्ग धूम दर्शन, प्रमाणं = प्रमाण है, प्रमितिः = प्रमारूप फल है, अग्निज्ञानं = वह्नि का ज्ञान ॥ अथवा = या, अग्निज्ञान एव = वह्नि का ज्ञान ही, प्रमाणं = प्रमाकरण है, प्रमितिः = प्रमारूप फल है, अग्नौ = वह्नि में, गुणदोषमाध्यस्थदर्शनं = हान, उपादान तथा उदासीनता ज्ञान ॥ इति एतत् = इस प्रकार यह है, स्वनिश्चितार्थं = अपने निश्चय के लिये, अनुमानं = अनुमानप्रमाण ॥

शब्दादीनां अपि = शब्द उपमान आदि प्रमाणों का भी, अनुमाने = अनुमानप्रमाण में, अन्तर्भावः = अन्तर्भाव होता है, समानविधित्वात् = प्रवृत्ति का प्रकार समान होने से ॥ यथा = जिस प्रकार, प्रसिद्धसमयस्य = व्याप्तिज्ञानवान् पुरुष को, असन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणभ्यां = निश्चित हेतु के दर्शन तथा व्याप्तिस्मरण इन दोनों से, अतीन्द्रिये = अप्रत्यक्ष, अर्थे = पदार्थ में, भवति = होता है, अनुमानं = अनुमिति, शब्दादिभ्यः अपि = शब्द आदिकों से भी, इति = इसलिये।

भाषाभाष्य—"प्रमीयतेऽनेन" अर्थात जिससे जाना जाय इस प्रकार की करण व्युत्पत्ति के बल से सिद्ध प्रमाण शब्द का बिना प्रमारूप फल के निर्वाह न हो सकने के कारण प्रमाण तथा फल का विभाग दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उक्त लैङ्गिक ज्ञान में धूमादि रूप लिङ्ग (हेतु) का प्रत्यक्षदर्शन प्रमाण (प्रमाकरण) है तथा वह्नि का ज्ञान प्रमिति (प्रमाण का फल) अथवा प्रमाण तथा फल का ऐसा भी विभाग हो सकता है कि वह्नि का हेतुदर्शन से उत्पन्न अनुमितिरूप ज्ञान प्रमाण है, और प्रमितिर प्रमाण का फल है उस वह्नि में उपादेयता, हेयता अथवा उदासीनता ज्ञान, अर्थात् वह अनुमित वह्नि ग्रहण योग्य है, अथवा त्यागयोग्य है या उपेक्षा करने योग्य है यह ज्ञान यहाँ पर उदयनाचार्य ने इस पक्ष का अवतरण इस प्रकार दिया है कि प्रथम दिखाये हुए वा प्रमाणफल विभाग उपाधियों के अनन्त होने के कारण सोपाधिक होने से नियत नहीं हो सकता, जो अनियत होता है वह असत् होता है, इस कारण रज्जु (डोरी) में आरोप से जनने हुए सर्पज्ञान के समान काल्पनिक (कल्पनामात्र) होने से भ्रममात्र होगा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् वास्तविक नहीं हो सकेगा, इस कारण अथवा पक्ष का फल प्रमाण विभाग ही युक्त है। अर्थात् उपादेयतादिरूप उपाधियों के नियत होने से यह प्रमाण प्रमेयभाव यह वास्तव में असत् नहीं है, क्योंकि जिस उपाधि से जो जिस समय प्रमाण माना जाता है उस समय वह प्रमाण नहीं है ऐसा कोई भी नहीं मानता एवं च एक उपाधि के रहते दूसरी उपाधि होने पर भी कोई दोष नहीं आ सकता। जैसे यह घट सत् होता हुआ पार्थिव है, द्रव्य है, घट है इस प्रकार का ज्ञान वास्तविक ही होता है। जो पूर्वकथित प्रमाण फल विभाग में वह्निज्ञानरूप फल रहा वही अथवा पक्ष में प्रमाकरण है, और हेय, उपादेय तथा उपेक्षा ज्ञान है प्रमिति (प्रमारूप फल)। यह पूर्वोक्त संपूर्ण अपने निश्चय के लिये होने से स्वार्थानुमान नामक प्रमाण है ॥ सूत्र—३४२, ५६ ॥

नैयायिकादिकों ने माने हुए शब्द उपमान आदि प्रमाणों का भी उक्त प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन दो ही प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि जिस प्रकार व्याप्तिज्ञान के बल से अनुमान की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार शब्दादिकों की भी प्रवृत्ति होती है। अतः शब्द अनुमान है व्याप्ति बल से अर्थबोधक होने से धूम के समान इस अनुमानप्रमाण से समान प्रवृत्ति की सिद्धि कर सकते हैं। इस कथन की पुष्टि करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिस मनुष्य को अविनाभाव (अव्यभिचाररूप व्याप्ति) का ज्ञान है उसे (धूमादि) लिङ्ग के दर्शन तथा उक्त व्याप्ति के स्मरण से जिस प्रकार वह्नि आदि अप्रत्यक्ष पदार्थ का अनुमान होता है, उसी प्रकार शब्दादिकों से अथ का अनुमान होता है। अर्थात् जब तक घट आदि शब्द का अव्यभिचार अपने घटरूप अर्थ के साथ न गृहीत हो तब तक घटादि शब्द घट आदि अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकता, और घटादि शब्द की स्वार्थ के साथ अव्यभिचाररूप व्याप्ति का ग्रहण होने पर वह घट आदि पदार्थों को बोधित करता है, इसलिये धूम के समान स्वार्थ ज्ञान में शब्द लिङ्ग हो सकता है। इसी प्रकार 'अपि' शब्द से गृहीत उपमानादि प्रमाणों का भी अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है। किन्तु नियत विषय में प्रवृत्त होनेवाले उपमानादिकों से अधिक विषय में शब्द की प्रवृत्ति होने से शब्द की भाष्यकार ने कण्ठ से उक्ति की है। यदि अनुमान में तो साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी का ज्ञान होता है, शब्द से अर्थ का अनुमान करने में किस धर्मी की प्रतीति होती है। अर्थरूप धर्मि की प्रतीति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उसकी उस समय प्रतीति नहीं है। यदि शब्द को धर्मी माना जाय, तो उसका साध्यधर्म क्या होग ? यदि अर्थवान् होना साध्य हो तो पर्वतादि-धर्मी का अग्नि आदि साध्य के साथ संयोगसम्बन्ध के समान शब्द तथा अर्थ का भी कोई सम्बन्ध मानना होगा, जिससे अर्थविशिष्ट शब्द साधन योग्य होगा। प्रतिपाद्य (बोध्य) प्रतिपादक (बोधक) रूप शब्दार्थ का सम्बन्ध होता है, किन्तु वह अर्थ-बोधन के पश्चात् होता है पूर्व में नहीं हो सकता तथा दैशिक और कालिक व्यभिचार होने से अव्यभिचाररूप व्याप्तिसम्बन्ध भी शब्द तथा अर्थ का नहीं माना जा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकता, क्योंकि जंबुद्वीप में लंकारूप देश अर्थ के न रहने पर भी लंका शब्द का श्रवण होता है, तथा इस कलिकाल में धर्मराज(युधिष्ठिर)रूप अर्थ के न रहने पर भी युधिष्ठिर शब्द का व्यवहार होता है, अतः व्यभिचारदर्शन से शब्दार्थ की परस्पर व्याप्ति नहीं हो सकती। इस कारण अनुमानप्रमाण की सामग्री से शब्द से अर्थबोध होने में उक्त प्रकार से विलक्षणता से शब्द अनुमानप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि देशविशेषों में अर्थ का व्यभिचार देखने में आता है। अर्थात् जिस प्रकार धूम वह्नि का व्यभिचारी नहीं होता, उस प्रकार शब्द अर्थ का व्यभिचारी नहीं होता यह नहीं है, क्योंकि दाक्षिणात्य-देश में 'चोर' शब्द से चावल (भात) कहा जाता है, और आर्यावर्त में रहने वाले तस्कर (चोर) में 'चोर' शब्द का प्रयोग करते हैं। तस्मात् प्रवृत्ति का प्रकार भिन्न होने से शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता'—ऐसा आक्षेप पूर्वपक्षी (शब्द-प्रमाणान्तरवादी) करे तो वैशेषिकसिद्धान्ती इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि जैसे क्रय-विक्रय व्यापार में दश आदि संख्या के ज्ञान का अभिप्राय अंगुलियों को उठाने से व्यभिचाररहित जाना जाता है, जिस कारण क्रय अथवा विक्रय करने वाले व्यापारी का अंगुलीविन्यास दश आदि संख्या ज्ञान द्वारा बोधक होता है, उसी प्रकार शब्द भी संकेत द्वारा अव्यभिचारित अर्थ का बोधक हो सकता है। क्योंकि प्रथम उच्चारण किये गो शब्द से वक्ता की सास्नादिमान गोरूप अर्थ के कहने की इच्छा है यह प्रतीति होती है, अर्थ की कहने की इच्छा से अर्थ का अनुमान इस प्रकार हो सकता है कि—यह गो शब्द का उच्चारण करने वाला (धर्मी), पुरुष, सास्नादि-मान् गोरूप अर्थ के कहने की इच्छा रखता है गो शब्द का उच्चारण करने वाला होने से, मेरे समान। आप्त के अभिप्राय के अनुसार ही शब्द से अर्थज्ञान होता है ऐसा यहां पर कन्दलीकार का मत है। उदयनाचार्य तो अनुमान द्वारा शब्द का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव करते हुए कहते हैं कि यह पदों का अर्थ, परस्पर सम्बन्ध-विशिष्ट है, आकांक्षादिविशिष्ट पद से स्मरण कराये जाने से, 'गो को ले आओ' इत्याकारक पदों के अर्थ के समान इस अनुमान से शब्दअनुमान में अन्तर्गत हो सकता है, सम्बद्ध पदार्थों की विशेष की अपेक्षा से सम्बन्ध के विशिष्ट होने से पदार्थ विशेष सम्बन्ध की भी सिद्धि हो जायगी। अथवा यह पद स्मरण कराये हुए पदार्थों के सम्बन्ध के ज्ञान पूर्व वाले हैं, आकांक्षादि विशिष्ट पद होते हुए उनसे स्मरण कराये जाने से, 'गामानय' 'गो को लाओ' इत्यादि पद समूह के समान इस प्रकार के अनुमान से भी शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है। इस अनुमान से 'सामान्यरूप से शब्दार्थ संसर्ग की सिद्धि होने पर भी विशेष अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती यह दोष कैसे निवृत्त होगा' ऐसी शंका के समाधान में यह उत्तर वैशेषिकमत से होता है कि संसर्ग ज्ञान के अवच्छेदक (विशेषण) होने से अर्थासिद्धि दोष न होगा। क्योंकि वह संसर्ग विषय उपाधियुक्त होता हुआ ही विशेषण हो सकता है, अतः अर्थविशेष की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षः, तद्वचनादाम्नायप्रामाण्यम् । लिंगाच्चानित्योबुद्धिपूर्वा वाक्यप्रकृतिर्वेदे, बुद्धिपूर्वो ददातिरित्युक्तत्वात् ॥

अनुपलब्धि न होगी । यहाँ पर उक्त अनुमान में संदिग्ध अथवा निश्चित संसर्ग साध्य है, इत्यादिकों का अधिक विचार किरणावली आदि ग्रंथों में विस्तृतरूप से वर्णन किया है जो उसी में देख लेना चाहिये ।

यहाँ पर पूर्व ग्रन्थ में अन्य प्रमाणों का अनुमान में अन्तर्भाव उक्त न होने के कारण 'अपि' शब्द व्यर्थ है ऐसी शंका नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमान पद के साथ सम्बन्ध है अर्थात् केवल प्रत्यक्ष में ही नहीं किन्तु अनुमान में भी अन्तर्भाव है यह अपि शब्द से सूचित होता है । प्रमाणों का विभाग तो विद्याविभाग में पूर्वकथित है, अतः यदि शब्दादि प्रमाण हो तो उक्त प्रमाणविभाग असंगत हो जायगा । इस आक्षेप के व्युदास के लिये यहाँ अन्तर्भाव प्रकरण है । तथा शब्द आदि कारकों का अनुमान सामग्री में अन्तर्भाव होने से उसके फल का भी अनुमानफल में अन्तर्भाव है यह भी ज्ञात होता है । इसमें भी शब्द है आदि जिसके इस प्रकार तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमासपक्ष में शब्द का भी लक्षण एक होने से अनुमान में अन्तर्भाव बोधित होता है, तथा अतद्गुण संविज्ञान नामक बहुव्रीहिपक्ष में शब्द को छोड़कर अन्य प्रमाणों का अनुमान में अन्तर्भाव बोधित होता है । जिसमें समान विधित्व (समान लक्षणता) हेतु भाष्य में दिया है । यहाँ व्यवहार साध्य है, लक्षण समानता हेतु है, जिससे साध्याविशेषता दोष नहीं आ सकता, इसी बात को भाष्यकार ने 'यथा लिङ्गदर्शनं' इत्यादि भाष्य में कहा है । किन्तु उक्त प्रकार से शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव होने पर भी शब्द अपनी प्रमाणता को व्यक्त करने के लिये आप्तोक्तता की आवश्यकता रखता है लैङ्गिकज्ञान उसकी अपेक्षा नहीं करता यह अनुमानप्रमाण तथा शब्दप्रमाण में भेद है, अर्थात् यह शाब्दिक ज्ञान सत्य है अथवा मिथ्या ? ऐसा संदेह होने पर यह शब्दज्ञान आप्तोक्त है या अनाप्तोक्त है ऐसे विचार की अपेक्षा करता है, और लैङ्गिकज्ञान केवल व्याप्ति तथा पक्षधर्मतादि ज्ञान की ही अपेक्षा करता है यह दोनों प्रमाणों में भेद है । इसी कारण आगे श्रुतिस्मृतिरूप शब्दज्ञान में वक्ता के प्रमाण्य की अपेक्षा भाष्य में दिखाई है कि केवल लौकिक शब्द ही नहीं किन्तु शास्त्रीय शब्द भी वक्तृप्रामाण्य की अपेक्षा रखता है, ऐसी यहाँ व्योमवतीकार ने समालोचना की है ।

पदपदार्थ—श्रुतिस्मृतिलक्षणः अपि = वेद तथा स्मृतिरूप भी, आम्नायः = आगम शब्द का भी, वक्तृप्रामाण्यापेक्षः = वक्ता के प्रमाण होने की अपेक्षा करता है, तद्वचनात् = उसमें विशिष्ट वक्ता के वचन होने से, प्रमाण्यं = प्रमाणता है । लिङ्गात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

च = और साधक लिङ्ग से भी, अनित्यः = वैदिक शब्द अनित्य है, बुद्धिपूर्वा = बुद्धिपूर्वक है, वाक्यकृतिः = वाक्यों की रचना, वेदे = वेद में, बुद्धिपूर्वा = बुद्धिपूर्वक है, ददातिः = ददाति शब्द, इति = ऐसा, उक्तत्वात् = सूत्र में कथित होने से ।।

भाषाभाष्य—यदि 'आप्त पुरुष प्रणीत होने से ही शब्द शाब्दिकज्ञान में उक्त प्रकार से प्रमाण माना जाय तो नित्य होने के कारण वेद का वक्ता न होने से वैदिक वाक्यों से शब्दबोध न होगा' इस शंका के समाधानार्थ प्रशस्तदेव कहते हैं कि केवल लौकिक शब्द ही नहीं किन्तु श्रुति तथा स्मृतिरूप भी आगम (शब्द) वक्ता के प्रमाणिक होने की अपेक्षा करता है । यदि पूर्वपक्षी मीमांसक कहे कि 'वेद के नित्यतापक्ष में ही वक्ता के अभाव से निर्दोषता होने के कारण प्रमाण हो सकेगा, पौरुषेय (पुरुषोक्त) पक्ष में तो वक्ता पुरुष में रागद्वेषादि दोष की सम्भावना होने से उसका अयथार्थ भी वचन हो सकता है, तो उसकी उक्ति प्रमाण कैसे हो सकेगी' इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि 'अस्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेः' अर्थात् हम जीवों की बुद्धियों से वह ऋषि बुद्धि का लिङ्ग है, इस सूत्र में उक्त हम जीवों से विशिष्ट पुरुषविशेषरूप ईश्वर से रचित होने के कारण वेद प्रमाण है । अर्थात् दोष न होने से प्रमाण होता है, न कि नित्य होने से, क्योंकि नित्य होने पर भी श्रोत्र तथा मन इन्द्रिय में आगन्तुक दोष से कदाचित् स्वजन्य ज्ञान में अप्रमाणता होती है तथा अनित्य होने पर भी दोषरहित चक्षु आदि इन्द्रिय प्रमाण भी माने जाते हैं और राग-द्वेषादि दोष इस पुरुषविशेष (ईश्वर) में नहीं हैं यह सिद्ध कर चुके हैं । अतः ईश्वरोक्त वेद में पौरुषेयता होने पर भी प्रामाण्य है, क्योंकि यथार्थदर्शी रागद्वेषरहित दयालु पुरुष उपदेश करने के लिए प्रवृत्त होकर असत्य उपदेश नहीं कर सकता । यदि कहो कि 'उसके वचन से वेद प्रमाण है यह कहना ही असंगत है, क्योंकि वैदिक कर्म करने के समय में कर्मकर्ताओं को कर्ता का स्मरण न होने से उसका अभाव है यह सिद्ध होता है' तो भाष्यकार कहते हैं कि वेदवाक्यों की रचना, बुद्धिपूर्वक है, वाक्यरचना होने से, लौकिक वाक्यरचना से समान इस अनुमान से भी वेद अनित्य है यह सिद्ध होता है, क्योंकि संपूर्ण शब्दों को अनित्य मानने वाले नैयायिकों के मत में वर्णसमूहरूप पद तथा पदसमूहरूप वाक्य में नित्यता हो ही नहीं सकती । इसी प्रकार वेद में उक्त ददाति शब्द, बुद्धिपूर्वक है, 'ददाति' ऐसा उक्त होने से, आनुमानिक ददाति शब्द के समान इस अनुमान से भी वेद में पुरुषोक्तत्व सिद्ध होता है । 'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीन्नाहरासीन्न च रात्रिः' इत्यादि, अर्थात् उस सृष्टि के पूर्व समय में सिवाय ईश्वर के कुछ न था इस श्रुति के प्रमाण होने से कर्मकर्ताओं को कर्मकाल में वेद के कर्ता का स्मरण न था यह असिद्ध है । इस प्रकार वेद का अनित्यत्व सिद्ध होने पर सामान्य पुरुषों के वचन दोनों प्रकार के उपलब्ध होने के कारण उनमें प्रामाण्यविशेष होने के कारण, दृष्ट अर्थ में संशय का संभव होने के कारण प्रवृत्ति होने पर भी अधिक धन तथा प्रयास से किये जाने वाले अदृष्टार्थ के कर्मों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रसिद्धाभिनयस्य चेष्टया प्रतिपत्तिदर्शनात् तदप्यनुमानमेव ॥
आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव ॥

बुद्धिमान् शिष्ट पुरुषों की प्रवृत्ति विना-प्रामाण्य निश्चय के नहीं हो सकती। इसलिये लौकिक वाक्यों में वक्ता के प्रमाण होने की आवश्यकता के समान वैदिकवाक्यों में भी प्रमाण्य होने से ही निःसन्देह कर्मकर्ताओं की प्रवृत्ति होती है यह सिद्ध होता है मीमांसकमतखण्डन किरणावली आदि ग्रंथों में देख लेना चाहिये। सूत्र—१११, २७०, १४५, ३४६, २२५.–२२७ ॥

पदपदार्थ—प्रसिद्धाभिनयस्य=जिस पुरुष को संकेत का व्याप्ति से ग्रहण हुआ हो, चेष्टया = शारीरिक व्यापाररूप चेष्टा से, प्रतिपत्तिदर्शनात = ज्ञान होने से, तत् अपि = वह भी, अनुमानं एव = अनुमानप्रमाण ही है ॥

आप्तेन = आप्तपुरुष से, अप्रसिद्धस्य=अज्ञात, गवयस्य = गवय पदार्थ के, गवा = गौ से, गवयप्रतिपादनात्=गवय पदार्थ के प्रतिपादन से, अनुमानं अपि = अनुमान भी, आप्त-वचनं एव = आगम ही है ॥

भाषाभाष्य—यद्यपि शब्द के पश्चात् उपमान का अन्तर्भाव कहना क्रमप्राप्त है; तथापि शब्दविशेषरूप चेष्टा का शब्द के प्रस्ताव में अन्तर्भाव दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं-क्योंकि कुछ विद्वान् हस्ताकुञ्चन (हस्त को सिकोड़ना) इत्यादि चेष्टा को आह्वान (आमंत्रण) आदि ज्ञान की कारण चेष्टा प्रमाणान्तर है ऐसा मानते हैं उनका मत निरास करने के लिये यह चेष्टा का अनुमानप्रणाण में अन्तर्भाव दिखाया जाता है, कि जिस पुरुष को संकेतविशेष का व्याप्ति से ग्रहण हुआ है, उस पुरुष को चेष्टा-रूप शारीरिकव्यापार से ज्ञान के दर्शनरूप होने से भी वह दर्शन (उपलभ्यमान उप-लब्ध होनेवाला) अनुमानप्रमाण का ही फल है। अर्थात् चेष्टा यदि प्रमाण हो तो उसके अन्तर्भाव का विचार हो सकता है, किन्तु वह प्रमाण ही नहीं है। वह चेष्टा कृत समय तथा अकृत समय (संकेत) ऐसी दो प्रकार है। उनमें से प्रथम वह है जो चेष्टा-कर्ता के अभिप्राय से वर्तमान शब्द के स्मरणमात्र में लिपि के समान उपयुक्त होती है, उसमें शब्द ही चेष्टा से उत्पन्न स्मरणरूप होता हुआ अर्थ में प्रमाण होता है। दूसरी अकृत संकेतरूप चेष्टा तो अविनाभाव (व्याप्ति से) भिन्न प्रमाण ही नहीं है, क्योंकि जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है इस प्रकार के उपाधिरहित सम्बन्ध के समान जहाँ तर्जनी अंगुली ऊर्ध्व होती है वहाँ दश संख्या का (पदार्थों का) स्मरण होता ही है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि भय दिखाने के लिये भी तर्जनी अंगुली ऊर्ध्व की जाती है, इस कारण व्यभिचार से स्मारक होने पर भी विना संकेत की चेष्टा प्रमाण नहीं हो सकती ॥

क्रमप्राप्त उपमान का अन्तर्भाव दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिस आर-ण्यक पुरुष को गौ तथा गवय का सादृश्य ज्ञात है, उसे जिस नगरवासी को 'गवय' नाम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दर्शनार्थादर्थापत्तिर्विरोध्येव श्रवणादनुमितानुमानम् ।

का कौन पशू होता है यह ज्ञात नहीं है उसने आरण्यक, पुरुष को गवय कैसा होता है ? यह प्रश्न करने पर गो के सादृश्य से, गो का प्रतिपादन करने से अर्थात् गो के सदृश गवय पशू होता है इत्याकारक आरण्यक-पुरुषरूप आप्त का वचन ही उपमान नामक प्रमाण होता है और उस वाक्य ही से गवय शब्द तथा गवय पदार्थ का ज्ञान भी हो जाता है, और वह आप्तवचनरूप शब्द वैशेषिक मत में अनुमान ही है, अतः उपमान भी अनुमानप्रमाण ही है। मीमांसक 'वन में गवय के दर्शन से गो का स्मरण होकर मेरी गो इसके सदृश है इस प्रकार का सादृश्य ज्ञान उपमानप्रमाण का विषय है' ऐसा मानते हैं, वह भी युक्त नहीं है क्योंकि जाति के समान प्रत्येक व्यक्ति में सादृश्य नहीं रहता, न संयोग के समान दो में पर्याप्त होता है क्योंकि गो के न देखने पर भी अरण्य में गवय पशू में यह गो सदृश है ऐसा ज्ञान होता है, इसलिये यह स्मरणरूप ज्ञान नहीं है ऐसी यहाँ श्रीधराचार्य ने कन्दली में समालोचना की है, गो सदृश में गवय शब्द वाच्यता का ज्ञान तो गवय शब्द, गो सदृश का वाचक है, दूसरे अर्थ में शक्ति के न रहते वृद्धों से गो सदृश अर्थ मे प्रयुक्त होने से घट शब्द के समान इत्यादि अनुमानप्रमाण ही है, तथा प्रत्यक्ष गवय में गवय का ज्ञान प्रत्यक्ष ही है, यह जान लेना चाहिये ॥

पदपदार्थ—दर्शनार्थात् = प्रमाणों से ज्ञात अर्थ से, अर्थापत्तिः = अन्य अर्थ का ज्ञान होना, विरोधि एव = विरोधि अनुमानप्रमाण ही है, श्रवणात् = श्रुत (सुने हुए) वाक्य से, अनुमितानुमानं = अनुमान किये हुए अर्थ का अनुमान प्रमाण है ॥

भाषाभाष्य—मीमांसकादि कुछ विद्वान् अर्थापत्ति (अर्थिक ज्ञान) को भी प्रमाणान्तर मानते हैं, उनका मत खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि प्रत्यक्ष किया हुआ अथवा सुना हुआ अर्थ अन्यथा नहीं हो सकता इस प्रकार अन्य अर्थ की कल्पना का नाम अर्थापत्ति है। जो दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति नाम से दो प्रकार की हैं। जीते हुए चैत्र नामक पुरुष को गृह में न देखकर उसकी घर के बाहर रहने की कल्पना की जाती है, क्योंकि उसके बिना उसका जीवित्व नहीं हो सकता, यह प्रथम अर्थापत्ति का उदाहरण है। इसी के खण्डन के अभिप्राय से 'दर्शनार्थात्' यह पद दिया गया है। जो दिखाई दे वह दर्शन होता है, दर्शनरूप अर्थ, अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात अर्थरूप दर्शनार्थ से अर्थान्तर (अन्य अर्थ) का कल्पना विरोधी अनुमानप्रमाण ही है। जिसका जैसा नियम होता है उसमें उसी प्रकार लिङ्गता होती है, प्रकृत में प्रमाणान्तर (दूसरे प्रमाण से) विरुद्ध ही अर्थ अर्थान्तर (दूसरे अर्थ) से व्याप्त है, अतः विरोधी ही लिङ्ग है, अतः यदि केवल अनुपपत्ति से गृह में न रहना बहिर्भाव (बाहर रहने) की कल्पना करे तो नियम का कारण न होने से दूसरे भी किसी अर्थ की कल्पना करेगा, यह तात्पर्य खण्डन का है। जिससे चैत्र नामक पुरुष घर के बाहर है, जीवित रहते घर में न रहने से, मेरे समान इस अनुमान से दृष्टार्थापत्ति का अनुमानप्रमाण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्भवोऽप्यविनाभावित्वादनुमानमेव ॥
अभावोऽप्यनुमानमेव । यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम् । एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम् ॥

में ही अन्तर्भाव हो सकता है । द्वितीय श्रुतार्थापत्ति का भी अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि पीन (मोटा-ताजा) देवदत्त नामक पुरुष दिन को भोजन नहीं करता, ऐसे लिङ्गस्वरूप सुने हुए वाक्य से अनुमान किये हुए पीनत्व से उसके कारण रात्रिभोजन का अनुमान ही है, अर्थात् उक्त वाक्य को सुनकर देवदत्त के पीनत्व की भोजन के विना अनुपपत्ति होने से रात्रिभोजन की कल्पनारूप द्वितीय श्रुतार्थापत्ति प्रमाण का भी उक्त वाक्य के श्रवण से उपरोक्त प्रकार से अनुमितानुमानप्रमाण में ही अन्तर्भाव हो सकता है, यह देवदत्त, रात्रि में भोजन करता है, मोटा-ताजा होने पर दिन को भोजन न करने से, इस अनुमानप्रमाण से हम सिद्ध कर सकते हैं । इस अनुमान से रात्रिभोजन की सिद्धि नहीं हो सकती यह नहीं कह सकते, क्योंकि आप्रोक्त उक्त वाक्य के प्रमाण होने से अनुमानविषय रात्रिभोजन भी प्रमाण मानना ही पड़ेगा, अतः श्रुतअर्थापत्ति भी अनुमानप्रमाण से भिन्न नहीं है, यह सिद्ध होता है ! उक्त अर्थापत्ति प्रत्यक्षादि षट् (छ) प्रमाणपूर्वक होने से षट् प्रकार की है जैसे (१) जलाना इत्यादि कार्य के दर्शन से वह्नि में दाहशक्ति की कल्पना प्रत्यक्षपूर्वक है, (२) धूम से अग्नि को जानकर उसकी अन्यथा अनुपपत्ति से उसके विशेष की कल्पना अनुमानपूर्वक, (३) वन में गवय को देखने के पश्चात् मेरी गौ इसके समान है यह जानकर उसके अन्यथानुपपत्ति से वाहन (ढोना) इत्यादि सामर्थ्य का ज्ञान उपमानपूर्वक, (४) रूप के उपलब्धि की अन्यथाअनुपपत्ति से ज्ञात चक्षु इन्द्रिय की रूपज्ञान जनकशक्ति की कल्पना अर्थापत्तिपूर्वक अर्थापत्ति: (५) जीते हुए देवदत्त के गृह में नहीं है, इस वाक्य से गृह में असत्ता को जानकर उसकी अन्यथानुपपत्ति से बाहर रहने की प्रतिपत्ति शब्दपूर्वक तथा (६) प्रमाणपंचक के व्यावृत्ति से देवदत्त के गृह में असत्ता को जानकर उसकी अन्यथानुपपत्ति से बहिर्देश में सम्बन्ध की कल्पना करना ऐसी अभावपूर्वक अर्थापत्ति ऐसे छ भेद अर्थापत्तिप्रमाणवादियों के मत में हैं, ऐसा व्योमवतीकार ने कहा है ॥

पदपदार्थ—संभवः अपि = संभव नामक प्रमाण भी, अनुमानं एव = अनुमानप्रमाण ही है । अभावः अपि = अनुपलब्धि नाम का प्रमाण भी, अनुमानं एव = अनुमानप्रमाण ही है । यथा = जिस प्रकार, उत्पन्नं = उत्पन्न हुआ, कार्यं = कार्य, कारणसद्भावे = कारण के सद्भाव में, लिङ्गं = अनुमापक होता है, एवं = इसी प्रकार, अनुत्पन्नं = न उत्पन्न, कार्यं = कार्य, कारणासद्भावे = कारण के अभाव में, लिङ्गं = अनुमापक लिङ्ग होता है ॥

भाषाभाष्य—इसी प्रकार हजार में सौ का सम्भव है इस प्रकार संभव नामक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रमाणान्तर से सहस्रसंख्या से शतसंख्या का ज्ञान होता है ऐसा कुछ विद्वानों का मत है जिसके निरासार्थ भाष्यकार कहते हैं कि अविनाभाव (व्याप्ति) के होने से यह शतसंख्यावान् है, सहस्रसंख्यावान् होने से शतसंख्या के व्याप्य (न्यून) पंचाशत् (पचास) संख्यावाले फलसमूह के समान इस प्रकार के अनुमान प्रयोग से प्रदर्शित संभव नामक प्रमाण का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव है अतः उसे प्रमाणान्तर मानने की आवश्यकता नहीं है।

संभव के प्रमाणान्तर न होने पर भी अभाव (अनुपलब्धि) नामक प्रमाण में दूसरे प्रमाणरूप होने की सम्भावना न होने से उसे प्रमाणान्तर मानना पड़ेगा, इस प्रकार अभाव को प्रमाणान्तर मानने वाले मीमांसकादि मत का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि अभाव भी अनुमानप्रमाण में अन्तर्गत है, अपि शब्द से स्थलविशेष में प्रत्यक्ष-प्रमाण में भी अन्तर्गत हो सकता है, अतः अभाव पृथक् प्रमाण नहीं हो सकता। यदि पूर्वपक्षी शंका करे कि 'अभाव का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं है, और केवल सत्तामात्र से व्यापार करनेवाला कहीं लिङ्ग नहीं होता' इसके उत्तर में भाष्यकार अभाव का अनुमानप्रमाणरूप होने में दृष्टान्त द्वारा अभावप्रमाण में अनुमानता की सिद्धि करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार घटादि कार्य अपनी उत्पत्ति से दण्ड, चक्र, कुलाल आदि कारण सामग्री की पूर्व में सत्ता की सिद्धि करता है, उसी प्रकार अनुत्पन्न कार्य अर्थात् घटादि कार्य का उत्पत्ति के पूर्व में वर्तमान प्रागभाव भी उक्त सामग्री के अभाव में ज्ञापक लिङ्ग होता है, अर्थात् कार्य से उसके पूर्व कारण सामग्री वर्तमान थी, यह जैसे अनुमान से सिद्ध होता है, उसी प्रकार घटादि कार्य के प्राक् अभाव से उसकी कारण सामग्री न थी इस प्रकार अभाव की अनुमान से सिद्धि भी हो सकती है। अतः अभाव अनुमानप्रमाण में ही अन्तर्गत है, अतिरिक्त प्रमाण नहीं है। किसी पदार्थ का अभाव प्रत्यक्ष सिद्ध होता है तथा किसी पदार्थ का अभाव अनुमान से सिद्ध होता है ऐसी लोकप्रसिद्धि भी है। जो अभाव को अतिरिक्त प्रमाण मानता है उसके मत में भी केवल पदार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति न होने से ही प्रमेयरूप अभाव का ज्ञान नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने से अत्यन्त दूरवर्ति पदार्थ का ज्ञान न होने से उसका भी अभाव सिद्ध हो जायगा किन्तु ज्ञान के कारणों के रहते ज्ञानयोग्य पदार्थ का ज्ञान न होना उसके अभाव के ज्ञान का कारण होता है। ज्ञान के अयोग्य पदार्थ के अनुपलंभ से, ज्ञानयोग्य पदार्थ के अनुपलंभ मे कोई स्वरूप से विशेषता नहीं है, क्योंकि अभाव में कोई अतिशय नहीं होता। इस कारण अभाव (अनुपलब्धि) अपनी शक्ति से इन्द्रियों के समान पदार्थ के अभाव का बोधक नहीं है, किन्तु ज्ञानयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि ही ज्ञेयविषय पदार्थ से अव्यभिचरित होती है और ज्ञान के अयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि तो ज्ञेयविषय पदार्थ का व्यभिचार रखती है, अतः यह सिद्ध होता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि ज्ञानयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि ही उस पदार्थ के अभाव की साधक हो सकती है, न कि अयोग्यानुपलब्धि। इस कारण अविनाभाव ज्ञान की अपेक्षा करने के कारण अनुपलब्धिरूप अभावप्रमाण लिङ्ग (अनुमान) ही है, यदि व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा न करें तो अनवस्थादोष आ जायगा तथा भावपदार्थों के ज्ञान के समान पदार्थ के अभाव ज्ञान में भी चक्षु आदि इन्द्रियों का संनिकर्ष कारण है, अतः अभाव भी प्रत्यक्ष ही है। क्योंकि भावरूप पदार्थों के साथ ही इन्द्रियों का संनिकर्ष होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। कार्य से योग्यता बोधित होती है, अतः जिस प्रकार भावरूप पदार्थ में इन्द्रियों के अन्वय (इन्द्रिय के सम्बन्ध के रहते भावपदार्थ का ज्ञान होना) तथा न रहते न होना रूप व्यतिरेक से भावपदार्थ ज्ञानरूप कार्य होता है, उसी प्रकार पदार्थ के अभाव के ज्ञान में भी। इसलिये भावपदार्थ के समान पदार्थ का अभाव भी इन्द्रिय से ग्रहण योग्य ही है। इसी कारण उक्त कार्य के दर्शन से विशेषण विशेष्यभावादि रूप सन्निकर्ष भी इन्द्रियों का अभाव में नैयायिकों से स्वीकार किया है॥

यहां पर कुछ विद्वान् ऐसा आक्षेप भाष्यकार पर करते हैं कि 'प्रशस्तपाद ने अभाव की प्रमेयविद्या में जब गणना ही नहीं की तो उसके लिए उपलब्धि के अभावरूप प्रमाण का विचार करना भाष्य में असंगत है', तो उन्हें हम ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि 'नास्ति' नहीं है इस प्रतीति का कोई विषय आलम्बन है अथवा नहीं ? यदि नास्ति इस सर्वजन प्रसिद्ध ज्ञान को द्वितीय पक्षानुसार निर्विषय माना जाय, तो निर्विषय विज्ञान मानने से आपकी बुद्धि (प्रतिभा) की पराकाष्ठा ही माननी पड़ेगी, क्योंकि कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता। प्रथमपक्ष में यदि भूतलादिक को उक्त प्रतीति का आलम्बन माना जाय तो कण्टक (कांटे) से भरे हुए भी भूतल पर कण्टक नहीं है ऐसा ज्ञान और उस ज्ञान से निःसंदिग्ध गमन-अगमनरूप व्यापार भी होने लगेगा। अभावरूप प्रमेय न माननेवाले के मत में 'भावरूप पदार्थ ही एकाकी (केवल) और द्वितीय सहित है, ऐसी अवस्थाओं का अनुभव करती है। जिसमें एकाकिता भावपदार्थ का स्वरूपमात्र अथवा केवलता माननी पड़ेगी और उस अवस्था में ग्रहण करने की इच्छा के विषय घटादि पदार्थ की उपलब्धि न होने के कारण 'घट नहीं है' ऐसा व्यवहार होता है, अतः अभावरूप प्रमेय मानने की क्या आवश्यकता' ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वपक्षी यह हमें बतलावे कि घटादि भावपदार्थ के अभाव तथा भूतल को छोड़कर एकाकी शब्द का वह क्या अर्थ मानता है ? जिसे वह 'नास्ति' नहीं है इस बुद्धि का आलम्बन मानता हो, क्योंकि बिना विषय की विलक्षणता के ज्ञान में विलक्षणता नहीं आ सकती। यदि कहो कि 'भावपदार्थ की स्वभाविक एकता ही एकाकिता है' तो यह एकत्व प्रतियोगि (विरोधी) का न रहना है अथवा एकत्व संख्या। जब तक आधार है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तब तक रहने वाली एकत्व संख्या तो भावपदार्थ से द्वितीय अवस्था में वर्तमान ही है। यदि प्रतियोगिराहित्य ही स्वाभाविक एकता कही जाय, तब तो अभावरूप प्रमेयान्तर (दूसरा प्रमेय) सिद्ध हो ही गया।

वह अभाव प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव नाम से चतुर्विध है। निःश्रेयस के कारण पदार्थों के तत्त्वज्ञान का निरूपण करने वाले प्रशस्तदेवाचार्य ने यद्यपि अभाव की उपेक्षा की है, तथापि सूत्रकार कणाद महर्षि के मत से सर्वथा अभाव पदार्थ अभिमत है। इस प्रकार स्वर्गस्थ भूतपूर्व वाराणसेय राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाध्यापक महामहोपाध्याय महाशय नाम से प्रसिद्ध हमारे परमगुरुवर श्रीकैलासचन्द्र शिरोमणी ने प्रशस्तपादभाष्य समालोचना नामक छोटे से निबन्ध में सिद्धान्त किया है उक्त विषय चौखम्बा संस्कृत सीरीज विद्याविलास प्रेस में मुद्रित पुस्तक में पाठकों को स्वयं देख लेना चाहिये।

कार्य की अनुत्पत्ति, कारणाभाववती है, कार्यानुत्पत्ति होने से, उभय पक्ष को अभिमत कार्य के अनुत्पत्ति के समान. इस प्रकार अनुमानप्रमाण से अनुपलब्धि नामक प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है तथा प्रत्यक्षादि सामग्री में प्रतिबन्धक का अभाव होने से प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी अभाव का अन्तर्भाव हो सकता है। यदि सत्भावपदार्थ के ज्ञानजनक प्रत्यक्षादि प्रमाणपंचक के न होने से भावपदार्थ के अभाव का ग्रहण होता है इसलिये अभाव को प्रमाणान्तर माना जाय, क्योंकि जिस प्रकार भावांश ज्ञान में भाव का व्यापार होता है, उस प्रकार उसके अभाव के ज्ञान में अभाव का भी व्यापार मानना आवश्यक है, क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, सम्बन्धी के ग्रहण की अपेक्षा होने से अनुमानप्रमाण से भी अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, इसी प्रकार शब्द का भी उक्त हेतु से अभावज्ञान में सामर्थ्य नहीं हो सकता, उपमान तथा अर्थापत्ति का तो उसमें व्यापार ही नहीं है, अतः प्रमाणपंचक के अभाव ही से अभावरूप प्रमेय का ग्रहण होता है, इस कारण अनुपलब्धिरूप अभाव भी प्रमाणान्तर अवश्य मानना पड़ेगा ऐसा यहां आक्षेप पूर्वपक्षी करे, तो यह आक्षेप युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही अभाव का ज्ञान होता है, क्योंकि इन्द्रिय व्यापार से 'यहां घट नही है' ऐसा घटाभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राणिमात्र को होता है। यदि इन्द्रिय का केवल भूतल के ज्ञान में व्यापार मानें तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम विशेषणज्ञान होकर पश्चात् विरोध का ज्ञान होता है, प्रकृत में भूतल विशेष्य है इसलिये उसका प्रथम ज्ञान नहीं हो सकता। यदि मान भी लें तब भी यदि भूतलमात्र के ग्रहण होने पर घटरूप प्रतियोगी का स्मरण हो तो घटवाले भूतल की उपलब्धि होने पर भी उसका स्मरण होकर 'घट नहीं है' ऐसा ज्ञान होने लगेगा। अतः पूर्वपक्षी का आक्षेप अयुक्त है, तस्मात् अभाव का अनुमान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथैवैतिह्यमप्यवितथमाप्तोपदेश एवेति ॥

पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम् । पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं विज्ञेयम् ॥

ही में उक्त रीति से अन्तर्भाव युक्त है ऐसी यहाँ पर व्योमशिवाचार्य ने विस्तृत समालोचना की है । जिसे पाठकों को स्वयं व्योमवती में देख लेना चाहिये ॥

पदपदार्थ—तथा एव = उसी प्रकार से, ऐतिह्यं अपि = इतिहास भी, अवितथम् = सत्य, आप्तोपदेश: = आप्तपुरुष से उपदिष्ट आगम ही है ॥

पंचावयवेन—पाँच अवयव वाले वाक्येन = वाक्य से, स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं = अपने से निश्चित अर्थ का प्रतिपादन करना, परार्थानुमानं = दूसरा परार्थानुमान कहाता है । पंचावयवेन एव = पाँच अवयव वाले ही वाक्येन = वाक्य से, संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां = संदेही, मिथ्याज्ञानी तथा अव्युत्पन्न (मूढ़), परेषां = दूसरे पुरुषों को, स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनम् = स्वय निश्चय किये विषय को प्रतिपादन करना, परार्थानुमानं = परार्थ नामक अनुमानप्रमाण, विज्ञेयम् = जानना चाहिये ॥

भाषाभाष्य—पौराणिकों को अभिमत ऐतिह्य नामक प्रमाण का अन्तर्भाव कहते हैं कि ऐतिह्य भी अतिरिक्त प्रमाण नहीं है । यहाँ पर 'इति' तथा 'ह' इन दोनों निपातों का अर्थ है 'पुरावृत्त' अर्थात् पूर्व में हुआ वृत्तान्त, उसका धर्म ही ऐतिह्य (इतिहास) नामक प्रमाण जो पौराणिकादिकों ने माना है यह यदि असत्य (प्रमाणान्तर से बाधित) हो, तो प्रमाण ही न होगा, और यदि सत्य हो तो यथार्थ वक्ता से प्रतिपादित होने से आगम (शब्द) प्रमाण में अन्तर्गत होगा, जिसका वैशेषिक मत में अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव होने के कारण ऐतिह्य प्रमाणान्तर नहीं हो सकता ॥

लैङ्गिक ज्ञान में, पूर्वप्रदर्शित स्वार्थानुमान में शब्दादिकों का प्रत्यक्ष तथा अनुमानरूप दो प्रमाणों में प्रसंग से अन्तर्भाव दिखाकर दूसरे परार्थानुमान के प्रकार का भाष्यकार वर्णन करते हैं कि पंचावयव वाक्य से स्वयं निश्चय किये साध्यसिद्धि का दूसरे पुरुष को निश्चय कराना ही परार्थानुमान कहा जाता है । यद्यपि यहाँ पर ऐसी शंका हो सकती है कि 'पूर्वोक्त रीति से हम अनुमान को तो मानेंगे किन्तु उसमें पंचावयव वाक्य की सहायता नहीं मानेंगे, क्योंकि उसके विना भी अनुमान हो सकता है । स्वयं अनुमान करनेवाला उसके विषय में अप्रतिपन्न (मूढ) तो है नहीं, यदि हो तो वह दूसरे को कैसे स्वनिश्चित साध्यसिद्धि का प्रतिपादन करेगा' इस शंका के समाधानार्थ पंचावयवेन इत्यादि भाष्य ग्रन्थ है ऐसा यहाँ उदयनाचार्य का अवतरण जानना, 'अर्थ्यतेऽनेन इति अर्थः' अर्थात् जिससे अन्य अर्थ का बोध हो उसे अर्थ कहते हैं इस व्युत्पत्ति से, स्वयं निश्चित अर्थात् साध्य के अविनाभाव (व्याप्ति) से ग्रहण किये लिङ्ग (हेतु) को प्रतिपादन करनेवाला दूसरे के सन्देह आदि को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निवृत्त करनेवाला परार्थ नामक द्वितीय अनुमान है । किस रूप से उसमें प्रतिपादकता है यही 'पंचावयवेनैव' इत्यादि विवरण भाष्य में कहते हैं। यहाँ 'इत्यंभूत-लक्षण' में तृतीयाविभक्ति है जिससे पंचावयवरूप वाक्य ऐसा अर्थ होता है । अथवा निश्चित अनुमेय (साध्य) का जिससे ज्ञान हो ऐसे लिङ्गप्रतिपादनरूप अवान्तर व्यापार वाले स्मरण मार्ग में समारूढ पंचावयव वाक्य से जो वाक्य परार्थ होता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं। इस पक्ष में साध्यज्ञान शब्दजन्य होने पर भी केवल शब्द के कारण न होने से वह शाब्दज्ञान नहीं हो सकता यह ध्यान में रखना चाहिये । केवल दो या तीन अवयव मानने वाले बौद्धादिमत के निरासार्थं स्वयं उक्त-भाष्य की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि विषय में संदेह रखनेवाले, मिथ्या ज्ञानवान् तथा अव्युत्पन्न (मूढ) ऐसे तीनों प्रकार के लोग तत्त्वज्ञान न होने के कारण प्रतिपादन योग्य हैं, जो पुरुष जिस समय जिन पदों का प्रयोग करता है वह उन पद तथा पदार्थों के संसर्ग ज्ञान का अभिप्राय अवश्य रखता है, इस प्रकार अपनी आत्मा में ही नियम का ग्रहण होने के पश्चात् पदसमूह के प्रयोग से उसके वक्ता के उस पदार्थ के ससर्ग प्रतिपादन के अभिप्राय के ज्ञान द्वारा पदों से वाक्यार्थ का अनुमान होता है, अतः वाक्यार्थ शाब्दिक नहीं हो सकता यह यहाँ पर भाष्यकार का गूढ़ अभिप्राय है । 'निरवयव स्फोट के शब्दरूप होने से पंचावयव वाक्य उसके अर्थज्ञान को कैसे उत्पन्न कर सकता है' यह यहाँ पर आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि औपाधिक ही अभिन्नार्थक ज्ञान मानते हैं । एक अर्थ की प्रतीति का कारण होना ही उपाधि है, वर्णों के अनित्य क्षणिक होने पर भी नियत आनुपूर्वी (क्रम) विशिष्ट वर्णों का स्मरण अन्तिम वर्ण के अनुभव काल में होकर एक अर्थ की प्रतीति का स्मर्यमाण वर्ण ही कारण हो सकता है जिससे स्फोट मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । पद प्रक्रिया का विस्तार किरणावली आदि ग्रथों में स्वयं देख लेना चाहिये ।।

यहां पर स्फोटवादि वैयाकरणों का ऐसा अभिप्राय है कि 'पंचावयव वाक्य' से यह भाष्य असंगत है, क्योंकि वाक्य निरवयव होते हैं, अतः क्रम से उत्पन्न होकर शीघ्र विनाशी वर्ण समुहित होकर अर्थ कर प्रतिपादक नहीं हो सकते, यदि पृथक् वर्णों से अर्थबोध माना जाय तो एक ही वर्ण से अर्थबोध होने के कारण दूसरे वर्णों का उच्चारण करना व्यर्थ हो जायगा, शब्दों के उच्चारण से अर्थबोध होता है यह तो अनुभव-सिद्ध है अतः अर्थबोध के अन्यथा अनुपपत्ति के कारण वर्ण समुदाय से भिन्न स्फोट मानना ही पड़ेगा । इसी प्रकार 'गौः' इत्याकारक शब्दोच्चारण से श्रोत्रेन्द्रियजन्य एकाकार ज्ञान भी होता है यह देखने में आता है, यह ज्ञान संशय या मिथ्याज्ञान-रूप न होने के कारण अवयवविज्ञान के समान एक गोरूप पदार्थ के बिना नहीं हो सकता, वर्ण का उच्चारण स्फोट को अभिव्यक्त करने के लिये किया जाने से व्यर्थ नहीं हो सकता, अतः स्फोट मानना आवश्यक है । नैयायिक इस स्फोटवाद का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२०) अवयवप्रकरणम् ।

अवयवाः पुनः-प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः । तत्रानुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा । प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा । यथा द्रव्यं वायुरिति ।

इस प्रकार खण्डन करते हैं कि यह वैयाकरण मत असंगत है, क्योंकि अपने अनुभव की सहायता से पूर्व-पूर्व वर्णों को अनुभवजन्य स्मरण के अनुग्रह से अन्तिम वर्ण ही अर्थ का बोधक हो सकता है, स्फोट मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थात् 'ग' द्रव्यादि एक वर्ण का ज्ञान होकर उससे संस्कार उत्पन्न होने के पश्चात् द्वितीय 'ओ' वर्ण का ज्ञान होकर पूर्ववर्ण के संस्कार की सहायता से उससे भी संस्कार उत्पन्न होकर अन्तिम विसर्गरूप वर्ण का ज्ञान होता है, उससे पूर्वसंस्कारों से अभिव्यक्त संपूर्ण वर्णों का स्मरण होकर अन्तिमवर्ण से गोरूप अर्थ का ज्ञान होता है, अतः वर्णातिरिक्त अर्थबोधक स्फोट अधिक मानना असंगत है, स्फोटवादियों को भी उसकी अभिव्यक्ति उक्त प्रक्रिया से वर्ण द्वारा ही माननी होगी, तब मध्य में एक अकिञ्चित्कर स्फोट क्यों माना जाय ।।

(२०) अवयवप्रकरण

पदपदार्थ—अवयवाः पुनः = और वह अवयव हैं, प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसंधानप्रत्याम्नायाः = प्रतिज्ञा १, हेतु २, उदाहरण ३, उपनय ४, निगमन ५ नामक । तत्र = उनमें से, अनुमेयोद्देशः = प्रतिपादन के लिए इष्ट धर्मविशिष्टधर्मी का कथन है, अविरोधी = जो प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरोध न रक्खे, प्रतिज्ञा = प्रतिज्ञा नामक प्रथम अवयव है। प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य = प्रतिपादन की इच्छा के विषय धर्म से युक्त, धर्मिणः = आधार का, अपदेश विषयं = हेतु की विषयता को, अपदयितुं = प्राप्त करने के लिये, उद्देशमात्रं = केवल उद्देश होती है, प्रतिज्ञा = प्रतिज्ञा नामक प्रथम अवयव। यथा = जिस प्रकार, दव्यं = द्रव्य है, वायु = वायु, इति = इस प्रकार प्रतिज्ञा है ।।

भाषाभाष्य—'पंचावयवं वाक्यं' पांच अवयववाला वाक्य इसमें वाक्यरूप विशेष्य के ज्ञान के लिये विशेषण पांच अवयवों को भाष्यकार कहते हैं कि प्रतिज्ञा, अपदेश (हेतु), निदर्शन (उदाहरण), अनुसंधान (उपनय), प्रत्याम्नाय (निगमन); ऐसे वैशेषिक मत में पाँच ही अवयव हैं न कि दिङ्नाग आदि बौद्ध तथा जैन दार्शनिकों को अभिप्रेत जिज्ञासा इत्यादि दश अवयव, इसी बात की सूचना के लिये पुनः शब्द का भाष्यकार ने प्रयोग किया है। उन पांच अवयवों में क्रमप्राप्त प्रतिज्ञा का लक्षण भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अविरोधी अनुमेय के (साध्यधर्मविशिष्टधर्मी के) कथन का नाम है प्रतिज्ञा। अनुमेयोद्देश होने से जो कार्य होता है वह अनित्य होता है इसमें प्रतिज्ञा लक्षण की अतिव्याप्ति के वारणार्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति । यथाऽनुष्णोऽग्निरिति प्रत्यक्षविरोधो, घनमम्बरमित्यनुमानविरोधो, ब्राह्मणेन सुरा पेयेत्यागमविरोधो, वैशेषिकस्य सत्कार्यमिति ब्रुवतः स्वशास्त्रविरोधी, न शब्दोऽर्थप्रत्यायक इति स्ववचनविरोधी ॥

अनुमेय शब्द का भाष्यकार अर्थ करते हैं कि साधन करने की इच्छा के विषय धर्म से युक्त धर्मी का । अस्तित्वादि धर्म की अपेक्षा से सभी धर्मी धर्मविशिष्ट होते हैं अतः प्रतिपादन की इच्छाविषय धर्मविशिष्ट धर्मीपक्ष का केवल साधकहेतुरहित वचन प्रतिज्ञा नामक अवयव कहलाता है । किन्तु बिना साधक हेतु के उक्त प्रतिज्ञावचन कोई कार्य नहीं कर सकता इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि अपदेश विषय को प्राप्त करने के लिये, प्रतिज्ञा किये हुए जिस किसी में साध्यसाधन के लिये हेतु का प्रयोग किया जाता है, जो हेतु स्वयं सिद्ध है, किन्तु किसी नियतपक्षरूप धर्मी में उस हेतु का यदि कथन न हो तो निराश्रय हेतु की प्रवृत्ति न होगी और उसकी प्रवृत्ति न होने से साध्यसिद्धि न होगी, अतः प्रतिज्ञा से (जो धर्मी के ग्राहकप्रमाण को दिखाती है) हेतु का आधार धर्मीरूप उपस्थित किया जाता है, इस कारण आश्रम के उपदर्शन के द्वारा हेतु को प्रवृत्त कराने वाली उक्तस्वरूप प्रतिज्ञा साध्यसिद्धि का अग है, यह सिद्ध होता है इसी वास्ते न्यायभाष्यकार ने कहा है 'असत्यां प्रतिज्ञायामनीश्रया हेत्वादयो न प्रवृत्तेरन्निति' अर्थात् विना प्रतिज्ञा के निराधार हेतु आदि अवयवों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । उक्त प्रतिज्ञा का उदाहरण भाष्यकार दिखाते हैं कि जैसे वायु द्रव्य है यह प्रतिज्ञा वाक्य है । अर्थात् वायु को जानने वाले भी जिस पुरुष को उसके द्रव्य-पदार्थ होने में संदेह है उसके लिये साधनेच्छा विषय द्रव्यत्व विशिष्ट वायु का अभिधान वायु द्रव्य है ऐसा वाक्य प्रतिज्ञा नामक अवयव होता है ॥ सू. ३४२ ॥

पदपदार्थ—अविरोधिग्रहणात् = अविरोधि पद के ग्रहण से, प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनः = प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण, अभ्युगत (आगम) के विरोधी तथा स्वशास्त्र के विरोधी तथा स्ववचन के विरुद्ध प्रतिज्ञाओं का, निरस्ताः = निराकरण, भवन्ति = हो जाता है । यथा = जिस प्रकार, अनुष्णः = उष्ण नहीं है, अग्निः = अग्नि, इति = ऐसी प्रतिज्ञा, प्रत्यक्षविरोधी = प्रत्यक्ष-प्रमाण से विरुद्ध है, घनं = घन, अम्बरं = आकाश है, इति = यह प्रतिज्ञा, अनुमान-विरोधी = अनुमानप्रमाण से विरुद्ध है, ब्राह्मणेन = ब्राह्मण ने, सुरा = मदिरा, पेया = पीना चाहिये, इति = ऐसी प्रतिज्ञा, आगमविरोधी = शब्दप्रमाण से विरुद्ध है । वैशेषिकस्य = न्यायवैशेषिकमतावलम्बी, सत् = सत है, कार्यं = कार्य, इति = ऐसी प्रतिज्ञा को, ब्रुवतः = करनेवाले की प्रतिज्ञा, स्वशास्त्रविरोधी = अपने वैशेषिक-शास्त्र के विरुद्ध है, न = नहीं है, शब्दः = शब्द, अर्थप्रत्यायकः = अर्थ का बोधक, इति = ऐसी प्रतिज्ञा, स्ववचन विरुद्ध होती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२१) अपदेशप्रकरणम् ।

लिङ्गवचनमपदेशः । यदनुमेयेन सहचरितं तत्समानजातीये सर्वत्र सामान्येन प्रसिद्धं तद्विपरीते च सर्वस्मिन्नसदेव तल्लिङ्गमुक्तं, तस्य वचनमपदेशः ।

भाषाभाष्य—अनुमेयोद्देशरूप प्रतिज्ञा के लक्षण में दिये हुए अविरोधि पदरूप विशेषण का फल देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि वादी जिस अर्थ की सिद्धि करना चाहता हो उसे साध्य कहते हैं किन्तु कदाचित् भ्रम, प्रमाद इत्यादि दोष से प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध भी अर्थ की सिद्धि करना चाहें तो प्रत्यक्षादि विरुद्ध भी वचन प्रतिज्ञा नामक अवयव कहा जायगा उसके निरासार्थं अविरोधी ऐसा विशेषण दिया गया है। अर्थात् वादी को अभिमत होने से ही साध्यता नहीं होती किन्तु साधन के योग्य में और वही पक्ष कहाता है। उससे भिन्न पक्षाभास होता है। क्रम से प्रत्यक्षादि विरुद्ध प्रतिज्ञाओं का उदाहरण देते हैं जिसमें किसी वादी की 'वह्नि उष्ण नहीं है' यह प्रतिज्ञा स्पर्शन प्रत्यक्ष से अग्नि में उष्णता का ग्रहण होने के कारण प्रत्यक्ष विरुद्ध है (१)। आकाश घन (निविडावयव-घना) है यह प्रतिज्ञा आकाशस्वरूप धर्मी के ग्राहकप्रमाण से सिद्ध आकाश में नित्यता तथा निरवयवत्व होने के कारण अनुमानप्रमाण से विरुद्ध है (२)। ब्राह्मण को क्षीर के समान मदिरा पीनी चाहिये ऐसी प्रतिज्ञा अर्थात् जिस प्रकार आगम में ब्राह्मण को दुग्ध पीने से पापफल नहीं होता ऐसा वर्णन किया है, उसी प्रकार उसी आगम ने मदिरा पीने से पापफल होता है यह भी वर्णन किया है इस कारण ब्राह्मण ने 'मदिरापान करना चाहिये' यह प्रतिज्ञा दृष्टान्तग्राहक प्रमाण विरुद्ध होने से आगम विरुद्ध है (३)। वैशेषिक मत में पूर्व में असत् घटादि कार्य उत्पन्न होता है ऐसा प्रतिपादित होने के कारण सांख्यमतानुसार कार्य पूर्व में सत् उत्पन्न होता है ऐसी प्रतिज्ञा स्वशास्त्र के विरुद्ध है (४)। 'शब्द से अर्थ का ज्ञान नहीं होता' यह प्रतिज्ञा स्ववचन विरुद्ध है क्योंकि यदि शब्द से अर्थज्ञान न होता हो तो अर्थज्ञान के लिये किया शब्दप्रयोग न बन सकेगा और यदि अर्थज्ञान के लिये शब्द प्रयोग किया जाता है तो शब्द से अर्थज्ञान होता है यह सिद्ध हो जाता है इस कारण 'शब्द अर्थबोधक नहीं है' यह प्रतिज्ञा अपने (कहनेवाले के) ही वचन की व्याघात की कारण होने से स्ववचन विरुद्ध है (५) ॥ सू० १३१ ॥

(२१) अपदेशप्रकरण

पदपदार्थ—लिङ्गवचनं = लिङ्ग का वचन, अपदेशः = अपदेश कहाता है। यत् = जो, अनुमेयेन = अनुमानयोग्य पक्ष के साथ, सहचरितं = वर्तमान हो, तत्समानजातीये = उसके समान जाति के अर्थात् साध्य के अधिकरण सपक्ष में, सर्वत्र = सर्व में, सामान्येन = सामान्यरूप से, प्रसिद्धं = वर्तमान हो, तद्विपरीते च = और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा क्रियावत्त्वाद्गुणवत्त्वाच्च तथा च तदनुमेयेऽस्ति तत्समानजातीये च सर्वस्मिन् गुणवत्त्वमसर्वस्मिन् क्रियावत्त्वम् । उभयमप्येतदद्रव्ये नास्त्येव तस्मात् तस्य वचनमपदेश इति सिद्धम् ।

(२२) हेत्वाभासप्रकरणम् ।

एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तम्भवति ।

उस साध्य से रहित, सर्वस्मिन् = संपूर्ण विपक्षों में, असत् एव = अवर्तमान ही हो, तत् = वह, लिङ्गं = लिङ्ग (हेतु) उक्तं = कहा गया है, तस्य = उसका, वचनं = वचन, अपदेशः = अपदेश कहाता है । यथा = जिस प्रकार, क्रियावत्त्वात् = क्रियावान् होने से, गुणवत्त्वात् च = गुणवान् होने से, तथा च = और तत् = वह, अनुमेये = अनुमानयोग्य वायु में, अस्ति = है, तत्समानजातीये च = और उसके समान जाति के द्रव्य में, सर्वास्मिन् = सम्पूर्ण में, गुणवत्त्वं = गुणाधारता है, असर्वस्मिन् = असंपूर्ण में, क्रियावत्वं = क्रिया धारता है । उभयं अपि = यह गुणवत्त्व तथा क्रियावत्त्व दोनों भी, एतत् = यह, अद्रव्ये = द्रव्य भिन्न पदार्थ में, न अस्ति एव = नहीं ही है, तस्मात् = इस कारण, तस्य = उसका, वचनं = वचन, अपदेशः = अपदेश कहाता है । इति = यह, सिद्धं = सिद्ध है ।।

भाषाभाष्य—इस प्रकार प्रतिज्ञा निरूपण के पश्चात् क्रमप्राप्त हेतुस्वरूप वर्णन करते हैं कि लिङ्ग का वचन अपदेश कहा जाता है, अर्थात् जो साध्यविशिष्ट धर्मिरूप पक्ष में वर्तमान हो उसके समान जाति के अर्थात् निश्चित साध्य के आश्रय सम्पूर्ण सपक्षों में सामान्यरूप से प्रसिद्ध हो, तथा उससे विपरीत निश्चित साध्याभावाधिकरण सम्पूर्ण विपक्षों में नहीं ही रहता हो उसे लिङ्ग (सद्धेतु) कहते हैं । जिस प्रकार वायु द्रव्य पदार्थ है, क्रिया तथा गुणों का भी आश्रय होने से इस अनुमान कि 'वायु द्रव्य है' इस प्रतिज्ञा में क्रियावत्त्व तथा गुणवत्त्वरूप दो हेतुओं का वचन ही अपदेश (सद्धेतु) है, जिन दोनों का उपन्यास सपक्ष के एकदेश में वर्तमान तथा सपक्ष में व्यापक हेतु होता है सूचित करता है । इस सद्धेतु के लक्षण का लक्ष्य में समन्वय दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि वह गुणवत्त्व वायुरूप पक्ष में उसके समान जाति के सम्पूर्ण घटादि सपक्षों में वर्तमान है तथा सपक्ष के एकदेश में (मूर्त द्रव्यमात्र में) क्रियावत्त्व हेतु है । यह दोनों क्रियावत्त्व और गुणवत्त्व सम्पूर्ण द्रव्य भिन्न गुण आदि विपक्षों में अवर्तमान है इस कारण क्रियावत्त्व तथा गुणवत्त्व दोनों द्रव्यतासाधक सद्धेतु हैं यह सिद्ध होता है । सू० ३४२–३४३ ॥

(२२) हेत्वाभासप्रकरण

एतेन = इस अपदेश (सद्धेतु) कथन से, असिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानां = असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध तथा अनध्यवसित (अनिश्चित) हेतु वचनों का, अनपदेशत्वं = असद्धेतुता, उक्तं = कही, भवति = जाती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तत्रासिद्धश्चतुर्विधः—उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धः तद्भावासिद्धोऽनुमेयासिद्धश्चेति।

तत्रोभयासिद्धः—उभयोर्वादिप्रतिवादिनोरसिद्धः यथाऽनित्यः शब्दः सावयवत्वादिति। अन्यतरासिद्धः—यथाऽनित्यः शब्दः कार्यत्वादिति। तद्भावासिद्धो—यथा धूमभावेनाग्न्यधिगतौ कर्तव्यायामुपन्यस्यमानो वाष्पो धूमभावेनासिद्ध इति। अनुमेयासिद्धो—यथा पार्थिवं द्रव्यं तमः कृष्णरूपवत्त्वादिति।

यो ह्यनुमेयेऽविद्यमानोऽपि तत्समानजातीये सर्वस्मिन्नास्ति तद्विपरीते चास्ति स विपरीतसाधनाद्विरुद्धः यथा यस्माद्विषाणी तस्मादश्व इति।

तत्र = उस चारों हेत्वाभासों में, असिद्धः = असिद्ध नामक हेत्वाभास, चतुर्विधः = चार प्रकार का है, उभयासिद्धः = उभयमत से असिद्ध, अन्यतरासिद्धः = दो में से किसी एक के मत से असिद्ध, तद्भावासिद्धः = हेतुस्वरूप से असिद्ध, अनुमेयासिद्धः च = और आश्रय से असिद्ध, इति = इस प्रकार ॥

भाषाभाष्य—इन पक्षसत्त्व, सपक्षसत्व तथा विपक्षासत्त्व से युक्त सद्धेतु वर्णन के प्रसङ्ग संगति से असद्धेतु का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध तथा अनध्यवसित ऐसे चार प्रकार के दुष्टहेतु जानना। जिसमें पक्षसत्त्व से असिद्ध का सपक्षसत्त्व से और अनध्यवसिता विरुद्ध तथा विपक्षासत्त्व से सन्दिग्ध हेतु हेत्वाभास होता है यह भेद है। उनमें से असिद्ध हेत्वाभास उभय मत से असिद्ध है १, वादियों, प्रतिवादी दो में से एक के मत से असिद्ध २, स्वरूप से असिद्ध ३ तथा आश्रय से असिद्ध ऐसा चार प्रकार का है।

पदपदार्थ—तत्र = उन चार असिद्ध हेत्वाभासों में से, उभयासिद्धः = उभयासिद्ध नामक प्रथम में हेत्वाभास वह है, उभयोः = दोनों, वादिप्रतिवादिनोः = वादी तथा प्रतिवादी के मत से, असिद्धः = असिद्ध हो। यथा = जैसे, अनित्यः = अनित्य है, शब्दः = शब्द, सावयवत्वात् = सावयव होने से, इति = यह हेतु। अन्यतरासिद्धः = वादी तथा प्रतिवादी दो में से एक के मत से असिद्ध है, यथा = जैसे, अनित्यः = अनित्व है, शब्दः = शब्द, कार्यत्वात् = कार्य होने से, इति = यह हेतु। तद्भावासिद्धः = हेतु स्वरूप से असिद्ध है, यथा = जैसे, धूमेन = धूम से, अग्न्यधिगतौ = अग्नि का अनुमान ज्ञान, कर्तव्यायां = करने में, उपन्यस्यमानः = कथन किया हुआ, बाष्पः = भाप, धूमभावेन = धूमरूप से असिद्ध है। अनुमेयासिद्धः = अनुमेय (आश्रय) से असिद्ध है—यथा = जैसे, पार्थिवं = पार्थिव, द्रव्यं = द्रव्य है, तमः = अन्धकार, कृष्णरूपवत्त्वात् = श्यामवर्ण होने से, इति = यह हेतु ॥

यः = जो, अनुमेये = अनुमानयोग्य पक्ष में, अविद्यमानः अपि = अवर्तमान होकर भी, तत्समानजातीये = सपक्ष में, सर्वस्मिन् = सर्व में, न अस्ति = नहीं रहता, तद्विपरीते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यस्तु सन्ननुमेये तत्समानासमानजातीययोः साधारणः सन्नेव स सन्देह-

---

च = और विपक्ष में, अस्ति = होता है, सः = वह हेतु, विपरीतसाधनात् = साध्य के विपरीत साध्य के अभाव का साधक होने से, विरुद्धः = विरुद्ध नामक हेत्वाभास होता है, यथा = जैसे, यस्मात् = जिस कारण, विषाणी = शृंगवान् है, तस्मात् = उस कारण, अश्वः = अश्व है, इति = यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है ।

भाषाभाष्य—उक्त चार प्रकार के असिद्ध नामक हेत्वाभासों में से प्रथम वादी तथा प्रतिवादी दोनों के मत से असिद्ध होता है, जैसे शब्द अनित्य हैं सावयव होंने से इस अनुमान में शब्द की अनित्यता का साधक सावयवत्वरूप हेतु शब्द को नित्य तथा अनित्य माननेवाले वादी तथा प्रतिवादी दोनों के मत से असिद्ध है क्योंकि हेतु से शब्द में अनित्यता सिद्ध करने वाला तथा शब्द को नित्य मानने वाला दोनों शब्द को सावयव नहीं मानते । वादी तथा प्रतिवादी दो में से एक के मत से असिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है, जैसे शब्द अनित्य है कार्य होने से इसे अनुमान में कार्यत्व हेतु यद्यपि शब्द में वास्तविक अनित्यता है किन्तु शब्द नित्यतावादी मीमांसक मत से कार्यता असिद्ध होने के कारण उससे अनित्यता कैसे सिद्ध होगी जब तक कार्यत्व सिद्ध न किया जाय । स्वरूप से असिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण यह है, जैसे धूम से अनुमान द्वारा अग्नि का ज्ञान होने के लिये दिया हुआ वाष्प(भाप)रूपी हेतु धूमरूप हेतु के स्वरूप से असिद्ध है । अनुमेय (आश्रय) से असिद्ध चतुर्थ असिद्ध का उदाहरण यह है जैसे अन्धकार, पार्थिव द्रव्य है, श्यामवर्ण होने से इस अनुमान में आरोपित श्यामवर्णमात्र के ज्ञानरूप अन्धकार के अतिरिक्त द्रव्य न होने से तम द्रव्य है इसका साधक श्यामवर्णरूप हेतु आश्रयसिद्ध है । विशेषणसिद्धि आदि का उभयासिद्धि आदि में अन्तर्भाव होने से उनको पृथक् नहीं कहा गया है । दूसरे विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण यह है कि जो हेतु पक्ष में न रहता हुआ भी सम्पूर्ण सपक्षों में नहीं रहता और विपक्ष में रहता है वह साध्याभाव का साध्य होने से विरुद्ध नामक हेत्वाभास होता है, जैसे कोई मनुष्य अरण्य में छिपे हुए गो के केवल शृंग को देखकर यह अश्व है शृंगवान् होने से ऐसा सिद्ध करे तो शृंगवत्ता अश्वमात्र में न रहती हुई अश्व विपरीत विपक्ष गो, महिष आदि में रहने से व्याप्ति के बल से न दिखाई देने वाले शृंगवान् पशु में अश्वभिन्नता सिद्ध करने के कारण अभिप्रेत अश्वत्वसाध्य के विपरीत अनश्वता साधक होने से शृंगवत्ता हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है । यह उदाहरण विपक्षैकदेशवृत्ति विरुद्ध हेत्वाभास का है क्योंकि स्त आदि विपक्ष में नहीं है. शब्द नित्य है । कार्य होने से यह सम्पूण विपक्षों में न्याय का विरुद्ध का उदाहरण है क्योंकि कोई भी अनित्य कार्य नहीं होते हैं ।

पदपदार्थ—यः तु = किन्तु जो, सन् = वर्तमान होता है, अनुमेये = पक्ष में, तत्समानासमानजातीययोः = और स्वपक्ष तथा विपक्ष में, साधारण = साधारणरूप से,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जनकत्वात् सन्दिग्धः यथा यस्माद्विषाणी तस्माद्गौरिति। एकस्मिंश्च द्वयोर्हेत्वोर्यथोक्तलक्षणयोर्विरुद्धयोः सन्निपाते सति संशयदर्शनादयमन्यः सन्दिग्ध इति केचित्। यथा मूर्तत्वामूर्तत्वं प्रति मनसः क्रियावत्त्वास्पर्शवत्त्वयोरिति। नन्वयमसाधारण एवाचाक्षुषत्वप्रत्यक्षत्ववत् संहतयोरन्यतरपक्षासम्भवात् ततश्चानध्यवसित इति वक्ष्यामः।

वर्तमान, सन् एव = होता ही है, सः = वह हेतु, सन्देहजनकत्वात् = साध्यसंशय का जनक होने से, सन्दिग्धः = सन्दिग्ध हेत्वाभास होता है। यथा = जैसे, यस्मात् = जिस कारण, विषाणी = शृंगवान् है, तस्मात् = इस कारण, गौः = गौ है, इति = यह हेतु। एकस्मिन् च = और एकधर्म में, द्वयोः = दो, यथोक्तलक्षणयोः = समान बल पूर्वोक्त लक्षण वाले, विरुद्धयोः = परस्पर विरुद्ध हेतुओं के, सन्निपाते सति = प्राप्त होने पर, संशयदर्शनात् = सन्देह होने से, अयं = यह, अन्यः = दूसरा, संदिग्धः = सन्दिग्ध नामक हेत्वाभास होता है, इति = ऐसा, केचित् = कोई विद्वान् कहते हैं। यथा = जैसे, मूर्तत्वामूर्तत्वं प्रति = मूर्तता तथा अमूर्तता के साधन करने में, मनसः = मन के, क्रियावत्त्वास्पर्शवत्त्वयोः = क्रम से क्रियाधारता और स्पर्शभावाधारता, इति = यह हेतु संदिग्ध हेत्वाभास है। ननु = निश्चय से, अयं = यह संदिग्ध हेत्वाभास, असाधारण एव = असाधारण ही है, अचाक्षुषत्वप्रत्यक्षत्ववत् = अप्रत्यक्षता तथा प्रत्यक्षता के समान, संहतयोः = मिलित दोनों का, अन्यतरपक्षासंभवात् = दो में से एक आश्रयरूप पक्ष न होने से ततः च = और इस कारण, अनध्यवसित नामक हेत्वाभास है, इति = ऐसा, वक्ष्यामः = हम आगे कहेंगे।

भाषाभाष्य—किन्तु जो हेतु पक्ष में वर्तमान होकर सपक्ष तथा विपक्ष में भी सामान्यरूप से वर्तमान ही होता है वह साध्य के संशय का उत्पादक होने से सन्दिग्ध हेत्वाभास होता है, जैसे यह पिण्ड (शरीर) गौ है, शृंगवान् होने से,। ऐसे अनुमान में उस (शृंगवत्ता) का हेतु गौरूप पक्ष में तथा अन्य गौरूप सपक्ष में तथा महिषरूप विपक्ष में भी वर्तमान होने के कारण गोत्वरूप साध्य के संशय का जनक होने से सन्दिग्ध नाम का हेत्वाभास है। जिस प्रकार सपक्ष तथा विपक्ष में एकधर्म के दर्शन से धर्मीपक्ष में साध्य सन्देह होने से सन्दिग्ध नामक हेत्वाभास होता है, उसी प्रकार एकधर्मी में समान बलवाले दो विरुद्ध हेतुओं के प्राप्त होने पर भी साध्य संदेह होने से भी सन्दिग्ध हेत्वाभास होता है ऐसे एकदेशि नैयायिकों के मत का खण्डन करने के लिये उनका मत दिखाकर उनके मत से उदाहरण देते हैं कि मन मूर्त है, क्रियावान् होने से शरीर के समान मन, अमूर्त है, स्पर्शगुण का आश्रय न होने से, आकाश के समान, इस प्रकार मूर्तत्व तथा अमूर्तत्वरूप विरुद्ध अर्थ के साधक क्रियावत्व तथा अस्पर्शवत्व इन दोनों हेतुओं के प्राप्त होने से मन मूर्त है या अमूर्त ऐसा सन्देह ही होने से भी सन्दिग्ध नामक हेत्वाभास होता है। इसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु शास्त्रे तत्रतत्रोभयथा दर्शनं संशयकारणमपदिश्यत इति । न, संशयो विषयद्वैतदर्शनात् । संशयोत्पत्तौ विषयद्वैतदर्शनं कारणम् तुल्यबलत्वे च तयोः परस्परविरोधान्निर्णयानुत्पादकत्वं स्यान्न तु संशयहेतुत्वम् । न च तयोस्तुल्यबलवत्त्वमस्ति अन्यतरस्यानुमेयोद्देशस्यागमबाधितत्वादयं तु विरुद्धभेद एव ।

विषय में भाष्यकार अपना मत दिखाते हैं कि यह असाधारण होने से अनध्यवसित नामक ही हेत्वाभास है ऐसा हम आगे कहेंगे, क्योंकि क्रियावत्त्व तथा अस्पर्शवत्व को पृथक्-पृथक् मूर्त्तता तथा अमूर्तता का निर्णायक होने से संदेह का जनक न होने पर भी उन दोनों का एक में प्राप्त होना असाधारण ही है अर्थात् मिले हुए क्रियावत्त्व और अस्पर्शवत्व मन को छोड़कर किसी पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष से हो नहीं सकते। जिस प्रकार अचाक्षुषता तथा प्रत्यक्षता इनमें से एक-एक का गुणों में व्यभिचार होने पर भी मिले हुए अचाक्षुषत्व तथा प्रत्यक्षता का गुणों को छोड़कर अन्य पदार्थ में संभव नहीं है, अतः असाधारण (विशेष) होने से ही यह अनिश्चित होता हुआ अध्यवसाय (निश्चय) को नहीं कराता ऐसा आगे कहेंगे। अर्थात् इसका अनध्यवसित में अन्तर्भाव है ऐसा भाष्यकार का आशय है ।।

पदपदार्थ—ननु = शंका है, शास्त्रे = शास्त्र में, तत्रतत्र = उन-उन स्थानों में, उभयथा = दो विरुद्धों के साथ, दर्शनं = देखाना, संशयकारणं = सन्देह का कारण, अपदिश्यते = कहा गया है, इति = ऐसी । न = नहीं, संशयः = सन्देह होता है, विषयद्वैतदर्शनात् = विषय के द्वैतदर्शन से । संशयोत्पत्तौ = सन्देह के उत्पत्ति में, विषयद्वैतदर्शनं = विषयकं उभयथा दर्शने, कारणम् = कारण है, तुल्यबलत्वे च = और समान बल होने पर, तयोः = उन दो हेतुओं के, परस्पर विरोधात् = परस्पर विरोध होने से, निर्णयानुत्पादकत्वं = निश्चय की अनुत्पादकता, स्यात् = होगी, न तु = न कि, संशयहेतुत्वम् = सन्देह की जनकता । न च = और नहीं, तयोः = पूर्वोक्त क्रियावत्त्व तथा अस्पर्शवत्त्व इन हेतुओं में, तुल्यबलत्त्वं = समानबलता, अस्ति = है, अन्यतरस्य = दो में से एक अमूर्तता का, अनुमेयोद्देशस्य = मन अमूर्त है इस प्रतिज्ञा का, आगमबाधितत्वात् = शास्त्र से बाध होने के कारण, अयं तु = किन्तु, यह, विरुद्धभेदः एव = विरुद्ध हेत्वाभास ही है ।

भाषाभाष्य—इस प्रकार क्रियावत्वं तथा अस्पर्शवत्व हेतुओं को विरुद्ध अव्यभिचारी हेतु होने के कारण संशय में कारणता नहीं है इस स्थापित सिद्धान्त पर पूर्वपक्षी शास्त्रविरोध की शंका करता है कि 'वैशेषिकसूत्ररूप शास्त्र में उस-उस स्थल में दो विरुद्ध धर्मों के साथ एकधर्मी का दर्शन संशय का कारण होता है, ऐसा कहा है जिसमें 'यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च (अ० २, आ० १, सू० १९) सूत्र का अर्थ ऐसा है कि जिस धर्म से अर्थात् परमाणुओं में रहनेवाले मूर्तत्व के अव्यभिचारी क्रियावत्त्वधर्म के साथ मन देखा गया है, इस कारण यथादृष्ट होने से, तथा आत्मा में अमूर्तता के अव्यभिचारी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यश्चानुमेये विद्यमानस्तत्समानासमानजातीययोरसन्नेव सोऽन्यतरासिद्धोऽनध्यवसायहेतुत्वादनध्यवसितः यथा सत्कार्यमुत्पत्तेरिति। अयमप्रसिद्धोऽनपदेश

अस्पर्शवत्व के साथ भी मन देखा गया है, अतः अयथादृष्ट होने से इस प्रकार उभयथा (दोनों प्रकार का) मत दिखाने से 'मन क्रियावान् होने से मूर्त है, अथवा अस्पर्शवान् होने से अमूर्त है' ऐसा संशय होता हैं। तस्मात् सूत्रविरोध की आपत्ति आने से 'भाष्यमत असगत है'। इस शंका का समाधान भाष्यकार ऐसा करते हैं कि विषय के द्वैतदर्शन से संशय होता है, अतः पूर्वपक्षी की शंका अयुक्त है। अर्थात् उक्त सूत्र के विरोध की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जिस स्थल में ऊँचे पदार्थ में यह वृक्ष है अथवा पुरुष ऐसा संशय होता है उस स्थल में ऊँचाई का वृक्ष तथा पुरुष के साथ पूर्व में उभयथा द्वैतदर्शन संशय का कारण होता है न कि एकधर्मी में विरुद्ध धर्मो की प्राप्ति संशय का कारण होती है, अतः विरुद्ध अव्यभिचारी धर्मद्वय की प्राप्ति से संशय होता है ऐसा उक्त सूत्र का अर्थ नहीं है, किन्तु पूर्व में वृक्षादि जैसे ऊँचे देखे हैं, कालान्तर या देशान्तर में उसके समान देखकर विशेष दर्शन न रहने तक संशय होता है। इसी प्रकार पूर्व दृष्ट मनुष्य को जिस जटाधारी मुण्डित अवस्था में पूर्व में देखा था उसके पश्चात् कालान्तर में वैसा न देखकर किसी उक्त अवस्था में न देखकर उन दोनों अवस्थाओं का स्मरण होकर यह इस समय जटाधारी है अथवा मुण्डी ऐसा संशय होता है, यह उक्त सूत्र का अर्थ है। समान बल होने पर उन दोनों हेतुओं का परस्पर में विरोध होने से वे निर्णायक न होंगे किन्तु संशयजनक नहीं हो सकते, क्योंकि विशेष की अनुपलब्धि मात्र से विरुद्ध दोनों विशेषों की उपस्थिति नहीं होती। इस प्रकार समानबलता मानकर विरुद्ध अव्यभिचारी हेतु संशयजनक नहीं होता यह कहने के अनन्तर समानबलता हो नहीं हो सकती इस अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं कि पूर्वोक्त अव्यभिचारी क्रियावत्व तथा अस्पर्शवत्व ये दोनों हेतु समान बल ही नहीं हैं, क्योंकि दो में से एक प्रतिज्ञा (अमूर्त मन है) यह प्रतिज्ञा 'तदभावादणुमनः' इस सूत्र से बाधित है। यदि कहो कि 'ऐसा होने पर क्या क्षति होगी' तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतिज्ञा लक्षण में दिये हुए अविरोधी पद से निवृत्त होनेवाले प्रत्यक्षादि विरुद्ध प्रतिज्ञाभासों में से आगमविरुद्ध नामक यह पूर्वोक्त उदाहरण विरुद्ध हेत्वाभास ही का भेद है न कि सन्दिग्ध हेत्वाभास हो सकता है।

पदपदार्थ—यः च = और जो, अनुमेये = पक्ष में, विद्यमानः = वर्तमान होकर, तत्समानासमानजातीययोः = सपक्ष तथा विपक्ष में, असन् एव = अवर्तमान नहीं हो, सः = वह, अन्यतरासिद्धः = दो में से एक मत से असिद्ध, अनध्यवसायहेतुत्वात् = अनिश्चय का कारण न होने से, अनध्यवसितः = असाधारण नामक अनध्यवसित हेत्वाभास है। यथा = जैसे, सत् = सत् है, कार्यं = कार्य, उत्पत्तेः = उत्पन्न होने से, इति = इस प्रकार। अयं = यह हेतु, अप्रसिद्धः = अप्रसिद्ध नामक, अनपदेशः = हेत्वा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति वचनादवरुद्धः । ननु चायं विशेषः संशयहेतुरभिहितः शास्त्रे तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथा दृष्टत्वादिति, नान्यार्थत्वात् । शब्दे विशेषदर्शनात् संशयानुत्पत्तिरित्युक्ते, नायं द्रव्यादीनामन्यतमस्य विशेषः स्याच्छ्रावणत्वं किन्तु सामान्यमेव सम्पद्यते । कस्मात् ? तुल्यजातीयेस्वर्थान्तरेभूतेषु द्रव्यादिभेदानामेकैकशो विशेषस्योभयथा दृष्टत्वादित्युक्तं न संशयकारणम्, अन्यथा षट्स्वपि पदार्थेषु संशयप्रसङ्गात् तस्मात् सामान्यप्रत्ययादेव संशय इति ॥

भास है, इति = इस, वचनात् = भाष्य के वचन से, अवरुद्धः = संग्रह किया है। ननु च = और शंका है—अयं = यह, विशेषः = विशेष विषय, संशयहेतुः = संशय का जनक, अभिहितः = कहा गया है, शास्त्रे = सूत्र में, तुल्यजतियेषु = समान जाति के, अर्थान्तरभूतेषु = अन्य अर्थों में, विशेपस्य = विशेष के, उभयथा = दो प्रकार से, दृष्टत्वात् = दर्शन होने से, इति=इस प्रकार । न = नहीं, अन्यार्थत्वात् = सूक्त का अतिरिक्त अर्थ होने से शब्दे = शब्द में, विशेषदर्शनात् = विशेष का दर्शन होने से, संशयानुत्पत्तिः = संशय उत्पन्न नहीं होता, इति = ऐसा, उक्ते = कहने पर, न = नहीं है, अयं = यह, द्रव्यादीनां = द्रव्यदिकों में, अन्यतमस्य = किसी एक का, विशेषः = विशेष, स्यात् = होगा, श्रावणत्वं = श्रवणइन्द्रिय से प्रत्यक्षता, किन्तु = परन्तु, सामान्य एव = सामान्यधर्म ही होगा । कस्मात् = किस कारण, तुल्यजातियेषु = समान जाति के, अर्थान्तरभूतेषु = अन्य अर्थों में, द्रव्यादिभेदानां = द्रव्य गुण तथा कर्मों में, एकैकशः = प्रत्येक से, विशेषस्य = विशेष का, उभयथा = दोनों प्रकार से, दृष्टत्वात् = दर्शन होने से, इति = यह, उक्तं = कहा हुआ, न = नहीं है, संशय कारणं = संशय का जनक, अन्यथा = ऐसा न मानने से, षट्सु अपि = षट् भी, पदार्थेषु = पदार्थों में, संशयप्रसंगात् = संशय होने की आपत्ति आने से, तस्मात् = इसलिये, सामान्य प्रत्ययात् = सामान्य के ज्ञान से ही, सशय = संशय होता है, इति = इस प्रकार हेत्वाभास हैं ।

भाषाभाष्य—अनध्यवसित नामक असाधारण हेत्वाभास का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो हेतु पक्ष में वर्तमान होता है किन्तु सपक्ष तथा विपक्ष में नहीं ही रहता वह हेतुवादी तथा प्रतिवादी इन दोनों में से केवल किसी एक के मत से असिद्ध होने से निश्चयजनक न होने के कारण अनध्यवसित नामक असाधारण व्यभिचारी दुष्टहेतु है । जिस प्रकार सांख्यमत से किये हुये 'सम्पूर्ण जगत् रूप कार्य, उत्पन्न होने के पूर्व भी सत् हैं, उत्पन्न होने से इस अनुमान में दिये हुये उत्पत्तिरूप हेतु के सपक्ष गगन काल इत्यादि नित्य सत् पदार्थों में तथा विपक्ष आकाशपुष्प इत्यादि असत् पदार्थों में न होने के कारण यह सांख्यों का उत्पत्तिरूप हेतु नैयायिक पक्ष से निश्चायक न होने से अनध्यवसित हेत्वाभास है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सांख्यवादियों के मत में उत्पत्ति नहीं मानते किन्तु कारण में अव्यक्तरूप से वर्तमान (सत्) ही कार्य की अभिव्यक्ति मानी जाती है, अतः एक मत से 'उत्पत्ति' रूप असिद्ध नहीं है ॥ इनमें 'अनध्यवसित नामक हेत्वाभास में, सूत्रकार की संमति भाष्यकार देते हैं कि 'अप्रसिद्धोऽनपदेशः' इस सूत्रकार की उक्ति से असिद्ध नामक हेत्वाभास में संग्रह सूचित होता है ।

इस सिद्धान्त पर 'अनैकान्तिक के समान असाधारण संशय का जनक होने से संदिग्धश्चानपदेशः इस सूत्र वचन से संदिग्ध नामक हेत्वाभास में संग्रह करना युक्त है न कि असिद्ध हेत्वाभास में । इस प्रकार पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि 'तुल्य-जातीयेषु' इत्यादि 'दृष्टत्वात्' इत्यन्त सूत्र में इस प्रकार सूत्रकार ने कहा है कि समान जाति के तथा विजातीय अन्य अर्थों से भी विशेष 'व्यावर्तक' धर्म होता है, जैसे पृथिवी का गन्धवत्ता रूप विशेष धर्म द्रव्यरूप से समान जलादिकों में तथा असमान जाति के गुणादि पदार्थों से भी पृथिवी की व्यावृत्ति करता है, शब्द में भी श्रवणेन्द्रियजन्य प्रत्यक्षतारूप श्रावणत्व विशेष दिखाता है, जो क्या गुणत्वेन समान जातियों (रूपादि गुणों से विशेष है, अथवा असमानजातीय द्रव्य तथा कर्मादि पदार्थों से ? यदि शब्द गुण पदार्थ माना जाय तो वह समानजातीय रूपादि गुणों से व्यावर्तकविशेष होगा, और यदि शब्द को द्रव्य या कर्म माना जाय तो विजातीयों से व्यावर्तक श्रावणत्व-विशेष मानना होगा, अतः शब्द में श्रावणत्वरूपविशेष के दर्शन से शब्द द्रव्य है, गुण है या कर्म पदार्थ इस प्रकार संशय का जनक होने से यह सन्दिग्ध हेत्वा-भास के अन्तर्गत है, यह पूर्वपक्षी के आक्षेप का आशय है ।

इस आक्षेप का समाधान सिद्धान्तमत से भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि नहीं सूत्र का अर्थ ऐसा नहीं है किन्तु दूसरा अर्थ है अतः आक्षेप असंगत है, क्योंकि सूत्रकारने 'श्रोतग्राह्योयोऽर्थःसशब्दः' (२ अ. २ आ. सू० २१) सूत्र में श्रवणेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष विषय अर्थ को शब्द कहकर उसमें द्रव्य है, गुण है या कर्म ऐसा संशय होता है यह कहा है । इस सिद्धान्त पर 'शब्द में संशय का जनक श्रोत्रग्राह्यतारूप धर्म आपने (सिद्धान्ती ने) माना है किन्तु वह विशेष है उसके दर्शन से संशय नहीं हो सकता, क्योंकि संशय विरुद्ध दो धर्मों के स्मरण से होता है, और वह स्मरण असाधारण (विशेष) धर्म के दर्शन से नहीं होता, क्योंकि उसकी किसी विशेष के साथ उपलब्धि नहीं होती' इस प्रकार पुनः पूर्वपक्षी के आक्षेप करने पर सूत्रकार के आशय से भाष्यकार समाधान करते हैं कि द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों में से किसी एक का समानजातीय, तथा विजातीय पदार्थों से विशेष उभयथा देखा जाता है, जैसे द्रव्यरूप होने के कारण समानजातीय तथा जलादि द्रव्य से पृथिवीत्वरूप विशेष द्रव्यत्व के साथ दिखाता है, और रूप का रूपत्व गुणत्वके साथ दिखाता है, उसी प्रकार शब्द का भी शब्दत्व (श्रावणत्व) विशेष है गुणत्वेन, अतः यह भी विशेषत्वरूप से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२३) निदर्शनप्रकरणम्।

द्विविधं निदर्शनं साधर्म्येण वैधर्म्येण च। तत्रानुमेयसामान्येन लिङ्गसामान्यस्यानुविधानदर्शनं साधर्म्यनिदर्शनम्। तद्यथा यत् क्रियावत् तद्द्रव्यं दृष्टं यथा शर इति। अनुमेयविपर्यये च लिङ्गस्याभावादर्शनं वैधर्म्यनिदर्शनम्। तद्यथा यद्द्रव्यं तत् क्रियावन्न भवति यथा सत्तेति॥

द्रव्यादि पदार्थों को साधारण धर्म ही हुआ, इस कारण यह श्रावणत्व सामान्य धर्म होकर ही संशय का जनक होता है, न कि असाधारण रूप से, क्योंकि वह विशेष का स्मरण नहीं कराता। यदि उसे भी संशय का कारण मानें तो द्रव्यादि षट् पदार्थों में भी द्रव्यत्वादि रूप असाधारण धर्म होने से संशय होने लगेगा, अर्थात् कहीं भी संशय का विराम न होगा। अतः सामान्य धर्मज्ञान से ही संशय होता है, क्योंकि वही विरुद्ध दो धर्मों से सहचार होने से, दोनों का स्मारक होने से संशय को कर सकता है न कि विशेष धर्मदर्शन यहाँ सिद्धान्त का आशय है। सू० १३१-१३२॥

(२३) निदर्शनप्रकरण

पदंपदार्थ—द्विविधं = दो प्रकार है, निदर्शनं = उदाहरर्यण, साधम्ण = सामान धर्म से, वैधर्म्येण च = और विरुद्ध धर्म से। तत्र = उन दो में से, अनुमेयसामान्येन साध्यसामान्यके साथ, साधन सामान्यस्य=साध्यधन (लिङ्ग) सामान्यका, अनुविधानदर्शनं अनुसरण का देखना, साधर्म्यनिदर्शनम् = साधर्म्य से उदाहरण होता है। तत् = वह, यथा = जैसे, यत् = जो पदार्थ, क्रियावत् = क्रियाश्रय होता है, तत् = वह पदार्थ, द्रव्यं = द्रव्य, दृष्टं दीखता है, यथा = जैसे शरः = वाण, इति = इस प्रकार। अनुमेय विपर्यये च = और साध्याभावाधिकरणपें, लिङ्गस्य = हेतु का, अभावदर्शनं = अभाव का देखाना, वैधर्म्यनिदर्शनम् = वैधर्म्य उदाहरण होता है, तत् = वह, यथा = जैसे से यत् = जो, अद्रव्यं = द्रव्य नहीं होता है, तत् = वह, क्रियावत् = क्रिया का आश्रय, नभवति = नहीं होता, यथा = जैसे, सत्ता = सत्ता जाती॥

भाषाभाष्य—अवयवों में क्रमप्राप्त तृतीय उदाहरण नामक अवयव का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि साधर्म्य तथा वैधर्म्य से दो प्रकार का निदर्शन होता है, अर्थात् साध्य तथा साधन की सहवृत्तिता का बोधक साधर्म्य उदाहरण, तथा साध्याभाव के साथ साधन के अभाव की सहचारिता का बोधक वैधर्म्य निदर्शन ऐसे दो उदाहरण के भेद हैं, जिनमें से जो-जो क्रियाधार होता है, वह-वह द्रव्य होता है जैसे बाणरूप द्रव्य, यह साधर्म्य निदर्शन का उदाहरण है, क्योंकि इसमें द्रव्यरूप साध्य तथा क्रियावत्वरूप साधन का साहचर्य दिखाया है तथा जो द्रव्य नहीं होता वह क्रियाधार नहीं होता जैसे सत्ता जाति, यह वैधर्म्य उदाहरण का उदाहरण है, इसमें द्रव्यत्वरूप साध्य के अभाव तथा क्रियावत्वरूप साधन के अभाव की व्याप्ति दिखाई गई है। सू० ३४२–२४३।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२४) निदर्शनाभासप्रकरणम् ।

अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति । तद्यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् यदमूर्तं दृष्टं तन्नित्यम् यथा परमाणुर्यथा कर्म यथा स्थाली यथा तमः अम्बरवदिति यद् द्रव्यं तत् क्रियावद्दृष्टमिति च लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः ।

---

(२४) निदर्शनाभासप्रकरण

पदपदार्थ—अनेन = इस निदर्शन वर्णन से, निदर्शनाभासः = उदाहरणाभास, निरस्ताः = निरस्त, भवन्ति = होते हैं । तत् = वह, यथा = जैसे, नित्यः = नित्य है, शब्दः = शब्द गुण, अमूर्तत्वात् = मूर्त न होने से, यत् = जो, अमूर्तं = अमूर्त, दृष्टं = दीखता है, तत् = वह, नित्यं = नित्य होता है, यथा = जैसे, परमाणुः = परमाणु, यथा = जैसे, कर्म = क्रिया, यथा = जैसे, स्थाली = थाली, यथा, जैसे, तमः = अन्धकार, अम्बरवत् = आकाश के समान, इति = इस प्रकार । यत् = जो, द्रव्यं = द्रव्य होता है, तत् = वह, क्रियावत् = क्रियाश्रय दृष्टं = दीखता है, इति च = यह भी, लिंगानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगत विपरीतानुगता = लिंगासिद्ध, अनुमेयसिद्ध, उभयासिद्ध, आश्रयासिद्ध, अननुगत तथा विपरीतानुगत नामक, साधर्म्यनिदर्शनाभासः = साधर्म्योदाहरण के आभास नामक दुष्टदृष्टान्त होते हैं ॥

भाषाभाष्य—इस निदर्शन के लक्षण से किसी साधर्म्य को लेकर उदाहरण के समान मालूम पड़ने वाले निदर्शनाभासों का निरास हो जाता है । अपने वाक्य में उदाहरणाभास का त्याग तथा प्रतिवादि वाक्य में उसको लेकर प्रतिवादिमत का खण्डन करने के लिये उदाहरण द्वारा निदर्शनाभासों का स्वरूप कहते हैं कि जैसे शब्द नित्य है, अमूर्त होने से जो अमूर्त होता है वह नित्य होता है, जैसे परमाणु १, जैसे कर्म २, यथा स्थाली (थाली) ३, जैसे अन्धकार ४, अथवा जैसे आकाश ५, ऐसे पाँच प्रकार के साधर्म्य निदर्शनाभास हैं । जिनमें से १ परमाणु का उदाहरण उसके मूर्त होने से लिङ्गासिद्ध है । यथा कर्म यह उसके अनित्य होने से अनुमेय सिद्ध द्वितीय २, तथा स्थालीरूपनिदर्शन स्थाली में नित्यता तथा अमूर्तता न होने से उभयासिद्ध नामक तृतीय निदर्शनाभास ३ है । तथा तमः यह दृष्टान्त उसके भावपदार्थ न होने से आश्रयासिद्ध नामक चतुर्थ दृष्टान्ताभास ४, एवं अम्बरवत् यह उदाहरण आकाश में अमूर्तता तथा नित्यता के रहने पर भी आकाश में जो अमूर्त है वह नित्य है ऐसी प्रतीति न होने के कारण अननुगत नामक पंचम दृष्टान्ताभास है । जो द्रव्य होता है वह क्रियावान् होता है यह भी आकाशरूप दृष्टान्त में क्रियावत्त्व न होने के कारण विपरीतानुगत नामक छठे साधर्म्य निदर्शनाभास का उदाहरण है ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदनित्यं तन्मूर्तं दृष्टम् यथा कर्म यथा परमाणुर्यथाऽऽकाशं यथा तमः घटवत् यन्निष्क्रियं तदद्रव्यञ्चेति लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाव्यावृत्तविपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासा इति ।

पदपदार्थ—यत् = जो, अनित्यं = अनित्य होता है, तत् = वह, मूर्तं = मूर्त, दृष्टं = दिखता है, यथा = जैसे, कर्म = क्रिया, यथा = जैसे, परमाणु = परमाणु, यथा = जैसे, आकाशं = आकाश, यथा = जैसे, तमः = अन्धकार, घटवत् = घट के समान, यत् = जो, निष्क्रियं = क्रियाशून्य होता है, तत् = वह अद्रव्यं = द्रव्य नहीं होता, इति = इस प्रकार, लिङ्गानुनेयो भयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धा व्यावृत्त विपरीतव्यावृत्ताः = लिङ्गाव्यावृत्त १, अनुमेयाव्यावृत्त २, उभयाव्यावृत्त ३, आश्रयासिद्ध ४, अव्यावृत्त ५, विपरीतव्यावृत्त ६, वैधर्म्य निदर्शनाभासः = ऐसे वैधर्म्यनिदर्शनाभास षट् प्रकार होते हैं ।

भाषाभाष्य—साधर्म्य निदर्शनाभासों के समान ६ प्रकार के वैधर्म्यनिदर्शनाभासों का भाष्यकार वर्णन करते हैं कि जो अनित्य होता है वह मूर्त होता है जैसे कर्म, जैसे परमाणु जैसे आकाश, जैसे तम, जैसे घट, के समान जो निष्क्रिय होता है वह द्रव्य नहीं होता है यह भी क्रम से लिङ्गाव्यावृत्त १, अनुमेयाव्यावृत्त २, उभयाव्यावृत्त ३, आश्रयासिद्ध ४, अव्यावृत्त ५ तथा विपरीत व्यावृत्त ऐसे षट् प्रकार के वैधर्म्य निदर्शनाभास हैं, जिनमें से कर्म के अमूर्त होने से यथा कर्म यह लिङ्ग से अव्यावृत्त वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है १ । क्योंकि उसमें मूर्ततारूप हेतु नहीं है । 'परमाणु' रूप वैधर्म्य दृष्टान्त में अनुमेय नित्यता के वर्तमान होने से यह दृष्टान्त अनुमेयाव्यावृत्त है क्योंकि उसमें अनित्यतारूप साध्य नहीं है २ । तीसरा 'आकाश' रूप दृष्टान्त जिससे अमूर्तता तथा नित्यता की व्यावृत्ति न होने से वह उभयाव्यावृत्त वैधर्म्यदृष्टान्ताभास है, क्योंकि उसमें मूर्ततारूप हेतु तथा अनित्यतारूप साध्य दोनों नहीं हैं ३ । चौथा 'तम' दृष्टान्त, अन्धकार के भावरूप न होने से किस के आश्रय से अनित्यता साध्य तथा मूर्तता साधन की व्यावृत्ति की जायगी इस कारण यह आश्रयासिद्ध नामक वैधर्म्य निदर्शनाभास है ४ । पांचवां 'घटवत्' यह दृष्टान्त अव्यावृत्त नामक दृष्टान्त है, क्योंकि उभयव्यावृत्ति (अनित्यतासाध्य तथा मूर्तत्व हेतु विरुद्धधर्मरूप नित्यता तथा अमूर्तता की व्यावृत्ति) रहने पर भी, जो अनित्य होता है वह मूर्त होता है ऐसा न कहा होने से उभयव्यावृत्ति का ज्ञान विप्रतिपन्न पुरुष को नहीं हो सकता अतः अव्यावृत्त नामक वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है ५ । जो निष्क्रिय होता है वह अद्रव्य होता है यह विपरीत व्यावृत्त नामक छटवाँ वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है, क्योंकि साध्य तथा साधन के समान उनके अभावों का भी व्याप्य व्यापक भाव होता है ॥ ६ ॥ सूत्र—१३१ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२५) अनुसन्धानप्रकरणम् ।

निदर्शनेऽनुमेयसामान्येन सह दृष्टस्य लिङ्गसामान्यस्यानुमेयेऽन्वानयनमनुसन्धानम् । अनुमेयधर्ममात्रत्वेनाभिहितं लिङ्गसामान्यमनुपलब्धशक्तिकं निदर्शने साध्यधर्मसामान्येन सह दृष्टमनुमेये येन वचनेनानुसन्धीयते तदनुसन्धानम् । तथा च वायुः क्रियावानिति । अनुमेयाभावे च तस्यासत्त्वमुपलभ्य न च तथा वायुर्निष्क्रिय इति ॥

(२५) अनुसंधानप्रकरण

पदपदार्थ—निदर्शने = उदाहरण में, अनुमेयसामान्येन = साध्यसामान्य के, सह = साथ, दृष्टस्य = देखे हुए, लिङ्गसामान्यस्य = हेतुसामान्य का, अनुआनयनं = पश्चात् ले आना, अनुसन्धानं = अनुसन्धान (उपमय) नामक चतुर्थ अवयव कहाता है। अनुमेयधर्ममात्रत्वेन = केवल साध्य के धर्मरूप से, अभिहितं = कहा हुआ, लिङ्गसामान्यं= हेतुसामान्य, अनुपलब्ध शक्तिकं = पक्ष में साध्यसाधन के सामर्थ्य से शून्य होता हुआ, निदर्शने = उदाहरण में, साध्यधर्मसामान्येन = सामान्यरूप से साध्यधर्म के, सह = साथ, दृष्टं=देखा हुआ, अनुमेये = अनुमेय (पक्ष) में, येन = जिस, वचनेन = वचन से, अनुसन्धीयते = अनुसन्धान किया जाता है, तद् = वह, अनुसंधानं = अनुसन्धान (उपनय) नामक अवयव कहा जाता है। तथा च = और वह ऐसा है, वायु: = वायु, क्रियावान् = क्रियाधार है, इति = इस प्रकार ॥ अनुमेयाभावे च = और उस साध्य के अभाव होने पर, तस्य = हेतु के, असत्त्वं = अवर्तमानता को, उपलभ्य = जानकर, न च = और नहीं है, तथा = वैसा, वायुः = वायु, निष्क्रिय: = क्रियारहित, इति = इस प्रकार ॥

भाषाभाष्य—उपनय नामक अनुसन्धान अवयव का भाष्यकार वर्णन इस प्रकार करते हैं कि दृष्टान्त में साध्य से अविनाभूत (व्याप्त) रूप से निश्चित हेतु का पक्ष में पश्चात् अनुसन्धान को अनुसन्धान (उपनय) कहते हैं, अर्थात् प्रतिज्ञा और हेतुवाक्य से साध्य का प्रतिपादन करने में हेतु का अन्वय तथा व्यतिरेक एवं पक्ष में हेतु की वृत्तितारूप सामर्थ्य का ज्ञान होने के कारण अज्ञातसामर्थ्यलिङ्ग उदाहरण में साध्यरूप सामान्यधर्म के साथ देखा हुआ जिस वचन से पश्चात् निश्चितरूप से जाना जाता है उसे अनुसन्धान (उपनय) अवयव कहते हैं। परार्थानुमान में ही पंचावयव वाक्यों का उपयोग होने से जैसे-जैसे सुननेवाले को जिज्ञासा होती जाती है, वैसे-वैसे वाक्यों को कहनेवाले को वाक्यद्वय अवयवका प्रयोग करना आवश्यक होता है, अत: साध्यनिर्देशरूप प्रतिज्ञा करने पर सुननेवाले को क्यों ? ऐसी हेतु की जिज्ञासा होनेपर हेतु का प्रयोग कहनेवाले को करना पड़ता है। हेतुवचन से हेतुमात्र का ज्ञान होता है, न कि उसके पक्ष में वर्तमानता का, क्योंकि एक शब्द से दो अर्थों का ज्ञान नहीं हो सकता, अत: हेतुवचन से हेतुज्ञान होनेपर यह हेतु क्यों है ? ऐसी उसके सामर्थ्य की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२६) प्रत्याम्नायप्रकरणम्।

अनुमेयत्वेनोद्दिष्टे चानिश्चिते च परेषां निश्चयापादनार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं प्रत्याम्नायः। प्रतिपाद्यत्वेनोद्दिष्टे चानिश्चिते च परेषां हेत्वादिभिरवयवैराहितशक्तीना परिसमाप्तेन वाक्येन निश्चयापादनार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं प्रत्याम्नायः। तस्माद्द्रव्यमेवेति। न ह्येतस्मिन्नसति परेषामवयवानां समस्तानां व्यस्तानां वा तदर्थवाचकत्वमस्ति। गम्यमानार्थत्वादिति चेन्न अवि-

---

जिज्ञासा होने पर साध्य का ज्ञान अविनाभाव (विना हेतु के साध्य का न होना) ज्ञान से व्याप्त होने के कारण व्याप्ति वचन से अविनाभाव के सूचन से ज्ञातसामर्थ्य लिङ्ग का पक्ष में सम्भव है इसलिये वक्ता को उदाहरण का प्रयोग करना पड़ता है। उसके पश्चात् उदाहरण से निश्चित व्याप्तिवाले लिङ्ग का पक्ष में वृत्तिताज्ञान होने के लिये अनुसन्धानरूप अवयव जो उपनयनाम से प्रसिद्ध है उसे मानना आवश्यक है यह भाष्यकार का गूढ़ अभिप्राय है। इसी से वायु द्रव्य है, क्रियावान् होने से, जो-जो क्रियावान् होता है वह-वह द्रव्य होता है बाण के समान, तथा जो द्रव्य नहीं होता वह क्रियावान् नहीं होता, जैसे सत्ताजाति, ऐसे वैधर्म्य दृष्टान्त के अनन्तर, वैसा ही वायु क्रियावान् है, तथा सत्ता में द्रव्यत्व के अभाव से क्रियावत्वं के अभाव को जानकर वैसा वायु क्रियारहित नहीं है इस प्रकार उपनय वाक्य का वक्ता प्रयोग करता है। सू० ३४२-३४३ ॥

(२६) प्रत्याम्नाय (निगमनप्रकरण)

पदपदार्थ—अनुमेयत्वेन = अनुमेयरूप से, उद्दिष्टे च = उद्दिष्ट होने पर भी, अनिश्चिते च = निश्चित न होने पर, परेषां = दूसरे सुननेवालों के, निश्चयापादनार्थं = निश्चित ज्ञान होने के लिये, प्रतिज्ञायाः = पूर्वोक्त प्रतिज्ञा का, पुनः वचनं = पुनः कथन, प्रत्याम्नायः = निगमन नामक अवयव होता है। प्रतिपाद्यत्वेन = साध्यरूप से प्रतिपाद्य होने के कारण, उद्दिष्टं = उद्देश किये हुए भी, अनिश्चिते च = अनिश्चित साधनीय विषय में, परेषां = सुननेवाले अन्य व्यक्तियों को, हेत्वादिभिः = हेतु उदाहरण आदि अवयवों से, आहितशक्तिनां = जिन्हें साध्यज्ञान होने का सामर्थ्य आ गया हो, परिसमाप्तेन = परिपूर्ण, वाक्येन = प्रत्याम्नायरूप वाक्य से, निश्चयापादनार्थं = निश्चय होने के लिये, प्रतिज्ञायाः = पूर्वोक्त प्रतिज्ञा का, पुनः = पुनः, वचनं = वचन, प्रत्याम्नायः = (निगमन) वाक्य कहाता है। जैसे तस्मात् = इस क्रियावत्त्व हेतु से, द्रव्यं एव = वायु द्रव्य ही है, इति = इस प्रकार। नहि = नहीं हो सकता, एतस्मिन् = इस निगमन वाक्य के, असति = न रहने पर, परेषां = दूसरे, अवयवानां = प्रतिज्ञादि अवयवों को, समस्तानां = जो राचित हों, व्यस्तानां वा = अथवा पृथक्-पृथक् भिन्न एक-एक हों, तदर्थवाचकत्वं = उस निश्चित साधनीय अर्थ का प्रतिपादन करना, अस्ति = है। गम्यमानार्थत्वात् = निगमन से बोध्यअर्थ अर्थात् प्राप्त होने से (निगमन व्यर्थ है), इति चेत् =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रसङ्गात्। तथाहि प्रतिज्ञानन्तरं हेतुमात्राभिधानं कर्तव्यम् विदुषामन्वयव्यतिरेकस्मरणात् तदर्थावगतिर्भविष्यतीति तस्मादत्रैवार्थपरिसमाप्तिः।

ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो, न = नहीं, अतिप्रसङ्गात् = अतिप्रसंग दोष होने से ।। तथाहि = क्योंकि, प्रतिज्ञानन्तरं = प्रतिज्ञा के पश्चात्, हेतुमात्राभिधानं = केवल हेतुमात्र को कहना, कर्तव्यं = करना पर्याप्त होगा, विदुषां = विद्वानों को, अन्वयव्यतिरेकस्मरणात् = अन्वय सहचार तथा व्यतिरेक सहचाररूप व्याप्ति के स्मरण से, तदर्थावगतिः = साधनीय विषय का ज्ञान, भविष्यति = स्वयं हो जायगा, तस्मात् = इस कारण, अत्र एव = इस निगमन अवयव में ही, अर्थपरिसमाप्तिः = पूर्णसाधनीय अर्थ का निश्चय समाप्त होता है ।।

भाषाभाष्य—निगमन नामक प्रत्याम्नाय अवयव का भाष्यकार ऐसा वर्णन करते हैं कि प्रतिज्ञा वाक्य से पक्ष में अनुमान विषयरूप से उद्दिष्ट साध्य धर्म के अनिश्चित होने से सुनने वाले को उसका दृढ़ निश्चय होने के लिये उसी साध्य का पुनः धर्मिरूप-पक्ष में प्रत्याम्नाय पुनः दूसरी बार कहना जिससे (वचन से) किया जाता है, उस अवयव को प्रत्याम्नाय (निगमन) कहते हैं। अर्थात् केवल जानने वाले की प्रतिज्ञा से सुननेवाले अन्य पुरुष को साध्य का निश्चय न होने के कारण उनको हेतु, उदाहरण तथा उपनय इन तीन वाक्यरूप अवयवों के दिखाने से साध्य ज्ञान का सामर्थ्य आने पर निगमन वाक्य का प्रयोग वक्ता से किये जाने पर पूर्णवाक्य से निश्चय होता हैं, अतः प्रतिज्ञा का पुनः कथनरूप निगमन अवयव की प्रवृत्ति साध्य का सुनने वाले को दृढ़ निश्चय होने के लिये होती है। जिसका पूर्वोक्त वायु के द्रव्यानुमान में उदाहरण 'तस्माद्द्रव्यम्' इस कारण वायु द्रव्य है ऐसी प्रतिज्ञा की पुनरुक्ति हेतु आदि उपनयान्त अवयवों से ही साध्य का निश्चय हो सकता है। निगमन की क्या आवश्यकता है? ऐसी यहाँ शंका नहीं हो सकती, क्योंकि बिना निगमन के हेत्वादि अवयव मिलकर अथवा पृथक् पृथक् साध्य का निश्चय नहीं करा सकते, अर्थात् स्वतंत्र होने से हेत्वादिकों को एक विषय का वे प्रतिपादन करते हैं यह सुनने वाला नहीं जान सकता, और वक्ता ने निगमन अवयव का प्रयोग करने से हेतु उदाहरण तथा उपनय एक ही अर्थ को कहते हैं यह निश्चय हो जाता है ।।

यहाँ पुनः पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि निगमन अवयव का प्रयोग न करने पर भी एकार्थ प्रतिपादन हेतु आदि तीन अवयव करते हैं, यह अर्थात् जाना जाता है, अतः निगमन की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान ऐसे दोनों अनुमान की सामग्री समान ही है, अपने ज्ञान में स्वयं अनुसन्धान (उपनय) होता है, सुनने वाले पर के ज्ञान में परवक्ता के वाक्यों के ज्ञान से अनुसंधान होता है इतना ही विशेष है, जिससे यह सिद्ध होता है कि परार्थानुमान में भी लिङ्ग के व्याप्तिरूप सामर्थ्य से ही साध्य विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है, वाक्य तो केवल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कथम् ? अनित्यः शब्दः इत्यनेनानिश्चितानित्यत्वमात्रविशिष्टः शब्दः कथ्यते प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्यनेनानित्यत्वसाधनधर्ममात्रमभिधीयते । इह यत् प्रयत्नानन्तरीयकं तदनित्यं दृष्टम् यथा घट इत्यनेन साध्यसामान्येन साधनसामान्य-

---

उक्त प्रकार के लिङ्ग की उपस्थिति करने में ही चरितार्थ हो जाता है, अतः हेत्वादि उपनयान्त तीन अवयवों से पक्षवृत्तिता तथा अन्वयव्यतिरेक सहचाररूप व्याप्ति-विशिष्ट हेतु का प्रतिपादन हो जाने के कारण निगमन अवयव की कोई आवश्यकता नहीं है ऐसा यहाँ आक्षेप का आशय है ।

सिद्धान्तिपक्ष से भाष्यकार समाधान करते हैं कि अतिप्रसङ्ग दोष होने के कारण यह पूर्वपक्षी का आक्षेप असंगत है । क्योंकि जिस प्रकार विद्वानों को यद्यपि केवल हेतु अवयव के प्रयोग से अन्वय तथा व्यतिरेक सहचाररूप व्याप्ति का स्मरण हो सकने से यह हेतु साध्य का साधक है ऐसा ज्ञान हो सकता है, तथापि व्याप्ति तथा पक्षवृत्तितादि ज्ञान होने के लिये उपनय अवयव का प्रयोग आवश्यक है, उसी प्रकार यहाँ भी हेतु का अबाधित होना तथा असत्प्रतिपक्ष (विरोधी अनुमानरहित) होना यह ज्ञान सुननेवाले को होने के लिये निगमन अवयव वाक्य की भी आवश्यकता है. नहीं तो बाधित तथा सत्प्रतिपक्षित (प्रकरणसम) हेतु भी साध्य का साधन करने लगेंगे । अतः निगमन अवयव ही से हेतु का साध्य के सिद्ध करने में सम्पूर्ण सामर्थ्य है, यह निश्चय होने से इसी निगमन में साध्य का दृढ निश्चय समाप्त होता है ।।

आन्तरिक व्याप्ति को दिखाने के लिये निगमन नामक वाक्य का प्रयोग आवश्यक है ऐसा भी कुछ दार्शनिकों का मत है, अर्थात् उपनय वाक्य से हेतु में पक्षव्यापकता सिद्ध होने पर विपरीत आपत्ति के निषेध के लिये निगमन वाक्य की भी आवश्यकता है, विपरीत अर्थ के व्यवस्थापकप्रमाण में निगमन वाक्य से अप्रमाणता का प्रतिपादन होने से पक्ष में हेतु तथा साध्य की व्याप्ति प्रतीत हो ही जाती है, जहाँ पर पक्ष का खण्डन नहीं होता वहाँ हेतु साध्य का साधक नहीं हो सकता, जैसे यह मूर्ख है उसका पुत्र होने से उपलब्ध उस के पुत्र के समान, इस अनुमान में उसके पुत्र के मूर्ख न होने में कोई बाधक नहीं है, तथा उसके मूर्ख होने में प्रमाण का न होना निश्चित ही है अतः 'तत्पुत्रत्व' रूप हेतु अन्यथासिद्ध साधन है ऐसी व्योमशिवाचार्य ने यहाँ समालोचन की है ।।

पदपदार्थ—कथम् ? = कैसे ?, अनित्यः = अनित्य है, शब्दः = शब्दगुण, इति = इस, अनेन = प्रतिज्ञावचन से, अनिश्चितानित्यत्वमात्रविशिष्टः = जिसकी अनित्यता केवल निश्चित नहीं है ऐसा, शब्दः = शब्द गुण है, कथ्यते = कहा जाता है । प्रयत्नानान्तरीयकत्वात् = प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होने से, इति अनेन = इस प्रकार के हेतु-वचन से, अनित्यत्वसाधनधर्ममात्रं = अनित्यता साध्य का साधक हेतुरूप केवल धर्म, अभिधीयते = कहा जाता है । इह = इस हेतु में, यत् = जो, प्रयत्नानान्तरीयकं =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्यानुगममात्रमुच्यते । नित्यमप्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टम् यथाऽऽकाशमित्यनेन साध्याभावेन साधनस्यासत्त्वं प्रदर्श्यते। तथा च प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो दृष्टो न च तथाऽऽकाशवदप्रयत्नानन्तरीयकः शब्द इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृष्टसामर्थ्यस्य साधनसामान्यस्य शब्देऽनुसन्धानं गम्यते । तस्मादनित्यः शब्द इत्यनेनानित्य एव शब्द इति प्रतिपिपादयिषिताऽर्थपरिसमाप्तिर्गम्यते । तस्मात् पञ्चावयवेनैव वाक्येन परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं क्रियते इत्येतत्परार्थानुमानं सिद्धमिति ॥

प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होता है, तत् = वह, अनित्यं = अनित्य, दृष्टम् = दिखता है, यथा = जैसे, घटः = घट, इति अनेन = इस प्रकार इस साधर्म्य उदाहरण से, साध्यसामान्येन = साध्यसामान्य के साथ, साधनसामान्यस्य = हेतुसामान्य का, अनुगममात्रं = केवल व्याप्ति, उच्यते = कही जाती है। (तथा) नित्यं = नित्य पदार्थ, अप्रयत्नानन्तरीयकं = प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध नहीं होता हुआ, दृष्टं = दिखता है, यथा = जैसे, आकाशं = आकाशरूप द्रव्य पदार्थ, इति अनेन = इस प्रकार इस वैधर्म्य उदाहरण से, साध्याभावेन = साध्य के अभाव के साथ, साधनस्य = हेतु का असत्वं = न रहना, प्रदर्श्यते = दिखाया जाता है। तथा च = उसी प्रकार, प्रयत्नानान्तरीयकः = प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होता हुआ, शब्दः = शब्द गुण, दृष्टः = दिखाई देता है, न च = और नहीं है, आकाशवत् = अकाश के समान, अप्रयत्नानान्तरीयकः = प्रयत्न के पश्चात् न उपलब्ध होनेवाला, शब्द = शब्दगुण इति = इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकाभ्यां = अन्वय तथा व्यतिरेक सहचार से, दृष्टसामर्थ्यस्य = जिसका सामर्थ्य देखा गया है ऐसे, साध्यसामान्यस्य = सामान्यरूप से साध्य का, शब्दे = शब्दगुण में, अनुसन्धान = अनुसंधान (पश्चात् ज्ञान), गम्यते = बोधित होता है। तस्मात् = इस कारण प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होने रूप हेतु से, अनित्यः = अनित्य है, शब्दः = शब्दगुण, इति अनेन = इस प्रकार (इस प्रतिज्ञा के पुनर्वचन से) अनित्य एव = अनित्य ही है, शब्दः = शब्दगुण, इति = ऐसा, प्रतिपियादयिषिता = बोध करने की इच्छा रखने वाले से, अर्थपरिसमाप्तिः = शब्द अनित्य ही है इस विषय की समाप्ति, गम्यते = बोधित होती है तस्मात् = इस कारण, पंचावयवेन एव = पांच अवयव वाले ही, वाक्येन = वाक्य से, परेषां = दूसरों के लिये, स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं = स्वयं अनुमानप्रमाण से निश्चित किये अर्थ का प्रतिपादन, क्रियते = किया जाता है, इति = इस कारण, एतत् = यह, परार्थानुमानं = परार्थानुमान, सिद्धं = सिद्ध होता है, इति = इस प्रकार अनुमानप्रकारण है ॥

भाषाभाष्य—एक समय में ही सम्पूर्ण अवयवों के रूप को एकत्रित कर प्रश्नपूर्वक पांच अवयव वाक्य के प्रयोग करने की भाष्यकार आवश्यकता दिखाते हुए कहते हैं कि शब्दगुण नित्य है अथवा अनित्य ? इस प्रकार दो अनित्य या नित्य धर्मों में से एक धर्म की जिज्ञासा होने पर 'शब्द अनित्य है'. इस प्रकार के प्रतिज्ञावचन से अनि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्चित अनित्यता मात्र धर्म से युक्त शब्द कहा जाता है । इसमें क्या साधक हेतु है ? ऐसी सुनने वाले को जिज्ञासा होने पर 'प्रयत्नान्तरीयकत्वात्' पूर्व में अवर्तमान शब्द की प्रयत्न करने पर उपलब्धि होती है इस हेतुवचन से अनित्यता साध्य का साधक हेतुमात्र कहा जाता है यहां मात्र शब्द से हेतुवचन से साध्य तथा साधन की व्याप्ति तथा हेतु का पक्ष में रहना बोधित नहीं होता यह सूचित होता है । इस प्रकार अनित्यता के साधक प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु को जाननेवाले पुरुष को यह हेतु कैसे साध्य को सिद्ध करता है ऐसी जिज्ञासा होने पर जैसे घट यह साधर्म्य उदाहरण वचन कहा जाता है, जो केवल अनित्यतारूप साध्य तथा प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होना, इस हेतु का अनुगम (व्याप्ति) का बोध कराता है न कि दूसरा स्वरूप यह 'अनुगममात्रं' यहां के मात्र शब्द से भाष्यकार ने सूचित किया है । इसी प्रकार नित्यपदार्थ प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध नहीं होता जैसे आकाशद्रव्य इस वैधर्म्य उदाहरण से साध्य अनित्यता के अभाव से साधन प्रयत्नानन्तरीयकत्व का अभावमात्र बोधित होता है, न कि दूसरा कोई स्वरूप । इसलिये प्रस्तुत शब्दगुणरूप पक्ष में प्रयत्नानन्तरीयकत्व से व्याप्त अनित्यत्व है अथवा नहीं ऐसी सुननेवाले को जिज्ञासा होने पर, वैसा ही शब्दगुण भी प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होता हुआ दिखता है नकि आकाश के समान विना प्रयत्न के उपलब्ध होता है, इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक से जिसका सामर्थ्य ज्ञात है अर्थात् गृहीत व्याप्ति वाले प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप हेतु का शब्दरूप धर्मी में उपस्थापन (अनुसन्धान) नामक उपनय वाक्य का प्रयोग किया जाता है। इस पर भी जो प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होता है वह अनित्य होता है ऐसी व्याप्ति होने पर भी कदाचित् प्रयत्न से उपलब्ध होने वाला भी शब्दगुण अनित्य न होगा इस प्रकार नित्यतारूप विरुद्ध पक्ष की शंका होने से यदि प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होना अनित्यता का दृढरूप से साधक न हो तो इस कारण अनित्यता से व्याप्त प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होना यह हेतु प्रस्तुत शब्दरूप धर्मी में वर्तमान होने से शब्दगुण अनित्य है ऐसा प्रत्याम्नाय (निगमन) अवयव वाक्य आवश्यक है, अर्थात् शब्दगुण में नित्यता-बोधकप्रमाण न होने से शब्दगुण नित्य नहीं ही हो सकता । तात्पर्य यह है कि नित्य-पक्ष के साधक की व्यावृत्ति होने से नित्यतारूप विपरीत शंका की निवृत्ति होने पर शब्दरूप धर्मी में पूर्वोक्त उपनय वाक्य से उपसंहार किये व्याप्ति विशिष्ट हेतु से पूर्वोक्त व्याप्ति ग्राहक अन्वय तथा व्यतिरेक सहचाररूप प्रमाण के सामर्थ्य से निःसन्दिग्ध सुनने वाला शब्द में अनित्यता को दृढ निश्चय से प्रमाण मानने लगता है, इससे अधिक उसे किसी भी शब्द को अनित्य मानने में अपेक्षा नहीं रहती, अतः शब्द अनित्य ही है यह बोधन करने की इच्छा से प्रयुक्त निगमनरूप अन्तिम अवयव में शब्द में अनित्यता-साधन का विषय पूर्णरूप से समाप्त हो जाता है । इसलिये पांच उक्त अवयव वाले वाक्य ही से सुनने वाले को शब्द में अनित्यता का दृढ़ निश्चय होने के लिये वक्ता स्वयं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२७) निर्णयस्य प्रमाणान्तरत्वखण्डनम् ।

विशेषदर्शनजमवधारणज्ञानं संशयविरोधी निर्णयः । एतदेव प्रत्यक्षमनुमानं वा । यद् विशेषदर्शनात् संशयविरोध्युत्पद्यते स प्रत्यक्षनिर्णयः । यथा स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वतामात्रसादृश्यालोचनाद्विशेषेष्वप्रत्यक्षेषूभयविशेषानुस्मरणात् किमयं स्थाणुः पुरुषो वेति संशयोत्पत्तौ शिरःपाण्यादिदर्शनात् पुरुष एवायमित्यवधारणज्ञानं प्रत्यक्षनिर्णयः । विषाणमात्रदर्शनाद् गौर्गवयो वेति संशयोत्पत्तौ सास्नामात्रदर्शनाद् गौरेवायमित्यवधारणज्ञानमनुमाननिर्णय इति ॥

अनुमानप्रमाण द्वारा निश्चित शब्द की अनित्यता का बोध कराता है ।। इस प्रकार अनुमानप्रमाण का वर्णन समाप्त है ।

यहां पर शब्द अनित्य है प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होने से, इस अनुमान में शब्दविशेष को पक्ष लेना चाहिये सामान्यरूप से संपूर्ण नहीं, क्योंकि सभी शब्द प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध नहीं होते, अतः भागासिद्धिदोष के परिहार के लिये शब्दविशेष ही पक्ष है, ऐसी व्योमवतीकार ने समालोचना की है ।। सूत्र ३४१–३४५ ।।

(२७) निर्णय का प्रमाणान्तरत्व खण्डनप्रकरण

पदपदार्थ—विशेषदर्शनजं = विशेष दर्शन से उत्पन्न, अवधारण ज्ञानं = निश्चयात्मक ज्ञान, संशयविरोधी = सन्देह के विरुद्ध, निर्णयः = निर्णय कहाता है । एतत् = यह, एव = ही, प्रत्यक्षं = प्रत्यक्षज्ञान, अनुमानं वा = अथवा अनुमितिरूप ज्ञान होता है । यत् = जो, विशेषदर्शनात् = विशेष के दर्शन से, संशयविरोधि = संशय के विरुद्ध उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, सः = वह, प्रत्यक्षनिर्णयः = प्रत्यक्षज्ञानरूप निर्णय कहाता है । यथा = जैसे, स्थाणुपुरुषयोः = वृक्ष तथा मनुष्य के, ऊर्ध्वतामात्रसादृश्यालोचनात् = केवल ऊर्ध्वतारूप सादृश्यमात्र को देखने रूप सामान्य ज्ञान से, विशेषेषु = कोटर तथा मस्तक इत्यादि विशेष धर्मों के, अप्रत्यक्षेषु = प्रत्यक्ष न होने पर, उभयविशेषानुस्मरणात् = उक्त दोनों विशेषों के स्मरण होने पर, किं = क्या, अयं = यह ऊँचा दीखने वाला, (ऊर्ध्वं पदार्थ), स्थाणुः = वृक्ष है, पुरुषः वा = अथवा मनुष्य है, इति = ऐसा, संशयोत्पत्तिः = संशय होने पर, शिरःपाण्यादिदर्शनात् = मस्तक-हाथ इत्यादिकों के दर्शन से, पुरुषः एव = मनुष्य ही है, अयं = यह ऊर्ध्वं दिखाई देने वाला, इति = इस प्रकार, अवधारणं = निश्चयात्मक ज्ञानं, प्रत्यक्षनिर्णयः = प्रत्यक्ष-निर्णय कहाता है ।। विषाणमात्रदर्शनात् = केवल शृङ्ग के दर्शन से, गौः = गौ है, गवयः वा = अथवा गवय (नीलगाय), इति = इस प्रकार, संशयोत्पत्तौ = सन्देह के उत्पन्न होने पर, गौः एव = गौ ही है, अयं = यह दिखने वाला, इति = इस प्रकार, अवधारणं = निश्चयात्मक ज्ञान, अनुमाननिर्णयः = अनुमिति ज्ञानरूप निर्णय होता है ।।

भाषाभाष्य—कुछ विद्वान् लोक निर्णय को प्रत्यक्ष तथा अनुमान से प्रमाणान्तर (भिन्न प्रमाण) मानते हैं उनका मत खण्डन करने के लिये भाष्यकार कहते हैं कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२८) स्मृतिप्रकरणम् ।

लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगविशेषात् पटुत्वभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च संस्कारादू दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति ॥

विशेष धर्म के दर्शन से उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान संशय के विरुद्ध उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष, अथवा अनुमानरूप-ही है, अर्थात् प्रत्यक्ष के विषय में उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्षनिर्णय, तथा अनुमान के विषय में उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान अनुमान निर्णय होता है, अतः उन दोनों का प्रत्यक्ष तथा अनुमान-प्रमाण ही में अन्तर्भाव होने से निर्णय को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। उक्त दो प्रकार के निर्णयों में से प्रथम प्रत्यक्षनिर्णय का उदाहरण भाष्यकार इस प्रकार देते हैं कि जिस प्रकार किसी दूर से ऊंचे पदार्थ को देखकर वृक्ष तथा मनुष्य जो उसने पूर्व में ऊँचे देखे थे उसकी केवल ऊर्ध्वतामात्र सादृश्य के दर्शन से कोटर-शाखा तथा हाथ-मस्तक इत्यादि विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष जिस समय तक नहीं होता उस समय तक उक्त दोनों के विशेष धर्मों का स्मरण होने से यह वृक्ष अथवा मनुष्य है ऐसा सन्देह होने के पश्चात् समीप जाने पर मस्तक-हस्त आदि विशेषों के देखते ही यह मनुष्य ही है ऐसा जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष निर्णय होता है। इसी प्रकार दूर से किसी पशु के केवल शृंग को देखकर यह गौ है अथवा गवय ऐसा संशय होने पर सास्ना (गलकंबल) इत्यादि विशेष गौ के धर्मों को देखकर व्याप्ति स्मरण तथा पक्षधर्मता ज्ञान से यह पशु गौ ही है सास्नादिविशेष धर्मविशिष्ट होने से ऐसा अनुमानात्मक निर्णय (निश्चित ज्ञान) होता है, वह अनुमान निर्णय होता है ॥ सू० ३५३–३५७ ॥

(२८) स्मृतिप्रकरण

पदपदार्थ—लिङ्गदर्शनच्छानुस्मरणाद्यपेक्षात् = लिङ्गदर्शन, इच्छा तथा पश्चात् स्मरण, इत्यादिकों के अपेक्षा करने वाले, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोविशेषात् = विशेष संयोग से, पद्वभ्यायादरप्रत्ययजनितात् च = और दृढ़ अभ्यास तथा आदर ज्ञान से उत्पन्न, संस्कारात् = भावनाख्य संस्कार से, दृष्टश्रुतानुभूतेषु = प्रत्यक्ष अथवा शब्दप्रमाण से अनुभव किये हुए, अर्थेषु = पदार्थों में, शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुः = अन्तिम अनुमेय ज्ञान, इच्छा, पश्चात्स्मरण तथा द्वेष का कारण, अतीतविषया = अतीत (भूत) पदार्थ विषयक, स्मृतिः = स्मरण, होता है, इति = इस प्रकार ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा लैङ्गिक दो विद्याओं का विस्तार से निरूपण कर क्रमप्राप्तस्मृति नामक तृतीय विद्या का वर्णन करते हुए प्रशस्तदेव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२९) आर्षज्ञानप्रकरणम् ।

आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेषु घर्थेषु धर्मादिषु

कहते हैं कि लिङ्गदर्शन, इच्छा, पश्चात् स्मरण आदि-आदि पद से अ०३.आ०२-सूत्र ४४) न्यायसूत्र में वर्णित प्रणिधान इत्यादिकों की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के संयोगविशेषरूप असमवायि कारण से आत्मारूप समवायि द्रव्य में, लिङ्ग दर्शनादि के समान भावना नामक संस्कार भी सहायक होता है, क्योंकि केवल लिङ्गदर्शनादिकों से स्मरण नहीं होता है अतः दृढ़ अभ्यास तथा आदरज्ञानजन्य भावना नामक संस्काररूप निमित्त कारण से भी प्रत्यक्ष किये हुए शब्दप्रमाण से जाने हुए तथा अनुमानप्रमाण से जाने हुए विषयों में 'स्मृति (स्मरण) नाम का जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे स्मृतिविद्या कहते हैं। जो शेषानुव्यवसाय (प्रथम लिङ्ग-दर्शन के पश्चात् होने वाला अनुमेय ज्ञान अर्थात् परामर्श ज्ञान, इच्छा, पश्चात् स्मरण तथा द्वेषरूप कार्यों को उत्पन्न करती है, अर्थात् व्याप्ति का स्मरण प्रथम लिङ्ग-दर्शन के पश्चात् होने वाले अनुमेय (साध्य) के ज्ञान का कारण होता है, इससे मुझे सुख हुआ था इस प्रकार सुखसाधन होने का स्मरण उस विषय में इच्छा का कारण होता है, तथा प्रथम पद का स्मरण द्वितीय पद के स्मरण का कारण होता है— इससे मुझे दुःख हुआ था इस प्रकार दुःख साधक का स्मरण द्वेष का कारण होता है अतः शेषानुव्यवसाया इत्यादि स्मृति नामक विद्या के कार्य हैं। किन्तु स्मरण का अतीत (बीता हुआ) ही पदार्थ विषय होता है इस कारण यह अतीत विषय में ही होती है, इसी कारण पदार्थ ज्ञान में वह प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह पूर्व हुये प्रत्यक्षादि अनुभवों के अधीन होने से पदार्थ ज्ञान में स्वतंत्र कारण नहीं है ऐसा श्रीधराचार्य ने कन्दली में कहा है। इसी कारण प्रत्यक्ष तथा लैङ्गिकज्ञानरूप विद्या के जैसे प्रत्यक्ष तथा अनुमान नामक दो प्रमाण आवश्यक हैं इस प्रकार स्मृति तथा आर्ष नामक विद्या के लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता न होने से वैशेषिक मत में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण माने गये हैं यह भाष्यकार का गूढ अभिप्राय है। यहाँ पर स्मृति अतीत विषय होती है इस लक्षण के विद्यमान पदार्थ में भी स्मरण होने से अव्याप्ति, तथा अनुमानादिकों के भी अतीत विषय होने के कारण अतिव्याप्ति दोष हो जायगा इस कारण अतीतविषयता स्मृति में औपचारिक (गौण) है न कि मुख्य है ऐसी यहां पर व्योमशिवाचार्य ने समालोचना की है ॥ सूत्र—३४७ ॥

(२९) आर्षज्ञानप्रकरण

पदपदार्थ—आम्नायविधातॄणां = आगम को निर्माण करने वाले, ऋषीणां = ऋषियों के, अतीतानागतवर्तमानेषु = भूत, भविष्य तथा वर्तमान, अतीन्द्रियेषु = अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से ग्रहण करने के अयोग्य) अर्थेषु = पदार्थों में, धर्मादिषु = धर्म-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते । तत्तु प्रस्तारेण देवर्षीणाम् । काचिदेव लौकिकानां यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयतीति ॥

(३०) सिद्धदर्शनान्तर्भावप्रकरणम् ।

सिद्धदर्शनं न ज्ञानान्तरम् । कस्मात् ? प्रयत्नपूर्वकमञ्जनपादलेपखड्ग-

---

अधर्म इत्यादिकों में. ग्रन्थोपनिबद्धेषु = ग्रन्थों में उल्लिखित, अनुपनिबद्धेषु च = न उल्लेख किये हुए भी विषयों में. आत्ममनसोः संयोगात्=आत्मा तथा मन के संयोग से, धर्मविशेषात् च = और धर्मविशेष से भी. यत् = जो. प्रातिभं = स्फूर्ति नामक ज्ञान से उत्पन्न, यथार्थनिवेदनं = वास्तविक विषय का निवेदन करने वाला, ज्ञानं = ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तत् = वह, आर्षं = आर्ष, ज्ञान है. इति = ऐसा, आचक्षते= कहते हैं । तत् तु = किन्तु वह होता है, प्रस्तारेण = विस्तार से, देवर्षीणां = देवर्षियों को, कदाचित् एव = किसी ही समय में, लौकिकानां = लौकिक पुरुषों को, यथा = जैसे, कन्यका = बालिका, ब्रवीति = कहती है, श्वः = कल, मे = मेरा, भ्राता = भाई, आगन्ता = आवेगा, इति=ऐसा, हृदयं मे=मेरा हृदय, कथयति = कहता है, इति= इस प्रकार ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार प्रत्यक्ष. लैङ्गिक तथा स्मृति ऐसी तीन विद्याओं का निरूपण कर चतुर्थ आर्षज्ञान नामक विद्या का भाष्यकार ऐसा निरूपण करते हैं कि वेदादिकों का निर्माण करनेवाले महर्षियों को भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल के इन्द्रियों से गृहीत न होनेवाले धर्म, अधर्म, दिशा तथा काल पदार्थों का तथा ग्रन्थों में लिखित अथवा न लिखे हुए भी पदार्थों का जो इन्द्रिय तथा साधक हेतु इत्यादिकों के न रहने पर भी पदार्थ का ज्ञान होता है, वह प्रतिभा कहा जाता है और उसे ही जिसका आर्ष ऐसा दूसरा नाम है प्रातिभज्ञान कहा जाता है ।

'बिना' कारण के आर्षज्ञान कैसे होगा ?' इस शंका के समाधानार्थ 'धर्मविशेषात्' इस पद से धर्मविशेष को आर्षज्ञान का कारण सूचित किया है, जो महर्षियों को विद्या, तपश्चर्या तथा योगबल से उत्कृष्ट धर्म प्राप्त होता है । ऐसा उक्त आर्षज्ञान अधिकतर महर्षियों को तथा किसी-किसी समय लौकिक प्राणियों को भी होता है, क्योंकि किसी बालिका को 'तेरा भाई देश से किस दिन आवेगा ?' ऐसा प्रश्न करने पर, वह कन्या उत्तर में कहती है कि मेरा हृदय कहता है कि मेरा भाई कल देश से आवेगा. जो कभी-कभी उसका कहना सत्य हो जाता है, इस प्रकार आर्षज्ञानरूप चतुर्थ-विद्या का वर्णन समाप्त हुआ ।

(३०) सिद्धदर्शनान्तर्भावप्रकरण

पदपदार्थ—सिद्धदर्शनं=सिद्ध का ज्ञान, न=नहीं है, ज्ञानान्तरम्=दूसरा भिन्न ज्ञान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुलिकादिसिद्धानां द्रश्यद्रष्टॄणां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेष्वर्थेषु यद्दर्शनं तत्प्रत्यक्षमेव। अथ दिव्यान्तरिक्षभौमानां प्राणिनां ग्रहनक्षत्रसञ्चारादिनिमित्तं धर्माधर्मविपाकदर्शनमिष्टम् तदप्यनुमानमेव। अथ लिङ्गानपेक्षं धर्मादिषु दर्शनमिष्टं तदपि प्रत्यक्षार्षयोरन्यतरस्मिन्नन्तभूतमित्येवं बुद्धिरिति ॥

कस्मात् = किस कारण, प्रयत्नपूर्वकं = प्रयासपूर्वक, अञ्जनपादलेपखड्गगुलिकादिसिद्धानां = अंजन (काजल) पादलेप (पैर में औषधि का लेपन) खड्ग (तलवार) गुलिका (विशेष दवा की गोली) इत्यादिकों में सिद्धि रखने वाले सिद्ध पुरुषों को, दृश्यद्रष्टृणां = जो ध्येय पदार्थों को देखते हैं, सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु = सूक्ष्म व्यवधानयुक्त तथा दूरस्थ, अर्थेषु = पदार्थों में, यत् = जो, दर्शनं = प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तत् = वह, प्रत्यक्ष एव = प्रत्यक्ष ज्ञान ही है। अथ = और, दिव्यान्तरिक्षभौमानां = स्वर्ग के, अन्तरिक्ष (आकाश) के तथा भूमि पर होने वाले, प्राणिनां = प्राणियों का, ग्रहनक्षत्रसञ्चारादिनिमित्तं = ग्रह तथा ताराओं के मण्डल में भ्रमण के निमित्त, धर्माधर्म-विपाकदर्शनं = धर्म तथा अधर्म के फल का दर्शन होना, इष्टं = इष्ट (अभिमत) है, तत् अपि = वह भी, अनुमानं एव = अनुमान ही है। अथ = और यदि, लिङ्गानपेक्षं = साधक हेतु की आवश्यक न रखनेवाला, धर्मादिषु = धर्म अधर्म इत्यादिकों में, दर्शनं = उक्त सिद्धदर्शन, इष्टं = अभिमत हो, तत् अपि = वह भी, प्रत्यक्षार्षयोः = प्रत्यक्ष अथवा आर्षज्ञान इन दो में से, अन्यतरस्मिन् = किसी एक में अन्तर्भूतं = अन्तर्गत है, इति = इस प्रकार, एवं = ऐसी, बुद्धिः = बुद्धिगुण, इति = समाप्त है।

भाषाभाष्य—कुछ विद्वान् (आर्षज्ञान) सिद्धपुरुषों के दर्शनात्मकज्ञान को चार विद्याओं से भिन्न पांचवीं विद्या मानते हैं उनका खण्डन करने के लिये भाष्यकार कहते हैं कि सिद्धदर्शन नामक ज्ञान चार उक्त प्रत्यक्षादिविद्याओं से भिन्न पाँचवीं विद्या नहीं हो सकती। इसी विषय का प्रयत्नपूर्वक भाष्यकार ऐसा विवरण करते हैं कि प्रयत्न से जिन सिद्धपुरुषों ने स्वर्ग, अन्तरिक्ष (आकाश) तथा भूमि पर रहनेवाले सूक्ष्म, व्यवहित (व्यवधानयुक्त) और दूरस्थ विषयों के प्रत्यक्ष होने के लिए आंखों में दिव्यशक्ति आने के लिये अंजन (काजल) सिद्ध कर लिया हो तथा पाद (पैर) में शीघ्र दूर पहुंच जाने के लिये कोई पैर में लगाने की औषधि का लेप सिद्ध कर लिया हो, तथा खड्ग (तलवार) तथा औषधिविशेष की गोलियां सिद्ध कर दर्शनयोग्य पदार्थों को देखनेवाले सिद्ध महात्मा पुरुषों के उक्त अंजनादि सिद्ध उपायों से अत्यन्त सूक्ष्म व्यवधानयुक्त तथा अति दूर रहनेवाले पदार्थों का जो दर्शनात्मक ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्षज्ञानरूप विद्या ही में अन्तर्गत है। तथा स्वर्ग, आकाश तथा भूमि पर रहनेवाले प्राणियों का सूर्यादिग्रह तथा अश्विनी-भरणी इत्यादि सत्ताइस नक्षत्र तथा [illegible] ताराओं में भ्रमण तथा नरकादि स्थिति इत्यादिकों के कारण धर्म तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३१) सुखप्रकरणम्।

अनुग्रहलक्षणं सुखम्। स्रगाद्यभिप्रेतविषयसान्निध्ये सतीष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्धर्माद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगादनुग्रहाभिष्वङ्गनयनादिप्रसादजनकमुत्पद्यते तत् सुखम्। अतीतेषु विषयेषु स्मृतिजम्। अनागतेषु सङ्कल्पजम्।

अधम का यह फल है ऐसा दर्शनात्मक ज्ञान होता है, वह सिद्धदर्शन भी अनुमान (लैङ्गिक) ज्ञान ही है। यदि उक्त धर्माधर्म का दर्शन होने में साधक लिङ्ग की आवश्यकता न हो तो वह भी प्रत्यक्ष अथवा आर्षज्ञान इन दोनों में से किसी एक में अन्तर्गत हो सकता है, अर्थात् यदि सिद्धों को इन्द्रिय से स्वर्गादिक में रहनेवाले प्राणियों के धर्मादिकों का दर्शनात्मकज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न हो तो उसका प्रत्यक्ष विद्या में और यदि इन्द्रिय की अपेक्षा न कर उक्त प्रकार से सिद्धों को दर्शनात्मक ज्ञान उत्पन्न हुआ हो तो आर्षज्ञान नामक विद्या में ही अन्तर्भाव हो सकता है, अतः यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष, लैङ्गिक, स्मृति तथा आर्षज्ञान ऐसी विद्या चार ही प्रकार की हैं। इस प्रकार 'बुद्धि' नामक गुण का निरूपण समाप्त है।

यहां पर मुक्तात्माओं की व्यावृत्ति करने के लिये 'दृश्यद्रष्टृणां' यह सिद्धों में विशेषण दिया है! ज्योतिषशास्त्र के अनुसार प्राणियों को इस प्रकार सुख या दुःख होगा, इस ज्ञान को भी कुछ विद्वान् प्रमाणान्तर मानते हैं। उसका निरास करने के लिये भाष्य में कहा है कि दिव्य उल्कापातादि, आन्तरिक्ष दिग्दाहादि तथा भूकम्प आदि से प्राणियों को सुख या दुःख होगा ऐसा ग्रहसंचारादिकों से जानकर फलादेश करना भी अनुमानप्रमाण में ही अन्तर्भूत है, क्योंकि वह लिङ्गदर्शन तथा व्याप्तिस्मरण से ही होता है, यदि लिङ्ग की अपेक्षा न कर उक्त आदेशरूप धर्माधर्मदर्शन इन्द्रियार्थसंनिकर्ष की अपेक्षा से हो तो वह प्रत्यक्ष में यदि इन्द्रियार्थ संनिकर्ष की भी अपेक्षा न करे तो धर्मविशेष से उत्पन्न होने से आर्षज्ञान में ही अन्तर्भाव होगा ऐसी व्योमवती में समालोचना यहां पर की गई है। सू० ३५४॥

(३१) सुखप्रकरण

पदपदार्थ--अनुग्रहलक्षणं = अनुकूल स्वभाव, सुखं = सुख नामक गुण होता है। स्रगाद्यभिमतविषयसान्निध्ये सति = माला इत्यादि प्रियविषयों के समीप होने पर, इष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षात् = प्रियविषय की प्राप्ति तथा इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से, धर्माद्यपेक्षात् = धर्मादिकों की अपेक्षा करने वाले आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगात् = संयोग से, अनुग्रहाभिष्वङ्गनयनादिप्रसादजनकं = अनुग्रह (सुखानुभव) अभिष्वंग (अनुराग) चक्षु आदि इन्द्रियों की निर्मलता इत्यादि कार्यों का उत्पादक, उत्पद्यते = जो उत्पन्न होता है, तत् = वह, सुखं = सुख नामक गुण है। अतीतेषु = भूत, विषयेषु = विषयों में, स्मृतिजम् = स्मरण से सुख उत्पन्न होता है। अनागतेषु =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यत्तु विदुषामसत्सु विषयानुस्मरणेच्छासङ्कल्पेष्वाविर्भवति तद्विद्याशमसन्तोष-धर्मविशेषनिमित्तमिति ॥

भविष्य विषयों में = संकल्पजं = इच्छा से उत्पन्न होता है। यत् तु = और जो, विदुषां = विद्वानों का, असत्सु = न रहने पर, विषयानुस्मरणेच्छासंकल्पेषु = विषय का पश्चात् स्मरण, इच्छा, मनोरथ इनके, आविर्भवति = प्रकट होता है, तत् = वह, विद्याशमसन्तोषधर्मविशेषनिमित्तं = विद्या, शान्ति, सन्तोष तथा धर्म विशेष कारणों से होता है, इति = इस प्रकार सुख गुण है।

भाषाभाष्य—इस प्रकार चतुर्विंशति गुणों में विद्या तथा अविद्या और उन दोनों के अवान्तर भेदों से विस्तृत बुद्धि (ज्ञान) गुण का वर्णन करने के पश्चात् सुख गुण का वर्णन करते हैं (क्योंकि सुख ज्ञान का कार्य है) कि प्राणिमात्र को अनुकूल स्वभाव होने से अपने विषय में अनुभव को कराता हुआ अन्य मनुष्य का सुख अनुग्रह करता है, क्योंकि माला, चन्दन, कामिनी, पुत्र इत्यादि प्रिय वस्तुओं के सान्निध्य होने पर प्रिय वस्तु की प्राप्ति तथा चक्षुरादि इन्द्रियों का उनसे सन्निकर्ष होने से धर्मादि निमित्त कारणों की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के संयोगरूप असमवायि-कारण द्रव्य में सुखगुणरूप कार्य उत्पन्न होता है, जिसका सुखानुभवरूप अनुग्रह अनुराग तथा चक्षु आदि इन्द्रिय, मुख इनकी निर्मलता करना फल (कार्य) है। प्रिय-विषय के संनिहित होन पर भी विषयांतर में चित्त के संलग्न रहते सुख उत्पन्न नहीं होता इसलिये विषय की उपलब्धि को, तथा वियोग दशा में भी सुख नहीं होता अतः प्रियविषय में इन्द्रियसंनिकर्ष को भी सुख में कारण माना गया है। 'धर्मादि' यहाँ पर आदि पद से स्वस्थता भी सुख में कारण है, यह जानना चाहिये। किन्तु आत्मज्ञानी विद्वान् पुरुषों की आत्मा को जो विषय तथा उसका स्मरण, उसकी इच्छा तथा उस प्रियविषय में मनोरथ इत्यादिकों के न रहने पर भी जो सुख आत्मा में प्रगट होता है, वह आत्मज्ञानरूप विद्या, जितेन्द्रियता, शरीर निर्वाह से अधिक विषयों की इच्छा न रहनारूप सन्तोष, तथा संसार से निवृत्ति कराने वाले उत्कृष्ट धर्मविशेषों से होता है, जो वैषयिक सुख के समान दुःखाक्रान्त न होने से वास्तविक सुख कहलाता है। जो विद्वान् दुःख का अभाव ही सुख है ऐसा मानते हैं उनके मत में आनन्दरूप से आत्मा अनुभव का विरोध होगा; तथा मैं हित वस्तु को प्राप्त करूंगा, अहित वस्तु का त्याग करूंगा इस प्रकार दोनों प्रकार की प्राणिमात्र की प्रवृत्ति भी न बन सकेगी, इसलिये सुख को भी भावरूप गुण पदार्थ मानना आवश्यक है ऐसी यहाँ श्रीधराचार्य ने मीमांसा की है॥ सूत्र ३५५ से ३६० तक तथा २९३ सूत्र देखना॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३२) दुःखप्रकरणम् ।

उपघातलक्षणं दुःखम् । विषाद्यनभिप्रेतविषयसान्निध्ये सत्यनिष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षादधर्माद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगाद्यदमर्षोपघातदैन्यनिमित्तमुत्पद्यते तद् दुःखम् । अतीतेषु सर्पव्याघ्रचौरादिषु स्मृतिजम् । अनागतेषु सङ्कल्पजमिति ।

(३३) इच्छाप्रकरणम् ।

स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्तप्रार्थनेच्छा । सा चात्ममनसोः संयोगात् सुखाद्य-

---

(३२) दुःखप्रकरण ।

पदपदार्थं—उपघातलक्षणं = पीडास्वरूप, दुःखं=दुःख नाम का गुण है, विषाद्यनभिप्रेतविषयसान्निध्ये = विष इत्यादि अनिष्टजनक विषयों की समीपता, सति = होने पर, अनिष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षात् = अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा अनिष्ट वस्तु के साथ-साथ चक्षु आदि इन्द्रियों के संन्निकर्ष से, अधर्माद्यपेक्षात् = अधर्मादिकों की अपेक्षा करने वाले, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के संयोग से, यत् = जो, अमर्षोपघातदैन्यनिमित्तं = अमर्ष (असहन होना) उपघात (दुःखानुभव) दैन्य-दीनता इत्यादि कार्य का जनक, उत्पद्यसे = उत्पन्न होता है, तत् = वह, दुखं = दुःख नामक गुण है । अतीतेषु = भूतकाल में वर्तमान, सर्पव्याघ्रचौरादिषु = सर्प व्याघ्र, चोर इत्यादि विषयों में, स्मृतिजं = स्मरण से उत्पन्न होता है । अनागतेषु = भविष्यकाल में आने वाले सर्प इत्यादिकों में, संकल्पजं = इच्छा से उत्पन्न होता है ।।

भाषाभाष्य—सुख के विरोधी होने से सुख के अनन्तर क्रमप्राप्त दुःख नामक गुण का भाष्यकार वर्णन करते हैं कि पीडा स्वभाव वाला दुःख गुण कहाता है, अर्थात् विष इत्यादि अनभिप्रेत विषयों के समीप होने पर उनकी प्राप्ति तथा उनके साथ चक्षु आदि इन्द्रियों के संयोगादिसंनिकर्ष होने से अधर्म, काल, इत्यादि निमित्त कारणों की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के संयोगरूप असमवायि कारण से आत्मारूप समवायिकारण में अमर्ष (असहनशीलता) उपघात (दुःख का अनुभव) तथा दीनता (कान्तिहीनता) इत्यादि कार्यों का उत्पादक दुःखरूप गुण उत्पन्न होता है। अर्थात् प्रतिकूल स्वभाव होने के कारण उत्पन्न हुआ दुःख अपने विषय के अनुभव को अनुभव कराता हुआ आत्मा की पीडा से घात करता है ।। यहां सुख प्रकरण का सूत्र देखना चाहिये ।।

(३३) इच्छाप्रकरण

पदपदार्थं—स्वार्थं अपने लिये, परार्थं वा = अथवा दूसरे के लिये, अप्राप्तप्रार्थना = न प्राप्त हुये वस्तु की अभिलाषा, इच्छा = इच्छा नामक गुण है । सा च = और वह आत्मनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगात् = संयोग से, सुखाद्यपेक्षात् = सुखादिकों की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद्वोत्पद्यते। प्रयत्नस्मृतिधर्माधर्महेतुः। कामोऽभिलाषः रागः सङ्कल्पः कारुण्यं वैराग्यम् उपधा भाव इत्येवमादय इच्छाभेदाः।

मैथुनेच्छा कामः। अभ्यवहारेच्छाऽभिलाषः। पुनः पुनर्विषयानुरञ्जनेच्छा रागः। अनासन्नक्रियेच्छा सङ्कल्पः। स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम्। दोषदर्शनाद्विषयत्यागेच्छा वैराग्यम्। परवञ्चनेच्छा उपधा। अन्तर्निगूढेच्छा भावः। चिकीर्षाजिहीर्षेत्यादिक्रियाभेदादिच्छाभेदा भवन्ति।

अपेक्षा करने वाले, स्मृत्यपेक्षात् वा = अथवा स्मरण की अपेक्षा करने वाले से, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है। प्रयत्नस्मृतिधर्माधर्महेतुः = प्रयत्न, स्मरण, धर्म तथा अधर्म का कारण है अधर्म होता है। कामोऽभिलाषः रागः संकल्प कारूण्यं, वैराग्यं, उपधाभावः इति एवं = काम, अभिलाष, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा, भाव, यह सब, आदयः = इत्यादिक, इच्छाभेदाः = इच्छा गुण के भेद हैं।

भाषाभाष्य—इस प्रकार के दुःख निरूपण के पश्चात् क्रमप्राप्त इच्छा गुण का वर्णन करते हैं कि अपने लिये या परपुरुष (अन्य प्राणी) के लिये न प्राप्त हुए विषय की प्राप्ति की अभिलाषा को इच्छा नामक गुण कहते हैं। वह इच्छा सुख आदि की अपेक्षा करने वाले अथवा स्मरणरूप निमित्त कारण की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के संयोगरूप असमवायिकारण से आत्मारूप समवायिकारण में उत्पन्न होती है जिससे प्रयत्न, स्मरण, धर्म तथा अधर्मरूप कार्य उत्पन्न होते हैं। क्योंकि ग्रहण की इच्छा से उसके अनुकूल आत्मा यत्न करता है, स्मरण की इच्छा से स्मरण होता है। यागादिकों में फल की इच्छा से प्रवृत्ति धर्म उत्पन्न होता है॥ निषिद्ध में प्रवृत्ति भविष्य में सुख देने वाले पदार्थों में जो इच्छा होती है उसमें उन पदार्थों से होने वाला भी भविष्य सुख भी मिमित्त कारण है। व्यतीत सुख के कारण में इच्छा होने से स्मरण भी कारण है। काम, अभिलाष, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा भाव इत्यादिक इच्छा के ही भेद हैं, जिसकी स्वयं भाष्यकार आगे व्याख्या करते हैं।

पदपदार्थ—मैथुनेच्छा = विषय भोग की इच्छा, कामः = काम कहलाता है। अभ्यवहारेच्छा = भोजन की इच्छा, अभिलाषः = अभिलाप कहाता है। पुनः पुनः = बार-बार, विषयानुरञ्जनेच्छा = विषय के सम्बन्ध की इच्छा, रागः = राग कहाता है। अनासन्नक्रियेच्छा = अप्राप्त के करने की इच्छा, संकल्पः = संकल्प कहा जाता है। स्वार्थं = स्वार्थ की, अनपेक्ष्य = अपेक्षा न कर, परदुःखप्रहाणेच्छा = दूसरे के दुःख के नाश करने की इच्छा, कारुण्यं = कारुण्य कहाता है। दोषदर्शनात् = दोप के दर्शन से विषयत्यागेच्छा = विषयों के त्याग की इच्छा, वैराग्यं = वैराग्य कहाता है। परवञ्चनेच्छा = दूसरे के ठगने की इच्छा, उपधा = उपधा कहाती है, अन्तर्निगूढेच्छा = अन्तःकरण में गुप्त इच्छा, भावः = भाव कहाती है। चिकीर्षाजिहीर्षेत्यादिक्रियाभेदात् = करने की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३४) द्वेषप्रकरणम् ।

प्रज्वलनात्मको द्वेषः । यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते स द्वेषः । स चात्ममनसोः संयोगाद् दुःखापेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद्वोत्पद्यते । प्रयत्नस्मृतिधर्माधर्महेतुः । क्रोधो द्रोहः मन्युरक्षमाऽमर्ष इति द्वेषभेदाः ॥

इच्छा, त्याग को इच्छा इत्यादिक इच्छा भी अनेक प्रकार की क्रियाओं के भेद से, इच्छाभेदाः = इच्छा के भेद, भवन्ति = होते हैं ।

भाषाभाष्य—काम, अभिलाष इत्यादिक इच्छा के ही विशेष भेद हैं, दूसरे गुणादि पदार्थ नहीं हैं । इस आशय से मैथुनेच्छा कामः इत्यादि भाष्य में प्रशस्तदेव ने उक्त इच्छा के भेद दिखाये हैं, जिसका अर्थ पदपदार्थ से ही स्पष्ट हो जाता है, अतः भाषाभाष्य पृथक् लिखने की आवश्यकता नहीं है । सूत्र २५० से २५४ तक ५ सूत्र यहाँ देखना चाहिये ।।

(३४) द्वेषप्रकरण

पदपदार्थ—प्रज्वलानात्मकः = जलन (डाह) स्वरूप, द्वेषः = द्वेष नामक गुण है । यस्मिन् = जिसके, सति = होने पर, प्रज्वलित इव = सन्तप्त के समान, आत्मानं = अपनी आत्मा के, मन्यते = समझता है, सः = वह, द्वेषः = द्वेष गुण है । सः च = और वह द्वेष आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगात् = संयोग से, दुःखापेक्षात् = दुःख की अपेक्षा करने वाले, स्मृत्यपेक्षात् वा = अथवा स्मरण की अपेक्षा करने वाले से, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है । प्रयत्नस्मृतिधर्माधर्महेतुः = जो प्रयत्न, स्मरण, धर्म, तथा अधर्म का कारण है । क्रोधः = कोप, द्रोहः = डाह, मन्युः = मन्यु, अक्षमा=असहनशीलता, अमर्षः = अमर्ष, इति = ये सब, द्वेषभेदाः = द्वेष के भेद हैं ।।

भाषाभाष्य—क्रमप्राप्त द्वेषगुण का इच्छा के पश्चात् वर्णन करते हैं कि प्रज्वलन (सन्ताप) स्वरूप गुण द्वेष कहाता है अर्थात् जिसके होने से प्राणी अपनी आत्मा को प्रज्वलित (जलते हुए) के समान समझता है वह द्वेष नामक गुण है, वह द्वेष दुःख की अपेक्षा अथवा स्मरण की अपेक्षारूप निमित्त कारण से आत्मा तथा मन के संयोगरूप असमवायिकरण से आत्मारूप द्रव्य मे उत्पन्न होता है । प्रयत्न, स्मरण, धर्म एवं अधर्मरूप कार्यों को उत्पन्न करता है । क्योंकि द्वेष से मैं इसे मार डालूँ, यह समझकर उसका प्रयत्न द्वेषी प्राणी करता है । वेद शास्त्रादिकों के वास्तविक अर्थ के विपरीत अर्थ करने वालों में द्वेष करने से अधर्म होता है तथा वेद शास्त्र के वास्तविक अर्थ की रक्षा करनेवालों में द्वेष करने से अधर्म होता है । जिसमें विकार का दर्शन नहीं होता ऐसा पुराने बँधे हुए तथा जिससे अन्त में प्राणी अपने शत्रु का अपकार अवश्य करता है उसे द्रोह एवं क्षणभंगुर शरीरादिकों में विकार करने वाले द्वेष को क्रोध कहते हैं । अपकार करने में असमर्थ प्राणी के अन्तःकरण में गुप्त रहने वाला द्वेष, मन्यु तथा पराये के गुणों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३५) प्रयत्नप्रकरणम् ।

प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः । स द्विविधो-जीवनपूर्वकः इच्छाद्वेषपूर्वकश्च । तत्र जीवनपूर्वकः सुप्तस्य प्राणापानसन्तानप्रेरकः प्रबोधकाले चान्तःकरणस्येन्द्रियान्तरप्राप्तिहेतुः । अस्य जीवनपूर्वकस्यात्ममनसोः संयोगाद्धर्माधर्मापेक्षादुत्पत्तिः । इतरस्तु हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थस्य व्यापारस्य हेतुः शरीरविधारकश्च । स चात्ममनसोः संयोगादिच्छापेक्षाद् द्वेषापेक्षाद्वोत्पद्यते ॥

से द्वेष को अक्षमा एवं अपने गुणों के तिरस्कार को सहन न करना अमर्ष नाम का द्वेष होता है । ऐसे द्वेष के भेदों का स्वरूप है । यहाँ भी इच्छाप्रकरण के सूत्र हैं ।

(३५) प्रयत्नप्रकरण

पदपदार्थ—प्रयत्नः = प्रयत्न, संरंभः = संरंभ, उत्साहः = उत्साह, इति = यह, पर्यायाः = पर्याय हैं । सः = वह, द्विविधः = दो प्रकार का है, जीवनपूर्वकः = जीवनपूर्वक, इच्छाद्वेषपूर्वकः च = और इच्छा तथा द्वेष से होने वाला । तत्र = उनमें से, जीवनपूर्वकः = जीवनपूर्वक है, सुप्तस्य = निद्रावस्था में वर्तमान प्राणी के, प्राणापानसन्तानप्रेरकः = प्राण तथा अपान वायु के गतिसमुदाय को प्रेरणा करने वाला, प्रबोधकाले च = और जाग्रदवस्था में, अन्तःकरणस्य = अन्तःकरण के, इन्द्रियान्तरप्राप्तिहेतुः = चक्षु आदि बहिरिन्द्रियों से संयुक्त होने का कारण है । अस्य = इस, जीवनपूर्वकस्य = उक्त जीवनपूर्वक प्रयत्न की, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगात् = संयोग से, धर्माधर्मापेक्षात् = धर्म तथा अधर्म की अपेक्षा करने वाले से, उत्पत्तिः = उत्पत्ति होती है । इतरः तु = और दूसरा प्रयत्न, हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थस्य = हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार करने में समर्थ, व्यापारस्य = व्यापार का, हेतुः = कारण है, शरीरविधारकः च = और शरीर का धारण करने वाला भी है ॥ स च = और वह दूसरा प्रयत्न, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगात् = सयोग से, इच्छापेक्षात् = इच्छा की अपेक्षा करने वाले से, द्वेषापेक्षात् वा = अथवा द्वेष की अपेक्षा करने वाले से, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है ॥

भाषाभाष्य—द्वेष गुण के पश्चात् प्रयत्न नामक गुण का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं । कि संरंभ उत्साह. प्रयत्न यह सब प्रयासरूप प्रयत्न गुण का लक्षण है जो जीवनपूर्वक तथा इच्छा और द्वेष से उत्पन्न इस भेद से दो प्रकार का है । जिनमें से सशरीर तथा फलोन्मुख कर्माशयसहित आत्मा के मन से संयोग का नाम है जीवन, तत्पूर्वक प्रयत्न से निद्रावस्था में वर्तमान आत्मा के प्राण तथा अपान वायु के श्वासप्रश्वासरूप व्यापार को चलाने वाला, तथा जाग्रत अवस्था में अन्तःकरण को बाह्येन्द्रियोंसे सयुक्त करने वाला प्रयत्न जीवनयोनि नामक होता है । अतः निद्रित प्राणी का श्वासादिरूप ।प्राणादि वायु का व्यापार, प्रयत्न का कार्य है, व्यापार होने से इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३६) गुरुत्वप्रकरणम् ।

गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम् । अप्रत्यक्षं पतनकर्मानुमेयं संयोग-प्रयत्नसंस्कारविरोधि । अस्य चाबादिपरमाणुरूपादिवन्नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः ॥

अनुमान द्वारा, वहाँ (निद्रा) में इच्छा तथा द्वेष गुणों के श्वास-प्रश्वासादिरूप प्राणादि-वायु व्यापार के कारण होने का संभावना होने से जीवनपूर्वक यत्न ही कारण है यह सिद्ध होता है। इसमें धर्म तथा अधर्मरूप निमित्त कारण की अपेक्षा करनेवाला आत्मा तथा मन का संयोग असमवायिकारण है। दूसरा इच्छा तथा द्वेषपूर्वक प्रयत्न अपने हित का प्राप्ति, तथा अनिष्ट के परिहार करने में समर्थ व्यापार (शरीर चेष्टा) का कारण तथा शरीर को धारण पाता है। इसमें इच्छा अथवा द्वेष रूप निमित्त कारण का अपेक्षा करने वाला आत्मा तथा मन का संयोग असमवायिकारण है, जो जाग्रत् अवस्था में अन्तःकरण के दूसरे बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों से प्राप्ति का कारण है। अतः यहाँ भी विषय की प्राप्ति से अनुमित अन्तःकरण का इन्द्रियों से संयोग, प्रयत्नपूर्वक अन्तःकरण की क्रिया से उत्पन्न है, अन्तःकरण और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होने से, जाग्रत् अवस्था के अतःकरण तथा इन्द्रियों के संयोग के समान इस अनुमान द्वारा दूसरे प्रयत्न की सिद्धि होती है। यही प्रयत्न शरीर के गुरु होने पर भी न गिरने के कारण इच्छा से शरीर को पकड़ (संभाल) रखता है, गिरने नहीं देता, अतः शरीर को विधारक भी है यह भी सिद्ध होता है। यही प्रयत्न हित के साधनों का ग्रहण करने में इच्छापूर्वक, तथा दुःख के साधनों के परित्याग में द्वेष से होता है॥ सूत्र २५४.२८१.२१२ ॥

(३६) गुरुत्वप्रकरण

पदपदार्थ—गुरुत्वं = गुरुत्व नामक गुण होता है, जलभूम्योः = जल तथा पृथिवी द्रव्य के, पतनकारणम् = गिरने का कारण। अप्रत्यक्षं = जो प्रत्यक्ष नहीं होता, पतन-कर्मानुमेयं = पतन क्रिया से अनुमान किया जाता है, संयोगप्रयत्नसंस्कारविरोधि = संयोग, प्रयत्न तथा संस्कार से रोका जाता है, अस्य च = इस की भी, अबादिपरमाणु-रूपादिवत् = जल, तेज आदि द्रव्यों के परमाणुओं से रूपादि गुणों के समान, नित्या-नित्यत्वनिष्पत्तयः = नित्यता अनित्यादिकों की सिद्धि होती है॥

भाषाभाष्य—प्रयत्न निरूपण के पश्चात् क्रमप्राप्त गुरुत्व गुण का वर्णन भाष्य-कार इस प्रकार करते हैं कि जिस गुण से जल अथवा पृथिवी द्रव्य की प्रथम पतन क्रिया होती है, वह गुरुत्व नामक गुण होता है। जो स्वभाव से अप्रत्यक्ष होता हुआ भी पतन क्रिया कार्य से अनुमान द्वारा सिद्ध होता है तथा जिसके पतन क्रियारूप कार्य में संयोग, प्रयत्न, तथा संस्कार प्रतिबंधक होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३७) द्रवत्वप्रकरणम् ।

द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम् । त्रिद्रव्यवृत्ति । तत्तु द्विविधम्—सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च । सांसिद्धिकमपां विशेषगुणः । नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः सामान्यगुणः । सांसिद्धिकस्य गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः । सङ्घातदर्शनात् सांसिद्धिकमयुक्तमिति चेन्न दिव्येन तेजसा संयुक्तानामाप्यानां परमाणून

कि गुरुत्व गुण का त्वगिन्द्रिय से त्वाच प्रत्यक्ष होता है, अतः वह अप्रत्यक्ष स्वभाव नहीं है, किन्तु पृथिवी पर वर्तमान पदार्थों के स्पर्श गुण का जिस प्रकार त्वाच प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार यदि गुरुत्व गुण का त्वाच प्रत्यक्ष माना जाय तो उस गुरुत्व (भारी पानी) का भी हस्तस्पर्श से प्रत्यक्ष होने लगेगा, अतः गुरुत्व का त्वाच प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । हस्तादिकों के ऊपर रहने वाले पदार्थ के गुरुत्व गुण का ज्ञान तो हस्त के अधोगमन से अनुमान द्वारा ही होता है, अतः अतीन्द्रिय होने पर पतन क्रिया से गुरुत्व गुण की सिद्धि होती है । किन्तु गुरुत्व का पूर्वोक्त तीन संयोगादिकों से प्रतिबंध होने के कारण पतन कार्य नहीं होता, जैसे हिंडोले पर चढ़ा हुआ प्राणी हिंडोले के संयोग के कारण पृथ्वी पर नहीं गिरता, शरीर पूर्वोक्त इच्छापूर्वक प्रयत्न से प्रतिबद्ध होने के कारण पृथ्वी पर नहीं गिरता तथा बाहर फेंका हुआ बाण वेग नामक संस्कार से प्रतिबद्ध होने से (रुका रहने से) पृथ्वी पर तब तक नहीं गिरता जब तक वेग है, पश्चात् गुरुत्व से पृथ्वी पर गिर जाता है और पार्थिव परमाणुओं में वर्तमान यह गुरुत्व गुण जलीय परमाणु रूपादि गुण जैसे नित्य हैं वैसे नित्य हैं, और जैसे जलादि द्रव्यों के रूपादि गुण अनित्य हैं, क्योंकि कारण गुण क्रम से उत्पन्न होते हैं तथा आश्रय नाश से नष्ट होते हैं वैसे ही गुरुत्व उक्त रूप होने से अनित्य है ॥ सूत्र० १८७,१९८, २०१ ॥

(३७) द्रवत्वप्रकरण

पदपदार्थ—द्रवत्वं = द्रवत्व नामका गुण वह है, स्यन्दनकर्मकारणं=जो बहनारूप क्रिया का कारण होता है । त्रिद्रव्यवृत्ति = पृथिवी, जल तथा तेजरूप तीन द्रव्यों में रहता है । तत् तु = किन्तु वह है, द्विविधं = दो प्रकार, सांसिद्धिकं = स्वाभाविक, नैमित्तिकं च = और निमित्त से उत्पन्न होने वाला । सांसिद्धिकं = स्वाभाविक द्रवत्व, अपां = जल का, विशेषगुणः = विशेष गुण है । नैमित्तिकं = निमित्त से उत्पन्न द्रवत्व, पृथिवी तेजसोः = पृथिवी और तेज द्रव्य का, सामान्यगुणः = सामान्य गुण है । सांसिद्धिकस्य = स्वाभाविक द्रवत्व की, गुरुत्ववत् = गुरुत्व गुण के समान, नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः = नित्यता तथा अनित्यता की सिद्धि जानना । संघातदर्शनात् = संघात के दर्शन से, सांसिद्धिकं = जल का स्वाभाविक द्रवत्व है, अयुक्तं = यह असंगत है, इति चेत् = ऐसा कहो, न = नहीं, दिव्येन = दिव्य, तेजसा = तेज से, संयुक्तानां = संयुक्त होने वाले,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परस्परं संयोगो द्रव्यारम्भकः सङ्घाताख्यः तेन परमाणुद्रवत्वप्रतिबन्धात् कार्ये हिमकरकादौ द्रवत्वानुत्पत्तिः ।

आप्यानां = जलों के, परमाणूनां = परमाणुओं का, परस्परं = परस्पर, संयोगः = संयोग, द्रव्यारंभकः = द्रव्य को उत्पन्न करने वाला, संघाताख्यः = संघात नामक होता है, तेन = उससे, परमाणुद्रवत्वप्रतिबन्धनात् = परमाणुओं के द्रवत्व के प्रतिबन्ध होने से, कार्ये = कार्य रूप, हिमकरकादौ = बर्फ, ओले आदि में, द्रवत्वानुत्पत्तिः = द्रवत्व उत्पन्न नहीं होता ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार गुरुत्व निरूपण के अनन्तर क्रमप्राप्त द्रवत्व का लक्षण भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि स्यन्दन (चूना या बहना) इस क्रिया का कारण द्रवत्व नामक गुण कहाता है, जो पृथिवी, जल, तेज इन तीनों में रहता है और वह सांसिद्धिक (स्वाभाविक) तथा तेजोद्रव्यरूप निमित्त कारण के संयोग से उत्पन्न नैमित्तिक ऐसे दो प्रकार का है। जिनमें से स्वाभाविक द्रवत्व (पतलापन) जल द्रव्य का विशेष गुण है। और नैमित्तिकद्रवत्व पृथिवी तथा जल द्रव्य का साधारण गुण है। सांसिद्धिक जल का द्रवत्व गुरुत्वगुण के समान जलादि परमाणु तथा कार्य जलादि रूपों के समान नित्य तथा अनित्य होता है। 'जल का स्वाभाविक द्रवत्व गुण नहीं हो सकता, क्योंकि जलीय (हिम) बर्फ, ओले इत्यादि द्रव्यों में पृथिवी द्रव्यके समान काठिन्य (कड़ापन) देखने में आता है' इसे पूर्वपक्षी की शंका का समाधान भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि सम्पूर्ण जलमात्र में स्वाभाविक द्रवत्व देखने में आता है, अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व ही सम्पूर्ण जल में उपलब्ध होता है, इस कारण जल का स्वाभाविक ही द्रवत्व गुण है यह निश्चित होने पर भी वर्षा, ओले आदिकों में जो स्वाभाविक द्रवत्व की उपलब्धि नहीं होती, उसमें दिव्य विद्युत आदि तेज से संयुक्त जलीय परमाणुओं के परस्पर संयोग से संघात नामक होता है जिससे हिम आदि कठिन जलीय द्रव्य की उत्पत्ति होती है, उसी संयोग से हिम तथा करका के आरम्भक परमाणुओं में द्रवत्व का प्रतिबन्ध होने से दिव्य तेज के संयोग से परमाणुओं के द्रवत्व का प्रतिरोध होने के कारण नमक (लवण) में अनुमान से सिद्ध लवण की जलीयता के समान यहां भी तेज के संयोगरूप निमित्त से हिमकरकादिकों में भी जलीयता सिद्ध होती है, यह समाधान का अभिप्राय है ॥ हिम तथा करकादिकों में दिव्यतेज का संयोग होने में क्या प्रमाण है ? इस शंका के समाधान का उत्तर यह कहा जा सकता है कि शरीर तथा वृक्षादिकों का दाह होना तथा शरीर में फोड़े आदि होना ही प्रमाण है। यह नैमित्तिक द्रवत्व ही क्यों न माना जाय ? ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि नैमित्तिक द्रवत्वाश्रय घृतादिकों के समान हिमादिकों के गल जाने पर पुनः उनका संग्रह नहीं होता, अर्थात् जिस प्रकार अग्निसंयोगों से टिघला

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नैमित्तिकं च पृथिवीतेजसोरग्निसंयोगजम् । कथम् ? सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टादीनां कारणेषु परमाणुष्वग्निसंयोगाद्वेगापेक्षात् कर्मोत्पत्तौ तज्जेभ्यो विभागेभ्यो द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशात् कार्यद्रव्यनिवृत्तावग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात् स्वतन्त्रेषु परमाणुषु द्रव्यत्वमुत्पद्यते ततस्तेषु भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगात् कर्मोत्पत्तौ तज्जेभ्यः संयोगेभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पाद्यते तस्मिंश्च रूपाद्युत्पत्तिसमकालं कारणगुणप्रक्रमेण द्रवत्वमुत्पद्यत इति ॥

हुआ घृत पुनः गाढ़ा हो जाता है उस प्रकार बर्फ, ओले पुनः घन नहीं होते । अतः हिम आदि जलीय द्रव्यों में नैमित्तिक द्रवत्व मानना सर्वथा असंगत है ।

पदपदार्थ—नैमित्तिकं च = और नैमित्तिक द्रवत्व है, पृथिवीतेजसोः = पृथिवी और तेज द्रव्य में, अग्निसंयोगजं = अग्नि के संयोग से उत्पन्न । कथम् ? = कैसे, सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टादीनां = घृत, लाह, मधूच्छिष्ट (शहद के छत्ते) आदिकोंका कारणेषु = कारण, परमाणुषु = परमाणुओं में, अग्निसंयोगात्=अग्निसंयोग से, वेगापेक्षात्= वेग की अपेक्षा करने वाले, कर्मोत्पत्तौ = क्रिया के उत्पन्न होने पर, तज्जेभ्यः = उससे उत्पन्न, विभागेभ्यः = विभागों से, द्रव्यारंभकसंयोगविनाशात् = द्रव्य के उत्पादक संयोग के नाश से, कार्यद्रव्यनिवृत्तौ = कार्यद्रव्य के नाश होने पर, अग्निसंयोगात् = अग्नि के संयोग से, औष्ण्यापेक्षात् = उष्णता की उपेक्षा करने वाले, स्वतंत्रेषु = स्वतन्त्र, परमाणुषु = परमाणुओं में, द्रव्यत्वं=द्रव्यत्व गुण, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, ततः = इसके अनन्तर, तेषु = उन परमाणुओं में, भोगिना = भोग करने वाले प्राणियों के, अदृष्टापेक्षात् = अदृष्ट की अपेक्षा करनेवाले, आत्मागुणसंयोगात् = आत्मा तथा परमाणुओं के संयोग से, कर्मोत्पत्तौ = क्रिया की उत्पत्ति होने पर, तज्जेभ्यः = उस क्रिया से उत्पन्न, संयोगेभ्यः = संयोगों से, द्वणुकादिप्रक्रमेण = द्वणुक आदि द्रव्यों के क्रम से, कार्यद्रव्यं = कार्यद्रव्य, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तस्मिन् च = और उसमें, रूपाद्युत्पत्तिसमकालं = रूपादिगुणों की उत्पत्ति के समय में, कारणगुणप्रक्रमेण = कारण गुण के क्रम से, द्रव्यत्वं = द्रव्यत्व, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, इति इस प्रकार ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार सासिद्धिक द्रवत्व को जल में सिद्ध कर नैमित्तिक द्रव्यत्व का भाष्यकार वर्णन करते हैं कि पृथिवी तथा तेज में अग्निसंयोगरूप निमित्त से द्रव्यत्व उत्पन्न होता है, क्योंकि घृत, लाह तथा मधुच्छिष्ट (शहद के छत्ते) आदि द्रव्यों के कारण परमाणुओं में वेग संस्कार भी अपेक्षा करने वाले अग्नि संयोग से क्रिया उत्पन्न होकर उससे परमाणुओं के परस्पर विभागों से द्रव्य के आरम्भक संयोग का नाश होने से पूर्व द्रव्य का नाश होकर पुनः उष्णता की अपेक्षा करने वाले दूसरे अग्निसंयोग से स्वतन्त्र परमाणुओं में द्रव्यत्व उत्पन्न होता है, अनन्तर भोग करने वाले प्राणियों के अदृष्ट की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा परमाणुओं के संयोग से परमाणुओं में उत्पादक क्रिया उत्पन्न होकर उस उत्पादक क्रिया से उत्पन्न संयोगों से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३८) स्नेहप्रकरणम्

स्नेहोऽपां विशेषगुणः । संग्रहमृजादिहेतुः । अस्यापि गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्व-निष्पत्तयः ॥

(३९) संस्कारप्रकरणम् ।

संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च तत्र वेगो मूर्तिमत्सु पञ्चसु द्रव्येषु निमित्तविशेषापेक्षात् कर्मणो जायते नियतदिक्क्रियाप्रबन्धहेतुः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविशेषविरोधी क्वचित्कारणगुणपूर्वक्रमेणोत्पद्यते ।

द्व्यणुकादि अवयवि द्रव्यों के उत्पत्ति के क्रम से कार्य द्रव्य घृत आदि उत्पन्न होता है और उसमें रूपादि गुणों की उत्पत्ति के समय ही कारण गुण के क्रम से पुनः द्रव्यत्व उत्पन्न होता है । इस प्रकार पृथिवी और तेज द्रव्य का द्रव्यत्व नैमित्तिक है यह सिद्ध होता है । हिम करका इत्यादि जलीय द्रव्यों के भी द्रव्यत्व गुण के गल जाने की प्रक्रिया स्वयं जान लेनी चाहिये ।। सूत्र २७२, ५०, ५४, ५५, २७९ ॥

(३८) स्नेहप्रकरण

पदपदार्थ—स्नेहः = अपां = जल का, विशेषगुणः=विशेष गुण है, संग्रह मृजादि-हेतुः = जो संग्रह (बटोरना) तथा स्वच्छता का कारण है । अस्य अपिः=इस स्नेह की भी, गुरुत्ववत्=गुरुत्व के समान, नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः = नित्यता तथा अनित्यता की सिद्धि जानना ॥

भाषाभाष्य—द्रव्यत्व के पश्चात् स्नेह का वर्णन करते हैं कि पिंड होने के कारण गुण का नाम स्नेह है तथा शुद्धि का भी वह कारण होता है । आदिपद से स्नेह मृदुता का भी कारण होता है यह स्नेह भी जिस प्रकार परमाणुओं में वर्तमान गुरुत्व नित्य तथा कार्य से कारण गुणपूर्वक उत्पन्न होता है और आश्रय के नाश से नष्ट होता है उसी प्रकार स्नेह भी है । सू० ५०

(३९) संस्कारप्रकरण

पदपदार्थ—संस्कारः = संस्कार नामक गुण, त्रिविधः = तीन प्रकार का है, वेगः= वेग, भावना = भावना, स्थितिस्थापकः च = और स्थितिस्थापक नाम का । तत्र = उनमें से, वेगः = वेग नाम का संस्कार, मूर्तिमत्सु = मूर्तिवाले, पंचसु = पृथ्वी जल, तेज, वायु तथा मन इन पाँच, द्रव्येषु = द्रव्यों में, निमित्त विशेषापेक्षात् = विशेष कारण की अपेक्षा करने वाले, कर्मणः = क्रिया से, जायते = उत्पन्न होता है, नियतदिक्क्रिया-प्रबन्धहेतुः = नियमित दिशा में क्रिया होने का कारण है, स्पर्शवान्द्रव्यों का स्पर्शवद्-द्रव्यसंयोग-विशेषविरोधीः=संयोगविशेष से नष्ट होता है, क्वचित् कारणगुणपूर्वक्रमेण = तथा स्थलविशेष में कारण गुण के क्रम से ज्ञानमदद्दुखादि, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावनासंज्ञकस्त्वात्मगुणो दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानहेतुर्भवति ज्ञानमददुःखादिविरोधी। पट्वभ्यासादरप्रत्ययजः पटुप्रत्ययापेक्षादात्ममनसोः संयोगादाश्चर्येऽर्थे पटुः संस्कारातिशयो जायते। यथा दाक्षिणात्यस्योष्ट्रदर्शनादिति।

भावनासंज्ञकः तु = भावना नामक संस्कार तो, आत्मगुणः = आत्मा का गुण है, दृष्टश्रुतानुभूतेषु = प्रत्यक्ष किये अथवा शब्द से निश्चित, अर्थेषु = पदार्थों में, स्मृति प्रत्यभितानहेतुः = स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञान (पहिचान) का कारण, भवति = होता है, विरोधी=विरोधि ज्ञान, मद तथा दुःखादिकों से नष्ट होता है। पट्वभ्यासादरप्रत्ययजः= पट्व ज्ञान, अभ्यास तथा आदर ज्ञान से उत्पन्न होने से यह भावना संस्कार तथा प्रकार का है, पटुप्रत्ययापेक्षात् = समर्थ ज्ञानरूप निमित्त कारण की अपेक्षा करनेवाले, आत्मनसो = आत्मा तथा मन के संयोगरूप से असमवायि कारण से, आश्चर्ये = आश्चर्य-जनक, अर्थे = पदार्थ में, पटुः = समर्थ, संस्कारातिशयः = संस्कार का विशेष, जायते = होता है। यथा = जिस प्रकार, दाक्षिणात्यस्य = दक्षिण देश निवासी को, उष्ट्रदर्शनात् = ऊंट के देखने से, इति = इस प्रकार ॥

भाषाभाष्य—स्नेह के अनन्तर क्रमप्राप्त संस्कार गुण का भाष्यकार निरूपण करते है कि वेग, भावना, स्थितिस्थापक ऐसे तीन प्रकार का संस्कार है, अर्थात् यह संस्कार का विभाग ही असाधारण होने से लक्षण है, अर्थात् उसका लक्षण विचित्र है यह इस भाष्य से सूचित होता है, उन तीनों संस्कारों में से वेग नामक संस्कार पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन नामक मूर्त द्रव्यों में नोदनं अथवा अभिघात नामक संयोगादिरूप निमित्त कारण की अपेक्षा करने वाली क्रिया नामक उत्पन्न होती है, किन्तु जिस दिशा के संमुख होकर क्रिया से उक्त द्रव्यों में वेग उत्पन्न होता है, उसी दिशा के सम्मुख क्रिया सन्तान को उत्पन्न करती है। तथा विशिष्ट अत्यन्त घने अवयवों में वर्तमान स्पर्शविशिष्ट द्रव्यों के संयोग से विशिष्ट वेश का नाश होता है, और मन्दवेग का स्पर्शवान् द्रव्य के संयोगमात्र से नाश होता है, जस प्रकार बहुत दूर गये हुये बाण के वेग निश्चल वायु के प्रतिबंध करने से नष्ट हो जाता है और स्थलविशेप में अर्थात् वेगवान् अवयवों से उत्पन्न जलरूप अवयविद्रव्य में कारण के वेगों से भी वेग उत्पन्न होता है। भावना नामक संस्कार जो आत्मगुण है, प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अनुभव किये हुये पदार्थों में स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञा नामक कार्य को उत्पन्न करता है तथा विरोधिज्ञान से भावना संस्कार का नाश होता है; क्योंकि जुआ आदि व्यसन में आसक्त प्राणी को पूर्व में पढ़े हुये विषय का विस्मरण हो जाता है, तथा सुरापान करने वाले प्राणी के पूर्वविषय में स्मरण का विलोप देखने से मद से भी भावना संस्कार का नाश होता है, एवं जन्मान्तर में अनुभूत विपय का स्मरण न होने से मरणादि दुःख भी भावना संस्कार का नाशक होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्याशिल्पव्यायामादिष्वभ्यस्यमानेषु तस्मिन्नेवार्थे पूर्वपूर्वसंस्कारमपेक्षमाणादुत्तरोत्तरस्मात् प्रत्ययादात्ममनसोः संयोगात् संस्कारातिशयो जायते। प्रयत्नेन मनश्चक्षुषि स्थापयित्वाऽपूर्वमर्थं दिदृक्षमाणस्य विद्युत्सम्पातदर्शनवदादरप्रत्ययः तमपेक्षमाणादात्ममनसोः संयोगात् संस्कारातिशयो जायते यथा देवह्रदे राजतसौवर्णपद्मदर्शनादिति।

स्थितिस्थापकस्तु स्पर्शवद्द्रव्येषु वर्तमानो घनावयवसन्निवेशविशिष्टेषु कालान्तरावस्थायिषु स्वाश्रयमन्यथाकृतं यथावस्थितं स्थापयति। स्थावरजङ्गम-

---

है। आदि पद से अति सुखादिक में भी भावना का नाश होता है यह जानना। यह भावना संस्कार पटु प्रत्यय, अभ्यास प्रत्यय तथा आदर प्रत्ययों से उत्पन्न ऐसा तीन प्रकार का है जिनमें से समर्थ (पटु) ज्ञान से उत्पन्न संस्कार उसकी अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के संयोगरूप असमवायि कारण से आश्चर्यजनक समर्थ संस्कारातिशय उत्पन्न होता है जैसे दक्षिण देश निवासी प्राणियों को उस देश में रहने वाले आश्चर्यजनक ऊँट के देखने से अधिक संस्कार मन में उत्पन्न होता है॥

पदपदार्थ—विद्याशिल्पव्यायामादिषु = चतुर्दश विद्या, शिल्प (कारीगरी) व्यायाम (कसरत) इत्यादिकों के, अभ्यस्यमानेषु = अभ्यास किये जाने से, तस्मिन् एव= उसी, अर्थे = अर्थ में, पूर्वपूर्वसंस्कारात् = पूर्वपूर्व के संस्कार से, भी अपेक्षमाणात् = अपेक्षा करने वाले, उत्तरोत्तरस्मात् प्रत्ययात् = उत्तर-उत्तर ज्ञान से, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगात् = संयोग से, संस्कारातिशयः = संस्कार का अतिशय अधिकता, जायते = उत्पन्न होता है। प्रयत्नेन = प्रयत्न से, मनः = मन को, चक्षुषि = चक्षु इन्द्रिय में, स्थापयित्वा = स्थापन कर, अपूर्वं = अपूर्व, अर्थं = पदार्थ को, दिदृक्षमाणस्य = देखने की इच्छा करने वाले मनुष्य के, विद्युत्संपातदर्शनवत् = विद्युत् के चमत्कार में दर्शन के समान, आदरप्रत्ययः = आदर ज्ञान होता है, तं = उसकी, अपेक्षमाणात् = अपेक्षा करने वाले, आत्ममनसोः संयोगात् = आत्मा तथा मन के संयोग से, संस्कारातिशयः = संकार का अतिशय, जायते = उत्पन्न होता है। यथा = जैसे, देवह्रदे = देवताओं के जलाशय में, राजतसौवर्णपद्मदर्शनात् = चांदी-सोने के कमलों के दर्शन से, इति = इस प्रकार, स्थितिस्थापकः तु = किन्तु स्थितिस्थापक नाम का संस्कार, स्पर्शवद्द्रव्येषु = स्पर्शवान् द्रव्यों में, वर्तमानः=वर्तमान होता हुआ, घनावयवसन्निवेशविशिष्टेषु = निविड अवयव रचना वाले, कालान्तरावस्थायिषु = जो कालान्तर (बहुत काल पर्यन्त) में रहने वाले, उक्त द्रव्यों में, स्वाश्रयं = अपने आश्रय को, अन्यथा कृतं = जो दूसरे रूप में परिवर्तित हो, यथावास्थितं = पूर्ववस्था में प्राप्त कर, स्थापयति = स्थापित करता है। स्थावरजंगमविकारेषु=स्थावर (स्थितिशील) तथा जंगम (चलने-फिरने वाले) विकार (कार्य) रूप, धनुःशाखाशृङ्गदन्तास्थि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विकारेषु धनुःशाखाश्रृङ्गदन्तास्थिसूत्रवस्त्रादिषु भुग्नसंवर्तितेषु स्थितिस्थापकस्य कार्यं संलक्ष्यते । नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयोऽस्यापि गुरुत्ववत् ॥

सूत्रवस्त्रादिषु = धनुष, वृक्ष की शाखा, शृग (सींग), दन्त (दांत) अस्थि (हड्डी) सूत्र (सूत), वस्त्र इत्यादिकों में, भुग्नसंवर्तितेषु = जो मोड़कर पूर्वावस्था में प्राप्त किये जाते हैं । स्थितस्थापकस्य = स्थितिस्थापक संस्कार वा कार्य, संलक्ष्यते = अच्छी तरह दिखाई देता है । नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः = संस्कार की नित्यता और अनित्यता की सिद्धि, अस्य अपि = इस स्थितिस्थापक संस्कार की भी, गुरुत्ववत् = गुरुत्व गुण के समान है ॥

भाषाभाष्य—शास्त्रवेदरूप विद्या, शिल्प (कारीगरी), व्यायाम इन विषयों का अभ्यास करने से उन-उन विषयों में पूर्व-पूर्व संस्कार की अपेक्षा से उत्तरोत्तर अनुभव से उत्पन्न अधिक-अधिक संस्कार के उत्पत्ति के क्रम से उपान्त्य (अन्तिम के पूर्व) संस्कार की अपेक्षा करने वाले अन्तिम अनुभव से जो भावना संस्कार का अतिशय होता है वह अभ्यास प्रत्ययजन्य संस्कार है जिससे अभ्यस्त विषय की परीक्षा के समय स्मृति होती है । तथा प्रयत्नपूर्वक मन को चक्षुरिन्द्रिय में लगाकर अपूर्व पदार्थ को देखने की इच्छा करने वाले प्राणी को विद्युतप्रकाश में होने वाले पदार्थ के दर्शन के समान दर्शन योग्य पदार्थ में आदर बुद्धि होती है, उस निमित्त कारण की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के संयोगरूप असमवायिकारण से भावना संस्कार में अतिशय उत्पन्न होता है, जैसे देवताओं के जलाशय में चैत्रमास की अर्धरात्रि के समय सुवर्ण तथा रजत के कमल दिखाई पड़ते हैं, इस प्रसिद्धि के अनुसार उस दिन उन कमलों को देखने की इच्छा से देवह्लद पर पहुँचे हुए मनुष्यों को अर्धरात्रि के समय अत्यन्त यत्नपूर्वक अन्तःकरण को चक्षुरिन्द्रिय में स्थिर कर वहां बैठने पर सोने से तथा चाँदी के कमलों के उन देवह्लदों से उठते ही क्षणमात्र उनके दिखाई पड़ने से उनमें अधिक आदर बुद्धि देखने वालों को होकर कालान्तर में भी उनके स्पष्ट स्मरण होने का कारण जो भावना नाम के संस्कार का अतिशय होता है, वही तीसरा आदर प्रत्ययजन्य संस्कार गुण है ॥ सू० १९७-३४७ ॥

इस प्रकार द्वितीय भावना नामक संस्कार गुण का वर्णन करने के पश्चात् भाष्यकार तीसरे स्थितिस्थापक नामक संस्कार गुण का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि निविड (दृढ) अवयवसन्निवेश (रचना) विशिष्ट तथा बहुत समय तक स्थिर रहने वाले, स्पर्शवान् द्रव्य पदार्थों में जो संस्कार अन्यथा किये हुए (अन्यथा पूर्वावस्था से भिन्न अवस्था में प्राप्त किये हुए) अपने आश्रय द्रव्य पदार्थ को यथावस्थित (पूर्वावस्था में प्राप्त कर देता है वही स्थितिस्थापक नामक तृतीय संस्कार है । इस प्रकार स्थितिस्थापक संस्कार का स्वरूप वर्णन कर कार्य के द्वारा भी दृष्टान्त से उसकी सत्ता का स्थापन करते हुए प्रशस्तदेव कहते हैं कि स्थावर (स्थिर) तथा जंगम (गति-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३९) धर्मलक्षणम् ।

धर्मः पुरुषगुणः । कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः अतीन्द्रियोऽन्त्यसुखसंविज्ञानविरोधी पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसन्धिजः वर्णाश्रमिणां प्रतिनियतसाधननिमित्तः । तस्य तु साधनानि श्रुतिस्मृतिविहितानि वर्णाश्रमिणां सामान्यविशेषभावेनावस्थितानि द्रव्यगुणकर्माणि ।

वाले) पदार्थों के विकाररूप जो टेढे कर पुनः संवर्तित अर्थात् (सीधेरूप) पूर्वावस्था में प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे धनुष, वृक्ष की शाखा, पशुओं के शृंग, दाँत, हड्डी, सूत, कपड़ा, चटाई इत्यादिक द्रव्यों में इस स्थितिस्थापकसंस्कारगुण का कार्य (तोड़-मोड़कर पुनः सीधा कर देना) अच्छी तरह स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि झुका कर छोड़ दिये हुए धनुष, शाखा इत्यादिकों में पूर्व अवस्था की प्राप्ति का कारण क्रिया के उन्हीं उक्त पदार्थों में समवायसम्बन्ध से वर्तमान असमवायिकारण स्थितिस्थापक नामक संस्कार है ॥

धनुष तथा शाखादिकों में आकर्षणक्रिया के उत्पन्न होने पर नोदनादि संयोगों से उसके निवृत्त होने पर भी क्रिया की उपलब्धि होने के कारण असमवायिकारण अवश्य मानना होगा, क्योंकि उसके बिना कोई कार्य नहीं होता, और नोदनादिक कारण हो नहीं सकते, इस कारण कोई दूसरा असमवायिकारण कहना होगा, क्रिया तथा विभाग क्रिया की उत्पत्ति में कारण होते ही नहीं, तथा उसके निवृत्त होने पर भी प्रतिबन्धक के न रहने पर शाखादिकों में पूर्वावस्था की क्रिया की उपलब्धि होती है, अतः दूसरा कोई निमित्त अवश्य मानना उचित है । अदृष्टविशेष कारण अवश्य है परन्तु वही साधारण कारण है, अतः स्थितिस्थापक संस्कार ही धनुष, शाखादिकों में पूर्वावस्था प्रापक है यह सिद्ध होता है ऐसी यहाँ व्योमशिवाचार्य ने समालोचना की है । इस स्थितिस्थापक संस्कार की भी नित्यता तथा अनित्यता गुरुत्व गुण के समान स्वयं जान लेनी चाहिये ॥

(३९) धर्मलक्षणप्रकरण

पदपदार्थ—धर्मः = धर्म, पुरुषगुणः = आत्मा का गुण है । कर्तुः = धर्म करने वाले प्राणियों के, प्रियहितमोक्षहेतुः = प्रिय (सुख), उसके साधन (हित) तथा मोक्ष का कारण है, अतीन्द्रियः = अप्रत्यक्ष है । अन्त्यसुखसंविज्ञानविरोधी = तथा अन्तिम सुख के सम्यक् ज्ञान से नष्ट होता है, पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसंधिजः = आत्मा तथा अन्तःकरण के संयोग से और कपट इत्यादि दोषरहित संकल्प से उत्पन्न होता है, वर्णाश्रमिणां = ब्राह्मणादि चार वर्ण, तथा ब्रह्मचर्यादि आश्रम में वर्तमान मनुष्यों के किये हुए साधन (उपायों) से उत्पन्न होता है । तस्य तु = और उस धर्म के साधन हैं, श्रुतिस्मृतिविहितानि = वेद तथा स्मृति में विधान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किये, वर्णाश्रमिणां = ब्राह्मणादि वर्ण तथा ब्रह्मचर्यादि आश्रम मे रहने वाले मनुष्यों के, सामान्यविशेषभावेन = सामान्य तथा विशेषरूप से, अवस्थितानि = निश्चित किये हुए, द्रव्यगुणकर्माणि = द्रव्य. गुण, तथा क्रियारूप ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार संस्कार गुण के वर्णन के पश्चात् धर्म नामक अदृष्ट गुण का भाष्यकार इस प्रकार निरूपण करते हैं कि धर्म आत्मा का गुण है न कि क्रिया का सामर्थ्य। जो धर्मकर्ता के सुख, उनके साधन तथा आत्मा के बुद्धि आदि विशेष गुणों के अत्यन्त उच्छेदरूप मोक्ष का भी कारण है। तथा जिसका हम जीवों के किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष न होने के कारण अतीन्द्रिय है। एवं धर्म कार्य होने से उसका नाश भी अवश्य होता है, यह मानना आवश्यक है और वह नाश विना कारण के हो नहीं सकता, इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि अन्तिम सुख के अनुभव से उसका नाश होता है। वह धर्म, आत्मा तथा मन के संयोग से उत्पन्न होता है, आत्मा का विशेष गुण होने से सुख के समान, इस प्रकार के अनुमान से वह आत्मा तथा मन के संयोग से उत्पन्न होता है तथा दमादिरहित संकल्प से भी वह उत्पन्न होता है, यह भी सिद्ध होता है। एवं ब्राह्मणादि वर्ण तथा ब्रह्मचर्यादि आश्रम में वर्तमान मनुष्यों के प्रत्येक वर्ण, धर्म तथा आश्रम धर्म को उद्देश कर वेद तथा शास्त्र में विहित साधनों के अनुष्ठान करने से उस धर्म की उत्पत्ति होती है, जो द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप साधन सामान्य तथा विशेषरूप से वेद तथा स्मृत्यादि शास्त्रों में वर्णन किये हैं, अतः अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध न होने पर भी आगम-प्रमाण से सिद्ध होते हैं, अर्थात् श्रुति तथा स्मृति में वर्णन किये हुए वर्णाश्रमियों के सामान्य तथा विशेषरूप द्रव्य, गुण, तथा कर्मरूप धर्म के साधन हैं। 'अदृष्टरूप धर्म आत्मा का विशेष गुण है' इसमें क्या प्रमाण है? ऐसे प्रश्न का समाधान यह है कि शरीर, संसार इत्यादि कार्य, आत्मा के विशेष गुणपूर्वक हैं, विचित्र कार्य होने से, रथादिकों के समान, इस अनुमान से जिस प्रकार रथादिकों का निर्माता भोक्ता के अभिप्राय (इच्छा) के अनुसार विचित्र रथादिकों की रचना करता है, इसी प्रकार शरीरादि संसारकार्य का निर्माता ईश्वर भी जीवों के अदृष्ट गुण के अनुसार विचित्र जगत् की रचना करता है, शरीर के उत्पत्ति के पूर्व हम जीवों के बुद्ध्यादिकों का संभव नहीं है. तथा संस्कार स्मरण की उत्पत्ति में ही समर्थ है, अतः जीवात्मा में वर्तमान अदृष्ट (धर्माधर्मरूप) की अपेक्षा से ही जीवों के भोग के लिये विचित्र शरीरादि कार्यों की रचना करता है, यह सिद्ध होता है। तथा 'यावदात्मनि धर्माधर्मौ तावदायुः शरीरमिन्द्रियाणि विषयाश्च, तथा क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इत्यादि आगम भी इसमें प्रमाण है! जिन सांख्यवादियों के मत में धर्म बुद्धितत्व का गुण माना है उनके मत में अकर्मनिमित्तक सृष्टि का प्रसंग (आपत्ति) आ जायगी, इस प्रकार व्योमशिवाचार्य की यहाँ पर समालोचना है ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र सामान्यानि-धर्मे श्रद्धा अहिंसा भूतहितत्वं सत्यवचनमस्तेयं ब्रह्मचर्यमनुपधा क्रोधवर्जनमभिषेचनं शुचिद्रव्यसेवनं विशिष्टदेवताभक्तिरुपवासोऽप्रमादश्च ।

ब्रह्माणक्षत्रियवैश्यानामिज्याध्ययनदानानि । ब्रह्मणस्य विशिष्टानि प्रतिग्रहाध्यापनयाजनानि स्ववर्णविहिताश्च संस्काराः । क्षत्रियस्य सम्यक्प्रजापालनमसाधुनि ग्रहो युद्धेष्वनिवर्तनं स्वकीयाश्च संस्काराः ।

पदपदार्थ—तत्र = उनमें से, सामान्यानि = साधारण साधन हैं, धर्मे = धर्म में, श्रद्धा = श्रद्धा, अहिंसा = द्रोह न होना, भूतहितत्वं = प्राणियों पर अनुग्रह, सत्यवचनं = सत्यवाक्य, अस्तेयं = चोरी न करना, ब्रह्मचर्यं = स्त्रीसंग का न करना, अनुपधा = भावशुद्धिः, क्रोधवर्जनं = क्रोध न करना, अभिषेचनं = स्नान, शुचिद्रव्यसेवनं = पवित्र पदार्थों की सेवा, विशिष्टदेवताभक्तिः = वेदशास्त्रसंमत देवता की भक्ति, उपवासः = व्रत करना, अप्रमादः च = और प्रमाद न करना ।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां = ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन त्रैवर्णिकों के सामान्य धर्म हैं, इज्याध्ययनदानानि = याग, अध्ययन (स्वाध्याय) तथा दान करना । ब्राह्मणस्य = केवल ब्राह्मण वर्ण के, विशिष्टानि = विशेष धर्म के साधन हैं, प्रतिग्रहाध्यापनयाजनानि = दान लेना, पढ़ाना तथा यागादि कर्म कराना, स्ववर्णविहिताः च = और अपने २ वर्ण में विधान किये, संस्काराः = गर्भाधानादि संस्कार । क्षत्रियस्य = क्षत्रिय वर्ण के, सम्यक्प्रजापालनं = अच्छी तरह प्रजा का पालन करना, असाधुनिग्रहः = दुष्ट अधर्मियों को दण्ड देना, युद्धेषु = युद्ध में, अनिवर्तनं = न लौटना, स्वकीयाः च = और अपने (क्षत्रिय) के लिये विहित, संस्काराः = गर्भाधानादि संस्कार ॥

भाषाभाष्य—उक्त सामान्य तथा विशेषरूप धर्म साधनों में से सम्पूर्ण वर्ण तथा आश्रम के साधारण धर्म साधनों का भाष्यकार वर्णन करते हैं कि धर्म में श्रद्धा (मन की प्रसन्नता) तथा प्राणिमात्र के द्रोह न करने का संकल्परूप अहिंसा, प्राणियों के ऊपर अनुग्रहरूप भूतहितता, यथार्थ वचन, शास्त्रविरुद्ध पर का धन मैं ग्रहण न करूँगा ऐसे संकल्परूप अस्तेय (चोरी न करना तथा स्त्रीसेवात्यागरूप ब्रह्मचर्य, मनोभाव शुद्धिरूप अनुपधा, कोपपरित्याग (क्रोध न करना), स्नान एवं शुद्ध घृत, तिल आदि द्रव्यों का पर्व दिनों में नियम से सेवारूप शुचिद्रव्य सेवन, तथा वेदशास्त्रसंमत देवताओं की भक्ति, एकादशी आदि व्रत, तथा नित्य (संध्योपासन) नैमित्तिक (भरणीश्राद्धादि) कर्मों का अवश्य करनारूप अप्रमाद भी, संपूर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्ण के मनुष्य तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी चारों आश्रम के लोगों के धर्म के उत्पत्ति के साधारण धर्म के साधन हैं अर्थात् प्रायः संकल्परूप ही यह कर्म समान सम्पूर्ण वर्णाश्रमियों के धर्म के साधन हैं । सू० २, २४१, २२९, ३६९, २४२, २४९, २४२, १४४ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैश्यस्य क्रयविक्रयकृषि-पशुपालनानि स्वकीयाश्च संस्काराः। शूद्रस्य पूर्व-वर्णपारतन्त्र्यममन्त्रिकाश्च क्रियाः। आश्रमिणां तु ब्रह्मचारिणो गुरुकुलनिवासिनः स्वशास्त्रविहितानि गुरुशुश्रूषाग्नीन्धनभैक्ष्याचरणानि मधुमांसदिवास्वप्नाञ्जनाभ्यञ्जनादिवर्जनं च। विद्याव्रतस्नातकस्य कृतदारस्य गृहस्थस्य शालीनयायावरवृत्त्युपार्जितैरर्थैर्भूतमनुष्यदेवपितृब्रह्माख्यानां पञ्चानां महायज्ञानां

तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन त्रैवर्णिकों के होमादि, वेदपाठ तथा अपने द्रव्य में पर की सत्ता प्राप्त करना रूप दान, यह तीन सामान्य धर्म के साधन हैं। किन्तु दान शब्द से शास्त्रीय कर्मोक्त यज्ञादि सम्बन्ध का विशिष्ट दान लेना चाहिये, क्योंकि सामान्य दान का शूद्र को भी अधिकार है। विशिष्ट व्यक्ति दाता से दान लेना (प्रतिग्रह), अध्यापन तथा ऋत्विक्कर्म ये तीन केवल ब्राह्मण के धर्म के साधन हैं, क्योंकि इन्हीं तीन कर्मों द्वारा उपार्जित द्रव्य से ही ब्राह्मण को धर्म-कर्म में अधिकार है। तथा अड़तालिस प्रकार के ब्राह्मण के संस्कार भी वैदिक कर्मों के अनुष्ठान करने की योग्यता संपादन द्वारा धर्म के साधन होते हैं। तथा अच्छी तरह शास्त्रोक्त राजधर्म के अनुसार प्रजा का पालन, अधर्मी दुष्टों को दण्ड देना, युद्ध में अनिवर्तन (न भागना) यह तीन केवल क्षत्रिय वर्ण के विशिष्ट धर्म साधन हैं। उनके शास्त्रोक्त गर्भाधानादि संस्कार भी विशिष्ट धर्म के साधन हैं॥

पदपदार्थ—वैश्यस्य = वैश्य के, क्रयविक्रयकृषिवाणिज्यपशुपालनानि = खरीदना, बेचना, खेती, वाणिज्य-व्यापार, गोआदि पशुओं का पालन, स्वकीयाः च = और अपने, संस्काराः = विशेष धर्म के साधन हैं, शूद्रस्य = शूद्र वर्ण के, पूर्वपूर्ववर्णपारतन्त्र्यं = ब्राह्मणादि वर्णों के अधीन रहना, अमन्त्रिकाः च = और बिना यंत्र के धर्मजनक क्रिया (संस्कार) यह शूद्र के विशेष धर्म के साधन हैं। आश्रमिणां तु = और ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम में वर्तमान मनुष्यों में से, ब्रह्मचारिणः = ब्रह्मचारी के, गुरुकुलनिवासिनः = जो गुरुकुल में रहता हो, स्वशास्त्रविहितानि = अपने धर्मशास्त्र में प्रतिपादन किये हुए, गुरुशुश्रूषाग्निन्धनभैक्ष्याचरणानि = गुरुसेवा, अग्नि आधारण—होम, इन्धनाचरण, होमार्थ काष्ठों को लाना तथा भिक्षा माँगना, मधुमांसदिवास्वप्नाभ्यंजनादिवर्जनं च = और मधु-मांस, दिन को निद्रा, अभ्यंजन (तैल, उबटन इत्यादि मर्दनपूर्वक स्नान) इनका त्याग भी ब्रह्मचारी के विशेष धर्म साधन हैं। विद्याव्रतस्नातकस्य = वेदव्रत के विसर्जन करने वाले स्नातक के, कृतदारस्य = जिसने दाराग्रहण (विवाह) किया हो (उस), गृहस्थस्य = गृहस्थाश्रमी के, शालीनयायावरवृत्त्युपार्जितैः = शालीन श्रद्धा से दाता के दिये अन्न का ग्रहण, भिक्षाप्राप्त अन्न (यायावर) इन दो जीविका वृत्तियों से उपार्जन किये हुए, अर्थैः = पदार्थों से, भूतमनुष्यदेवपितृब्रह्माख्यानां = बलिदान, अतिथिसत्कार, श्राद्ध तथा वेदपाठ नामक, पंचानां = पाँच, महायज्ञानां = नित्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सायम्प्रातरनुष्ठानम् एकाग्निविधानेन पाकयज्ञसंस्थानां च नित्यानां शक्तौ षिद्यमानायामग्न्याधेयादीनां च हविर्यज्ञसंस्थानामग्निष्टोमादीनां सोमयज्ञसंस्थानां च ।

महायज्ञों का, सायंप्रातः = सायंकाल तथा प्रातःकाल में, अनुष्ठानं=आचरण, एकाग्निविधानेन = एक वैवाहिक अग्नि के विधि से, पाकयज्ञसंस्थानां च = पाकयज्ञविशेषों का भी, नित्यानां = जो नित्यकर्म हैं, शक्तौ=सामर्थ्य, विद्यमानायां=रहने पर, अग्न्याधेयादीनां = वसन्त ऋतु में गृहीत अग्निहोत्रादिकों का, हविर्यज्ञसंस्थानां = दर्शपौर्णमासादि हविर्यज्ञविशेषों का, अग्निष्टोमादीयां = अग्निष्टोम इत्यादि नाम के, सोमयज्ञसंस्थानां च = सोमयज्ञविशेषों का भी, अनुष्ठान करना गृहस्थाश्रमी पुरुष के विशेष धर्मसाधन हैं ॥

भाषाभाष्य—क्रय (मूल्य देकर दूसरे से पदार्थ लेना), विक्रय (मूल्य लेकर अपना द्रव्य देना), कृषि वाणिज्य-व्यापार (दूकानदारी) गो आदि पशुओं का पालन तथा वैश्यों के लिए धर्मशास्त्र में विहित गर्भाधानादि संस्कार, यह वैश्यों के विशेष धर्मसाधन हैं । ब्राह्मण आदि तीन पूर्व-पूर्व वर्णों की सेवा आदि करने से उनकी अधीनता तथा मंत्र के बिना संस्कार यह शूद्रों के विशेष धर्मसाधन हैं । इस प्रकार ब्राह्मण आदि वर्णों के विशेष धर्मसाधनों का वर्णन कर ब्रह्मचारी आदि चार आश्रम में वर्तमान मनुष्यों के वर्णन में प्रथम ब्रह्मचारी के विशेष धर्मसाधनों को भाष्यकार कहते हैं कि गुरुकुल में निवास करना, धर्मशास्त्र में ब्रह्मचारी के लिये विहित-गुरुसेवा, अग्नि की सेवा (प्रतिदिन अग्नि में हवन करना) ईन्धनाचरण (होम के लिए अरण्य से काष्ठ ले आना), भिक्षा करना तथा मधु, मांस, दिन में निद्रा, आँख में अंजन लगाना, तैल, उबटन इत्यादि शरीर में मर्दनपूर्वक स्नान करना इत्यादि धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिये निषेध किये कर्मों का त्याग करना यह संपूर्ण ब्रह्मचारी के विशेष धर्म के साधन हैं । वेदाध्ययन के लिये स्वीकृत व्रतों का वेदाध्ययन समाप्ति के अनंतर त्याग करने वाले विद्याव्रत स्नातक, जिसने विवाहविधि से विवाह संस्कार में स्त्री का पाणिग्रहण किया हो ऐसे गृहस्थाश्रमी मनुष्य के विशेष धर्म के साधन इस प्रकार हैं कि (शालीन)—जितने धान्यादि अन्न से कलश आदि पात्र भर जांय अथवा जितने अन्न से तीन, दो, या एक दिन के भोजन का निर्वाह हो, ऐसे दाता के स्वयं श्रद्धापूर्वक दिये हुए अन्न से, अर्थात् (यायावर)—दान न लेकर प्रतिदिन भोजननिर्वाहमात्र भिक्षा (मधुकरी) इत्यादि शुद्ध जीविका-व्यापार से उपार्जित अन्नादि पदार्थों से बलिदान (भूतयज्ञ) तथा अतिथिसत्काररूप अग्नि से तर्पण, देवर्षि श्राद्धरूप पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और वेदपाठरूप ब्रह्मयज्ञ ऐसे पांच धर्मशास्त्रोक्त महायज्ञों का सायंकाल, अपराह्ण तथा प्रातःकाल में अनुष्ठान तथा सामर्थ्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऋत्वन्तरेषु ब्रह्मचर्यमपत्योत्पादनं च। ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य वा ग्रामान्निर्गतस्य वनवासो वल्कलाजिनकेशश्मश्रुनखरोमधारणं च। वन्यहुतातिथिशेषभोजनानि वानप्रस्थस्य। त्रयाणामन्यतमस्य श्रद्धावतः सर्वभूतेभ्यो

रहने पर औपासनिक एक अग्नि का विवाहकाल में परिग्रह कर उस अग्नि से अष्टका आदि सात पाकयज्ञविशेषरूप नित्यकर्मों का विधिपूर्वक आचरण करना भी गृहस्थ के धर्म का विशेष साधन है तथा वसन्त ऋतु में करने के लिए वेदशास्त्र में विहित अग्निहोत्रग्रहणपूर्वक दर्शपूर्णमास इत्यादि सात हविर्यज्ञविशेषों का एवं अग्निष्टोम १, उक्थ्य २, षोडषी ३, वाजपेय ४, अतिरात्र ५ और ६ उपमि नामक सोमयज्ञविशेष अनुष्ठान भी गृहस्थाश्रमी के विशेष धर्मसाधन हैं॥ जिनमें से अनष्टूवाः पावणं श्राद्धं, श्रावण्याग्रायणी तथा। चैत्री, चाश्वयुजी चैव सप्तपाकसंस्था इमाः स्मृताः। इत्यादि धर्मशास्त्रों के सात पाकयज्ञविशेष हैं तथा अग्न्याधान १, अग्निहोत्र २, दर्शपूर्णमास ३, चातुर्मास्य ४, अग्रमणेष्टि ५, निरूढपशुबन्ध, ६ सौत्तामणि ७, ऐसे सात हविर्यज्ञ संस्थ हैं। इस प्रकार गर्भाधान १, पुंसवन २, सीमन्तोन्नयन ३, जातकर्म ४, नामकरण ५, अन्नप्राशन ६, चूडाकरण ७, उपनयन ८, चार वेदव्रत १२, स्थान १३, विवाह १४ तथा पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान १९, इस प्रकार उन्नीस तथा ७ हविर्यज्ञसंस्था, ७ पाकसंस्था तथा ७ सोमयज्ञसंस्था ऐसे गौतमादिस्मृत्युक्त ४०- संस्कार तथा दया १, शांति २, अनरूपी ३, शौच ४, अनायास, ५ मंगल ६, अकार्पण्य ७, असूया, ८ गुण और सम्पूर्ण संस्कार होते है यह सूत्रकारों का अभिमत है। किन्तु उक्त २१ प्रकार के नित्ययज्ञों को व्योमशिवाचार्यने नैमित्तिक माना है तथा असमर्थ गृहस्थों को इनके न करने पर भी प्रत्यवाय नहीं होता इस विषय में न्याय वात्स्यायन महर्षि के मत के आधार से 'जरया ह वा एष एतस्मित्सत्राद्विमुच्यते मृत्युना वा' इस अर्थवाद का प्रमाण दिया है।

पदपदार्थ—ऋत्वन्तरेषु = ऋतु समय में, ब्रह्मचर्यं = ब्रह्मचर्य से रहना, अपत्योत्पादनं च = सन्तान को उत्पन्न करना भी (गृहस्थ का धर्मसाधन है)। ब्रह्मचारिणः = ब्रह्मचारी का, गृहस्थस्य वा = अथवा गृहस्थ का, ग्रामात् = ग्राम से, निर्गतस्य = निकले हुए को, वनवासः = वन में रहना, वल्कलाजिनकेशश्मश्रुनखरोमधारणं च = वृक्ष की छाल (वल्कल) तथा अजिन (मृगचर्म) का परिधान करना, केश, दाढी (श्मश्रु), नख तथा रोम (रोमों) को धारण करना (न कटवाना), वन्यहुतातिथिशेषभोजनं च = तथा वन्य (वन में उत्पन्न, हवन से तथा अतिथिभोजन से बचे हुए कन्द मूल फलादिकों का) भोजन करना, वानप्रस्थस्य = वानप्रस्थाश्रमी के (धर्मसाधन हैं)। त्रयाणां = तीन ब्रह्मचारी, गृहस्थ, तथा वानप्रस्थी से, अन्यतमस्य = किसी एक आश्रमी के, श्रद्धावतः = जो श्रद्धावान् हो, सर्वभूतेभ्यः = सम्पूर्ण प्राणियों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नित्याभयं दत्त्वा संन्यस्य स्वानि कर्माणि यमनियमेष्वप्रमत्तस्य षट् पदार्थ-प्रसंख्यानाद्योगप्रसाधनं प्रव्रजितस्येति। दृष्टं च प्रयोजनमनुद्दिश्यैतानि साधनानि भावप्रसादं चापेक्ष्यात्ममनसोः संयोगाद्धर्मोत्पत्तिरिति।

को, अभय = अभय, दत्त्वा = देकर, संन्यस्य = संन्यास लेकर, स्वानि = अपने, कर्माणि= संन्यासी के कर्मों को, यमनियमेषु = अहिंसा आदि यम तथा शौचादि नियमों में, अप्रमत्तस्य = जो प्रमाद नहीं करता हो, षट्पदार्थप्रसंख्यानात् = द्रव्यादि वैशेषिकोक्त षट्पदार्थों के ज्ञान से, योगप्रसाधनं = योगाभ्यास सिद्ध करना, प्रव्रजितस्य = संन्यस्त के विशेष धर्म के साधन हैं, इति = इस प्रकार ।। दृष्टं च = और प्रत्यक्ष होने वाले, प्रयोजनं = फल को, अनुद्दिश्य = उद्देश न कर, एतानि = यह पूर्वोक्त, साधनानि = साधन (उपाय) भावप्रसादं च = चित्तशुद्धि की भी, अपेक्ष्य = अपेक्षा कर, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगात् = संयोग से, धर्मोत्पत्तिः = धर्म की उत्पत्ति होती है, इति = इस प्रकार धर्मप्रकरण है ।।

भाषाभाष्य—तथा ऋतुकाल में विषयभोग से सन्तानोत्पादन करना अर्थात् सन्तान के उत्पन्न होने के उद्देश से ही विषयभोग करना, और ऋतुभिन्नकाल में ब्रह्मचर्य से रहना भी पूर्वोक्त धर्मसाधनों के समान गृहस्थ के धर्मसाधन हैं।

क्रमप्राप्त वानप्रस्थाश्रमियों के धर्मसाधन इस प्रकार हैं कि 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्राजेत्' अर्थात् 'जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन संन्यास ले' इस श्रुति के बल से ब्रह्मचारी को भी वानप्रस्थ द्वारा संन्यासग्रहण का अधिकार होने के कारण ब्रह्मचारी अथवा गृहस्थ को ग्राम से निकल कर वन में वास करना, वल्कल तथा मृगचर्म पहिनना-ओढ़ना और शिर के बाल तथा दाढ़ी-मूँछ को भी मुड़वाना तथा नख और रोम को बढ़ाना और अरण्य में उत्पन्न कन्द-मूल, फल का तथा हवनशेष चरु आदि का तथा अतिथिसत्कार से अवशिष्ट अन्न का भोजन करना भी विशेष धर्म के साधन हैं। प्राजापत्यादि नामक याग कर स्त्री को पुत्र के अधीन कर संन्यास लेने वाले पुरुष के लिये हवन तथा अतिथिशेष का भोजन धर्म के साधन नहीं होते, किन्तु स्त्री तथा अग्नि के साथ वन में गये पुरुष के लिये वे भी धर्मसाधन होते हैं। यह सूचित करने के लिये पृथक् साधन कहा गया है।

वानप्रस्थाश्रम धर्मसाधन के पश्चात् क्रमप्राप्त चतुर्थ संन्यासाश्रम धर्मों का वर्णन भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थी, इन तीनों में से (संन्यासाश्रम के ग्रहण करने में अन्य पूर्व आश्रम का नियम न होने के कारण) ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थी कोई भी एक पुरुष सांसारिक विषयों से विरक्त होने के कारण, संन्यासग्रहण कर श्रद्धापूर्वक प्राणिमात्र को अभयदान देता हुआ संपूर्ण व्यावहारिक कर्मों का त्याग कर 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' इस योगसूत्र (पा० ४) में कहे हुए अहिंसा (अद्रोह), सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य तथा पराये का धन न लेना इन पांच प्रकार के यम तथा 'तपः शौचः सन्तोष स्वाध्यायेश्वर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रणिधानानि नियमाः' इस (पा० ४ सू०) योगसूत्र में वर्णित तपश्चर्या, शुद्धि, सन्तोष, वेदाध्ययन, ईश्वरभक्ति ऐसे पांच नियमों का पालन करने में प्रमाद न कर उनका सेवन करते हुए वैशेषिकदर्शन में वर्णन किये हुए (जिनमें सांसारिक तथा पारमार्थिक सभी पदार्थों का संग्रह हो जाता है) द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष तथा समवाय इन षट् पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्यरूप धर्मों के ज्ञान से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से आत्मा के वास्तविक ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ समाधिविशेषरूप योग की उत्पत्ति होना संन्यासी का विशेष धर्मसाधन है। यह धर्म का साधन क्यों होता है ? इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये भाष्यकार कहते हैं कि जिस कारण धनादि प्राप्ति, संसार में प्रसिद्धि, इत्यादि प्रत्यक्ष दृष्टफल की इच्छा न कर सच्चे संन्यासी उक्त धर्म के साधनों को करते हैं अतः यह सिद्ध होता है कि सांसारिक फल की इच्छा न होने के कारण काम, क्रोध, लोभ, मद इत्यादि दोष (कलंक) रहित शुद्ध चित्त के अभिप्राय की शुद्धि की अपेक्षा कर उत्पन्न भये आत्मा तथा मन के संयोगविशेष से पूर्वोक्त सन्यास के निर्वतक धर्मसाधनों की उत्पत्ति होती है, जिससे उस संन्यासी को सस्कार से शरीरत्यागपर्यन्त शारीरिक भोग होकर शरीरत्याग के पश्चात् मुक्ति की प्राप्ति होती है। जो वैशेषिकदर्शन में यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सधर्मः' इस सूत्र म धर्म शब्द से निःश्रेयस (मुक्ति) का साधन कहा गया है। 'समाधि के द्वारा आत्यन्तिक तथा एकान्तिक दुःखनिवृत्ति के लिये आत्मविवेक ज्ञान ही उपाय है। ऐसा शास्त्र अथवा गुरुमुख से सुन कर अरण्य में रहकर समाधि लगाई जाती है, जिससे संसार निवर्तक उत्कृष्ट समाधिधर्म की उत्पत्ति होकर उनके पूर्ण परिपाक होते ही समाधि में आत्मा के वास्तविक स्वरूप का प्रत्यक्ष करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसा सांख्यवादियों का भी मत है ।। यहाँ पर धर्म निरूपण के प्रकरण में भाष्यकार ने २४९ सूत्र से २५१ सूत्रों तक तीन सूत्र की व्याख्या नहीं की है।

वैखानस १. औदुम्बर २, वालखिल्य ३, तथा केनप ४, ऐसे चार प्रकार के वानप्रस्थ के भेद हैं, जिनमें विना कृषि के तैयार भये मुन्यन्नों से अग्नि की सेवा कर आत्मज्ञान की इच्छा करने वाले वैखानस; प्रातःकाल जिस दिशा के सम्मुख प्रथम मुख हो उस दिशा से गूलर, सांवा, मुनिधान्य इत्यादि लाकर अग्नि की आराधनापूर्वक आत्मज्ञान प्राप्त करनेवाले औदुम्बर तथा जटाधारण कर वल्कल आदि वसनधारी पूर्णिमादि पर्व के दिन फलाहारादि का भी त्याग कर आठ मास तक वृत्ति का उपार्जन कर पंचमहायज्ञ करते हुए आत्मज्ञान प्राप्त करनेवाले वालखिल्य तथा दूर्वादिकों के पके, सूखे, गिरे हुए पत्त इत्यादि खाकर अग्निसेवापूर्वक आत्मज्ञान प्राप्त करनेवाले केनप वानप्रस्थी होते हैं। इसी प्रकार कुटीचक १, बहूदक २, हंस ३ तथा परमहंस ४, ऐसे चार प्रकार के संन्यासी होते हैं जिनके विशेष स्वरूपों को व्योमवती आदि भाष्य की व्याख्याग्रन्थों में स्वयं देख लेना चाहिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(४०) अधर्मप्रकरणम् ।

अधर्मोऽप्यात्मगुणः । कर्तुरहितप्रत्यवायहेतुरतीन्द्रियोऽन्त्यदुःखसंविज्ञानविरोधी । तस्य तु साधनानि शास्त्रे प्रतिषिद्धानि धर्मसाधनविपरीतानि हिंसानृतस्तेयादीनि विहिताकरणं प्रमादश्चैतानि दुष्टाभिसन्धिं चापेक्ष्यात्ममनसोः संयोगादधर्मस्योत्पत्तिः ।

---

(४०) अधर्मप्रकरण

पदपदार्थ—अधर्मः अपि = अधर्म भी, आत्मगुणः = आत्मा का गुण है । कर्तुः = कर्ता के, अहितप्रत्यवायहेतुः = अहित तथा प्रत्यवाय (दोष) का कारण है, अतीन्द्रियः= जो इन्द्रिय से गृहीत नहीं होता, अन्त्यदुःखसंविज्ञानविरोधी = अन्त्यदुःखानुभव से नष्ट होता है । तस्य तु = और उस अधर्म के, साधनानि = साधन हैं, शास्त्रे = शास्त्र में, प्रतिषिद्धानि = निषेध किये हुए, धर्मसाधनविपरीतानि = पूर्वोक्त धर्मसाधनों के विपरीत, हिंसानृतस्तेयानि = द्रोह, असत्य तथा चौर्य, विहिताकरण = विधान किये हुए कर्मों का न करना, प्रमादः च = असावधानता भी, एतानि = इन, दुष्टाभिसंधि च = दूषित अभिप्राय को भी, अपेक्ष्य = अपेक्षा कर, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगात् = सयोग से, अधर्मस्य = अधर्म की, उत्पत्ति = उत्पत्ति होती है ।

भाषाभाष्य—इस प्रकार धर्म नामक अदृष्ट की उत्पत्ति का वर्णन कर क्रमप्राप्त होने से अधर्मरूप अदृष्ट का वर्णन करते हैं कि धर्म के समान अधर्म की आत्मा ही का गुण है, जो अधर्म करने वाले पुरुष को अहित दुःखसाधन तथा अधर्म उत्पन्न करने से दोष-दुःख की उत्पत्ति कराता है । यह अधर्म भी धर्म के समान इन्द्रियों से गृहीत न होने से अतीन्द्रिय है तथा अन्तिम अधर्मफल दुःख के अनुभव से नष्ट होता है । उस अधर्म के साधन वे हैं जो श्रुतिस्मृति आदि धर्मप्रतिपादक शास्त्रों में निषिद्ध तथा पूर्वोक्त धर्मसाधन के विपरीत हैं, जैसे अहिंसा के विपरीत हिंसा, परद्रोह, सत्य के विपरीत अनृत (असत्य) तथा अस्तेय के विपरीत स्तेय (शास्त्र में न विधान किये परधन का ग्रहण (चोरी करना) तथा धर्मशास्त्रों में अवश्य करने के लिये विहित कर्मों का न करना एवं प्रमाद (असावधानता रखना) विना समझे विहित कर्मों का उल्लंघन (यह सब अधर्म के कार्य हैं) इन सम्पूर्णों की उत्पत्ति, दूषित चित्त की अभिसन्धि (अभिप्राय) की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के संयोग से होती है । किन्तु इच्छा (कामना) पूर्वक किये अधर्म के अनुष्ठान में ही दुष्टाभिसंधि कारण होती है कामनारहित से नहीं यह ध्यान रखना चाहिये ॥ सूत्र—२४३-२४४, २४६, २४७, २२९, १३१, २६२ ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(४१) (प्रासङ्गिकं) संसारापवर्गप्रकरणम् ।

अविदुषो रागद्वेषवतः प्रवर्तकाद्धर्मात् प्रकृष्टात् स्वल्पाधर्मसहितात् ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेष्वाशयानुरूपैरिष्टशरीरेन्द्रियविषयसुखादिभिर्योगो भवति। तथा प्रकृष्टादधर्मात् स्वल्पधर्मसहितात् प्रेततिर्यग्योनिस्थानेष्वनिष्टशरीरेन्द्रियविषयदुःखादिभिर्योगो भवति । एवं प्रवृत्तिलक्षणाद्धर्मादधर्मसहिताद्देवमनुष्यतिर्यङ्नारकेषु पुनः पुनः संसारबन्धो भवति ।

ज्ञानपूर्वकात्तु कृतादसङ्कल्पितफलाद्विशुद्धे कुले जातस्य दुःखविगमोपायजिज्ञासोराचार्यमुपसङ्गम्योत्पन्नषट्पदार्थतत्त्वज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसञ्चितयोश्चोपभोगान्निरोधे

---

(४१) प्रासङ्गिक संसारापवर्गप्रकरण

पदपदार्थ—अविदुषः = अविद्वान् रागद्वेषवतः = राग तथा द्वेषवाले पुरुष को, प्रवर्तकात् = प्रवृत्त करनेवाले, धर्मात् = धर्म से, प्रकृष्टात् = जो उत्कृष्ट हो, स्वल्पाधर्मसहितात् = तथा अल्प अधर्म से युक्त हो, ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेषु = ब्रह्मा, इन्द्र, दक्षादि प्रजापति, पितर तथा मनुष्यलोक में, आशयानरूपैः = वासना के अनुकूल, इष्टशरीरेन्द्रियविषयसुखादिभिः = अभिमत–शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा सुख इत्यादिकों से, योगः = सम्बन्ध, भवति = होता है । तथा = इसी प्रकार, प्रकृष्ठात् = उत्कृष्ट = अधर्मात् = अधर्म से, स्वल्पधर्मसहितात् = जो धर्म से युक्त हो, प्रेततिर्यग्योनिस्थानेषु = प्रेत तथा पशु पक्षी आदि योनियों में, अनिष्टशरीरेन्द्रियविषयदुःखादिभिः = अनभिमत = शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा दुःखादिकों से सम्बन्ध, भवति = होता है । एवं = इस प्रकार, प्रवृत्तिलक्षणात् = प्रवृत्तिस्वरूप, धर्मात् = धर्म से, अधर्मसहितात् = जो अधर्म से सम्बद्ध हो, देवमनुष्यतिर्यङ्नारकेषु = देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी तथा नरक के जीवों में, पुनः पुनः = बार-बार, संसारबंध = संसार से बन्धन, भवति = होता है । ज्ञानपूर्वकात् तु = किन्तु शास्त्रज्ञानपूर्वक, कृतात् = किये हुए, असंकल्पित फलात् = फलेच्छारहित किये धर्म से विशुद्धे = दोषरहित होने से निर्मल, कुले = वंश में, जातस्य=उत्पन्न हुए, दुःखविगमोपायजिज्ञासोः=दुःख की निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा रखनेवाले प्राणी को, आचार्यं = गुरु के, उपसंगम्य = समीप जाकर, उत्पन्नषट्पदार्थतत्त्वज्ञानस्य = जिस पुरुष को वैशेषिकदर्शन में उक्त द्रव्यादि षट् पदार्थों का तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ हो, अज्ञाननिवृत्तौ = अज्ञान के निवृत्त होने पर, विरक्तस्य = जो विरक्त हुआ हो (ऐसे प्राणी को) रागद्वेषाद्यभावात् = राग द्वेष, मोह, इत्यादिकों के न होने के कारण, तज्जयोः = उन रागद्वेषादिकों से उत्पन्न होनेवाले, धर्माधर्मयोः = धर्म तथा अधर्म की, अनुत्पत्तौ = उत्पत्ति न होने पर, पूर्वसंचितयोः च = और पूर्वजन्मों में संचय एकत्रित (इकट्ठा) किये हुए धर्म तथा अधर्म के, उपभोगात् = सुख-दुःखरूप फलों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदं चोत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा निवर्तते। तदा निरोधात् निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति ॥

के उपभोग से, निरोधात्=नाश होने पर, सन्तोषसुखं=सन्तोष सुख, शरीरपरिच्छेदंच= तथा शरीर के ज्ञान को भी, उत्पाद्य=उत्पन्न कर, रागादिनिवृत्तौ=रागद्वेषादिकों के नष्ट होने पर, निवृत्तिलक्षणः = निवृत्तिस्वरूप, केवलः धर्मः = केवल धर्मः, परमार्थदर्शनजं = वास्तविक आत्मज्ञान से उत्पन्न, सुखं = सुख को, कृत्वा = उत्पन्न कर, निवर्तते = निवृत्त (नष्ट) होता है। तदा = उस समय, निरोधात् = धर्म के निरोध (नाश) से, निर्बीजस्य = धर्माधर्मरूप बीज से रहित, आत्मनः = जीवात्मा के, शरीरादिनिवृत्तिः = शरीर इन्द्रियादिकों की निवृत्ति होती है, पुनः = फिर से, शरीराद्यनुत्पत्तौ = शरीरादिकों के उत्पन्न न होने से, दग्धेन्धनानलवत् = जली लकड़ी के अग्नि के समान, उपशमः = शान्त हो जाना, मोक्षः = मोक्ष होता है। इति = इस प्रकार प्रासंगिक संसार तथा अपवर्ग का वर्णन है।

भाषाभाष्य—इस प्रकार धर्म तथा अधर्म के साधन का निरूपण कर प्रसङ्ग से उनसे होनेवाले संसार तथा अपवर्ग का वर्णन भाष्यकार इस प्रकार करते है कि मैं ही कर्ता तथा भोक्ता हूँ, इस अहङ्कार से दुःख के साधनों को भी सुख का साधन समझने वाले, अतएव उस विषय में अनुराग रखने वाले तथा इष्ट विषय में प्रतिबन्ध करने वालों से द्वेष रखने वाले मनुष्य को, उसके प्रवृत्ति में कारण तथा अल्पअधर्मसहित, 'मैं इससे भी अधिक श्रेष्ठ हो जाऊँ' इस अभिलाषा से किये हुए उत्कृष्ट धर्म से ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति (दक्ष इत्यादि), पितर तथा मनुष्यों के लोक में अपने २ आश्रय के अनुसार शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा सुख-दुःख इत्यादिकों का सम्बन्ध होता है। बिना अधर्म के उक्त लोकों में दुःख का अनुभव नहीं हो सकता, इसलिये 'स्वल्प' ऐसा अधर्म में विशेषण दिया है। इसी प्रकार स्वल्प धर्मसहित प्रकृष्ट अधर्म से प्रेतयोनि तथा पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनियों में अहितकर शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा दुःख आदि का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार अधर्मसहित प्रवृत्तिस्वरूप धर्म से देवता, मनुष्य, तिर्यक् तथा नारकी योनियों में अज्ञानी प्रणियों को बार-बार जन्ममरणरूप संसारबन्धन प्राप्त होता है ॥ सूत्र २५५ ॥

इस प्रकार धर्म से संसारबन्ध का वर्णन कर धर्मविशेष से अपवर्ग (मोक्ष) का प्रतिपादन भाष्यकार वर्णन करते हुए कहते हैं कि शास्त्रज्ञानपूर्वक किये हुए फलेच्छारहित (निष्काम) उत्कृष्ट धर्म से (विद्वान् का) शुद्ध वंश में जन्म होता है, जिसमें उत्पन्न ज्ञानी पुरुष को प्रतिदिन दुःखों से पीड़ा होने के कारण उसके आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक दुःखनिवर्तक उपाय में 'किस प्रकार दुःखनिवृत्ति होगी' ऐसी जिज्ञासा होती है, जिस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये वह तत्त्वज्ञानी आचार्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(४२) शब्दप्रकरणम् ।

शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः क्षणिकः कार्यकारणोभयविरोधो संयोगविभागशब्दजः प्रदेशवृत्तिः समानासमानजातीयकारणः। स द्विविधो—वर्णलक्षणो ध्वनिलक्षणश्च । तत्र अकारादिर्वर्णलक्षणः शङ्खादिनिमित्तो ध्वनि-

---

(गुरु) के पास जाकर उनके उपदेश से (शास्त्रोक्त) वैशेषिकदर्शन मे कहे हुए सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों के संग्रह करने वाले द्रव्यादि षट् पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य-रूप धर्मज्ञान द्वारा वास्तविक ज्ञान को प्राप्त होता है, जिससे विरोधी अज्ञान की निवृत्ति होने के अनन्तर विषयदोषदर्शन से विरक्त होने के कारण रागद्वेषादिकों के संस्कार के विच्छिन्न होने से रागद्वेषादिकों के समूल उच्छिन्न होने के कारण उसके रागद्वेषादिमूलक धर्म तथा अधर्म आगे उत्पन्न नहीं होते और पूर्वसंचित धर्म तथा अधर्म वर्तमान शरीर में उपभोग से निवृत्त हो जाते हैं, तथा संसारनिवर्तक दूसरे धर्म कर्म से सन्तोषसुख देने वाला वास्तविक शरीरादिविषयक ज्ञान होने से राग, द्वेष तथा मोह की निवृत्ति होने के कारण उत्पन्न हुआ संसारनिवर्तक केवल धर्म वास्तविक ज्ञान से आत्मदर्शनजन्य सुख को उत्पन्न कर स्वयं निवृत्त हो जाता है। और जिस समय यह धर्म आत्मदर्शनरूप कार्य को उत्पन्न कर निवृत्त हो जाता है, उस समय शरीरादिग्रहण के बीजरूप धर्माधर्मसहित आत्मा के कर्मक्षय से उत्पन्न शरीरादिकों की निवृत्ति होने पर तथा भविष्य शरीरादिग्रहण के कारणों के अभाव से शरीरान्तर की उत्पत्ति न होने के कारण दग्ध ईन्धन वाले अग्नि के समान उक्त निवर्तक धर्म के शान्त हो जाने के कारण पुनः शरीरग्रहण न होने से अपवर्ग (मोक्ष) होता है। केवल ज्ञान से मुक्ति होती है अथवा ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय से यह विचार किरणावली आदि टीकाग्रन्थों में स्वयं देख लेना चाहिये ॥ सू० २५६–२१४, २१६ ॥

(४२) शब्दप्रकरण

पदपदार्थ—शब्दः = शब्द, अम्बरगुणः = आकाश का गुण है श्रोत्रग्राह्यः = जो श्रवणेन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य है, क्षणिकः = जो तृतीय क्षण में नष्ट होने से क्षणिक है, कार्यकारणोभयविरोधी = कार्य तथा कारण दोनों से नष्ट होने वाला, संयोगविभाग-शब्दजः = संयोग, विभाग तथा शब्द से उत्पन्न, प्रदेशवृत्तिः = एकदेश में वर्तमान (अव्याप्यवृत्ति), सामानासमानजातीयकारणः = समान तथा असमान जाति के कारण वाला है। सः = वह शब्द, द्विविधः = दो प्रकार का है। वर्णलक्षणः = वर्णस्वरूप, ध्वनिलक्षणः च = और ध्वनिरूप, तत्र = उन दोनों में से, अकारादिः = अ आ इत्यादि, वर्ण लक्षणः = वर्णस्वरूप है, शंखादिनिमित्तः = शंखादि वाद्यरूप निमित्त से उत्पन्न, ध्वनिलक्षणः च = और ध्वनिस्वरूप। तत्र = उनमें से, वर्णलक्षणस्य = अकारादि वर्ण-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लक्षणश्च । तत्र वर्णलक्षणस्योत्पत्तिः—आत्ममनसोः संयोगात् स्मृत्यपेक्षाद्वर्णोच्चारणेच्छा तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्मवायुसंयोगाद्वायौ कर्म जायते स चोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति ततः स्थानवायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् वर्णोत्पत्तिः । अवर्णलक्षणोऽपि भेरादण्डसंयोगापेक्षाद्भेर्याकाशसंयोगादुत्पद्यते । वेणुपर्वविभागाद् वेण्वाकाशविभागाच्च शब्दाच्च संयोगविभागनिष्पन्नाद्वीचीसन्तानवच्छब्दसन्तान इत्येवं सन्तानेन श्रोत्रप्रदेशमागतस्य ग्रहण, नास्ति, परिशेषात् सन्तानसिद्धिरिति ।

इति प्रशस्तपादभाष्ये गुणपदार्थः समाप्तः ॥

स्वरूप शब्द की, उत्पत्ति. = उत्पत्ति, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगात् = संयोग से, स्मृत्यपेक्षात् = जो स्मरण की अपेक्षा करता हो, वर्णोच्चाणेच्छा = प्रथम अकारादि वर्णों के उच्चारण की इच्छा होती है, तदनन्तरं = इसके पश्चात् , प्रयत्नः = प्रयत्न होता है, तं = उस प्रयत्न की, अपेक्षमाणात् = अपेक्षा करने वाले, आत्मवायुसंयोगात् = आत्मा तथा वायु के संयोग से, वायोः = वायु में, कर्म = क्रिया, जायते = उत्पन्न होती है, सः च = और वह कुष्ठस्थ वायु, ऊर्ध्वं = ऊर्ध्वदेश में, प्रच्छन् = जाता हुआ, कण्ठादीन् = कण्ठ आदि स्थानों को अभिघात नामक शब्दजनक संयोग से अभिघात करता है । ततः = इसके पश्चात, स्थानवायुसंयोगापेक्षामाणात् = कण्ठादि स्थान तथा उक्त वायु के संयोग की अपेक्षा करने वाले, स्थानाकाशसंयोगात् = कण्ठादि स्थान तथा अकाशसंयोग से, वर्णोत्पत्तिः = अकारादि वर्णों की उत्पत्ति होती है । अवर्णलक्षणः अपि = वर्णस्वरूप से भिन्न ध्वनिरूप शब्द भी, भेरीदण्डसंयोगापेक्षात् = भेरी (नगाड़ा) तथा डण्डे के संयोग की अपेक्षा करने वाल, भेर्याकाशसंयोगात् = भेरी तथा आकाश के संयाग से, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है । वेणुपर्वविभागात् = वेणु (बांस) के (पर्वगांठ) के परस्पर विभाग से, वेण्वाकाशविभागात् = वेणु तथा आकाश के विभाग से भी ध्वनिरूप शब्द उत्पन्न होता है । शब्दात् च=और शब्द सेभी, संयोगविभागनिष्पन्नात् =जो संयोग अथवा विभाग से उत्पन्न हुआ हो, वीचीसन्तानवत् = तरंग के संतान (धारा) के समान, शब्दसन्तानः = शब्द का सन्तान (धारा) होता है, इति एवं = इस प्रकार से, श्रोत्रदेशं = वर्णप्रदेश में, आगतस्य = आये हुए शब्द का ग्रहणं = ग्रहण होता है । श्रोत्रशब्दयोः = श्रोत्र तथा शब्दगुण में, गमनागमन्तसंभवात् = गमन तथा आगमन क्रिया का अभाव होने के कारण, अप्राप्तस्य = न प्राप्त हुऐ शब्द का, ग्रहणं = ग्रहण, न अस्ति = नहीं है, परिशेषात् = परिशेष से, सन्तानसिद्धिः = शब्द के सन्तान की सिद्धि होती है ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाषाभाष्य—इस प्रकार धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट के वर्णन के पश्चात् क्रमप्राप्त शब्दगुण का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने वाले गुण के शब्द कहते हैं। यहाँ पर आकाशगत संख्यादि गुणों में अतिव्याप्ति वारणार्थ श्रोत्रग्राह्यता विशेषण तथा शब्दत्वादि जाति में उक्त दोष के परिहार के लिये गुणपद दिया है। इस निर्दुष्ट लक्षण से शब्दगुण इतर गुणों से भिन्न है, शब्दगुण होते हुए श्रोत्रग्राह्य होने से इसके अनुमान द्वारा शब्द नामक चौबीसवाँ पृथक् गुण सिद्ध होता है। वह शब्द उत्पत्ति के अनन्तर तृतीय क्षण में द्वितीय शब्द से नष्ट होने के कारण क्षणिक है यह सिद्ध होता है। अर्थात् उच्चारण के पश्चात् उपलब्धि न होने से यह रूपादिकों के समान स्थिर (नित्य) नहीं है, वही शब्द रहता है इसमें कोई प्रमाण न होने से कण्ठताल्वादिसंयोग वर्णरूप शब्दों का तथा भेरीदण्डादिसंयोग ध्वनिरूप शब्द का अभिव्यंजक है यह मानना असंगत है। 'वही यह ककार है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा भी शब्द की नित्यता सिद्ध नहीं कर सकती। क्योंकि वह कत्व और आदि जाति को विषय करती है यही मानना उचित है, कारण यह कि 'तीव्र शब्द है मन्द शब्द है' इत्यादि प्रतीति से शब्दरूप व्यक्तियों में भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। तथा शब्दगुण अपने कार्य तथा कारण शब्द दोनों से नष्ट होता है, अर्थात् प्रथम शब्द अपने कार्य द्वितीय शब्द से, तथा अन्तिम अपने कारण उपान्त्य (अन्तिम से पूर्व) शब्द से नष्ट होता है क्योंकि वहाँ दूसरा कोई नाशक हो नहीं सकता और मध्य के शब्द का कार्य तथा कारण दोनों शब्दों से नाश होता है। इस प्रकार से (वर्ण तथा ध्वनि) दोनों प्रकार के शब्द संयोग, विभाग तथा शब्दजन्य ऐसे तीन प्रकारक हैं अर्थात् प्रथम शब्द संयोग तथा विभाग से उत्पन्न होता है, और उससे उत्पन्न तीसरा शब्दजन्य शब्द है, और यह संपूर्ण प्रकार का प्रदेशवृत्ति अर्थात् अव्याप्यवृत्ति है, क्योंकि जिस समय शंख बजता है (शंखध्वनि होती है). उस समय भेरी में शब्द (ध्वनि) नहीं होता। तथा यह तीसरा शब्दजन्य शब्द शब्दत्वेन समान जातीय कारण से, और प्रथम तथा द्वितीय संयोगजन्य, तथा विभागजन्य शब्द असमान जातीय कारणों से उत्पन्न होता है। उस शब्दगुण के 'अ आ' इत्यादि वर्णस्वरूप तथा शंखादि वाद्यों से उत्पन्न 'ध्वनि' स्वरूप ऐसे दो भेद हैं। जिनमें प्रथम वर्णस्वरूप शब्द की उत्पत्ति का प्रकार भाष्यकार इस प्रकार वर्णन करते हैं कि जब मनुष्यादि प्राणियों को कुछ मुख से कहने की इच्छा होती है तब पूर्व में अनुभव किये वर्णों की स्मृति की अपेक्षा करने वाले उसके आत्मा तथा मन के संयोग से वर्णों का उच्चारण करने की उसे इच्छा होती है, जिससे वह वर्णों के उच्चारण का प्रयत्न करता है, जिस प्रयत्न की अपेक्षा से उसकी आत्मा तथा कौष्ट्य, वायु के संयोग से उस शरीरगत वायु में क्रिया होने से वह ऊर्ध्वदेश में जाकर कण्ठ, तालू इत्यादि मुखस्थस्थानविशेषों में शब्दजनक अभिघात नामक संयोग को करता है इसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पश्चात् उक्त कण्ठादिस्थान तथा वायु के संयोगरूप निमित्तकारण की अपेक्षा से, कण्ठादिस्थान तथा मुखस्थ आकाशप्रदेश के संयोगरूप असमवायिकारण से मुखस्थ-आकाशद्रव्य में 'अ' इत्यादि वर्णरूप शब्द की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार वर्ण-रूप शब्द से भिन्न ध्वनिरूप शब्द की भी, भेरी तथा दण्ड के संयोगरूप निमित्त कारण की (जो दण्ड के वेग की अपेक्षा करता है) अपेक्षा करने वाले भेरी तथा दण्ड के संयोगरूप असमवायिकारण से भेर्याकाशरूप समवायिकारण से उत्पत्ति होती है। इस प्रकार संयोगजन्य संयोग का निरूपण कर विभागजन्य शब्द का वर्णन करते हैं, कि एक वेणू (बांस को बीच में से फाड़ने पर उसके दोनों दलों के विभक्त होने के समय जो ध्वनि होती है वह विभागजन्य शब्द वेणुदल विभागरूप निमित्तकारण की अपेक्षा करने वाले वेणु तथा उसके आकाश के विभागरूप असम-वायिकारण से वेणुगत आकाशरूप समवायिकारण में उत्पन्न होता है, वही विभाग-जन्य दूसरा ध्वनिरूप शब्द कहा जाता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त संयोग तथा विभाग-जन्य शब्द से जल के तरङ्ग के सन्तानों से समान शब्द से शब्द उससे पुनः शब्द इस प्रकार शब्दों के सन्तान द्वारा भेर्यादि ध्वनि शब्द, अथवा वर्णरूप शब्द श्रोता के श्रोत्रप्रदेश में आकर गृहीत होता है क्योंकि आकाशरूप श्रोत्रद्रव्य में तथा शब्द-गुण में गमन-आगमन इत्यादि क्रियाओं के अभाव होने के कारण अप्राप्त शब्द का श्रोता को ग्रहण नही हो सकता, अतः परिशेष से शब्दसन्तान सिद्ध होता है, अर्थात् न श्रोता का श्रोत्रेन्द्रिय वक्ता के वर्ण शब्द के पास अथवा भेरी आदि के ध्वनि के समीप जाता है, अथवा वक्ता का तथा भेरी आदि का ध्वनिरूप शब्द श्रोता के कर्णविवररूप श्रोताकाश के समीप, क्योंकि शब्दगुण होने से निष्क्रिय है तथा आकाश भी व्यापकद्रव्य होने से क्रियारहित है, विना श्रोता के समीप गये उक्त दोनों शब्दों का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय विषयों को प्राप्त कर ही ग्रहण करते हैं यह नियम है, अन्यथा इन्द्रियों से विषय का ग्रहण न होगा अतः पूर्वप्रदर्शित जल के तरङ्ग के समान शब्दों के सन्तान की कल्पना आवश्यक है ।। सू० ७५ १००ं तथा १०४ सूत्र से १११ सूत्र तक ।।

यहाँ पर प्रथम शब्द गुण है इसीमें क्या प्रमाण ? इस प्रश्न के उत्तर में शब्द, गुण है, द्रव्य तथा कर्म से भिन्न होते हुए सत्ता जातिमान् होने से, रूपादिगुणों के समान इस अनुमानप्रमाण से शब्द गुण है यह सिद्ध होता है। पूर्वोक्त उक्ति से क्षणिक है यह भी सिद्ध है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'यदि शब्द नित्य न हो तो उससे अर्थज्ञान न होगा, अतः अर्थापत्तिप्रमाण से शब्द नित्य है यही सिद्ध होता है' तो यह कहना असंगत है, क्योंकि अनित्यपक्ष में भी सादृश्य को ग्रहण करने से अर्थ का ज्ञान न हो जायगा। क्योंकि जहां-जहाँ पर गकार, औकार तथा विसर्ग की 'आनुपूर्वी (क्रम) उपलब्ध होता है वहां-वहां

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गोत्वजातिविशिष्ट गोरूप पदार्थ जानना चाहिये तथा प्रतिपादन भी करना चाहिये। इस प्रकार वृद्धव्यवहारादिकों से शब्द के संकेतरूप शक्ति का ज्ञान होने पर ऐसे प्रदर्शित आनुपूर्वी विशिष्ट गोरूप शब्द को जानते ही गोरूप पदार्थ का ज्ञाता पुरुष स्वयं जानता है, तथा दूसरे पुरुष को भी प्रतिपादन करता है। अतः शब्द के अनित्य होने के कारण ही भाष्यकार ने उसके नाश का कारण कार्यकारणोभयविरोधी' इस भाष्य में किया है॥ इस प्रकार द्वितीय गुण निरूपण महाप्रकारण समाप्त है जिसमें ४२ आवान्तरप्रकरण हैं॥

प्रशस्तपादभाष्य में गुणपदार्थ समाप्त।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ कर्मपदार्थनिरूपणम्

(१) उत्क्षेपणादिकर्मप्रकरणम् ।

उत्क्षेपणादीनां पञ्चानामपि कर्मत्वसम्बन्धः । एकद्रव्यवत्त्वं क्षणिकत्वं मूर्तद्रव्यवृत्तित्वम् अगुणवत्त्वं गुरुत्वद्रवत्वप्रयत्नसंयोगजत्वं स्वकार्यसंयोगविरोधित्वं संयोगविभागनिरपेक्षकारणत्वम् असमवायिकारणत्वं स्वपराश्रयसमवेतकार्यारम्भकत्वं समानजातीयानारम्भकत्वं द्रव्यानारम्भकत्वं च प्रतिनियतजातियोगित्वम् । दिग्विशिष्टकार्यारम्भकत्वं च विशेषः ॥

---

(१) उत्क्षेपणादिकर्मप्रकरण

पदपदार्थ—उत्क्षेपणादीनां = पूर्वोक्त उत्क्षेपण इत्यादि, पञ्चानां अपि = पाँचों प्रकार के कर्मों में, कर्मत्वसम्बन्धः = कर्मत्व जाति का समवायसम्बन्धरूप साधर्म्य है । एकद्रव्यवत्त्वं = कर्म एक द्रव्याधार होना, क्षणिकत्वं = क्षणिक होना, मूर्तद्रव्यवृत्तित्वं = मूर्तद्रव्यों में ही रहना, अगुणवत्त्वं = गुणरहित होना, गुरुत्वद्रवत्वप्रयत्नसंयोगजत्वं = गुरुत्व, द्रवत्व, प्रयत्न तथा संयोग से उत्पन्न होना, स्वकार्यसंयोगविरोधित्वं = अपने (क्रिया के) कार्य उत्तरसंयोग से नष्ट होना, संयोगविभागनिरपेक्षकारणत्वं = संयोग तथा विभाग को उत्पन्न करने में किसी दूसरे की अपेक्षा न कर कारण होना, असमवायिकारणत्वं = असमवायिकारण होना, स्वपराश्रयसमवेतकार्यारंभकत्वं = अपने (क्रिया के) अथवा क्रियाभिन्न दूसरे के आधार में समवायसम्बन्ध से उत्पन्न कार्य को आरम्भ करना, समानजातीयानारंभकत्वं = समानजाति की क्रिया को उत्पन्न न करना, द्रव्यानारंभकत्वं च = द्रव्य को आरम्भ न करना, प्रतिनियतजातियोगित्वम् = भिन्न-भिन्न कर्मों में व्यवस्थित उत्क्षेपणत्व आदि जातियों का आश्रय होना, दिग्विशिष्टकार्यारंभकत्वं च = और दिशाविशेष में कार्यों को उत्पन्न करना भी, विशेषः = द्रव्यादि पांच पदार्थों से विशेष है ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार द्रव्य तथा गुण ऐसे दो पदार्थों के निरूपण के पश्चात् क्रमप्राप्त तृतीय कर्मपदार्थ का निरूपण करते हुए भाष्यकार पूर्वोक्त उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों का परस्पर में समानधर्मरूप साधर्म्य तथा द्रव्यादि पाँच पदार्थों के विरुद्धधर्मरूप वैधर्म्य का भी प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं कि कर्मत्व सामान्य (जाति) के साथ उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन नामक पाँचों कर्मों में समवायसम्बन्ध है, जिससे क्रियामात्र में वर्तमान सत्ता की साक्षात् व्याप्य जातिमत्ता कर्म का सामान्य लक्षण है यह सिद्ध होता है । जिसमें 'चलति' चलता है इत्यादि रूप से कर्म का प्रत्यक्ष ही लौकिक तथा परीक्षक (शास्त्रज्ञ) व्यवहार में साधारणरूप से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रसिद्ध होने के कारण प्रमाण है। तथा इन पाँचों का 'एक दव्यवत्व' एक समय में एक ही द्रव्यरूप आधार में एक ही क्रिया का रहना साधर्म्य है क्योंकि यदि एक द्रव्य-रूप आश्रय में एक ही समय विरुद्ध दो क्रिया समवेत हो तो परस्पर के प्रतिबन्धक होने से दिशारूप देशविशेष के साथ संयोग तथा विभाग के न हो सकने के कारण 'संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्म' अर्थात् संयोग तथा विभागरूप कार्यों को उत्पन्न करने में अन्य की अपेक्षा न करने वाले को कर्म कहते हैं यह इस कर्म का लक्षण न बन सकेगा। तथा प्रथम क्रिया का उत्तरसंयोग से नाश होने के कारण क्रिया का क्षणिकत्व, एवं पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मनरूप मूर्तद्रव्यों में रहना, और गुण-शून्यता भी साधर्म्य है तथा पतनक्रिया का गुरुत्व, स्यन्दनक्रिया का द्रवत्व एवं हताहित प्राप्ति परिहाररूप चेष्टारूप क्रिया का प्रयत्न और द्रव्योत्पादकक्रिया का अवयवसंयोग कारण होने से गुरुत्व, द्रवत्व, प्रयत्न तथा संयोग से उत्पत्ति होना साधर्म्य है। इसी प्रकार अपने (क्रिया के) कार्य उत्तरसंयोग से नष्ट होना न कि क्रिया से उत्पन्न विभागरूप कार्य से नष्ट होना, क्योंकि तब तो क्रिया का विभाग से नाश होने से उत्तरसंयोग न होने के कारण 'द्रव्य' की उत्पत्ति ही नहीं बन सकेगी यह भी साधर्म्य है एवं संयोग तथा विभागरूप कार्य को उत्पन्न करने में क्रिया का दूसरे किसी की अपेक्षा न कर कारण होना भी साधर्म्य है अर्थात् जिस प्रकार वेगरूप कार्य के उत्पत्ति में क्रिया नोदन अथवा अभिधानरूप संयोग की अपेक्षा रखती है इस प्रकार संयोग तथा विभागरूप कार्य की उत्पत्ति में अन्य किसी की अपेक्षा नहीं करती तथा सर्वत्र असमवायिकारण ही क्रिया होती है, गुण के समान निमित्त कारण कहीं भी कार्य को उत्पन्न करने में नहीं होती। अतः असमवायिकारणत्व तथा अपने (क्रिया के) आधार में, तथा दूसरे के आश्रय में 'व्यासज्य' मिलकर समवेत होकर उत्पन्न होने वाले संयोग तथा विभागरूप कार्य को उत्पन्न करती है अतः स्वपराश्रय समवेत कार्य को उत्पन्न करना भी क्रिया का साधर्म्य है। एवं एक क्रिया समान जाति के दूसरे क्रिया को उत्पन्न नहीं करती, अन्यथा गतिक्रिया का नाश ही न होगा, अतः 'समान जाति के कार्य को उत्पन्न न करना' तथा क्रिया से उत्पन्न उत्तरसंयोगरूप क्रिया के कार्य से क्रिया के निवृत्त होने पर द्रव्य उत्पन्न होता है, अतः द्रव्य को आरम्भ न करना भी क्रिया का साधर्म्य है। तथा प्रत्येक उत्क्षेपण, अप-क्षेपण आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमनरूप पांच कर्मों में व्यवस्थित उत्क्षेपणत्व, अपक्षेपणत्व, आकुञ्चनत्व, प्रसारणत्व तथा गमनत्वरूप जातिसम्बन्धी होना भी क्रिया का समान धर्म है। ऊर्ध्व, अधोभाग, इत्यादि दिशाविशेषों में संयोग तथा विभागरूप कार्यों को उत्पन्न करना उत्क्षेपणादि पांच क्रियाओं में विशेष अर्थात् परस्पर में वैधर्म्य भी है। सूत्र—७, १७, १०५, ६९, १९, १४, २०, ३०, ३६४, ११, १४, ३१ २१, २२, यहां क्रम से देखना चाहिये ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्रोत्क्षेपणं शरीरावयवेषु तत्सम्बद्धेषु च यदूर्ध्वभाग्भिः प्रदेशैः संयोगकारणमधोभाग्भिश्च प्रदेशैः विभागकारणं कर्मोत्पद्यते गुरुत्वप्रयत्नसंयोगेभ्यस्तदुत्क्षेपणम् ।

यहां पर 'एक द्रव्यवत्व' रूप साधर्म्य में यह शंका हो सकती है कि एक ही क्रिया एक समय में एक ही द्रव्य में रहती है ऐसा क्यों माना जाय ? तो इसका उत्तर ऐसा है कि एक के चलने पर सब में चलन की उपलब्धि नहीं होती, और जिस स्थल में एक ही समय अनेकों की चलनक्रिया होती है वहां भी कारण अनेक हो हैं क्योंकि चलनक्रियाओं के कार्य अभिघात तथा नोदनसंयोग के प्रति आधार में भेद है। अन्य में समवेत अभिघातादि कार्य हैं तथा समवायिकारण क्रिया अन्य में समवेत है ऐसा मानने से संपूर्ण द्रव्यों में आश्रित कार्य की कोई विशेषता न होने के कारण उत्पत्ति होने लगेगी तथा एक द्रव्य में उत्तरसंयोग से क्रिया का नाश होने पर दूसरे आश्रय से भी उसकी एकता होने के कारण नाश हो जायगा तथा विरुद्ध दिशाओं के संमुखता के कारण एक द्रव्य में अनेक क्रिया मानने से परस्पर प्रतिबन्ध के कारण गति ही न होगी। यदि एक ही दिशा की सम्मुखता मानी जाय तो एक ही क्रिया से उत्तरसंयोग तथा विभाग के उत्पन्न हो जाने के कारण दूसरी क्रिया के सद्भाव मानने में कोई प्रमाण नहीं है। तथा कहीं-कहीं उत्तरसंयोग से पूर्व कर्म का विनाश तथा कर्मान्तर की उत्पत्ति मानी भी जाती है, अतः जिस स्थल में दो तीन क्रियाओं की प्रतीति होती है उस स्थल में क्रिया के शीघ्र-शीघ्र उत्पत्ति के कारण उक्त प्रतीति होती है ऐसा अवश्य मानना होगा। उक्त एकद्रव्यवत्ता रूपादि गुणों में भी है अतः उनके वारण के लिये क्षणिकत्व, तथा बुद्ध्यादि गुणों मे एक द्रव्याधारिता तथा क्षणिकता दोनों के रहने से व्यभिचार वारणार्थ 'मूर्तद्रव्य वृत्तित्व' भी साधर्म्य क्रिया का कहा है। यदि कहो कि 'क्षणिक होते हुए मूर्तद्रव्यों में ही वर्तमानतारूप क्रिया का साधर्म्य के कहने से बुद्ध्यादि गुणों में व्यभिचार न होगा' तो यह आपका कहना सत्य है तथापि अन्य पद साधर्म्यमात्र के प्रतिपादनार्थ हैं तथा परीक्षा के लिये भी ऐसी यहां पर व्योमशिवाचार्य ने व्योमवती में विशेषरूप से सम्पूर्ण क्रिया के साधनों की समालोचना की है जो वहीं पाठकों को स्वयं देख लेनी चाहिये॥

पदपदार्थ—तत्र = उन पांच कर्मों में से, उत्क्षेपणं = उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना) कर्म, शरीरावयवेषु = शरीर के हस्तादि अवयवों में, तत्सम्बद्धेषु च = और उन हस्तादि अवयवों में संयुक्त द्रव्यों में भी, यत् = जो (कर्म) ऊर्ध्वभाग्भिः = ऊर्ध्व दिशा में रहने वाले, प्रदेशैः = प्रदेशों के साथ, संयोगकारणं = संयोग का कारण, अधोभाग्भिः च = और नीचे की दिशा में रहने वाले, प्रदेशैः = आकाश प्रदेशों के साथ, विभागकारणं = विभाग का कारण, कर्म = क्रिया, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, गुरुत्वप्रयत्नसंयोगभ्यः = गुरुत्व, प्रयत्न तथा संयोगरूप कारणों से, तत् = वह कर्म, उत्क्षेपण नामक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तद्विपरीतसंयोगविभागकारणं कर्मापक्षेपणम् ।

ऋजुनो द्रव्यस्याग्रावयवानां तद्देशैर्विभागः संयोगश्च मूलप्रदेशैर्येन कर्मणावयवी कुटिलः संजायते तदाकुञ्चनम् ॥

तद्विपर्ययेण संयोगविभागोत्पत्तौ येन कर्मणावयवी ऋजुः सम्पद्यते तत्प्रसारणम् ।

यदनियतदिक्प्रदेशसंयोगविभागकारणं तद् गमनमिति ॥

है । तद्विपरीतसंयोगविभागकारणं = उस उत्क्षेपण क्रिया के विपरीत (अधोदेश के संयोग तथा ऊर्ध्वदेश के विभाग का कारण) कर्म = क्रिया, अपक्षेपणं = अपक्षेपण नामक है । ऋजुनः = सीधे, द्रव्यस्य = द्रव्य के, अग्रावयवानां = अग्रिम अवयवों का, तद्देशैः = उस आकाशप्रदेशों के साथ, विभागः = विभाग, संयोगः च = और संयोग भी, मूलप्रदेशैः = मूलप्रदेशों के साथ, येन = जिस, कर्मणा = क्रिया से, अवयवी = अवयवी-द्रव्य, कुटिलः = कुटिल (टेढा), संजायते = होता है, तत् = वह, आकुंचनं = आकुंचन नामक कर्म है । तद्विपर्ययेण = उसके विपरीत, संयोगविभागोत्पत्तौ = (उस देश से) संयोग तथा मूल देशों से विभाग, येन = जिस, कर्मणा = क्रिया से, ऋजुः = सीधा, सम्पद्यते = होता है, तत् = वह, प्रसारणं = प्रसारण कर्म है । यत् = जो, अनियत-दिक्प्रदेशसंयोगविभागकारणं = अनियमित दिशाप्रदेशों के साथ संयोग तथा विभाग का कारण, तत् = वह, गमनं = गमन नामक कर्म होता है, इति = इस प्रकार पाँच कर्म हैं ॥

भाषाभाष्य—कर्मों का पूर्वप्रदर्शित दिशाविशेष में अपने-अपने कार्य को आरंभ करना रूप परस्पर वैधर्म्य का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उक्त उत्क्षेपणादि कर्मों में से जो कर्म शरीर के हस्त-पाद इत्यादि अवयवों में तथा उनमें संयुक्त मुसलादि द्रव्यों में भी उर्ध्वदेश (ऊपर) में वर्तमान दिशा के प्रदेशों के साथ संयोग को उत्पन्न करता है, तथा अधोदेश (नीचे) में वर्तमान दिशा के प्रदेशों के साथ विभक्त होने का कारण होता है, गुरुत्व, प्रयत्न तथा संयोगरूप कारणों से उत्पन्न उस कर्म को उत्क्षेपणक्रिया कहते हैं ॥ १ ॥ और उत्क्षेपणकर्म के विपरीत अर्थात् शरीर के अवयव तथा उसमें संयुक्त मुसलादि द्रव्यों में भी अधोदेश में संयोग तथा ऊर्ध्वदेश में विभाग के उत्पन्न करनेवाला कर्म द्वितीय अपक्षेपण नामक क्रिया होती है ॥ २ ॥ तथा सीधे रक्खे हुए द्रव्य के अग्रिमभाग के अवयवों का उसके स्थित (अग्रभाग में सम्बद्ध) देशों से विभाग तथा मूलप्रदेशों के साथ संयोग भी होता है, अर्थात् जिस कर्म से अवयवी कुटिल होता है (खिंच जाता है) उस कर्म का नाम है आकुंचन ॥ ३ ॥ और किसी अवयविद्रव्य के आकुंचन के विपरीत अर्थात् अग्रिम अवयवों को मूलप्रदेश से विभाग तथा उत्तरदेश से संयोग होने में कारण कर्म को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२) गमनप्रकरणम् ।

एतत्पञ्चविधमपि कर्म शरीरावयवेषु तत्सम्बद्धेषु च । सत्प्रत्ययमसत्प्रत्ययं च यदन्यत्तदप्रत्ययमेव तेष्वन्येषु च तद् गमनमिति ।

कर्मणां जातिपञ्चकत्वमयुक्तं गमनाविशेषात् । सर्वं हि क्षणिकं कर्म गमनमात्रमुत्पन्नं स्वाश्रयस्योर्ध्वमधस्तिर्यग्वाप्यणुमात्रैः प्रदेशैः संयोगविभागान् करोति सर्वत्र गमनप्रत्ययोऽविशिष्टस्तस्माद् गमनमेव सर्वमिति । न वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनात्—इहोत्क्षेपणं परत्रापक्षेपणमित्येवमादि सर्वत्र

जिससे वह अवयविद्रव्य सीधे आगे के प्रदेश में फैल जाता है, उसे प्रसारण नामक चतुर्थ कर्म कहते हैं ॥ ४ ॥ जिस कर्म से दिशाप्रदेशों के साथ संयोग तथा विभाग होने का नियम न हो जैसे भ्रमण इत्यादि उस कर्म को गमन कर्म कहते हैं ॥ सूत्र ३८ ॥

(२) गमनप्रकरण

पदपदार्थ—एतत् = यह पूर्वोक्त, पञ्चविधं अपि = पाँचों प्रकार के, कर्म = कर्म (क्रिया), शरीरावयवेषु = शरीर के हस्तादि अवयवों में, तत्सम्बद्धेषु च = और उन हस्तादिकों में संयुक्त, मुसलादिकों में भी, सत्प्रत्ययं = प्रयत्नपूर्वक, असत्प्रत्ययं च = और विना प्रयत्न के भी, यत् = जो कर्म, अन्यत् = सत्प्रत्यय से भिन्न दूसरा, तत् = वह कर्म, अप्रत्ययं एव = विना प्रयत्न से ही उत्पन्न, तेषु = शरीरावयव हस्तादिकों में, अन्येषु = दूसरे मुसलादि या उनसे भिन्न द्रव्यों में भी, तत् = वह संपूर्ण, गमनं = गमन नामक कर्म है, इति = इस प्रकार उत्क्षेपणादि पाँचों कर्म प्रयत्नपूर्वक तथा अप्रयत्नपूर्वक ऐसे दो प्रकार के हैं ॥ (शंका)—कर्मणां = उक्त कर्मों में, जातिपंचकत्वं = उत्क्षेपणत्वादि पाँच जाति मानना, अयुक्तं = असंगत है, गमनाविशेषात् = संपूर्ण कर्मों में गमनक्रिया समान ही होने से, सर्वं हि = क्योंकि संपूर्ण, क्षणिकं = क्षणिक, कर्म = कर्म, गमनमात्रं = केवल गमनरूप, उत्पन्नं = उत्पन्न भया हुआ, स्वाश्रयस्य = गमनक्रिया के आश्रयद्रव्य का, ऊर्ध्वं = ऊर्ध्वदिशा में, अधः = अधोदिशा में, तिर्यक् वा, अपि = अथवा संपूर्ण दिशाओं में (चारों तरफ भी), अणुमात्रैः = अल्पमात्र के, प्रदेशैः = दिशा प्रदेशों के साथ, संयोगविभागान् = संयोग तथा विभागों को, करोति = करता है, सर्वत्र = सम्पूर्ण कर्म में, गमनप्रत्ययः = गमन का ज्ञान, अविशिष्टः = समान है, तस्मात् = इस कारण, गमनं एव = गमन नामक ही है, सर्वं = सम्पूर्ण उत्क्षेपण आदि कर्म इति = इस प्रकार शंका है ॥ उत्तर—न = नहीं, वर्गशः = प्रत्येक उत्क्षेपणादि कर्म के वर्ग में, प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनात् = प्रतीतियों का अनुगम तथा व्यावृत्ति (भेद) दिखाई देने से । इह = इसमें, उत्क्षेपणं = उत्क्षेपण कर्म है, परत्र = दूसरे में, अपक्षेपणं = अपक्षेपण कर्म है, इति एवं आदि = इस प्रकार इत्यादि, सर्वत्र =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्ती दृष्टे तद्धेतुः सामान्यविशेषभेदोऽवगम्यते। तेषामुदाद्युपसर्गविशेषात् प्रतिनियतदिग्विशिष्टकार्यारम्भत्वादुपलक्षणभेदोऽपि सिद्ध।

संपूर्ण कर्म में, वर्गशः = प्रत्येक वर्गों में, प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्ती = प्रतीतियों के अनुगम तथा प्रतीतियों की व्यावृत्ति, दृष्टे = देखी जाती है, तद्धेतुः = उन प्रतीतियों का कारण, सामान्यविशेष भेदः = सामान्यविशेषों (उत्क्षेपणत्वादिकों) का भेद, अवगम्यते = जाना जाता है। तेषां = उन सामान्यविशेषों का, उदाद्युपसर्गविशेषात् = उत्, अप इत्यादि उपसर्गों के विशेष (भेद) से, प्रतिनियतदिग्विशिष्टकार्यारंभकत्वात् = ऊर्ध्व, अधो इत्यादि व्यवस्थित दिशा में संयोगादि रूप कार्य के भेद के आरंभ होने से, उपलक्षणभेदः अपि = उपलक्षण का भेद भी, सिद्धः = सिद्ध है।

भाषाभाष्य—पूर्वोक्त उत्क्षेपणादि पांचों प्रकार का कर्म जो शरीर के हस्त-पाद इत्यादि अवयव तथा उनमें संयुक्त मुसल-वाण आदि द्रव्यों में भी उत्पन्न होता है आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न (सत्प्रत्यय) तथा विना प्रयत्न के उत्पन्न (असत्प्रत्यय) नाम से दो प्रकार के होते हैं। इससे भिन्न जो विना प्रयत्न के होता है वह अप्रत्यय कर्म कहाता है क्योंकि उसमें हम लोगों के प्रयत्न का व्यापार नहीं होता, जो उक्त द्रव्य तथा उनसे भिन्न द्रव्यों में भी उत्पन्न होता है वह संपूर्ण उत्क्षेपणादि चार कर्मों के विलक्षण होने से गमन में ही अन्तर्भूत है॥ यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप करता है कि कर्मों में उत्क्षेपणत्व आदि पांच जातियों का मानना असङ्गत है, क्योंकि उत्क्षेपणादि सर्व कर्मों में गमन से भेद नहीं है, अर्थात् गमनक्रिया सर्वत्र समान होने से पांच कर्ण न मानकर केवल एक गमन नामक कर्म मानना ही संगत है। इस आक्षेप का अभिप्राय पूर्वपक्षी के मत से भाष्यकार वर्णन करते हैं कि सम्पूर्ण कर्म क्षणिक हैं, अतः सम्पूर्ण कर्मों में क्षणिकता समान होने से स्वरूप से कर्मों का भेद नहीं हो सकता, केवल चलन उत्पन्न होकर अपने आश्रय-द्रव्य के ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक परमाणु विवरमात्र प्रदेशों के साथ संयोग तथा विभागों को उत्पन्न करता है, अतः जितने प्रदेश में परमाणु का अणु प्रवेश हो सकता है उतना संयोग विभाग करता है इसलिये कार्य भेद से भी कर्मों का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि सभी कर्म इस कार्य को करते हैं, तथा गमन प्रतीति भी सबमें समान होती है अर्थात् ऊपर जाता है, नीचे जाता है, अग्रदेश से मूलप्रदेश में, मूलप्रदेश से अग्रदेश में जाता है इत्यादि रूप से गमनकर्म सर्वउत्क्षेपणादि कर्मों में प्रतीत होता है, इस कारण एक सब गमन ही कर्म है। इस प्रकार के आक्षेप के अभिप्राय का समाधान भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि सम्पूर्ण उत्क्षेपणादि कर्म गमन ही हैं यह नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक उत्क्षेपण आदि के वर्ग (समुदाय) में अर्थात् इसमें उत्क्षेपण है, उसमें अपक्षेपण कर्म है इत्यादि प्रत्येक उत्क्षेपणादि वर्ग में 'उत्क्षेपणं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवमपि पञ्चैवेत्यवधारणानुपपत्तिः । निष्क्रमणप्रवेशनादिष्वपि वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनात् । यद्युत्क्षेपणादिषु सर्वत्र वर्गशः प्रत्ययानुवृत्ति-व्यावृत्तिदर्शनाज्जातिभेद इष्यते एवञ्च निष्क्रमणप्रवेशनादिष्वपि । कार्यभेदात्

उत्क्षेपणं', अपक्षेपणं अपक्षेपणं' इत्यादि प्रतीतियों का अनुगम तथा भेद देखने में आता है । 'अर्थात् जिस प्रकार गौओं के वर्ग में अश्वादि वर्ग की व्यावृत्ति से 'गो गो' ऐसी प्रतीति होने से गोत्वनामक जातिविशेष माना जाता है 'उत्क्षेपणं उत्क्षेपणं' ऐसी उत्क्षेपण वर्ग में भी अनुगत बुद्धि होती है जो अपक्षेपणवर्ग से व्यावृत्त है, तथा अपक्षेपण भी अपने 'अपक्षेपण' वर्ग में है दूसरे उत्क्षेपण आकुञ्चनादि कर्म वर्ग से व्यावृत्त हैं (अवर्तमान है) इसका कारण (अनुगतबुद्धि व्यावृत्तिबुद्धि का कारण) उत्क्षेपणत्वादिरूप सामान्य (जाति) विशेष उत्क्षेपणादि कर्मों में अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा । नकि एक ही गमनत्व जाति, क्योंकि उक्त प्रकार से परस्पर भिन्न उत्क्षेपणत्वादि जातिसम्बन्धी पाँच उत्क्षेपणादि कर्मों की सिद्धि होती है । केवल अनुवृत्ति, व्यावृत्ति प्रत्ययदर्शन से ही नहीं तथा उत्, अप, आ, प्र. ऐसे उपसर्गों के भेद से भी उत्क्षेपणादि कर्मों का परस्पर भेद सिद्ध होता है. क्योंकि उत्पूर्वक क्षेपण (गमन) उत्क्षेपण कहाता है, अपपूर्वक क्षेपण अपक्षेपण, आपूर्वक कुञ्चन (गमन) आकुञ्चन एवं प्रपूर्वक सारण (गति) प्रसारण कहा जाता है । पांचवाँ गमन-कर्म उपसर्गरहित होने से ही उक्त उत्क्षेपणादि चार कर्मों से भिन्न है यह सिद्ध होता है तथा नियत दिशाओं में संयोगविभागादि कार्यों का आरम्भ उत्क्षेपणादि कर्मों से होने के कारण उनका उपलक्षण भेद भी सिद्ध होता है, अर्थात् ऊर्ध्वदेश में संयोग का कारण तथा अधोदेश में विभाग का कारण उत्क्षेपण कर्म का उपलक्षण है तथा अधोदेश में संयोग का कारण तथा ऊर्ध्वप्रदेश में संयोग का कारण अपक्षेपण कर्म का उपलक्षण है इत्यादि कथित होने से उत्क्षेपणत्वादि उपलक्षण का भेद भी सिद्ध होता है ॥

पदपदार्थ—एवं अपि = ऐसा होने पर भी, पंच एव = कर्म पांच प्रकार के ही हैं, इति = ऐसा, अवधारणानुपपत्तिः = निश्चय नहीं हो सकता, निष्क्रमणप्रवेशनादिषु अपि = निष्क्रमण (निकलना) प्रवेश करना इत्यादि कर्मों में भी, वर्गशः = प्रत्येक वर्ग को लेकर, प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनात् = प्रतीतियों में अनुगम तथा भेद के दिखाने से यदि = यदि, उत्क्षेपणादिषु = उत्क्षेपण-अपक्षेपण इत्यादि कर्मों में, सर्वत्र = संपूर्ण में, वर्गशः = प्रत्येक वर्ग को लेकर, प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनात् = प्रतीतियों के अनुगम तथा व्यावृत्ति के दर्शन से, जातिभेदः = उत्क्षेपणत्वादि जातियों का भेद इष्यते = अभिलषित है, एवं च = इसी प्रकार से, निष्क्रमणप्रवेशनादिषु अपि = निष्क्रमण, प्रवेशन इत्यादि कर्मों से भी । कार्यभेदात = निष्क्रमण प्रवेश इत्यादि रूप कर्मों के भेद से, तेषु = उनमें, प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तो = प्रतीतियों का अनुगम तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तेषु प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्ती इति चेत् न उत्क्षेपणादिष्वपि कार्यभेदादेव प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिप्रसङ्गः । अथ समाने वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिसद्भावे उत्क्षेपणादीनामेव जातिभेदो न निष्क्रमणादीनामित्यत्र विशेषहेतुरस्तीति न, जातिसङ्करप्रसङ्गात् । निष्क्रमणादीनां जातिभेदात् प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तौ जातिसङ्करः प्रसज्यते ।

भेद होता है, इति चेत् = ऐसा हो तो, न = नहीं, उत्क्षेपणादिषु अपि = उत्क्षेपण इत्यादिकों में भी, कार्यभेदात् एव = ऊर्ध्वसंयोगरूप कार्यों के भेद से ही, प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिप्रसंगः = 'उत्क्षेपण उत्क्षेपण' इत्यादि अनुगत तथा व्यावृत्तबुद्धि होने की आपत्ति आ जायगी। अथ = और यदि' समाने = समान होने पर, वर्गशः = प्रत्येक वर्ग के प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिसद्भावे = प्रतीतियों के अनुगम तथा व्यावृत्ति की सत्ता, उत्क्षेपणादीनां एव = उत्क्षेपण अपक्षेपण आदि कर्मों में ही, जातिभेदः = उत्क्षेपणत्व इत्यादि जातियों का भेद है, न = नहीं है, निष्क्रमणादीनां = निष्क्रमण-प्रवेशन इत्यादि कर्मों का, इति अत्र = इस प्रकार ऐसा कहने में, विशेषहेतुः = कोई विशेष नियामक का उत्तर, न = नहीं, जातिसङ्करप्रसंगात् = जातियों में साङ्कर्यरूप बाधक दोष की आपत्ति आने से । निष्क्रमणादीनां = निष्क्रमण-प्रवेशन इत्यादि कर्मों के, जातिभेदात् = निष्क्रमणत्वादि जातियों के भेद से, प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तौ = प्रतीतियों के अनुगम तथा व्यावृत्ति मानने से, 'जातिसङ्करः = जातियों में सांकर्यरूप बाधक दोष, प्रसज्यते = प्रसक्त होगा ।

भाषाभाष्य—यदि उत्क्षेपणत्वादि पंचकर्मों में प्रत्येक उत्क्षेपण आदि कर्मों के वर्गों में प्रतीतियों के अनुगम तथा भेद से उत्क्षेपणत्वादि जातियों का भेद माना जाय तो निष्क्रमण प्रवेशन आदि कर्मों में भी 'निष्क्रमण निष्क्रमण' 'प्रवेशन प्रवेशन' इत्यादि प्रत्येक वर्गों में भी प्रतीतियों का अनुगम तथा भेद के दर्शन होने से निष्क्रमणत्व प्रवेशनत्व इत्यादि जातियों को मानना होगा जिससे पांच ही उत्क्षेपणादि कर्म हैं यह वैशेषिकों का सिद्धान्त असंगत हो जायगा, इस प्रकार यहाँ पर पूर्वपक्षी आक्षेप करता है । इस पर सिद्धान्ती यह नहीं कह सकता कि 'निष्क्रमणादि कर्मों का निष्क्रमणत्व प्रवेशनत्व आदि जातिभेद के कारण भेद नहीं है, किन्तु निकलना प्रवेश करना इत्यादि कार्यभेद से भेद है' क्योंकि तब तो समान न्याय से ऊर्ध्वसंयोगादि रूप कार्यों के भेद से ही उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों का भेद माना जायगा जिससे उत्क्षेपण उत्क्षेपण इत्यादि प्रतीतियों का अनुगम तथा व्यावृत्ति संगत हो जायगी और प्रत्येक वर्गों में प्रतीतियों का अनुगम तथा व्यावृत्ति की सत्ता उत्क्षेपणादि तथा निष्क्रमणादि कर्मों में समान होने पर भी उत्क्षेपणादि कर्मों में ही उत्क्षेपणत्वादि भिन्न-भिन्न पाँच जातियाँ हैं, निष्क्रमणादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कथम् ? द्वयोर्द्रष्ट्रोरेकस्मादपवरकादपवरकान्तरं गच्छतो युगपन्निष्क्रमणप्रवेशनप्रत्ययौ दृष्टौ तथा द्वारप्रदेशे प्रविशति निष्क्रामतीति च। यदा तु प्रतिसीराद्यपनीतं भवति तदा न प्रवेशनप्रत्ययो नापि निष्क्रमणप्रत्ययः किन्तु गमनप्रत्यय एव भवति। तथा नोलिकायां वंशपत्रादौ पतति बहूनां द्रष्टॄणां युगपद्भ्रमणपतनप्रवेशनप्रत्यया दृष्टा इति जातिसङ्करप्रसङ्गः। न चैवमुत्क्षेपणादिषु प्रत्ययसङ्करो दृष्टः तस्मादुत्क्षेपणादीनामेव जातिभेदात् प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्ती निष्क्रमणादीनां तु कार्यभेदादिति।

कर्मों में नहीं है ऐसा सिद्धान्त मानने में कोई विशेष नियामक भी नहीं है, अतः पाँच ही उत्क्षेपणादि कर्म हैं यह सिद्धान्त असंगत है। इस आक्षेप का सिद्धान्तमत से भाष्यकार उत्तर करते हैं कि जातिसांकर्यरूप बाधक होने से यह आक्षेप असंगत है अर्थात् यदि निष्क्रमणत्वादि जाति मानी जाय तो एक व्यक्ति में विरुद्ध अनेक जातियों का समवायरूप साङ्कर्य दोष आ जायगा ॥

पदपदार्थ—कथं = कैसे हैं जाति-सांकर्यदोष ?, द्वयोः = दो, द्रष्ट्रोः = द्रष्टा पुरुषों को, एकस्मात् = एक, अपवरकात् = परदे से, अपवरकान्तरं = दूसरे परदे के भीतर, गच्छतः = जाने वाले प्राणो के, युगपत् = एक ही समय, निष्क्रमणप्रवेशनप्रत्ययौ = एक द्रष्टा को निकलना तथा दूसरे द्रष्टा को प्रवेश करना ऐसे दो ज्ञान, दृष्टौ = देखे जाते हैं, तथा = इसी प्रकार, द्वारप्रदेशे = परदे के द्वार के प्रदेश में, प्रविशति = केवल प्रवेश करता है, निष्क्रामति = (परदे के द्वार से) केवल निकलता है, इति च = इस प्रकार ज्ञान भी दोनों द्रष्टा का एक-एक देखे जाते हैं। यदा तु = किन्तु जब, प्रतिसीरादि = पर्दा इत्यादि आवरण, अपनीतं = हटा दिया जाता है, तदा = तब, न = नहीं होता, प्रवेशनप्रत्ययः = प्रवेश-ज्ञान, न अपि = और नहीं होता, निष्क्रमणप्रत्ययः = निकलने का ज्ञान, किन्तु = परन्तु, गमनप्रत्ययः एव = केवल गमन की प्रतीति होती है। तथा = इसी प्रकार, नालिकायां = पानी बहने की नाली में, वंशपत्रादौ = बांस की पत्ती इत्यादि, पतति = गिरते समय, बहूनां = अनेक, द्रष्टॄणां = देखने वालों को, युगपत् = एक ही समय, भ्रमणपतनप्रवेशनप्रत्ययाः = भ्रमण (घूमना), गिरना, प्रवेश करना ऐसे ज्ञान, दृष्टाः = देखने में आते हैं, इति = इस कारण, जातिसङ्करप्रसङ्गः = जातिसाङ्कर्यदोष आ जायगा। न च एवं = नहीं है इस प्रकार, उत्क्षेपणादिषु = उत्क्षेपण आदि कर्मों में, प्रत्ययसंकरः = ज्ञानों का साङ्कर्य, दृष्टः = देखने में आता है, तस्मात् = इस कारण, उत्क्षेपणादीनां एव = उत्क्षेपणादि कर्मों की ही, जातिभेदात् = जातियों के भेद से, प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्ति = प्रतीतियों की अनुवृत्ति तथा व्यावृत्ति होती है, निष्क्रमणादीनां तु = और निष्क्रमण आदि कर्मों की तो, कार्यभेदात् = केवल कार्य के भेद से अनुवृत्ति तथा व्यावृत्ति की प्रतीति होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कथं युगपत्प्रत्ययभेद इति चेत्, अथ मतम्—"यथा जातिसङ्करो नास्ति एवमनेककर्मसमावेशोऽपि नास्तीत्येकस्मिन कर्मणि युगपद्द्रष्टॄणां भ्रमणपतन-प्रवेशनप्रत्ययाः कथं भवन्तीति"। अत्र ब्रूमः—न अवयवावयविनोर्दिग्-विशिष्टसंयोगविभागानां भेदात्।

कथं = कैसे ?, युगपत् = एक ही समय में, प्रत्ययभेदः = अनेक कार्यों का ज्ञान होता है, इति चेत् = ऐसा कहो, अथ मतम् = यदि ऐसा पूर्वपक्षी का मत हो,—यथा = जिस प्रकार, जातिसंकरः = जाति-सांकर्यदोष, नास्ति = नहीं है, एवं = इस प्रकार, अनेक-कर्मसमावेशः अपि = अनेक क्रियाओं का एक में समावेश भी, न अस्ति = नहीं है, इति = इस कारण, एकस्मिन् = एक, कर्मणि = क्रिया में, युगपत् = एक ही काल में, द्रष्टॄणां = द्रष्टा पुरुषों को, भ्रमणपतनप्रवेशनप्रत्ययाः = भ्रमण पतन, प्रवेशादि कर्मों की प्रतीतियां, कथं = किस प्रकार, भवन्ति = होती हैं, इति = ऐसा। अत्र = इस विषय में, ब्रूमः = सिद्धान्तमत से हम कहते हैं—न = नहीं, अवयवावयविनोः = अवयव तथा अवयविद्रव्यों के, दिग्विशिष्टसंयोगविभागानां = दिक्प्रदेशविशेषों में होने वाले संयोग तथा विभागों के, भेदात् = भेद होने से।

भाषाभाष्य—सिद्धान्ती से कहा हुआ जातिसांकर्य दोष निष्क्रमणत्व प्रवेशन-त्वादि जाति मानने में किस प्रकार होगा ? पूर्वपक्षी के इस प्रश्न का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि दो द्रष्टा पुरुषों को एक ही समय में एक परदे से दूसरे परदे के भीतर जानेवाले प्राणी को देखकर एक द्रष्टा को परदे से निकलता है, तथा दूसरे द्रष्टा को परदे में प्रवेश करता है ऐसे दो ज्ञान होते हैं, तथा एक द्रष्टा को पृथक्-पृथक् यह प्राणी परदे के द्वार में प्रवेश करता है, तथा दूसरे द्रष्टा को केवल द्वार से निकलता है ऐसे ज्ञान होते हैं। अतः = 'पृथक्-पृथक् आश्रय में रहते हुए एक आधार में रहना रूप' सांकर्यदोष आने के कारण निष्क्रमणत्व तथा प्रवेशनत्व जाति नहीं हो सकती, जिस प्रकार भूतत्व तथा मूर्तत्व जाति नहीं होती, क्योंकि मूर्तत्व को छोड़कर केवल भूतत्व आकाश में तथा भूतत्व को छोड़कर केवल मूर्तत्व मन में है, भूतत्व तथा मूर्तत्व दोनों पृथिवी, जल, तेज तथा वायु इन चारों में है, अतः सांकर्यदोष के कारण मूर्तत्व, भूतत्व दोनों जातियां नहीं हैं इसी प्रकार निष्क्रमण तथा प्रवेशन ज्ञान भी ऊपर दिखाये हुए रीति से पृथक्-पृथक् तथा एकत्र भी विद्यमान होने से सांकर्यदोष के कारण निष्क्रमणत्व प्रवेशनत्वादि जातियां नहीं हो सकतीं, अर्थात् यदि द्रष्टा पुरुष के भेद से भये हुये निष्क्रमण तथा प्रवेशनज्ञान निष्क्रमणत्व प्रवेशनत्वादि जातिभेद से हो तो एक व्यक्ति में परस्पर विरुद्ध निष्क्रमण प्रवेशनत्व-रूप दो जातियों का समावेश होने से जातिबाधक सांकर्यदोष हो जायगा। यदि परदा हटा लिया जाय तब न प्रवेशज्ञान होता है न निष्क्रमणज्ञान, किन्तु केवल गमनज्ञान होता है। इसी प्रकार जल बहने की नालियों बाँस इत्यादि वृक्षों की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यो हि द्रष्टा अवयवानां पार्श्वतः पर्यायेण दिक्प्रदेशैः संयोगविभागान् पश्यति तस्य भ्रमणप्रत्ययो भवति यो ह्यवयविन ऊर्ध्वप्रदेशैर्विभागमधःसंयोगं चावेक्षते तस्य पतनप्रत्ययो भवति। यः पुनर्नालिकान्तर्देशे संयोगं बहिर्देशे च विभागं पश्यति तस्य प्रवेशनप्रत्ययो भवतीति सिद्धः कार्यभेदान्निष्क्रमणा-

---

सूखी पत्तियों के गिरने पर अनेक द्रष्टा पुरुषों में से किसी को पानी में पत्ती घूमती है, किसी को गिरती है तथा किसी द्रष्टा पुरुष को जल में पत्ती प्रवेश करती है ऐसे अनेक ज्ञान होने के कारण भी जातिसांकर्यदोष की आपत्ति आयेगी। किन्तु उत्क्षेपणादि क्रियाओं में इस प्रकार ज्ञानों का सांकर्य देखने में नहीं आता, इस कारण उत्क्षेपणादि कर्मों का ही उत्क्षेपणत्वादि जातियों के भेद से 'उत्क्षेपण उत्क्षेपण' इत्यादि प्रतीतियों की अनुगतबुद्धि तथा व्यावृत्तिबुद्धि होती है, और निष्क्रमण, प्रवेशनादिकों की कार्यमात्र के भेद से यह सिद्ध होता है।।

एक समय में एक द्रव्य में कर्म एक ही होता है ऐसा सिद्धान्ती ने कहा है तो एक काल में अनेक कर्मों का ज्ञान कैसे होता है इस आशय से पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है कि एक समय में ज्ञानों का भेद कैसे होगा—इस आक्षेप का अभिप्राय पूर्वपक्षी के मत से भाष्यकार दिखाते हुए कहते हैं कि यदि पूर्वपक्षी का ऐसा मत हो—जिससे जातिसांकर्यदोष न होता हो, एवं अनेक क्रियाओं का एक द्रव्य में समावेश भी न होता हो, तो एककर्म में एक ही समय में अनेक द्रष्टा पुरुषों को भ्रमण, पतन तथा प्रवेशन के ज्ञान कैसे होते हैं ? इस आक्षेप्ता के आक्षेप के समाधानार्थ भाष्यकार उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि अवयवों को तथा अवयवी के दिशादेशविशिष्ट संयोग तथा विभागों के भेद से एक काल में अनेक कर्मों का ज्ञान होता है।।

पदपदार्थ—यः हि = क्योंकि जो, द्रष्टा = देखने वाला, अवयवानां = अवयवों के, पार्श्वतः = पार्श्वभागों में, पर्यायेण = क्रम से, दिक्प्रदेशैः = दिशाओं के भागों से, संयोगविभागान् = संयोग तथा विभागों को, पश्यति = देखता है, तस्य = उसको, भ्रमणप्रत्ययः = भ्रमण का ज्ञान होता है, यः हि = और जो, अवयविनः = अवयवी के, ऊर्ध्वप्रदेशैः = ऊर्ध्वप्रदेशों से, विभागं = विभाग को, अधः संयोगं च = और अधोदेश में संयोग को भी, अवेक्षते = देखता है, तस्य = उसको, पतनप्रत्ययः = पतन का ज्ञान, भवति = होता है। यः = जो, पुनः = किन्तु, नलिकान्तर्देशैः = नाली के भीतर के प्रदेश में, संयोगं = संयोग को, बहिर्देशे च = और बाहर के प्रदेश में, विभागं च = विभाग को भी, पश्यति = देखता है, तस्य = उसको, प्रवेशनप्रत्ययः = प्रवेश का ज्ञान भी, भवति = होता है, इति = इस कारण, सिद्धः = सिद्ध है, कार्यभेदात् = कार्यों के भेद से, निष्क्रमणादीनां = निष्क्रमणादि कर्मों का, प्रत्ययभेदः = ज्ञानों का भेद,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दीनां प्रत्ययभेद इति । भवतूत्क्षेपणादीना जातिभेदात् प्रत्ययभेदः निष्क्रमणादीनां तु कार्यभेदादिति ।

अथ गमनत्वं किं कर्मत्वपर्यायः आहोस्विदपरं सामान्यमिति । कुतस्ते संशयः ? समस्तेषूत्क्षेपणादिषु कर्मप्रत्ययवद् गमनप्रत्ययाविशेषात् कर्मत्वपर्याय इति गम्यते । यतस्तूत्क्षेपणादिवद्विशेषसञ्ज्ञयाभिहितं तस्मादपरं सामान्यं स्यादिति । न । कर्मत्वपर्यायत्वात्—आत्मत्वपुरुषत्ववत्कर्मत्वपर्याय एव गमनत्वमिति ।

इति = इसलिये । भवतु = हो, उत्क्षेपणादीनां = उत्क्षेपणादि कर्मों का, जातिभेदात् = जातियों के भेद से, प्रत्ययभेदः = ज्ञानों का भेद, निष्क्रमणादीनां = निष्क्रमणादि कर्मों का, तु = किन्तु, कार्यभेदात् = उक्त कार्यों के भेद से, इति = इस प्रकार ।।

भाषाभाष्य—क्योंकि जो देखने वाला पुरुष अवयवों के पार्श्व (चारों ओर) भागों में क्रम से दिशाओं के सम्पूर्ण देशों के साथ संयोग तथा विभागों को देखता है उसे पार्श्वों में संयोग तथा विभाग के कारण अवयव कर्मों में भ्रमण (घूमने) का ज्ञान होता है, और जो द्रष्टा पुरुष अवयविद्रव्य के ऊर्ध्वप्रदेश से विभाग तथा अधोदेश में संयोग को देखता है उसको पतनप्रत्यय होता है और जो जल के नाली के भीतर के प्रदेश में सूखी वृक्षों के पत्तियों का संयोग तथा बाहर के प्रदेश से विभाग देखता है उसे प्रवेशनकर्म का ज्ञान होता है, अर्थात् अवयविद्रव्यों की क्रिया में उक्त कार्य के भेद ही से पतन तथा प्रवेशन का ज्ञान होता है । यहाँ और सूत्रों के न होने से कर्मविभाग के सूत्रों को व्याख्या जानना ।।

पदपदार्थ—अथ = और, गमनत्वं = गमन कर्म, किं = क्या, कर्मत्वपर्यायः = कर्मसामान्य का नामान्तर है, आहोस्वित् = अथवा, अपरं = दूसरी कर्मत्व की, व्याप्यसामान्यं = जाति है ? इति = ऐसा संशय होता है । कुतः = क्यों होता है, ते = तुम (पूर्वपक्षी) को ? समस्तेषु = सम्पूर्ण, उत्क्षेपणादिषु = उत्क्षेपण आदि कर्मों में, कर्मप्रत्ययवत् = कर्मज्ञान के समान, गमनप्रत्ययाविशेषात् = गमन प्रत्यय समान होने से, कर्मत्वपर्यायः = कर्म नामान्तर है, इति = ऐसा, गम्यते = बोध होता है । यतः तु = किन्तु जिस कारण, उत्क्षेपणादिवत् = उत्क्षेपणादि कर्म के समान, विशेषसंज्ञया = विशेष नाम से, अभिहितं = कहा गया है, तस्मात् = इस कारण, अपरं = दूसरी, सामान्यं = जाति, स्यात् = होगी, इति = ऐसा संशय है ।। न = नहीं, कर्मत्वपर्यायत्वात् = कर्म का नामान्तर होने से,—आत्मत्वपुरुषत्ववत् = आत्मा तथा पुरुष के नामान्तर के समान, कर्मत्वपर्यायः एव = कर्म का नामान्तर (दूसरा नाम) ही है, गमनत्वम् = गमन, इति = ऐसा उत्तर है ।।

भाषाभाष्य—यहाँ पर उत्क्षेपणादि कर्मों का भेद उत्क्षेपणत्वादि जातिभेदकृत है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ विशेषसंज्ञया किमर्थं गमनग्रहणं कृतमिति- न, भ्रमणाद्यवरोधार्थ-

---

और निष्क्रमणादि कर्मों का कार्यभेद प्रयुक्त भेद है ऐसा सिद्धान्त मानने पर भी गमनत्व क्या कर्मत्व का पर्याय (नामान्तर) है घटत्व, कलशत्व के समान अथवा उत्क्षेपणत्वादिकों के समान दूसरी कर्मत्व की व्याप्य जाति है यह अवश्य विचारणीय है ऐसी पूर्वपक्षी की शंका पर यदि सिद्धान्ती का यह प्रश्न हो कि किस कारण पूर्वपक्षी को ऐसा संशय हुआ, तो यह सिद्धान्ती का प्रश्न अनुचित है, क्योंकि संदिग्ध पुरुष से प्रश्न करने पर उसका समाधान करना उचित है न कि संशय का कारण पूछना, क्योंकि सामान्य धर्म ज्ञानादिकों से संशय होता है यह पहिले ही कहा गया है, इसका सिद्धान्ती ऐसा उत्तर देते हैं कि यह दोष शंकावादी नहीं दे सकता, क्योंकि संशय के कारण का ज्ञान होने पर उसके दूर करने में सरलता से उपाय किया जा सकता है जैसे व्याधि का ज्ञान होने पर वैद्य सरलता से व्याधिनिवर्तक औषधि का प्रयोग करता है, ऐसा समझ कर आचार्य ने सिद्धान्तमत से पूर्वपक्षी को संशय के कारण का प्रश्न किया है । जिस प्रश्न के उत्तर में पूर्वपक्षी कहता है कि संशय इस कारण है कि संपूर्ण उत्क्षेपणादि तथा भ्रमणादि कर्मों में भी कर्मप्रतीति के समान गमन-प्रत्यय भी समान होने से कर्म तथा गमन यह दोनों पर्याय है ऐसा बोधित होता है, अर्थात् जैसे उत्क्षेपण अपक्षेपण कर्म है इत्यादि व्यवहार देखने से संपूर्ण कर्मों के भेदों में कर्मत्व व्यापक है इसी प्रकार ऊर्ध्व जाता है, अधोभाग में जाता है इत्यादि व्यवहार भी होता है इस कारण गमन (जाना) यह भी सम्पूर्ण कर्मों के भेदों में व्यापक होने से गमन तथा कर्म ये घट तथा कलश के समान एक ही के दोनों पर्याय (नामान्तर) हैं यह भी प्रतीत होता है, यही निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि उत्क्षेपणादि चार कर्मों के समान विशेष संज्ञा भी सामान्य कर्म पदार्थ की सिद्धान्ती ने कही है, अतः विशेष संज्ञाओं के गणना के समय सामान्यसंज्ञा का अभिधान नहीं होता, जैसे पृथिवी, जल इत्यादि द्रव्य के विशेषों के वर्णन के समय 'द्रव्य' इस सामान्य-संज्ञा का अभिधान नहीं है, अतः दोनों प्रकार के धर्मों की उपलब्धि होने से तथा विशेप एकपक्षसाधक प्रमाण के न होने से भी क्या कर्मत्व के समान गमनत्व दूसरी जाति है अथवा उत्क्षेपणादिकों के समान अपर सामान्य है ऐसा संशय होता है । इस पर सिद्धान्ति-मत से भाष्यकार कहते हैं ऐसा संशय नहीं हो सकता, क्योंकि, आत्मत्व पुरुषत्व के समान गमनत्व भी कर्मत्व का पर्याय (नामान्तर) है, क्योंकि सब कर्मों में कर्म प्रत्यय के समान गमनप्रतीति की उपलब्धि होती है ॥

पदपदार्थ—अथ = तो, विशेषसंज्ञया=विशेष संज्ञा से, किमर्थं=किसलिये, गमन-ग्रहणं = गमन का ग्रहण, कृतम् = किया, इति = ऐसा प्रश्न है । न = नहीं (ऐसा प्रश्न नहीं हो सकेगा) भ्रमणाद्यवरोधार्थत्वात् = भ्रमण-रेचन आदि कर्मों से संग्रह के लिये ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्वात् । उत्क्षेपणादिशब्दैरनवरुद्धानां भ्रमणपतनस्पन्दनादीनामवरोधार्थं गमनग्रहणं कृतमिति। अन्यथा हि यान्येव चत्वारि विशेषसंज्ञयोक्तानि तान्येव सामान्यविशेषसंज्ञाविषयाणि प्रसज्येरन्निति। अथवा अस्त्वपरं सामान्यं गमनत्वमनियतदिग्देशसंयोगविभागकारणेषु भ्रमणादिष्वेव वर्तते गमनशब्दश्चोत्क्षेपणादिषु भाक्तो द्रष्टव्यः स्वाश्रयसंयोगविभागकर्तृत्व-सामान्यादिति॥

उत्क्षेपणादि शब्दैः = उत्क्षेपण इत्यादि शब्दों से, अनवरुद्धानां = संग्रह न किये हुए, भ्रमणपतनस्पन्दनादीनां = भ्रमण, पतन तथा स्पन्दन आदि कर्मों के, अवरोधार्थं = संग्रह करने के लिये, गमनग्रहणं = गमनकर्म का ग्रहण, कृताम् = किया है, इति = इस-लिये । अन्यथा = ऐसा न माना जाय तो, हि=निश्चय से, यानि एव = जो ही, चत्वारि= चार (उत्क्षेपण आदि), विशेषसंज्ञया = विंशषसंज्ञा से, उक्तानि = कहे हैं, तानि एव = वे ही, सामान्यविशेषसंज्ञाविषयाणि = सामान्य और विशेष संज्ञा के विषय, प्रसज्येरन् = प्राप्त होंगे, इति = इस कारण ॥ अथवा = या, अस्तु = हो, अपरं = अपर (व्याख्या), सामान्यं=जाति, गमनत्वं = गमनत्व नाम की, अनियतदिग्देश-संयोगविभागकारणेषु = अनियमित दिक्प्रदेश के संयोग तथा विभागों के कारण, भ्रमणादिषु व = भ्रमण, पतन आदि कर्मों में ही, वर्तते = गमनत्व रहता है, गमन-शब्दः च = और गमनशब्द, उत्क्षेपणादिषु = उत्क्षेपण आदि कर्मों में, भाक्तः = गौण, द्रष्टव्यः = जानना चाहिये, स्वाश्रयसंयोगविभागकर्तृत्वसामान्यात् = अपने आश्रय के संयोग तथा विभागों की कर्तृता साधारण होने से, इति = इस कारण ॥

भाषाभाष्य—पूर्वपक्षी पुनः यहां पर ऐसी आशंका करता है कि विशेष-संज्ञा के अवसर में सामान्यसंज्ञा का प्रदर्शन अनुचित होने के कारण विशेष उत्क्षेपणादि संज्ञा के गणना में गमनरूप कर्मसामान्य का ग्रहण सिद्धान्ती ने क्यों किया ? इस शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि भ्रमण, पतनादि कर्मों का संग्रह करने के लिये, अर्थात् उत्क्षेपणादि चार कर्मों से न संग्रह किये अवशिष्ट भ्रमण, पतन, स्पन्दन आदि कर्मों का संग्रह (कर्मत्वज्ञापन) करने के लिये विशेषसंज्ञा में गणना की है, अन्यथा गमन के ग्रहण के विना जो चार ही उत्क्षेपण इत्यादि विशेषसंज्ञा से कर्म कहे हैं वे ही सामान्यविशेष (कर्मों के जाति-विशेष) के विषय हैं ऐसा समझा जायगा, अर्थात् सामान्यसंज्ञा है कर्मसंज्ञा विशेषसंज्ञा है उत्क्षेपणादिसंज्ञा, तद्विषय चार ही संज्ञा होंगी भ्रमणादि न होंगे क्योंकि विशेष-संज्ञा के विषय ही समान्यसंज्ञा के विषय होते हैं, अतः उत्क्षेपणादिकों के समान भ्रमणादिक भी कर्म हैं यह दिखाने के लिये गमनग्रहण किया है। अथवा गमनत्व जाति भ्रमणादि कर्मों में ही रहती है इस अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं कि गमनत्व भी कर्मत्व की व्याप्य दूसरी जाति ही है कर्मत्वका पर्याय नहीं है, जो वास्त-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) सत्प्रत्ययकर्मप्रकरणम् ।

सत्प्रत्ययकर्मविधिः । कथम् ? चिकीर्षितेषु यज्ञाध्ययनदानकृष्यादिषु यदा हस्तमुत्क्षेप्तुमिच्छत्यपक्षेप्तुं वा तदा हस्तवत्यात्मप्रदेशे प्रयत्नः सञ्जायते तं प्रयत्नं गुरुत्वं चापेक्षमाणादात्महस्तसंयोगाद्धस्ते कर्म भवति हस्तवत् सर्वशरीरावयवेषु पादादिषु शरीरे चेति ।

विक गमनत्व अनियत दिशाप्रदेशों के साथ संयोग तथा विभागों को उत्पन्न करने वाले भ्रमणादि कर्मों में ही रहता है, नियतदिशाप्रदेशों के साथ संयोग तथा विभागों के कारण उत्क्षेपणादि कर्मों मे नहीं रहता। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'तब उत्क्षेपणादि चार कर्मों में 'ऊर्ध्वं गच्छति' ऊर्ध्वदेश में गमन करता है इत्यादि रूप गमनव्यवहार क्यों होता है तो इसका उत्तर यह है कि उत्क्षेपणादि कर्मों में गमन की प्रतीति जिस प्रकार उत्पन्न हुआ उत्क्षेपणादि कर्म अपने आधार का पदार्थान्तर के साथ संयोग तथा विभागों को करता है उसी प्रकार गमनक्रिया भी करती है इस सादृश्यमूलक गौण है न कि मुख्य। इसी निमित्त से उत्क्षेपणादिकों में गमनव्यवहार के समान गमन में भी उत्क्षेपणादि व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य होने से कारण की कल्पना होती है, उत्क्षेपणादिकों में गमनव्यवहार के समान गमन में गमनव्यवहार कभी नहीं होता, अतः पूर्वपक्षी का कहना अयुक्त है ॥ यहाँ उक्त दो पक्षों में से आचार्य प्रशस्तदेव को कौन पक्ष में संमत है ? ऐसा प्रश्न होने पर पांच कर्मों में प्रत्येक में नियत जातिसम्बन्ध के अभिधान से गमनत्व अपर सामान्यम् है यह अन्तिम पक्ष ही आचार्य को अभिमत है यह सिद्ध होता है ॥

(३) सत्प्रत्ययकर्मप्रकरण

पदपदार्थ—सत्प्रत्ययकर्मविधिः=प्रयत्नपूर्वक कर्मों का विधान, कथम्=किस प्रकार है ? चिकीर्षितेषु=क्रिया के इच्छाविषय, यज्ञाध्ययनदानकृष्यादिषु=यज्ञ, पठन, दान, तथा कृषि इत्यादि कर्मों में, यदा=जिस समय, हस्तं=हाथ को, उत्क्षेप्तुं=उठाने के लिये, इच्छति=इच्छा करता है, अपक्षेप्तुं वा=अथवा नीचे फेंकने की, तदा=उस समय में, हस्तवति=हस्तवाले, आत्मप्रदेशे=आत्मा के प्रदेश में, प्रयत्नः=प्रयास, संजायते=उत्पन्न होता है, तं=उस, प्रयत्नं=प्रयास को, गुरुत्वं च=और गुरुत्व को भी, अपेक्षमाणात्=अपेक्षा करनेवाले, आत्महस्तसंयोगात्=आत्मा तथा हस्तके संयोग से, हस्ते=हस्त में, कर्म=क्रिया, भवति=होती है, हस्तवत्=हस्त के समान, सर्वशरीरावयवेषु=संपूर्ण शरीर के अवयवों, पादादिषु=पाद इत्यादिकों में, शरीरे च=और शरीर में भी, इति=इस प्रकार ॥

पूर्वग्रंथ में सत्प्रत्यय तथा असत्प्रत्यय ऐसे दो प्रकार के कर्म कह चुके हैं जिनमें सत्प्रत्यय (प्रयत्नपूर्वक) कर्म का प्रकार दिखाते हुए भाष्यकार प्रश्नपूर्वक वर्णन करते हैं कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्सम्बद्धेष्वपि कथम् ? यदा हस्तेन मुसलं गृहीत्वेच्छां करोति "उत्क्षिपामि हस्तेन मुसलमिति" तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्महस्तसंयोगाद्यस्मिन्नेव काले हस्ते उत्क्षेपणकर्मोत्पद्यते तस्मिन्नेव काले तमेव प्रयत्नमपेक्षमाणाद्धस्तमुसलसंयोगात् मुसलेऽपि कर्मेति। ततो दूरमुत्क्षिप्ते मुसले तदर्थेच्छा निवर्तते पुनरप्यपक्षेपणेच्छोत्पद्यते तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणाद्यथोक्तात्

करने के लिये अभिलषित यज्ञ, अध्ययन, दान, कृषि (आदि पद से भोजन) इत्यादि कर्मों में, जैसे यज्ञादि कर्मों में हवन के लिये तिल, शाकलादि होमद्रव्यों को ग्रहण करने के लिये जिस समय हस्त को ऊपर उठाकर कुण्ड में आज्यादि द्रव्य डालने के लिये नीचे की तरफ करने की इच्छा करता है उस समय हस्तवाले आत्मा के प्रदेश में प्रयत्न उत्पन्न होता है, जिसकी उत्पत्ति में आत्मा समवायिकारण, आत्ममन, संयोग असमवायिकारण तथा इच्छा निमित्त कारण है। उस प्रयत्न तथा गुरुत्व की अपेक्षा करने वाले असमवायिकारण आत्मा तथा हस्त के संयोग से, समवायिकारण हस्त में क्रिया उत्पन्न होती है, और हस्त के समान सम्पूर्ण शरीर के अवयवों में तथा शरीर में भी। जिस प्रकार हस्त में उत्पन्न क्रिया में आत्महस्तसंयोग असमवायिकारण है और प्रयत्न निमित्तकारण है उसी प्रकार संपूर्ण शरीर के पादादि अवयवों में तथा शरीर में भी समवेत क्रिया के उत्पत्ति में भी पादादि अवयव तथा आत्मा का संयोग असमवायिकारण तथा प्रयत्न निमित्तकारण होता है, यह 'हस्त के समान' इस अतिदेश का तात्पर्य है। प्रयत्न के होने पर भी गुरुत्व यदि न हो तो उत्क्षेपणादि कर्म नहीं हो सकता इसलिये गुरुत्व को भी हस्तादि उत्क्षेपणक्रिया में कारण माना गया है ॥ सूत्र १८१ ॥

पदपदार्थ—तत्सम्बद्धेषु अपि = शरीर तथा शरीर के अवयवों में सम्बद्ध द्रव्यों में भी, कथम् = कैसे उत्क्षेपणादि कर्म होते हैं ? यदा = जिस समय, हस्तेन = हस्त से, मुसलं = मुसल को, गृहीत्वा = लेकर, इच्छां = इच्छा को करोति = करता है, "उत्क्षिपामि = ऊपर फेंकता हूं, हस्तेन = हस्त से, मुसलं = मुसल को" इति = इस प्रकार, तदनन्तरं = इसके पश्चात्, प्रयत्नः = प्रयत्न होता है, तं = उस प्रयत्न की, अपेक्षमाणात् = अपेक्षा करने वाले, आत्महस्तसंयोगात् = आत्मा तथा हस्त के संयोग से, यस्मिन् एव = जिसी, काले = समय में, हस्ते = हस्त में, उत्क्षेपणकर्म = उत्क्षेपणक्रिया, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, तस्मिन् एव = उसी, काले = समय में, तम् एव = उसी, प्रयत्नं = प्रयत्न की अपेक्षमाणात् = अपेक्षा करने वाले, हस्तमुसलसंयोगात् = हस्त तथा मुसल के संयोग से, मुसले अपि = मुसल में भी, कर्म = क्रिया होती है, इति = इस प्रकार ॥ ततः = इसके पश्चात्, दूरं = दूर, उत्क्षिप्ते = ऊपर उठाए फेंके हुए मुसले = मुसल में, तदर्थेच्छा = ऊपर उठा फेंकने की इच्छा, निवर्तते = निवृत्त होती है, पुनः अपि = और पुनः, अपक्षेपणेच्छा = नीचे फेंकने की इच्छा, उत्पद्यते = उत्पन्न होती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संयोगाद्धस्तमुसलयोर्युगपदपक्षेपणकर्मणी भवतः ततोऽन्त्येन मुसलकर्मणोलूखलमुसलयोरभिघाताख्यः संयोगः क्रियते, स संयोगो मुसलगतवेगमपेक्षमाणोऽप्रत्ययं मुसले उत्पतनकर्म करोति । तत्कर्माभिघातापेक्षं मुसले संस्कारमारभते तमपेक्ष्य मुसलहस्तसंयोगोऽप्रत्ययं हस्तेऽप्युत्पतनकर्म करोति । यद्यपि प्राक्तनः संस्कारो विनष्टः तथापि मुसलोलूखलयोः संयोगः पटुकर्मोत्पादकः संयोगविशेषभावात् तस्य संस्कारारम्भे साचिव्यसमर्थो भवति ।

है, तदनन्तरं = इसके पश्चात् , प्रयत्नः = नीचे फेंकने का प्रयत्न होता है, तं = उस प्रयत्न की, अपेक्षमाणात् = अपेक्षा करने वाले, यथोक्तात् = पूर्वोक्त, संयोगात् = संयोग से, हस्तमुसलयोः = हस्त तथा मुसल में, युगपत् = एक ही समय में, अपक्षेपणकर्मणी = हस्त तथा मुसल में नीचे जाने की दो क्रिया, भवतः = होती हैं, ततः = इसके पश्चात् , अन्त्येन = अन्तिम, मुसलकर्मणा = मुसल की नीचे जाने की (अपक्षेपण) क्रिया से, उलूखलमुसलयोः = ऊखल तथा मुसल का, अभिघाताख्यः = अभिघात नामक शब्द का उत्पादक, संयोगः = संयोग, क्रियते = किया जाता है, सः = वह, संयोगः = संयोग, मुसलगतवेगं = मुसल में वर्तमान वेगसंस्कार की, अपेक्षमाणः = अपेक्षा करता हुआ, अप्रत्ययं = बिना प्रयत्न के, मुसले = मुसल में, उत्पतनकर्म = ऊपर उठने की क्रिया को, करोति = करता है । तत् = वह, कर्म = क्रिया, अभिघातापेक्षं = अभिघात नामक संयोग की अपेक्षा करता हुआ, मुसले = मुसल में, संस्कारं = वेग नामक संस्कार को, आरभते = आरंभ करता है, तं = उसकी, अपेक्ष्य = अपेक्षा कर, मुसलहस्तसंयोगः = मुसल तथा हस्त के संयोग, अप्रत्ययं = बिना प्रयत्न के, हस्ते अपि = हस्त में भी, उत्पतनकर्म = ऊपर उठाने की क्रिया को, करोति = करता है । यद्यपि = यद्यपि, प्राक्तनः = पूर्व का, संस्कारः = वेगसंस्कार, विनष्टः = नष्ट हो गया है, तथापि = तो भी, मुसलोलूखलयोः = मुसल तथा ऊखल का, संयोगः = अभिघातसंयोग, पटुकर्मोत्पादक = समर्थक्रिया का उत्पन्न करने वाला, संयोगविशेषभावात् = विशेषसंयोग होने से, तस्य = उसके, संस्कारारंभे = वेगसंस्कार के आरंभ करने में, साचिव्यसमर्थः = सहायता करने में समर्थ होता है ॥

भाषाभाष्य—यहाँ पर शरीर के हस्तरूप अवयव में संयुक्त मुसलादिकों में क्रिया कैसे होती है ? इस अव्युत्पन्न (अनजान) पुरुष के प्रश्न के पश्चात् भाष्यकार उसका प्रकार वर्णन करते हैं कि यज्ञ में हवनार्थ चरुपुरोडाश तैयार करने के लिये 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि धान को कूटने की विधि कही है उसके लिये जब धान को कूटने वाला पुरुष मैं धान कूटने के लिये हस्त से मुसल लेकर धान को कूटने के लिये मुसल को ऊपर उठाता हूँ इस प्रकार हस्त तथा मुसल की एक काल में उत्क्षेपण की इच्छा करता है, उस समय हस्त वाले व्यापक आत्मा के प्रदेश में इच्छानुसार प्रयत्न होता है, जिस प्रयत्न की अपेक्षा से असमवायिकारणरूप आत्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथवा प्राक्तन एव पटुः संस्कारोऽभिघातादविनश्यन्नवस्थित इति। अतः संस्कारवति पुनः संस्कारारम्भो नास्त्यतो यस्मिन् काले संस्कारापेक्षादभि-

---

तथा हस्त के संयोग से जिस समय हस्तरूप समवायिकारण में क्रिया उत्पन्न होती है उसी समय उसी प्रयत्न की अपेक्षा करने वाले उभयार्थक हस्त तथा मुसल के संयोगरूप असमवायिकारण से वारण के यौगपद्य के कारण मुसलरूप समवायिकारण में भी क्रिया होती है। सू० १८१.१८२। इसके पश्चात् दूर ऊपर उठाये हुए मुसल को ऊपर उठाने की इच्छा निवृत्त होकर नीचे उखल में मुसल को डालने की इच्छा होती है। पश्चात् हस्तवाले आत्मप्रदेश में इच्छानुसार निमित्तकारण प्रयत्न की अपेक्षा से आत्मा तथा हस्तसंयोग, एवं मुसल तथा हस्तसंयोगरूप असमवायिकारणों से हस्त तथा मुसलरूप समवायिकारणों में एक ही समय अपक्षेपण (ऊखल में फेंकने की) क्रिया उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् अन्तिम मुसल की अपक्षेपणक्रिया से ऊखल तथा मुसल का अभिघात (शब्दजनक) नामक संयोग होता है, और वह मुसल में रहनेवाले वेग के अनुसार असमवायिकरण ऊखल तथा मुसल का संयोग बिना प्रयत्न के मुसल में उत्पतन (ऊपर उठने की) क्रिया को उत्पन्न करता है, और असमवायिकारणरूप वह मुसल क्रिया अभिघातरूप निमित्त कारण की अपेक्षा रखती हुई समवायिकारण मुसल में वेग नामक संस्कार को आरम्भ करती है, उस वेग के अनुसार मुसल तथा हस्त का संयोग विना प्रयत्न के हस्त में भी मुसल के समान उत्पतनक्रिया को करता है। यदि यहाँ पर 'मुसल तथा ऊखल के संयोग से मुसल में क्रिया उत्पन्न होने के समय में पूर्व वेग का अभिघात से नाश होने से अपेक्षाकारण न होने के कारण मुसल में उक्त क्रिया से वेगसंस्कार न होगा, और उसके न रहने से हस्त तथा मुसल का संयोग हस्त में विना प्रयत्न के क्रिया को कैसे उत्पन्न कर सकेगा' इस आपत्ति के निवारणार्थ भाष्यकार कहते हैं कि यद्यपि पूर्यतन वेगसंस्कार नष्ट हो गया है, तथापि मुसल तथा ऊखल का अभिघात नामक शब्दजनकसंयोग (टक्कर खाना) पुनः वेग को उत्पन्न करनेवाले समर्थ क्रिया को विशेषसंयोग होने से उत्पन्न करेगा, अतः उस क्रिया से संस्कार के उत्पन्न करने में वह ऊखल तथा मुसल का विशेषसंयोग सहायता करने में समर्थ होता है, अतः ऊखल तथा मुसल के संयोग से पुनः हस्त में उत्पतनक्रिया कैसे उत्पन्न होगी यह आपत्ति नहीं आ सकती। सूत्र–१८१, १८२.१८३॥

पदपदार्थ—अथवा = अथवा, प्राक्तनः एव = पूर्व का ही, पटुः = समर्थ, संस्कारः = वेग नामक संस्कार, अभिघातात् = अभिघात नामक संयोग से, अविनश्यत् = नष्ट न होता हुआ, अवस्थितः = स्थित है, इति = इस कारण। अतः = इस कारण, संस्कारवति = एकवेगसंस्कार के आधार में, पुनः = पुनः, संस्कारारंभ = दूसरे वेग का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घाताद्प्रत्ययं मुसले उत्पतनकर्म तस्मिन्नेव काले तमेव संस्कारमपेक्षमाणात् मुसलहस्तसंयोगाद्प्रत्ययं हस्तेऽप्युत्पतनकर्मेति ॥

पाणिमुक्तेषु गमनविधिः । कथम् ? यदा तोमरं हस्तेन गृहीत्वोत्क्षेप्तुमिच्छोत्पद्यते तदनन्तरं प्रयत्नः तमपेक्षमाणाद्यथोक्तात् संयोगद्वयात् तोमरहस्तयोर्युगपदाकर्षणकर्मणो भवतः । प्रसारिते च हस्ते तदाकर्षणार्थः प्रयत्नो निवर्तते

आरम्भ, न अस्ति = नहीं है, अतः = इस कारण, यस्मिन् = जिस, काले = समय में, संस्कारापेक्षात् = वेग की अपेक्षा करने वाले, अभिघातात् = अभिघातसंयोग से, अप्रत्ययं = विना प्रत्यय के, मुसले = मुसल में, कर्म = उत्पतनक्रिया होती है, तस्मिन् एव = उसी, काले = समय में, तम् एव = उसी, संस्कारं = वेगसंस्कार को, अपेक्षमाणात् = अपेक्षा करने वाले, मुसलहस्तसंयोगात् = मुसल तथा हस्त के संयोग से, अप्रत्ययं = विना प्रयत्न के, हस्ते अपि = हस्त में भी, उत्पतन-कर्म = उत्पतन कर्म होता है, इति = इस कारण (दोष नहीं आता) ॥

भाषाभाष्य—प्रकारान्तर से 'पूर्व वेग का नाश हो जाने के कारण हस्त में विना प्रयत्न के उत्पतन कैसे होगा' इस पूर्वपक्षी के शंका का भाष्यकार उत्तर करते हैं कि पूर्व का वेग अतिदृढ़ होने से ऊखल तथा मुसल के टक्कर (अभिघात) से नष्ट नहीं होता, अतः दूसरे वेग की उत्पत्ति की आवश्यकता न होने के कारण जिस समय वेग की अपेक्षा से मुसल तथा ऊखल के अभिघात से मुसल में विना प्रयत्न उत्पतन (ऊर्ध्वगमन) होता है उसी समय में उसी पूर्व निमित्तकारण वेग की अपेक्षा से मुसल तथा हस्त के संयोगरूप असमवायिकारण से हस्तरूप समवायिकारण में भी उत्पतनकर्म होता है, अतः इसी पक्ष में हस्त तथा मुसल में एक ही समय उत्पतनकर्म होते हैं, इस कारण पूर्वपक्षी का कहना निरस्त हो जाता है ॥

सूत्र–१८३, १८४, १८५ ॥

पदपदार्थ—पाणिमुक्तेषु = हस्त से छोड़े हुए में, गमनविधिः = गमनकर्म का प्रकार (कहा जाता है), कथं = कैसे होता है ? यदा = जिस समय, तोमरं = तोमर नामक शस्त्र को, हस्तेन = हस्त से, गृहीत्वा = ग्रहण कर, उत्क्षेप्तुं = ऊपर फेंकने की, इच्छा = इच्छा, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, तदनन्तरं = उसके पश्चात्, प्रयत्नः = प्रयास होता है, तं = उस प्रयत्न की, अपेक्षमाणात् = अपेक्षा करने वाले, यथोक्तात् = पूर्वोक्त, संयोगद्वयात् = आत्महस्तसंयोग तथा हस्ततोमरसंयोग ऐसे दो संयोगों से, तोमरहस्तयोः = तोमर तथा हस्त में, युगपत् = एक ही समय में, आकर्षणकर्मणी = दो आकर्षण (अपने तरफ खींचने) की क्रिया, भवतः = होती हैं । प्रसारिते च = और फैलाए हुए, हस्ते = हाथ में, तदाकर्षणार्थः = उस हस्त के आकर्षण को करने वाला, प्रयत्नः = पूर्व-प्रयत्न, निवर्तते = निवृत्त होता है, तदनन्तरं = इसके पश्चात्, तिर्यक् = तिरछे, ऊर्ध्वं = ऊर्ध्व-दिशा में, दूरं = दूर, आसन्नं वा = या समीप, क्षिपामि = फेकता हूँ, इति = ऐसी,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदनन्तरं तिर्यगूर्ध्वं दूरमासन्नं वा क्षिपामीतीच्छा सञ्जायते तदनन्तरं तदनुरूपः प्रयत्नस्तमपेक्षमाणस्तोमरहस्तसंयोगो नोदनाख्यः तस्मात् तोमरे कर्मोत्पन्नं नोदनापेक्षं तस्मिन् संस्कारमारभते । ततः संस्कारनोदनाभ्यां तावत् कर्माणि भवन्ति यावद्धस्ततोमरविभाग इति । ततो विभागान्नोदने निवृत्ते संस्कारादूर्ध्वं तिर्यग्दूरमासन्नं वा प्रयत्नानुरूपाणि कर्माणि भवन्त्यापतनादिति ॥

इच्छा = इच्छा, संजायते = उत्पन्न होती है, तदनन्तरं = इसके पश्चात्, तदनुरूपः = इस इच्छा के अनुसार, प्रयत्नः = प्रयत्न होता है, तं = उसकी, अपेक्षमाणः = अपेक्षा करने वाला, तोमरहस्तसंयोगः = तोमर और हस्त का संयोग, नोदनाख्यः = नोदन (शब्द की उत्पत्ति न करनेवाला) नाम होता है, तस्मात् = उस संयोग से, तोमरे = तोमर में, कर्म = क्रिया, उत्पन्नं = उत्पन्न होकर, नोदनापेक्षं = उक्त नोदनसंयोग की अपेक्षा करता हुआ, तस्मिन् = उस तोमर में, संस्कारं = वेगसंस्कार को, आरभते = आरम्भ करता है। ततः = इसके पश्चात्, संस्कारनोदनाभ्यां = वेगसंस्कार और नोदनसंयोग दोनों से, तावत् = उस समय तक, कर्माणि = क्रियायें, भवन्ति = होती हैं, यावत् = जिस समय तक, हस्ततोमरविभागः = हस्त तथा तोमर का विभाग होता है, इति = इस प्रकार । ततः = इसके पश्चात्, विभागात् = हस्त तथा तोमर के विभाग से, नोदने = पूर्वोत्पन्न नोदनसंयोग के, निवृत्ते = निवृत्त होने पर, संस्कारात् = वेग-संस्कार से, तिर्यक् = तिरछे, दूरं = दूर, आसन्नं वा = या समीप, प्रयत्नानुरूपाणि = प्रयत्न के अनुसार, कर्माणि = क्रियाएँ, भवन्ति = होती हैं, आपतनात् = तोमर के गिरने के समय तक, इति = इस प्रकार ॥

भाषाभाष्य—उक्त रीति से शरीरावयव हस्तादिकों में संबद्ध द्रव्यों में उत्क्षेपणादि क्रिया के वर्णन के अनन्तर हस्त से छूटकर शत्रुवीरों पर गमन करने वाले तोमर (शस्त्रविशेष) आदिकों की गमन की विधि का भाष्यकार इस प्रकार वर्णन करते हैं कि जिस समय तोमर चलाने वाला वीर पुरुष तोमर हस्त में पकड़ कर 'मैं हस्त से तोमर को फेंकने के लिये उठाता हूँ'। इस प्रकार इच्छा करता है उसके पश्चात् उसके ऊपर फेंकने की इच्छा के अनुसार प्रयत्न करता है जिसकी अपेक्षा के करनेवाले आत्मा तथा हस्त के संयोग और हस्त तथा तोमर के भी संयोग से तोमर तथा हस्त में एक ही समय 'आकर्षण' क्रियायें होती हैं, अर्थात् अपनी ओर हाथ तथा तोमर दोनों को वह खींचता है, फैलाया हुआ हस्त दूर ऊपर उठने पर तोमर के खींचने का प्रयत्न दूर हो जाता है जिसके पश्चात् तिरछे, ऊपर अथवा नीचे, दूर या पास तोमर के फेंकने की इच्छा होती है, उसके पश्चात् उसी इच्छानुरूप उसका प्रयत्न फेंकनेवाला होता है, जिससे पास फेंकने के लिये मंद, दूर फेंकने के लिये तीव्र प्रयत्न होकर उसके अनुसार तोमर तथा हस्त का नोदन नामक संयोग होकर उससे तोमर में क्रिया होकर वह क्रिया उस तोमर में वेगसंस्कार को उत्पन्न करती है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा यन्त्रमुक्तेषु गमनविधिः । कथम् ? यो बलवान् कृतव्यायामो वामेन करेण धनुर्विष्टभ्य दक्षिणेन शरं सन्धाय सशरां ज्यां मुष्टिना गृहीत्वा आकर्षणेच्छां करोति "सज्येष्वाकर्षयाम्येतद्धनुरिति" । तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्महस्तसंयोगादाकर्षणकर्म हस्ते यदैवोत्पद्यते तदैव तमेव प्रयत्नमपेक्षमाणाद्धस्तज्याशरसंयोगाद् ज्यायां शरे च कर्म प्रयत्नविशिष्टहस्तज्याशरसंयोगमपेक्षमाणाभ्यां ज्याकोटिसंयोगाभ्यां कर्मणी भवतो धनुष्कोट्योरित्येतत् सर्वं युगतत् । एवमाकर्णादाकृष्टे धनुषि नातः परमनेन गन्तव्यमिति यज्ज्ञानं ततस्त-

---

जिसमें तोमर समवायिकारण, क्रिया असमवायिकारण, और प्रयत्न निमित्तकारण है । इसके पश्चात् वेग तथा नोदनसंयोग दोनों से उस समय तक तोमर में गमनक्रियायें होती जाती हैं जिस समय तक हस्त तथा तोमर का छोड़ने की क्रिया से परस्पर विभाग नहीं होता, विभाग होते ही संयोग के निवृत्त होने पर असमवायिकारण वेगसंस्कार से वेगानुसार तोमर में उत्तरोत्तर गमनक्रिया तोमर के गिरने तक होती जाती हैं ॥ सूत्र–१८१–१८२, १८९, १९०, १९७, १९८ ।

पदपदार्थ—तथा=उस प्रकार से, यन्त्रमुक्तेषु=यन्त्र से छोड़े हुओं में, गमनविधिः=गमनक्रिया का प्रकार, कथम् = किस प्रकार है ? यः = जो, बलवान् = समर्थ, कृतव्यायामः = शस्त्र चलाने का अभ्यास रखनेवाला वीर, वामेन = बांए, करेण = हस्त से, धनुः = धनुष को, विष्टभ्य = पकड़ कर, दक्षिणेन = दहिने हस्त से, शरं = बाण को, संधाय = धनुष पर चढ़ाकर, सशरां = बाणसहित, ज्यां = प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी) को, मुष्टिना = मुट्ठी से, गृहीत्वा = पकड़कर, आकर्षणेच्छा = खींचने की इच्छा को, करोति = करता है, "सज्येषु = ज्यासहित, आकर्षयामि = खींचता हूँ, एतत् = इस, धनुः = धनुष को, इति = इस प्रकार" तदनन्तरं = इसके पश्चात्, प्रयत्नः = प्रयत्न होता है, तं = उस प्रयत्न की, अपेक्षमाणात् = अपेक्षा रखने वाले, आत्महस्तसंयोगात् = आत्मा तथा हस्त के संयोग से, आकर्षणकर्म = आकर्षणक्रिया, हस्ते = हस्त में, यदा एव = जिसी समय में, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, तदा एव = उसी समय में, तं एव = उसी, प्रयत्नं = प्रयत्न की अपेक्षा रखने वाले, हस्तज्याशरसंयोगं = हस्त तथा ज्या और बाण इनके संयोग की, अपेक्षमाणाभ्यां = अपेक्षा करने वाले, ज्याकोटिसंयोगाभ्यां = ज्या के दोनों सिरों के दोनों संयोगों से, कर्मणी = दो क्रिया, भवतः = होती हैं, धनुष्कोट्योः = धनुष्य की दोनों कोटि (सिरों) पर, इति एतत् = इस प्रकार यह, सर्वं = संपूर्ण, युगपत् = एक ही समय में होता है । एवं = इस प्रकार, आकर्णात् = कर्ण तक, आकृष्टे = खींचे हुए, धनुषि = धनुष में, न = नहीं, अतः परं = इससे आगे, अनेन = इस बाण को, गन्तव्यं = जाना है, इति = इस प्रकार, यत् ज्ञानं = जो ज्ञान होता है, ततः = उस ज्ञान से, तदाकर्षणा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दाकर्षणार्थस्य प्रयत्नस्य विनाशस्ततः पुनर्मोक्षणेच्छा सञ्जायते तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्माङ्गुलिसंयोगादङ्गुलिकर्म तस्माज्ज्याङ्गुलिविभागः ततो विभागात् संयोगविनाशः तस्मिन् विनष्टे प्रतिबन्धकाभावाद्यदा धनुषि वर्तमानः स्थितिस्थापकः संस्कारो मण्डलीभूतं धनुर्यथावस्थितं स्थापयति तदा तमेव संस्कारमपेक्षमाणाद्धनुर्ज्यासंयोगाज्ज्यायां शरे च कर्मोत्पद्यते तत्स्वकारणापेक्षं ज्यायां संस्कारं करोति तमपेक्षमाण इषुज्यासंयोगो नोदनं तस्मादिषावाद्यं कर्म नोदनापेक्षमिषौ संस्कारमारभते। तस्मात् संस्कारान्नोदनसहायात् तावत्

र्थस्य = उस धनुष के खींचने के लिये होने वाले, प्रयत्नस्य = प्रयत्न का, विनाशः = नाश हो जाता है, ततः पुनः = इसके पश्चात् पुनः, मोक्षणेच्छा = बाण और ज्या के छोड़ने की इच्छा, संजायते = उत्पन्न होती है, तदनन्तरं = इसके पश्चात् , प्रयत्नः = छोड़ने का प्रयास होता है, तं = उस प्रयास की, अपेक्षमाणात् = अपेक्षा रखने वाले, आत्माङ्गुलिसंयोगात् = आत्मा तथा अंगुली के संयोग से, अङ्गुलिकर्म = अंगुली में क्रिया होती है, तस्मात् = उस अंगुलिकर्म से, ज्यांगुलि-विभागः = ज्या तथा अंगुली का विभाग होता है, ततः = उस, विभागात् = विभाग से, संयोगविनाशः = पूर्वअंगुली तथा ज्या का संयोग नष्ट हो जाता है, तस्मिन् = उस संयोग के, विनष्टे = नष्ट होने पर, प्रतिबन्धकाभावात् = प्रतिबंधक के न होने के कारण, यदा = जिस समय, धनुषि = धनुष में, वर्तमानः = वर्तमान, स्थिति-स्थापकः = पूर्वावस्था का स्थापकः, संस्कारः = स्थितिस्थापक नाम का संस्कार, मण्डलीभूतं = गोलाकार भये हुए, धनुः = धनुष को, यथावस्थितं = जिस अवस्था में पूर्व में था, स्थापयति = उस अवस्था में स्थापित करता है, तदा = उस समय, त एव = उसी, संस्कारं = संस्कार की, अपेक्षमाणात् = अपेक्षा करनेवाले, धनुर्ज्यासंयोगात् = धनुष तथा ज्या के संयोग से, ज्यायां = ज्या में, शरे च = और बाण में भी, कर्म = क्रिया, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है। तत् = वह कर्म, स्वकारणापेक्षं = अपने धनुर्ज्या-संयोगरूप कारण की अपेक्षा करता हुआ, ज्यायां = ज्या में, संस्कारं = वेगसंस्कार को, करोति = करता है, तं = उसको, अपेक्षमाणः = अपेक्षा रखनेवाला, इषुज्या-संयोगः = बांण और ज्या का संयोग, नोदन नामक होता है, तस्मात् = उस वेग-संस्कार से, इषौ = बाण में, आद्यं = प्रथम, कर्म = क्रिया, नोदनापेक्षं = नोदनसंयोग की अपेक्षा करता हुआ, इषौ = बाण में, संस्कारं = वेगसंस्कार को, आरभते = आरंभ करता है। तस्मात् = उस, संस्कारात् = वेगसंस्कार से, नोदनसहायात् = जो नोदन-संयोग की सहायता की अपेक्षा रखता है, तावत् = उस समय तक, कर्माणि = क्रियायें भवन्ति = होती हैं, यावत् = जिस समय तक, इषुज्याविभागः = बाण तथा ज्या का विभाग होता है, विभागात् = विभाग से, निवृत्ते = निवृत्त होने पर, नोदने = नोदन-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्माणि भवन्ति यावदिषुज्याविभागो विभागान्निवृत्ते नोदने कर्माण्युत्तरोत्तराणोषुसंस्कारादेवापतनादिति । बहूनि कर्माणि क्रमशः, कस्मात्? संयोगबहुत्वात् एकस्तु संस्कारोऽन्तराले कर्मणोऽपेक्षाकारणाभावादिति ॥

एवमात्माधिष्ठितेषु सत्प्रत्ययमसत्प्रत्ययं च कर्मोक्तम् ।

संयोग के, कर्माणि = क्रियायें, उत्तरोत्तराणि = जो उत्तरोत्तर हुआ करती हैं, इषुसंस्कारात् एव = बाण के वेगसंस्कार से ही, आपतनात् = बाण के गिरने के समय तक, इति = इस प्रकार । एवं = इस प्रकार, आत्माधिष्ठितेषु = आत्मा से आश्रितों में, सत्प्रत्ययं = प्रयत्नपूर्वक, असत्प्रत्ययं च = और विना प्रयत्न होने वाला भी, कर्म = कर्म, उक्तम् = कहा गया ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार साक्षात् हस्त से छूटने वाले तोमरादि शस्त्रों के गमन का प्रकार वर्णन कर हस्त में धनुषादि यन्त्रों को लेकर उनके द्वारा बाणादिकों के गमन के प्रकार का वर्णन करते हुए भाष्यकार उसके प्रयत्नपूर्वक विधि को कहते हैं कि जिस समय युद्ध अथवा मृगया (शिकार) में अस्त्रविद्या में निपुण तथा बलवान् वीर पुरुष बाएँ हाथ से धनुष को जोर से पकड़ कर दहिने हाथ से उस पर बाण को चढ़ाकर बाणसहित ज्या (धनुष की डोरी) को पकड़ कर, 'मैं इस डोरीसहित इस धनुष को खीचता हूँ' ऐसी इच्छा करता है, पश्चात् इच्छा के अनुसार वह वीर प्रयास करता है । जिस निमित्तकारण प्रयास की अपेक्षा करनेवाले असमवायिकारण आत्मा तथा हस्त के संयोग से समवायिकारण हस्त में जिस समय आकर्षणकर्म होता है, अर्थात् अपनी ओर वह हस्त को खींचता है, उस समय उक्त निमित्तकारण प्रयत्न की अपेक्षा से उत्पन्न हस्त तथा ज्या और बाण के संयोगरूप असमवायिकारण से ज्या तथा बाणरूप समवायिकारण में भी क्रिया होती है, तथा प्रयत्नविशिष्ट हस्त, ज्या तथा बाणसंयोग की अपेक्षा से हुये ज्या के दोनों कोटि (भागों) के दोनों संयोगों से धनुष्य की दोनों कोटि (सिरों) पर दो क्रियायें होती हैं, यह संपूण कार्य-कारण के युगपद् होने से एक ही समय होता है । इस प्रकार वीर पुरुष की पूर्वोक्त इच्छा के अनुसार कर्णपर्यन्त धनुष्य के खींचे जाने पर इससे आगे यह नहीं जायगा ऐसा उस वीर पुरुष को जो ज्ञान होता है उससे धनुष्य के आकर्षण (खींचने) का प्रयास नष्ट हो जाता है इसके पश्चात् पुनः बाण तथा डोरी को छोड़ने की इच्छा के अनुसार वह वीर प्रयत्न करता है, जिस प्रयत्न के अनुसार उस वीर का आत्मा तथा अंगुलियों के संयोग से अंगुली में क्रिया उत्पन्न होने से ज्या तथा अंगुलियों का विभाग होने के कारण पूर्वसंयोग का नाश होने पर प्रतिबन्धक न होने के कारण जिस समय धनुष्य में वर्तमान उसे पूर्वावस्था में प्राप्त करने वाला स्थितिस्थापक -नामक संस्कार गोलाकार भये हुए धनुष्य को पूर्वावस्था

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(४) अप्रत्ययकर्मप्रकरणम् ।

अनधिष्ठितेषु बाह्येषु चतुर्षु महाभूतेष्वप्रत्ययं कर्म गमनमेव नोदनादिभ्यो भवति। तत्र नोदनं गुरुत्वद्रवत्ववेगप्रयत्नान् समस्तव्यस्तानपेक्षमाणो यः

(सरलता) में स्थापित करता है, उस समय उसी निमित्तकारण संस्कार की अपेक्षानुसार धनुष्य तथा ज्या के संयोगरूप असमवायिकारण से ज्या तथा बाण-रूप भी समवायिकारण में चलनक्रिया उत्पन्न होती है वह क्रिया धनुष्य तथा ज्या के संयोगरूप अपने कारण की अपेक्षा करता हुआ ज्या में वेग को उत्पन्न करती है, उस वेग के अनुसार बाण और ज्या का नोदनसंयोग होता है, और उस वेगसंस्कार से बाण में नोदनसंयोगानुरूप उत्पन्न प्रथम चलनक्रिया बाण में वेग को उत्पन्न करती है तथा नोदन की सहायता से उस वेग से उस समय तक बाण में क्रियायें होती जाती हैं जिस समय तक बाण तथा डोरी का विभाग होता है, विभाग होते ही नोदन (बाण तथा ज्या का संयोग) निवृत्त होकर बाण के वेग के अनुसार ही उत्तरोत्तर बाण में अनेक गमनक्रियायें उस समय तक होती जाती हैं। जिसे समय तक बाण भूमि पर नहीं गिरता। ज्या से विभक्त (छूटे) बाण में बीच में अनेक क्रिया क्रम से क्यों मानी जाती हैं ? इस प्रकार पूर्वपक्षी की शंका को दिखाकर भाष्यकार उसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि चलाये हुए बाण के बीच में अनेक संयोग दिखाते हैं, अतः संयोग के अनेक होने से क्रियायें भी अनेक मानना उचित है। किन्तु वेग नामक बाण में वर्तमान संस्कार एक ही है क्योंकि बीच में क्रिया के नोदन अथवा अभिघातसंयोगरूप अपेक्षित कारण नहीं है। अर्थात् नोदन या अभिघात-रूप संयोगरूप कारण की अपेक्षा से ही क्रिया वेगसंस्कार की उत्पादक होती है न कि केवल क्रिया वेग के अभाव से यह भाष्यकार का यहाँ अभिप्राय है। सूत्र—१८१, १८२, १९७, १९८, १९६ ।

इस प्रकार आत्मा से सम्बन्ध से होनेवाली प्रयत्नपूर्वक मुसलादिकों का प्रथम इच्छा तथा प्रयत्न से ऊर्ध्वक्षेपण इत्यादि तथा ऊखल के टक्कर से बिना प्रयत्न के मुसल तथा हस्त का स्वयं ऊर्ध्व जाना ऐसे दोनों प्रकार के कर्मों का वर्णन समाप्त हुआ, आगे केवल अप्रत्यय (बिना प्रयत्न के ही) कर्मों का वर्णन करेंगे।

(४) असत्प्रत्ययकर्मप्रकरण

पदपदार्थ—अनधिष्ठितेषु=आत्मा के प्रयत्न से सम्बन्ध न रखने वाले, बाह्येषु= बहिरिन्द्रियों से ग्राह्य, चतुर्षु = चार, महाभूतेषु = पृथिवी, जल, तेज तथा वायु नामक महाभूतद्रव्य पदार्थों में, अप्रत्ययं = बिना प्रयत्न का, कर्म = क्रिया, गमनं एव=गमन नाम की ही, नोदनादिभ्यः = नोदनादिसंयोगों से, भवति = होती है। तत्र = उस क्रिया में, नोदनं = नोदन नामक, गुरुत्वद्रवत्ववेगप्रयत्नान् = गुरुत्व, द्रवत्व, वेग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संयोगविशेषो नोदनमविभागहेतोरेकस्य कर्मणः कारणम् तस्माच्चतुर्ष्वपि महाभूतेषु कर्म भवति । यथा पङ्काख्यायां पृथिव्याम् ।

वेगापेक्षो यः संयोगविशेषो विभागहेतोरेकस्य कर्मणः कारणं सोऽभिघातः तस्मादपि चतुर्षु महाभूतेषु कर्म भवति । यथा पाषाणादिषु निष्ठुरे वस्त्वभिपतितेषु । तथा पादादिभिर्नुद्यमानायामभिहन्यमानायां वा पङ्काख्यायां

तथा प्रयत्नों को, समस्तव्यस्तान् = जो मिलित अथवा पृथक् हों, अपेक्षमाणः = अपेक्षा करता हुआ, यः = जो, संयोगविशेषः = विशेषसंयोग है । नोदनं = वह नोदनसंयोग, अविभागहेतोः = विभाग को उत्पन्न न करने वाले, एकस्य = एक, कर्मणः = क्रिया का, कारणं = कारण है, तस्मात् = उससे, चतुर्षु अपि = पूर्वोक्त चारों में भी, महाभूतेष = पृथिवी आदि महाभूत द्रव्यों में, कर्म = क्रिया, भवति = होती है । यथा = जिस प्रकार, पङ्काख्यायां = पंक (कीचड़) नामक, पृथिव्याम् = पृथिवी द्रव्य में ।

भाषाभाष्य—आत्मा के प्रयत्न से सम्बद्ध प्रयत्नपूर्वक तथा उसके सम्बन्ध से होनेवाले विना प्रयत्न के कर्मों का वर्णन कर केवल विना प्रयत्न के होनेवाले कर्मों का भाष्यकार वर्णन करते हैं कि विशेष सम्बन्धी आत्मा से असम्बद्ध बाह्य पृथिवी, जल, तेज तथा वायु द्रव्यरूप महाभूतों में विना प्रयत्न के गमन नामक ही क्रिया नोदनादिसंयोगों से होती है । उत्क्षेपणादि क्रिया नहीं होती है । नोदन एक विशेष संयोग का नाम है जो मिलित अथवा पृथक गुरुत्व, द्रवत्व, वेग तथा प्रयत्न की अपेक्षा से होता है । उसे नोद्य तथा नोदक के परस्पर विभाग को न उत्पन्न करनेवाली क्रिया का कारण न होने से नोदन नामक संयोग कहते हैं, क्योंकि अभिघात नामक संयोग में संयोग करनेवाला तथा जिसमें संयोग होता है वे दोनों तत्काल परस्पर पृथक् विभक्त हो जाते हैं, और नोदन में दोनों पृथक् नहीं होते । इसका उदाहरण ऐसा भाष्यकार देते हैं कि जिस प्रकार पंक (कीचड़) पर रखा हुआ मट्टी या ढेला क्रम से नीचे जब जाने लगता है तब गुरुत्व की अपेक्षा करनेवाली लोष्ठ का नोदन संयोग, और जब प्रयत्न से ढेला दूर से उठाकर कीचड़ पर फेंका जाता है तब गुरुत्व, प्रयत्न तथा वेग तीनों की अपेक्षा से नोदन संयोग होता है यह जानना ।

पदपदार्थ—वेगापेक्षः = वेग की अपेक्षा करनेवाला, यः = जो, संयोगविशेषः = विशेष संयोग; विभागहेतोः = विभाग के कारण, एकस्य = एक, कर्मणः = क्रिया का कारण होता है, सः = वह, अभिघात नामक संयोगविशेष है । तस्मात् अपि = उस अभिघात से भी, चतुर्षु = चार, महाभूतेषु = पृथिवी आदि महाभूतद्रव्यों में, कर्म = क्रिया, भवति = होती है । यथा = जैसे, पाषाणादिषु = पत्थर इत्यादि, निष्ठुर = कड़े, वस्तुनि = पदार्थ में, अभिपतितेषु = जो गिरे हों । तथा = उसी प्रकार, पादादिभिः = पैर इत्यादिकों से, नुद्यमानायां = चूरी हुई, अभिहन्यमानायां

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पृथिव्यां यः संयोगो नोदनाभिघातयोरन्यतरापेक्ष उभयापेक्षो वा स संयुक्त-संयोगः तस्मादपि पृथिव्यादिषु कर्म भवति। ये च प्रदेशा न नुद्यन्ते नाप्यभि-हन्यन्ते तेष्वपि कर्म जायते।

वा = अथवा ठुकराई हुई, पङ्काख्यायां = कीचड़ नामक, पृथिव्यां = पृथिवी में, नोदनाभिघातयोः = नोदन तथा अभिघात नामक दोनों संयोगों में से, अन्यतरापेक्षः = किसी एक की अपेक्षा करनेवाला, उभयापेक्षः वा = या दोनों की अपेक्षा करनेवाला सः = वह, संयुक्तसंयोगः = संयुक्त में संयोग होता है, तस्मात् अपि = उससे भी, पृथिव्यादिषु = पृथिवी आदि द्रव्यों में, कर्म = क्रिया, भवति = होती है। ये च = और जो, प्रदेशाः = भाग, न = नहीं, नुद्यन्ते = चूरे जाते हैं, न अपि = और न, अभि-हन्यन्ते = ठुकराये जाते हैं, तेषु अपि = उनमें भी, कर्म = क्रिया, जायते = होती है।

भाषाभाष्य—इस प्रकार बिना प्रयत्न के होने वाली क्रियाओं में नोदनजन्य क्रिया तथा नोदनसंयोग का स्वरूप वर्णन कर अभिघात नामक संयोगविशेष के स्वरूप निरूपणपूर्वक उससे उत्पन्न बिना प्रयत्न के होने वाली क्रिया का वर्णन भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि वेगसंस्कार की अपेक्षा करने वाला जो विशेष संयोग संयुक्त दो द्रव्यों के परस्पर विभक्त करनेवाली क्रिया का कारण होता है उसे अभिघातसंयोग कहते हैं अर्थात् अभिघात्य (टकराये जाने वाले) तथा अभिघातक (टक्कर देनेवाले) दोनों द्रव्यों का जिससे तत्काल परस्पर विभाग होता है, ऐसी क्रिया के कारण संयोगविशेष का अभिघात नाम है, उससे भी पृथिवी, जल, तेज तथा वायु नाम के चार महाभूत द्रव्यों में क्रिया होती है, जैसे पत्थर इत्यादि कड़े द्रव्य पदार्थ पर पत्थर इत्यादिकों के गिरने से, अर्थात् पत्थर के अभिघात (जोर से गिरकर) संयोग होने से जिस कड़े द्रव्य पदार्थ पर पत्थर गिरता है उसमें चलन-क्रिया होता है। यह साक्षात् अभिघातसंयोग का उदाहरण है इसी प्रकार अभिघात के संयुक्तसंयोगरूप परम्परा सम्बन्ध का भाष्यकार ऐसा उदाहरण देते हैं कि पैर इत्यादि शरीर के अवयवों से कीचड़ के नुद्यमान होने पर (चूरे जाने पर) या जोर से अभिहत होने पर (जोर से कुचले जाने पर जाने पर जो संयोग है) इन दोनों नोदन तथा अभिघात नामक संयोगों में से किसी एक अथवा दोनों की अपेक्षा करनेवाला वह संयुक्त है। उससे भी पृथिव्यादि चार महाभूत द्रव्यों में क्रिया होती है, अर्थात् कीचड़रूप पृथिवी के एक किसी प्रदेश में पादादिकों का नोदन अथवा अभिघातसंयोग होने पर भी जिन प्रदेशों में नोदन या अभिघात संयोग नहीं होता उन प्रदेशों में भी चलनक्रिया होती हैं। जिससे पादादिकों से असंयुक्त होने पर भी उन चलनेवाले दूसरे प्रदेशों का पादादिकों से नोदनाभिघात संयोगवाले भूप्रदेशों के साथ संयुक्त प्रदेश का संयोग कारण है। जहाँ पर अभिघात करनेवाला द्रव्य भूप्रदेश को अभिघात से कुछ नीचे ले जाकर ऊपर उठता है वहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पृथिव्युदकयोर्गुरुत्वविधारकसंयोगप्रयत्नवेगाभावे सति गुरुत्वाद्यदधोगमनं तत्पतनम् । यथा मुसलशरीरादिषूक्तम् । तत्राद्यं गुरुत्वाद् द्वितीयादीनि तु गुरुत्वसंस्काराभ्याम् ॥

स्रोतोभूतानामपां स्थलान्निम्नाभिसर्पणं यत्तद्द्रवत्वात् स्यन्दनम् । कथम् ? समन्ताद्रोधःसंयोगेनावयविद्रवत्वं प्रतिबद्धम् अवयवद्रवत्वमप्येकार्थसमवेतं तेनैव प्रतिबद्धमुत्तरोत्तरावयवद्रवत्वानि संयुक्तसंयोगैः प्रतिबद्धानि । यदा तु मात्रया सेतुभेदः कृतो भवति तदा समन्तात् प्रतिबद्धत्वादवयविद्रवत्वस्य कार्यारम्भो नास्ति सेतुसमीपस्थस्यावयवद्रवत्वस्योत्तरोत्तरेषामवयवद्रवत्वानां प्रतिबन्धकाभावाद् वृत्तिलाभः । ततः क्रमशः संयुक्तानामेवाभिसर्पणम् । ततः

पर देशान्तर में क्रिया होने में नोदन तथा अभिघात दोनों की अपेक्षा से संयुक्त संयोग कारण है यह जानना चाहिये ॥ सू० १९९–२१० ॥

पदपदार्थ—पृथिव्युदकयोः = पृथिवी तथा जल में, गुरुत्वविधारकसंयोगप्रयत्नवेगाभावे = गुरुत्व के प्रतिबन्धक संयोग प्रयत्न तथा वेग के अभाव के, सति = होने पर, गुरुत्वात् = गुरुत्व से, यत् = जो, अधोगमनं = अधःप्रदेश में गमन होता है, तत् = वह, पतनं = पतन नामक कर्म कहाता है । यथा = जैसे, मुसलशरीरादिषु = मुसल तथा शरीर इत्यादिकों में । तत्र = उसमें, आद्यं = प्रथम, गुरुत्वात् = गुरुत्व से, द्वितीयादीनि तु = किन्तु द्वितीय-तृतीय आदि, गुरुत्वसंस्काराभ्यां = गुरुत्व और वेगसंस्कार दोनों से पतन क्रिया होती है ॥

स्रोतोभूतानां = प्रवाहरूप, अपां = जल का, स्थलात् = भूमि स्थल से, निम्नाभिसर्पणं = गढ्ढे में जाना, तत् = वह, द्रवत्वात् = स्वाभाविकद्रवत्व से, स्यन्दनं = बहना होता है । कथम् = कैसे ? समन्तात् = चारों ओर से, रोधःसंयोगेन = प्रवाह के संयोग से, अवयविद्रवत्वं = अवयवि जल का सांसिद्धिक द्रवत्व, प्रतिबद्धं = रुक जाता है, अवयवद्रवत्वं अपि = जलवायवों का स्वाभाविक द्रवत्व भी, एकार्थसमवेतं = एक पदार्थ में समवायसम्बन्ध से समवेत, तेन एव = उसी प्रवाहसंयोग से, प्रतिबद्धं = रुका हुआ, उत्तरोत्तरावयवद्रवत्वानि = उत्तर-उत्तर जल के अवयवों के सांसिद्धिक द्रवत्व, संयुक्तसंयोगैः = संयुक्त संयोगों से, प्रतिबद्धानि = रुके हैं, यदा तु = किन्तु जिस समय, मात्रया = अंशमात्र से सेतुभेदः = बीच का सेतु (मेंढ) तोड़ देना, कृतः भवति = किया जाता है, तदा = उस समय, समन्तात् = चारों तरफ से, प्रतिबद्धत्वात् = रुका होने से, अवयविद्रवत्वस्य = अवयवि जल के द्रवत्व का, कार्यारम्भः = कार्य की उत्पत्ति, न अस्ति = नहीं है, सेतुसमीपस्थस्य = मेंढी के समीप में वर्तमान, अवयवद्रवत्वस्य = जलावयव के स्वाभाविक द्रवत्व का, उत्तरोत्तरेषां = उत्तर-उत्तर, अवयवद्रवत्वानां=जलावयवद्रवत्वों के प्रतिबंध का भावात् = मेंढरूप प्रतिबन्धक के न होने से, वृत्तिलाभः = बहनारूप व्यापार होने लगता है । ततः =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्वद्रव्यविनाशे सति प्रबन्धेनावस्थितैरवयवैर्दीर्घं द्रव्यमारभ्यते, तत्र च कारणगुणपूर्वक्रमेण द्रवत्वमुत्पद्यते। तत्र च कारणानां संयुक्तानां प्रबन्धेन गमने यदवयविनि कर्मोत्पद्यते तत् स्यन्दनाख्यमिति ॥

इसके पश्चात्, क्रमशः=क्रम से, संयुक्तानाम् एव=संयुक्त ही जलों का, अभिसर्पणं=पश्चात् गमन होता है। ततः = इसके पश्चात्, पूर्वद्रव्यविनाशे = पूर्वजलावयविद्रव्य का नाश, सति= होने पर, प्रबन्धेन = पंक्ति से, अवस्थितैः = रहने वाले, अवयवैः = अवयव जलों से, दीर्घं = लम्बा, द्रव्यं = जलद्रव्य, आरभ्यते = उत्पन्न किया जाता है, तत्र च = उसमें द्रवत्व उत्पन्न होने पर, कारणगुणप्रक्रमेण = कारण गुण के क्रमानुसार, द्रवत्वं = स्वाभाविकद्रवत्व, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है। तत्र च = और उसमें, कारणानां = कारणों के, संयुक्तानां = जो संयुक्त हैं, प्रबन्धेन = पंक्ति से, गमने = गमन होने पर, यत् = जो, अवयविनि = अवयवि जल में, कर्म = क्रिया, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है, तत् = वह, स्यन्दनं = स्यन्दन (वहना) कर्म है। इति = इस प्रकार स्यन्दन कर्म समाप्त है ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार संयोगरूप कारण से उत्पन्न प्रयत्नपूर्वक तथा बिना प्रयत्न होनेवाले कर्मों का विस्तार से वर्णन करने के पश्चात् गुरुत्व तथा द्रवत्व से उत्पन्न कर्मों का भाष्यकार क्रम से वर्णन करते हैं कि पृथिवी तथा जल द्रव्यों में गुरुत्व के प्रतिबन्धक संयोग, प्रयत्न तथा वेग के न रहते केवल गुरुत्व से जो नीचे की तरफ गमन होता है वह पतन (गिरना) कर्म कहाता है। जैसे मुसल, वृक्ष का फल, शरीर इत्यादि गुरुत्व के कारण पृथ्वी पर गिर जाते हैं जिसमें केवल प्रथम पतन गुरुत्व से होता है, किन्तु द्वितीय तृतीयादि पतन गुरुत्व तथा वेगसंस्कार दोनों से मिल कर होते हैं। अर्थात् गुरुत्व कार्य का प्रतिबन्धक हस्तसंयोग के न रहने पर मुसल जो नीचे जाता है वह प्रथम पतनक्रिया केवल गुरुत्व से होती है, जिस क्रिया से उस मुसल में वेग उत्पन्न होता है जिसके अनन्तर मुसल में होने वाली उत्तरक्रियायें गुरुत्व और वेग दोनों कारणों से मिलकर होती हैं। तथा शरीर में गुरुत्व होने से यदि उसके थाम रखने का मनुष्य प्रयत्न न रखे तो मनुष्य का शरीर भूमि पर गिर जाता है, तथा चलाये हुए बाण में वेग न हो तो वह भी गिर जाता है। ऐसी यह दोनों पतनक्रिया केवल गुरुत्व से होती हैं। उत्तरक्रिया पूर्ववत् दोनों से होती हैं। यह जान लेना चाहिये। सू०—१८७, १९८, २०१ ॥

इस प्रकार गुरुत्वजन्य क्रिया का वर्णन कर सांसिद्धिक द्रवत्व से उत्पन्न क्रिया (स्यन्दन) का इस प्रकार भाष्यकार वर्णन करते हैं कि प्रवाहरूप जल का जमीन पर से स्यन्दन (गड़हे के तरफ बह कर जाना) यह जल के स्वाभाविक द्रवत्व (पतला-पन) से होता है। इसका क्या प्रकार है ? इस प्रश्न पर उसका विधि बतलाते हैं कि चारों तरफ से जलप्रवाह के रोकनेवाली मेंढ का संयोग होने से अवरोध होने के कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सस्कारात् कर्म इष्वादिषूक्तम्। तथा चक्रादिष्ववयवानां 'पार्श्वतः प्रतिनियतदिग्देशसंयोगविभागोत्पत्तौ यदवयविनः संस्कारादनियतदिग्देशसंयोगविभागनिमित्तं कर्म तद् भ्रमणमिति। एवमादयो गमनविशेषाः॥

प्राणाख्ये तु वायौ कर्म आत्मवायुसंयोगादिच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षाज्जाग्रत

अवयविजल के द्रवत्व का प्रतिबंध होने से अवयवजल का भी एक जलावयवरूप पदार्थ में सम्बद्ध द्रवत्व उसी से प्रतिबद्ध होता है, अर्थात् जिस जलावयव में साक्षात् मेंढरूप प्रतिबन्ध का संयोग है उस जलावयव में वर्तमान द्रवत्व उसी मेंढ के संयोग से प्रतिबद्ध है, और मेंढ से संयुक्त जलावयव के साथ संयोग होने से दूसरे जलावयवों का भी संयुक्तसंयोग से द्रवत्व प्रतिबद्ध होता है। और जब वह प्रतिबन्धक मेंढ एकप्रदेशरूप अंशमात्र से भी तोड़ दी जाय तो चारों तरफ से जलावयविद्रव्य के द्रवत्व के प्रतिबद्ध होने से उसमें निर्गम नहीं हो सकता, अर्थात् बहुत लम्बी मेंढ से चारों तरफ से रुके हुए होने से बड़े परिमाण वाला जलावयविद्रव्य का एकप्रदेश मात्र में से जल निकलने का मेंढ में छिद्र होने से उस मार्ग से निकलना कठिन है, अतः मेंढ के समीप वर्तमान अवयजल के द्रवत्व से उत्पन्न उत्तर-उत्तर अवयवद्रवत्वों का उस छोटे से मेंढ के छिद्र से प्रतिबन्धक हट जाने से निर्गमन हो सकता है, इसके पश्चात् पूर्वसंयोग का नाश होकर क्रम-क्रम से संयुक्त ही जलावयवद्रवत्वों का निर्गमन होने से उस पूर्व अवयविजल का नाश होकर निरन्तर पंक्ति में लम्बे होनेवाले जलावयवों से एक दीर्घ दूसरा जलावयविद्रव्य उत्पन्न होता है, जिसके कारण गुणानुसार द्रवत्व उत्पन्न होता है, इसके पश्चात् कारणरूप जलावयवों के एकपंक्तिरूप में छिद्र से गमन होने से जो उस दीर्घ जलावयविद्रव्य में क्रिया होती है वह द्रवत्व के कारण से होने वाली स्यन्दन (बहना) क्रिया कहलाती है॥ सूत्र २०२॥

पदपदार्थ—संस्कारात् = वेगसंस्कार से, कर्म = क्रिया, इच्छादिषु = बाण इत्यादिकों में, उक्तम् = कही है, तथा = उसी प्रकार, चक्रादिषु = चक्र इत्यादि शस्त्रों में, अवयवानां = चक्रावयवों के, पार्श्वतः = चारों दिशा रूप पार्श्वभागों में, प्रतिनियतदिग्देशसंयोगविभागोत्पत्तौ = नियमित दिशाओं में संयोग तथा विभाग के उत्पन्न होने पर, यद् = जो, अवयविनः = चक्ररूप अवयवि द्रव्य कें, संस्कारात् = वेगसंस्कार से, अनियतदिग्देशसंयोगविभागनिमित्तं = अनियमित दिशाप्रदेशों के साथ संयोग तथा विभाग होने का कारण, कर्म = जो क्रिया होती है, तत् = वह, भ्रमणं = भ्रमणक्रिया कहाती है, इति = इस प्रकार भ्रमण कर्म है। एवं आदयः = इस प्रकार भ्रमण इत्यादि कर्म, गमनविशेषः = विशेष गमन कर्म हैं॥

प्राणाख्ये तु = किन्तु प्राण नामक, वायौ = शरीर के भीतर रहने वाले वायु में, कर्म = क्रिया, आत्मवायुसंयोगात् = आत्मा तथा वायु (प्राण) के संयोग से, इच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षात् = इच्छा तथा द्वेषपूर्वक प्रयत्न की अपेक्षा करने वाले, जाग्रतः =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इच्छानुविधानदर्शनात्, सुप्तस्य तु जीवनपूर्वकप्रयत्नापेक्षात्। आकाशकालदिगात्मनां सत्यपि द्रव्यभावे निष्क्रियत्व सामान्यादिवदमूर्तत्वात्। मूर्तिरसर्वगतद्रव्यपरिमाणम् तदनुविधायिनी च क्रिया सा चाकाशादिषु नास्ति तस्मान्न तेषां क्रियासम्बन्धोऽस्तीति ॥

जाग्रत् अवस्था में वर्तमान प्राणी को, इच्छानुविधानदर्शनात् = इच्छा का अनुसरण दिखाई देने से, सुप्तस्य तु = किन्तु निद्रावस्था में वर्तमान प्राणी को, जीवनपूर्वकप्रयत्नापेक्षात् = जीवनयोनि नामक प्रयत्न की अपेक्षा से। आकाशकालदिगात्मनां = आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा के, सति अपि = रहने पर भी, द्रव्यभावे = द्रव्यरूपता के, निष्क्रियत्वं = क्रियाशून्यता है, सामान्यादिवत् = सामान्य विशेष आदि के समान, अमूर्तत्वात् = मूर्त न होने से, । मूर्तिः = मूर्ति वह होती है, असर्वगतपरिमाणं = अव्यापक परिमाण, तदनुविधायिनी = उसका अनुसरण करने वाली होती है, क्रिया = कर्म, सा च = और वह क्रिया, आकाशादिषु = आकाश से आत्मापर्यन्त द्रव्यों में, न अस्ति = नहीं है, तस्मात् = इस कारण, न = नहीं, तेषां = उन आकाशादिकों में, क्रियासम्बन्धः = क्रिया का सम्बन्ध, अस्ति = है, इति = इस प्रकार प्राणवायु क्रिया होती है ॥

भाषाभाष्य—इस प्रकार गुरुत्व तथा द्रवत्व से उत्पन्न पतनादि रूप कर्मोत्पत्ति का निरूपण करने के पश्चात् वेगजन्य वाणादि गमनक्रिया का जिसका पूर्व में निरूपण कर चुके हैं उसके भेदरूप भ्रमणक्रिया का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि भ्रमणक्रिया भी वेगसंस्कार से ही होती है जिस प्रकार बाणादिकों में केवल वेग से गमनक्रिया होती है उसी प्रकार अलात चक्रादिकों में जो क्रिया होती है वह भी केवल वेगसंस्कार से होती है, अतः यहाँ भाष्य में 'यथा' पद का अध्याहार कर जैसे बाणादिकों में 'तथा' वैसे चक्रादिकों में इस प्रकार अन्वय जानना चाहिये। अर्थात् अलात चक्रादिकों में उनके अवयवों के चारों ओर नियत पूर्वादि दिशाओं के जो देश अलातचक्र से व्याप्त हैं, उनके साथ संयोग तथा विभाग होने के लिये प्रथम जो संस्कारवेग से क्रिया उत्पन्न होती है, अर्थात् असमवायिकारणरूप प्रथम दण्डचक्रसंयोग से (जो दण्ड तथा हस्तसंयोग की अपेक्षा करता है) उत्पन्न चक्र की क्रिया अपने कारणविशेष की अपेक्षा से वेग को उत्पन्न करती है, पश्चात् वेग तथा नोदनसंयोग से बारंबार वेग ही से गमनक्रियायें होती हैं; (यहाँ चक्र के अवयवों में प्रथम गमनक्रिया की उत्पत्ति में नोदनसंयोग की अपेक्षा रखनेवाला संयुक्तसंयोग असमवायिकारण हैं), पश्चात् क्रिया से वेग उससे वेग होता चला जाता है, इस प्रकार अनियत दिशाओं के संयोग तथा विभाग के कारण भया हुआ वह चक्र का भ्रमण नामक कर्म अनियत दिशाओं के साथ संयोग तथा विभागों को करता है ॥सू० १९७॥

कार्यभेद से क्रिया का भेद दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि प्राण नामक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सविग्रहे मनसीन्द्रियान्तरसम्बन्धार्थं जाग्रतः कर्म आत्ममनःसंयोगादिच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षात् अन्वभिप्रायमिन्द्रियान्तरेण विषयान्तरोपलब्धि-

शरीर मे रहने वाले वायु में श्वासोच्छवासादि रूप जो क्रिया होती है वह जाग्रत् अवस्था में इच्छा तथा द्वेषपूर्वक प्रयत्न की अपेक्षा करने वाला आत्मा तथा प्राणवायु के संयोग से होती है, क्योंकि उस अवस्था में इच्छापूर्वक वही कार्य देखने में आते है, रेचकादिकों में प्राणक्रिया इच्छानुसार ही उपलब्ध होती है, तथा नासिका के छिद्र में धूल गिरने पर उसको हटाने के लिये द्वेष से भी होती है, अतः वह प्राणक्रिया प्रयत्नपूर्वक है ऐसा निश्चित होता है, और सुप्त (सोये हुए) पुरुष की प्राणक्रिया (श्वासोच्छ्वास) जीवनयोनि प्रयत्नपूर्वक आत्मा तथा प्राणवायु के संयोग से होती है, अतः सुप्त पुरुष के प्राणवायु की श्वासादिरूप क्रिया, प्रयत्नपूर्वक हैं, प्राणक्रिया होने से, जाग्रदवस्था में वर्तमान प्राणी की प्राणक्रिया के समान, ऐसे अनुमान से निद्रावस्था में प्राणक्रिया सिद्ध होती है। किन्तु वह जीवनयोनियत्न इच्छा तथा द्वेष निमित्त से नहीं होता, क्योंकि निद्रावस्था में आत्मा को इच्छा तथा द्वेषगुण आत्ममनःसंयोगरूप असमवायिकारण के न रहने से नहीं होते, अतः जीवनपूर्वक ही है ऐसा निश्चित होता है, क्योंकि प्राणधारण जीवनयोनियत्नपूर्वक ही होता है ।। 'पृथिवी, जल वायु इत्यादिकों के समान आकाश, काल आदि द्रव्यों में क्रिया का वर्णन क्यों नहीं किया ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि पृथिवी आदि वायुपर्यन्त चार द्रव्यों के समान यद्यपि आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा इन चारों में भी द्रव्यत्व समान है, तथापि अमूर्त होने से इन चार आकाशादि द्रव्यों में क्रिया नहीं है, अर्थात् क्रियात्व तथा मूर्तत्व की व्याप्ति होने के कारण आकाशदिकों में मूर्तत्व न होने से क्रिया उनमें हो नहीं सकती, अतः आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा इन चार द्रव्यों में क्रिया का विचार नहीं किया है। क्योंकि सर्वत्र न वर्तमान परिमाण को मूर्ति कहते हैं, उस मूर्ति के साथ क्रिया रहती है, वह मूर्ति (अव्यापक परिमाण) आकाशादि चारों द्रव्यों के 'परममहत्परिमाण' के आश्रय सर्वत्र व्यापक होने से नहीं है. अतः उन चारों आकाशादि आत्मापर्यन्त द्रव्यों में किसी भी क्रिया का सम्बन्ध नहीं हो सकता. अतः पृथिव्यादि वायुपर्यन्त द्रव्यों के समान आकाशादि आत्मापर्यन्त द्रव्यचतुष्टय में क्रिया का वर्णन नही किया गया है ।। सू—२१०, २१९, ६९ ॥

पदपदार्थ—सविग्रहे = सशरीर, मनसि = अन्तःकरण में होनेवाला, इन्द्रियान्तरसम्बन्धार्थं = दूसरे इन्द्रियों के सम्बन्ध के लिये, जाग्रतः = जाग्रदवस्था में वर्तमान प्राणी की, कर्म = क्रिया, आत्ममनःसंयोगात् = आत्मा तथा मन के संयोग से, इच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षात् = जो इच्छा वा द्वेषपूर्वक प्रयत्न की अपेक्षा करता हो है, अनुअभिप्रायं = अभिप्राय के अनुसार, इन्द्रियान्तरेण = दूसरे इन्द्रिय से, विषयोपलब्धिदर्शनात् =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दर्शनात्। सुप्तस्य प्रबोधकाले जीवनपूर्वकप्रयत्नापेक्षात्। अपसर्पणकर्मोपसर्पणकर्म चात्ममनःसंयोगाददृष्टापेक्षात्। कथम्? यदा जीवनसहकारिणोर्धर्माधर्मयोरुपभोगात् प्रक्षयोऽन्योन्याभिभवो वा तदा जीवनसहाययोर्वैकल्यात् तत्पूर्वकप्रयत्नवैकल्यात् प्राणनिरोधे सत्यन्याभ्यां लब्धवृत्तिभ्यां धर्माधर्माभ्यामात्ममनःसंयोगसहायाभ्यां मृतशरीराद्विभागकारणमपसर्पणकर्मोत्पद्यते। ततः शरीराद्बहिरपगतं ताभ्यामेव धर्माधर्माभ्यां समुत्पन्नेनातिवाहिकशरीरेण सम्बध्यते तत्संक्रान्तं च स्वर्गं नरकं वा गत्वा आशयानुरूपेण शरीरेण सम्बध्यते तत्संयोगार्थं कर्मोपसर्पणमिति। योगिनां च बहिरुद्रेचितस्य

विषय का ज्ञान देखने में आने से। सुप्तस्य = निद्रावस्था में वर्तमान प्राणी की (मन की क्रिया), प्रबोधकाले = जाग्रत् अवस्था होनेपर, जीवनपूर्वकप्रयत्नापेक्षात् = जीवनयोनिप्रयत्न की अपेक्षा करनेवाले (आत्ममनःसंयोग से होती है)। अपसर्पणकर्म = अपसरण (हटने) की क्रिया, उपसर्पणकर्म च = और प्रवेश की क्रिया भी, आत्ममनःसंयोगात् = आत्मा तथा मन के संयोग से (होती है), अदृष्टापेक्षात् = जो धर्माधर्मरूप अदृष्ट की अपेक्षा करता हो। कथं = किस प्रकार? यदा = जिस समय, जीवनसहाययोः = जीवन के सहायक, धर्माधर्मयोः = धर्म तथा अधर्म का, उपभोगात् = सुखदुःख फल के अनुभव से, प्रक्षयः = नाश हो जाता है, अन्योन्याभिभवः वा = या परस्पर तिरस्कार हो जाता है, तदा = उस समय, जीवनसहाययोः = जीवन के सहायक धर्म तथा अधर्म के, वैकल्यात् = नष्ट होने के कारण, तत्पूर्वकप्रयत्नवैकल्यात् = अदृष्टपूर्वक प्रयत्न के अभाव होने से, प्राणनिरोधे सति = इस शरीर के गिरने पर, अन्याभ्यां = दूसरे, लब्धप्रवृत्तिभ्यां = व्यापार करनेवाले, धर्माधर्माभ्यां = धर्म तथा अधर्म से, आत्ममनःसंयोगसहायाभ्यां = जो आत्मा तथा मन के संयोग की सहायता प्राप्त हो, मृतशरीरात् = मृत शरीर से, विभागकारणं = विभक्त होने के कारण, अपसर्पणकर्म = हटने की क्रिया, उत्पद्यते = उत्पन्न होती है। ततः = इसके पश्चात्, शरीरात् = शरीर से, बहिः = बाहर, अपगतं = निकला हुआ (मन), ताभ्यां एव = उन्हीं, धर्माधर्माभ्यां = धर्म तथा अधर्म से, समुत्पन्नेन = उत्पन्न भये, आतिवाहिकशरीरेण = आतिवाहिक नामक सूक्ष्म शरीर में, सम्बध्यते = सम्बद्ध होता है. तत्संक्रान्तं च = और उसमें गया हुआ (मन) स्वर्गं = स्वर्ग, नरकं वा = या नरक ने, गत्वा = जाकर, आशयानुरूपेण = वासना के अनुकूल, शरीरेण = स्थूल शरीर से, सम्बध्यते = सम्बद्ध होता है, तत्संयोगार्थं = उस दूसरे शरीर के संयोग के लिये होनेवाला, कर्म=मन की क्रिया, उपसर्पणं=उपसर्पण कर्म होती है, इति=इस प्रकार योगिभिन्नप्राणियों की क्रिया होती है। योगिनां च = और योगियों के, बहिः = बाहर के प्रदेश में, उद्रेचितस्य = निकाले हुए, मनसः = मन का, अभिप्रेतदेशगमनं = अभिमत देश में गमन, प्रत्यागमनं च = और लौट आना भी कर्म (होता है)। तथा = उसी प्रकार, सर्गकाले = सृष्टि के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनसोऽभिप्रेतदेशगमनं प्रत्यागमनञ्च । तथा सर्गकाले प्रत्यग्रेण शरीरेण सम्बन्धार्थं कर्मादृष्टकारितम् । एवमन्यदपि महाभूतेषु यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनुपलभ्यमानकारणमुपकारापकारसमर्थं च भवति तदप्यदृष्टकारितम् । यथा सर्गादावणुकर्म अग्निवाय्वोरूर्ध्वतिर्यग्गमने महाभूतानां प्रक्षोभणम् । अभिषिक्तानां मणीनां तस्करं प्रति गमनम् । अयसोऽयस्कान्ताभिसर्पणञ्चेति ॥

इति प्रशस्तपादभाष्ये कर्मपदार्थः समाप्तः ॥

आरम्भ-समय में, प्रत्यग्रेण = नये, शरीरेण = शरीर से, सम्बन्धार्थं = सम्बन्ध होने के लिये, कर्म = मनका कर्म, अदृष्टकारितं = धर्माधर्मरूप अदृष्ट से किया जाता है । एवं = इसप्रकार, अन्यत् अपि = दूसरा भी, महाभूतेषु = पृथिवी आदि महाभूतद्रव्यों में, यत् = जो, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां = प्रत्यक्ष तथा अनुमानप्रमाण से, अनुपलभ्यमानकारणं = जिसके कारण का ज्ञान नहीं होता, उपकारापकारसमर्थं च = उपकार तथा अपकार को करने में समर्थ भी (मनका कर्म), भवति = होता है, तत् अपि = वह भी, अदृष्टकारितं = अदृष्ट से कराया जाता है । यथा = जैसे, सर्गादौ = सृष्टि के प्रारम्भ में, अणुकर्म = परमाणुओं की क्रिया, अग्निवाय्वोः = अग्नि तथा वायु की, ऊर्ध्वतिर्यग्गमने = क्रम से ऊर्ध्व तथा तिरछे देश में गमन, महाभूतानां = पृथिव्यादिमहाभूतद्रव्यों का, प्रक्षोभणं = चालन । अभिषिक्तानां = मंत्र से सिंचन किये, मणीनां = मणियों का, तस्करं प्रति = चोर के पास, गमनं = गमन । अयसः = लोहेका, अयस्कान्ताभिसर्पणं च = लोह चुम्बक के समीप जाना भी । इति = इस प्रकार मनकी क्रिया समाप्त है ॥

भाषाभाष्य—यदि पूर्वोक्त रीति से क्रियामूर्त्ति का अनुसरण करती है तो मन के मूर्त होने से उसकी क्रिया का सम्बन्ध कहना चाहिये, अतः भाष्यकार मानसिक क्रिया का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि सशरीर मन से दूसरे चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों का सम्बन्ध होने के लिये जो जाग्रदवस्था में वर्तमान प्राणी की क्रिया होती है वह इच्छा अथवा द्वेषपूर्वक प्रयत्नरूप निमित्तकारण की अपेक्षा रखनेवाले आत्मा तथा मन के संयोगरूप असमवायिकारण से मनरूप समवायिकारण में उत्पन्न होती है, क्योंकि मनके अभिप्राय के अनुसार चक्षुरादि दूसरी बाह्येन्द्रियों से विषयों का ज्ञान देखने में आता है, अर्थात् जिस इन्द्रिय से विषय-ज्ञान के होने का मन में अभिप्राय प्राणियों को रहता है उसी चक्षुरादि इन्द्रियों से विषयोंकी उपलब्धि होती है जिससे अन्तःकरण में इच्छानुसार क्रिया होती है यह जाना जाता है । क्योंकि विना अन्तःकरण का आश्रय लिये चक्षुरादि इन्द्रियों से विषय का दर्शन-लाभ नहीं होता, अतः मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध है यह निश्चित होता है । और वह सम्बन्ध मन की इच्छा पर निर्भर होने के कारण इच्छापूर्वक प्रयत्नजन्य क्रिया का कार्य है यह सिद्ध होता है । किन्तु निद्रावस्था में वर्तमान प्राणी के इन्द्रिय-रहित आत्म-प्रदेश में प्रलीन अन्तःकरण का बाह्येन्द्रियों से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्बन्ध होने के लिये जागृति होने के समय जो कर्म होता है, वह जीवन-पूर्वक प्रयत्न रूप निमित्त कारण की अपेक्षा रखने वाले आत्मा तथा मन के संयोग रूप असमवायि कारण से मन रूप समवायि कारण में उत्पन्न होता है क्योंकि 'निद्रित प्राणी की मन की क्रिया, प्रयत्न का कार्य है, परिगृहीत अन्तःकरण की क्रिया होने से, जाग्रत अवस्था में मन की क्रिया के समान', इस अनुमान से निद्रावस्था में भी मन की क्रिया में प्रयत्न-कार्यता की सिद्धि कर सकते है। तथा मृत शरीर से विमुक्त होने के लिये अपसर्पण (हटना) एवं गर्भशरीर से संयुक्त होने के लिये उपसर्पण (पास जाना) रूप दोनों क्रियां भी अदृष्ट रूप निमित्त कारण की अपेक्षा से आत्ममनःसंयोग रूप असमवायिकारण से मनरूप समवायिकारण में उत्पन्न होती है। यह मन का शरीर से अपसर्पण कर्म किस समय होता है। इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि जीवन के सहायक धर्माधर्म रूप अदृष्ट का जिस समय सुखदुःख रूप फल के अनुभव (भोग) से नाश हो जाता है उस समय उस शरीर से भोग-योग्य कर्म का अभाव होने से दूसरे स्थूल शरीर से भोग के सम्पादक कर्म के रहने पर भी वह स्थूल शरीर गिर जाता है। यहाँ पर अथवा परस्पर अभिभव होता है इस संभवतः होने वाले द्वितीय पक्ष को भी भाष्यकार ने प्रदर्शित किया है। जिससे यह भी हो सकता है कि दूसरे स्थूल शरीर से उपभोग को देने वाले बलवान् परिपक्व कर्म से उपभोग देने के लिये प्रवृत्त प्रारब्ध शरीर के कर्म का तिरस्कार हो जाता है, अर्थात् भोग देने का सामर्थ्य नष्ट हो जाता हे, जिस प्रकार तीव्र ध्वनि से मन्द ध्वनि का। इसके पश्चात् जीवन सहायक कर्म की विकलता से जीवन कर्मपूर्वक प्रयत्न की विकलता होने के कारण प्राण का निरोध होकर दूसरे भोग रूप व्यापार करने में प्रवृत्त धर्माधर्म रूप अदृष्ट निमित्त कारण से आत्ममनः-संयोग रूप असमवायि कारण की सहायता से मृत शरीर से विभक्त होने का अपसर्पणक्रिया समवायिकारण मन में होती है। इसके पश्चात् उस स्थूल शरीर से बाहर निकला हुआ उक्त धर्माधर्म अदृष्ट से संपादित आतिवाहिक सूक्ष्म शरीर उस मन से सम्बद्ध होकर स्वर्ग अथवा नरकादियोनियों में जाकर वासनानुसार स्थूल देवतादि शरीर में सम्बद्ध होता है, उसके संयोग के लिये होने वाली क्रिया का नाम है। अपसर्पण आतिवाहिक शरीर अन्तः-करण के परिग्रह के कारण आगमप्रमाण से दार्शनिकों ने भी माना है। केवल यही मन की क्रिया अदृष्ट से नहीं होती, किन्तु योगियों के योगबल से बाहर निकाले हुए मनकी अभीष्ट देश में गमन तथा पुनः प्रत्यागमन (लौट आना) भी अदृष्ट से ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार सृष्टि के आरंभ समय में नये शरीर से सम्बन्ध होने के लिये भी अन्तःकरण में क्रिया धर्माधर्मरूप अदृष्ट से ही उत्पन्न होती है। इतना ही नहीं किन्तु और भी जिसका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता तथा अनुमान द्वारा भी जिसके कारण का ज्ञान नहीं हो सकता, तथा जो उपकार और अपकार में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समर्थ है ऐसी महाभूतपृथिव्यादि चार द्रव्यों में क्रिया होती है वह भी अदृष्ट से उत्पन्न होती है, जैसे सृष्टि के आदि में पृथिवी आदि के परमाणुओं में क्रिया पार्थिवादि शरीर की उत्पत्ति में उपकारक होती है। तथा अग्नि की ज्वाला के ऊर्ध्व प्रदेश में गमन करने एवं वायु द्रव्य के तिरछी गति में, प्राणियों के धर्माधर्म रूप अदृष्ट के कारण होने से परमाणु आदिकों की क्रिया प्राणियों का उपकार तथा अपकार करने में समर्थ होती हैं। तथा भूगोल के देवकुल इत्यादि महाभूत द्रव्यों का कम्पन (भूडोल) इत्यादि क्रिया एवं, विशिष्ट मंत्रित मणियों का चोरों को पकड़ने में चोरों के ही समीप पहुँचना, इसी प्रकार सामान्य लोहे का चुम्बक लोहे के पास पहुँचना यह सब भी क्रिया केवल धर्माधर्म रूप अदृष्ट से होती है। इस प्रकार तृतीय पदार्थ कर्म निरूपण रूप महाप्रकरण समाप्त हुआ जिसमें प्रायः शास्त्रोक्त तथा व्यावहारिक संपूर्ण क्रियाओं का वर्णन समाप्त हो जाता है॥ जिसमें मुख्य चार अवान्तर प्रकरण हैं सू० २१५, २००, २११, २१०, २१५, २०५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ सामान्यपदार्थनिरूपणम् ।

(४) सामान्यप्रकरणम् ।

सामान्यं द्विविधं परमपरञ्च । स्वविषयसर्वगतमभिन्नात्मकमनेकवृत्ति एकद्विबहुष्वात्मस्वरूपानुगमप्रत्ययकारि स्वरूपाभेदेनाधारेषु प्रबन्धेन वर्तमानमनुवृत्तिप्रत्ययकारणम् । कथम् ? प्रतिपिण्डं सामान्यापेक्षं प्रबन्धेन ज्ञानोत्पत्तावभ्यासप्रत्ययजनिताच्च संस्कारादतीतज्ञानप्रबन्धप्रत्यवेक्षणाद् यदनुगतमस्ति तत्सामान्यमिति ।

तत्र सत्तासामान्यं परमनुवृत्तिप्रत्ययकारणमेव । यथा परस्परविशिष्टेषु चर्मवस्त्रकम्बलादिष्वेकस्मान्नीलद्रव्याभिसम्बन्धात् नीलं नीलमिति प्रत्ययानुवृत्तिः तथा परस्परविशिष्टेषु द्रव्यगुणकर्मस्वविशिष्टा सत्सदिति प्रत्ययानुवृत्तिः सा

---

(४) सामान्यपदार्थनिरूपण

पदपदार्थ—सामान्यं = सामान्य (जाति) पदार्थ, द्विविधं = दो प्रकार का है परं = परनामक, अपरं च = और अपरनामक भी । स्वविषयसर्वगतं = अपने संपूर्ण आश्रयों में वर्तमान, अभिन्नात्मकं = एक स्वरूप, अनेकवृत्ति = अनेक व्यक्ति में वर्तमान एकद्विबहुषु = एक, दो तथा अनेकों में, आत्मस्वरूपानुगमप्रत्ययकारि = अपने रूप से अनुगत ज्ञान को कराने वाला, स्वरूपाभेदेन = अपने रूप के अभिन्न होने से, आधारेषु = आश्रयव्यक्तियों में, प्रबन्धेन = सातत्यसे, वर्तमानं = वर्तमान होता हुआ, अनुवृत्तिप्रत्ययकारणम् = अनुगत बुद्धि का कारण । कथं = कैसे ? प्रतिपिण्डं = प्रत्येक व्यक्ति में, सामान्यापेक्षं = जाति की अपेक्षा से, प्रबन्धेन = सातत्य से, ज्ञानोत्पत्तौ = ज्ञान की उत्पत्ति होने में, अभ्यासप्रत्ययजनितात् = अभ्यासज्ञान से उत्पन्न, संस्कारात् = भावनासंस्कार से, अतीतज्ञानप्रबंधप्रत्यवेक्षणात् = व्यतीतज्ञानसमुदायों के स्मरण से, यत् = जो, अनुगतं = अनुवृत्त, अस्ति = है, तत् = वह, सामान्यं = सामान्य (जाति) नामक पदार्थ, अस्ति = है, तत्र = पूर्वोक्त दो पर तथा अपर सामान्यों में से, सत्तासामान्यं = सत्ता नामक जाति, परं = पर (व्यापक) सामान्य, अनुवृत्तिप्रत्ययकारणम् एव=केवल अनुगत का ही कारण है । यथा=जिस प्रकार, परस्परविशिष्टेषु = परस्पर भिन्न, चर्मवस्त्र कम्बलादिषु = चमड़ा, वस्त्र, कंम्वल आदि द्रव्यों में, एकस्मात् = एक, नीलद्रव्यसम्बन्धात् = नील गुणाश्रय द्रव्य के सम्बन्ध से, नीलं नीलम् इति = नीला है नीला है ऐसी, प्रत्ययानुवृत्तिः = प्रतीति का अनुगमन होता है, तथा = उसी प्रकार, परस्परविशिष्टेषु = परस्पर विभिन्न, द्रव्यगुणकर्मसु = द्रव्य,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चार्थान्तराद्भवितुमर्हतीति यत्तदर्थान्तरं सा सत्तेति सिद्धा। सत्तानुसम्बन्धात् सत्सदिति प्रत्ययानुवृत्तिः तस्मात् सा सामान्यमेव। अपरं द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि अनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात् सामान्यं विशेषश्च भवति। तत्र द्रव्यत्वं परस्परविशिष्टेषु पृथिव्यादिष्वनुवृत्तिहेतुत्वात् सामान्यम् गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वात् विशेषः। तथा गुणत्वं परस्परविशिष्टेषु रूपादिष्वनुवृत्तिहेतुत्वात् सामान्यं द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वाद्विशेषः। तथा कर्मत्वं परस्परविशिष्टेषूत्क्षेपणादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यं द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वाद्विशेषः।

गुण तथा कर्म तीन पदार्थों में, अविशिष्टा=विशेष रहित (सामान्यरूप), सत् सत् इति=सत् है सत् है ऐसी, प्रत्ययानुवृत्तिः = प्रतीति का अनुगम होता है, सा = वह, च = भी, अर्थान्तरात् = दूसरे पदार्थ से. भवितुं = होने के लिये, अर्हति = योग्य है, इति = इसलिये, यत् = जो, है, तत् = वह, अर्थान्तरं = दूसरा पदार्थ, सा=वह, सत्ता=सत्ता नामक जाति है. इति = इस प्रकार, सिद्धा=सिद्ध होती है। सत्तानुसम्बन्धात्=सत्ता के सम्बन्ध से, सत् सत् इति=सत् है सत् है ऐसी, प्रत्ययानुवृत्तिः=प्रतीति का अनुगम होता है, तस्मात्= इस कारण, सा = वह, सामान्यम् एव = सामान्य ही है। अपरं = अपर (व्याप्य) जाति. द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादि = द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व पृथिवीत्वादिरूप, अनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात् = अनुगम तथा भेद का भी कारण होने से, सामान्यं = सामान्यरूप, विशेषः च = और विशेष रूप भी, भवति = होती है। तत्र = उनमें से, द्रव्यत्वं = द्रव्यत्व नाम की जाति, परस्परविशिष्टेषु = परस्पर भिन्न, पृथिव्यादिषु = पृथिवी, जल आदि द्रव्यों में, अनुवृत्तिहेतुत्वात् = अनुगत बुद्धि का कारण होने से. सामान्यं = सामान्यरूप. गुणकर्मभ्यः = गुण तथा कर्म पदार्थों से, व्यावृत्तिहेतुत्वात् = भेद बुद्धि का कारण होने से, विशेषः = विशेष रूप भी है। तथा = उसी प्रकार, गुणत्वं = गुणत्व जाति, परस्परविशिष्टेषु = परस्परभिन्न, रूपादिषु = रूप, रस आदि चौबीसगुणों में, अनुवृत्तिहेतुत्वात् = अनुगम का कारण होने से, सामान्यं = सामान्य रूप है, द्रव्यकर्मभ्यः = द्रव्य तथा कर्म से, व्यावृत्तिहेतुत्वात् = भेदसाधक होने से, विशेषः = विशेष रूप है। तथा = इसी प्रकार, कर्मत्वं = कर्मत्व जाति, परस्परविशिष्टेषु=परस्परभिन्न, उत्क्षेपणादिषु=उत्क्षेपणादि पांच कर्मों में, अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् = अनुगतबुद्धि का कारण होने से, सामान्यं = सामान्य रूप, द्रव्यगुणेभ्यः = द्रव्य तथा गुण पदार्थों से, व्यावृत्तिहेतुत्वात् = भेदसाधक होने से, विशेषः = विशेष रूप भी है।।

भाषाभाष्य—सामान्य लक्षण तथा विभाग का पूर्वापर होने का नियम न होने के कारण सामान्यपदार्थ का विभाग जो उद्देश ग्रन्थ में पूर्वप्रतिपादित है उसका लक्षण साम्प्रत क्रमप्राप्त होने से वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि सामान्य पदार्थ जो पर तथा अपर इस प्रकार पूर्व में प्रतिपादित है वह अपने विषय आधार में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वत्र वर्तमान होता है, इस कथन से सर्वप्रकार के सामान्य सम्पूर्ण व्यक्तिमात्र में रहते हैं, जैसे गोत्वजाति अश्व में भी ही वर्तमान है तथा अश्वत्व जाति गो में भी वर्तमान है, केवल व्यंजक के न होने से व्यक्त नहीं होती, जहाँ जिसका व्यञ्जक होता है वहाँ उसकी अभिव्यक्ति होती है; जैसे गौ का सास्नादिरूप अवयवसंस्थान गोत्व जाति का अभिव्यंजक होने के कारण उसीमें गोत्वजाति अभिव्यक्त होती है, अश्वाकार के अभिव्यंजक होने से अश्वत्व जाति अश्व ही में व्यक्त होती है। इस मत का खण्डन हो जाता है, क्योंकि अश्वादिकों में गोत्वजाति भी रहती है इसमें कोई प्रमाण नहीं है, यदि इसमें प्रमाण हो तो व्यंजक के अभाव से अनुपलब्धि की कल्पना संगत होगी। यदि आकाश के समान व्यापक होने से सम्पूर्ण व्यक्तिमात्र में सम्बन्ध माना जाय तो आकाश उदाहरण में सर्वत्र समन्वय न होने से साध्यविकलता दोष आ जायगा, यदि संयोगिता साध्य करो तो सामान्यद्रव्यरूप हो जायगा। गुणकर्म में समवेतकी उपलब्धि होने से तथा द्रव्य का द्रव्य में ही संयोग होता है अन्यत्र नहीं इस कारण सामान्य पदार्थ का व्यापकतापक्ष नहीं हो सकता। तथा युतसिद्धि न होने से भी सामान्य में संयोगिता साध्य नहीं कर सकते। यदि सर्वत्र सान्निध्य हेतु से आकाश के समान सर्वगतत्व सामान्यपदार्थ में सिद्ध करो तो गुण-कर्मादिकों में विशिष्ट सम्बन्ध न होने के कारण सर्वसांनिध्य न होने से भी सर्वगतत्व सिद्ध नहीं हो सकता। अतः गोत्वादि-सामान्य अपने-अपने ही विषयव्यक्तियों में रहता है यह सिद्ध है। तथा अनेक अपने आश्रयों में समवायसम्बन्ध से वर्तमान होते हुए जो एक स्वभाव होता है यह भी द्वितीय जातिपदार्थ का लक्षण है, अर्थात् एक होता हुआ जो अनेक में समवायसम्बन्ध से रहता है वह जातिपदार्थ है। किन्तु अवयविद्रव्यों की संख्या भी एक स्वभाव होते हुए अनेकों में रहती है। अतः व्यभिचारवारण के लिये नित्यत्वविशेषण देने से अवयविगत संख्याओं के अनित्य होने से दोष-परिहार हो जायगा। जलादि परमाणुरूपादिकों में नित्यत्वविशिष्ट अनेक समवेतत्व होने से व्यभिचारवारण के लिये एकस्वभावत्वरूप प्रदर्शित एकत्वविशेषण दिया गया है। उनके अनेक होते हुए अनेक में वर्तमानता होने से यह दोष भी दूर हो जाता है। समवाय में भी एकत्वविशिष्ट नित्यत्वसहित अनेकत्र वर्तमानत्व होने से व्यभिचारवारणार्थ भिन्न सम्बन्ध से वर्तमानत्व विशेषण भी यहां देना आवश्यक है यह जानना चाहिये। यहाँ पर सामान्य की सत्ता में ही प्रमाण न होने से उक्त सामान्य का लक्षण आश्रयासिद्ध है, अनुगतबुद्धि उसकी सत्ता में प्रमाण नहीं हो सकती, क्योंकि अनादिवासनामात्र होने से वह कल्पना ज्ञान है, इस पूर्वपक्ष के समाधानपूर्वक सामान्यपदार्थ की सिद्धि का प्रकार व्योमवती, किरणावली आदि व्याख्या ग्रंथों में विस्तृत रूप से लिखा है जो पाठक स्वयं वहाँ देख लें॥

इस प्रकार से नित्य होते हुए अनेक में समवेत होना यह सामान्य का लक्षण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वित्वादि संख्या में नित्यत्व न होने से अतिव्याप्ति दोष के वारण होने पर भी सामान्य तथा उक्त संख्या में क्या विशेष है इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि सामान्य एक दो आदि द्रव्यों में स्वस्वरूप के अनुगत प्रतीति को उत्पन्न करती है, किन्तु द्वित्वादिक संख्या नहीं करती है इसी का विवरण स्वयं भाष्यकार करते हैं कि भिन्न आधार रूप में सतत रहते हुए सामान्य अनुगत ज्ञान का कारण होता है। अनेक आधारद्रव्यों में सामान्य कैसे रहता है इस आशय से प्रश्न कर उत्तर देते हैं कि प्रत्येक द्रव्य में जाति की अपेक्षा करने वाले सतत ज्ञान की उत्पत्ति होने पर पूर्वपूर्व भये हुए अनुभव से उत्पन्न भावना संस्कार की अपेक्षा करने वाले सतत ज्ञान की उत्पत्ति होने पर पूर्वपूर्व भये हुए अनुभव से उत्पन्न भावना संस्कार की अपेक्षा करने वाला जो उत्तरोत्तर प्रत्यय रूप अभ्यासजन्य संस्कार उससे भी व्यतीतज्ञान प्रवंध का इसके समान मैंने प्रथम जाना था ऐसा प्रत्यवेक्षण (स्मरण) होता है, जिससे दोनों में एक समनुगत जाति है यह सिद्ध होता है, अर्थात् एक द्रव्य में सामान्य को उपलब्ध कर दूसरे द्रव्य में उसके प्रत्यभिज्ञान से एक सामान्य अनेक में रहता है यह बोधित होता है अतः प्रत्यक्षविरोध होने से उसकी जातिवाधकता का कोई कारण नहीं हो सकता यह भाष्यकार का यहाँ पर तात्पर्य है। उस पिण्ड (द्रव्य) के सदृश यह पिण्ड भी है इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान से भी जो सादृश्य भिन्न पिण्डों में अभिन्न ज्ञान का जनक होता है वह भी सामान्य है यह सिद्ध होता है ऐसा व्योमवतीकार का यहाँ अधिक आशय है ।। सूत्र—३४ ।।

पूर्वोक्त सामान्य विभाग का विवेचन-पूर्वक वर्णन करते हैं कि उक्त पर तथा अपर सामान्यों में से पर सामान्य केवल सत्ता ही है, जिसमें महाविषयत्व (अधिकदेशवृत्तिता) हेतु दे चुके हैं। वह केवल सामान्य ही है, क्योंकि केवल उससे अनुगत ज्ञान ही होता है। यद्यपि वह सामान्यादि तीन पदार्थों से भेदज्ञान भी करती है तथापि सामान्याश्रय द्रव्यादि तीन पदार्थों में अनुगत बुद्धि को ही उत्पन्न करती है न कि व्यावृत्तिबुद्धि को, अतः वह केवल सामान्य रूप ही है न कि सामान्य होते हुए विशेषरूप। इस प्रकार सामान्यरूप से जाति-सद्भाव की सिद्धि दिखला कर स्पष्टता के लिये सत्ता के सद्भाव में अनुमान प्रमाण का प्रदर्शन करते हैं। अथवा पहिले प्रत्यक्ष दिखाकर सांप्रत सत्तासामान्थ में अनुमानप्रमाण दिखलाने के लिये दृष्टान्त द्वारा व्याप्ति का समर्थन करते हैं कि जिस प्रकार परस्पर भिन्न चर्म, वस्त्र, कम्बल आदि द्रव्यों में दूसरे नील गुण वाले नीलरङ्ग द्रव्य के सम्बन्ध से चर्म नीला है, वस्त्र भी नीला है इत्यादि 'नील नील' इत्याकारक एकाकार ज्ञान होता है, उसी प्रकार से परस्पर भिन्न २ पृथिवी आदि नौ द्रव्य रूप रस आदि चौबीस गुण, उत्क्षेपण आदि पांच कर्मों में भी 'सत् सत्' ऐसा एकाकार ज्ञान होता है जिस निमित्त से वह नील एक गुण के समान एक अनुगत सत्ता जाति है यह सिद्ध होता है, अतः 'द्रव्य३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं पृथिवीत्वरूपत्वोत्क्षेपणत्वगोत्वघटत्वपटत्वादीनामपि प्राण्यप्राणिगतानामनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात् सामान्यविशेषभावः सिद्धः। एतानि तु द्रव्यत्वादीनि प्रभूतविषयत्वात् प्राधान्येन सामान्यानि स्वाश्रयविशेषकत्वाद्भक्त्या विशेषाख्यानीति।

गुण तथा कर्म पदार्थों में, सत्सत् इत्याकारक ज्ञान द्रव्यादि विशेष्यों से भिन्न अनुगत निमित्त से उत्पन्न है, भिन्न पदार्थों में अनुगत ज्ञान होने से, भिन्न-भिन्न चर्म वस्त्रादिकों में नील द्रव्य रूप निमित्त से नील नील ऐसे ज्ञान के समान, इस अनुमान प्रयोग द्वारा सत्ता जाति की सिद्धि होती है। जो सत्ता द्रव्यादि पदार्थत्रय में उक्त प्रकार से अनुगत बुद्धि की ही जनक है न कि व्यावृत्ति बुद्धि की भी इस कारण वह केवल सामान्य रूप ही है न कि द्रव्यत्वादि जातियों के समान विशेष रूप जाति भी। सूत्र—३५, ३८, ३९, ४०, ४१, ४८, तथा ३५ क्रम से देखना।

सत्ता से भिन्न अपर (व्याप्य) द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि, आदि पद से पृथिवीत्व, जलत्वादि जाति भी अनुगत-बुद्धि तथा भेद-बुद्धि का भी कारण होने से सामान्य तथा विशेष उभय रूप जाति हैं। अर्थात् जिसप्रकार द्रव्यत्व जाति से भिन्न २ पृथिवी, जल आदि नौ द्रव्यों में पृथिवी द्रव्य है जल द्रव्य है ऐसी अनुवृत्ति बुद्धि होती है इसलिये द्रव्यत्व सामान्य रूप जाति है, तथा गुण और कर्म पदार्थ से भेद बुद्धि का कारण होने से विशेष रूप जाति भी है। इसी प्रकार गुणत्व भी चौबीस रूपादि गुणों में रूपगुण, गुणरस ऐसी अनुगत बुद्धि का कारण होने से सामान्य रूप, एवं द्रव्य तथा कर्म पदार्थों से भेद बुद्धि साधक होने से विशेष रूप जाति भी है यह सिद्ध होता है, इसी प्रकार कर्मत्व भी उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों में अनुगत बुद्धि की तथा द्रव्य गुण पदार्थों से भेदबुद्धि-साधक होने से सामान्य होते हुए विशेषरूप भी है यह सिद्ध होता है।

पदपदार्थ—एवं = इसी प्रकार, पृथिवीत्वरूपत्वोत्क्षेपणत्वगोत्वघटत्वपटत्वादीनामपि = पृथिवीत्व, रूपत्व, उत्क्षेपणत्व, गोत्व, घटत्व तथा पटत्वादि जातियों के भी, प्राण्यप्राणिगतानां = जो जीव युक्त (जगम), अप्राणि-जीवरहित (स्थावर) पदार्थों में रहती है, अनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात् = अनुगम तथा भेद का कारण होने से, सामान्यविशेषभावः = सामान्य तथा विशेष रूप जाति होना, सिद्धः = सिद्ध है। एतानि तु = किन्तु यह, द्रव्यत्वादीनि = द्रव्यत्व-गुणत्व इत्यादि जाति, प्रभूतविषयत्वात् = अधिक विषय होने से, प्राधान्येन = मुख्य रूप से, सामान्यानि = सामान्य जाति हैं, स्वाश्रयविशेषकत्वात् = अपने आधार के अन्य से व्यावर्तक (भेदक) होने से, भक्त्या = गौण रूप से, विशेषाख्यानि = विशेष नामक जातियां भी होती हैं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लक्षणभेदादेषां द्रव्यगुणकर्मभ्यः पदार्थान्तरत्वं सिद्धम्। अत एव च नित्यत्वम्। द्रव्यादिषु वृत्तिनियमात् प्रत्ययभेदाच्च परस्परतश्चान्यत्वम्। प्रत्येकं स्वाश्रयेषु लक्षणविशेषाद्विशेषलक्षणाभावाच्चैकत्वम्।

इति = इस प्रकार ।। लक्षणभेदात् = लक्षण के भेद से, एषां = इन सामान्यों का, द्रव्यगुणकर्मभ्यः = द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थों से, पदार्थान्तरत्वं = अन्यपदार्थता, सिद्धम् = सिद्ध होती है। अतएव च = और इसी कारण, नित्यत्वम् = सामान्य पदार्थ में नित्यत्व है। द्रव्यादिषु = द्रव्य-गुण इत्यादि पदार्थों में, वृत्तिनियमात् = रहने का नियम होने से, प्रत्ययभेदात् च = तथा प्रतीति-भेद से भी, परस्परतः च = परस्पर में, अन्यत्वम् = भेद हैं। प्रत्येकं = प्रत्येक, स्वाश्रयेषु = अपने आधारों में, लक्षणविशेषात् = लक्षणों के विशेष से, विशेषलक्षणाभावात्, | च = और विशेष लक्षणों के अभाव से भी, एकत्वम् = एकत्व है ।।

भाषाभाष्य—द्रव्यत्व गुणत्व, कर्मत्व इन जातियों के समान, द्रव्यत्व की व्याप्य पृथिवीत्व, जलत्व इत्यादि तथा गुणत्वव्याप्य रूपत्व-रसत्वादि एवं कर्मत्व-व्याप्य उत्क्षेपणत्व, अपक्षेपणत्व, तथा पृथिवीत्वव्याप्य गोत्व, घटत्व, पटत्वादि जातियों में भी अनुवृत्ति तथा व्यावृत्ति बुद्धि, हेतुत्व होने से जो स्थावर तथा जंगम रूप क्रम से जीवरहित घटादि तथा सजीव गौ आदि प्राणियों में रहती हैं, सामान्य तथा विशेष रूप जातिरूपता सिद्ध होती है। किन्तु द्रव्यत्वादि जातियों में आन्तर्गणिक भेद से अनन्त पृथिवी आदि अधिक विषय में वर्तमान होने से मुख्य रूप से सामान्य रूपता ही है, अपने आश्रयों को गुणकर्मादि पदार्थों से व्यावृत्ति (भेद) के साधक होने के कारण विशेष नामक जातिरूपता गौण है। सू० ३५ ।।

यहाँ पर यदि द्रव्यत्व-गुणत्वादि जातियाँ द्रव्य, गुणादि पदार्थों से भिन्न ही नहीं हैं तो उनके पृथक् कार्यों के वर्णन की क्या आवश्यकता है, ऐसी आशंका पूर्वपक्षी करे तो उसका समाधान भाष्यकार ऐसा करते हैं कि लक्षण-भेद होने से जाति पदार्थ का द्रव्यादिकों से पदार्थान्तरत्व सिद्ध होता है, अर्थात् अनुगतबुद्धिकारणतारूप जाति के लक्षण के भिन्न होने से भेद-बुद्धि से जानने योग्य द्रव्यादि आधार-व्यक्तियों से द्रव्यत्वादि सामान्यों का भेद अवश्य मानना होगा, क्योंकि लक्षण समान तथा असमान जाति के पदार्थों का भेद सिद्ध करता है। द्रव्यादिकों से भिन्न होने के कारण ही सामान्य नित्य है क्योंकि द्रव्यादिपदार्थ अनित्य उपलब्ध होते हैं यदि अभेद हो तो सामान्य का भी द्रव्यादि व्यक्तियों के समान उत्पत्ति तथा नाश होने लगेगा। सामान्य पदार्थ व्यक्तियों के उत्पाद तथा विनाश से उत्पादव्ययशील है, तथा कुछ आधार-व्यक्ति (आकाशादिकों) के नित्य होने से नित्य भी है ऐसा कुछ विद्वानों का मत है जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन तथा खण्डन न्यायकन्दली में देख लेना चाहिये। तथा द्रव्य-गुणादि पदार्थत्रय में वृत्तिता के नियम से प्रतीति-भेद से भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यप्यपरिच्छिन्नदेशानि सामान्यानि भवन्ति तथाप्युपलक्षणनियमात् कारणसामग्रीनियमाच्च स्वविषयसर्वगतानि। अन्तराले च संयोगसमवायवृत्त्यभावादव्यपदेश्यानीति।

इति प्रशस्तपादभाष्ये सामान्यपदार्थः समाप्तः ॥

परस्पर द्रव्यत्वादि जातियों का भेद है, अर्थात् द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि जाति (प्रत्येक) द्रव्य, गुण तथा कर्म में नियत होने से तथा इनकी प्रतीति भी भिन्न-भिन्न होती है, अतः द्रव्यादिकों में ज्ञान का तथा वृत्तिता का नियम होने से द्रव्यत्वादि जातियाँ परस्पर भिन्न हैं यह सिद्ध होता है। यद्यपि द्रव्यत्वादि जातियों का परस्पर भेद है, तथापि जिस द्रव्यत्व से द्रव्य व्यक्तियों में तथा जिस गुणत्व से गुणों में क्रमसे 'द्रव्य है द्रव्य है, गुण है गुण है' ऐसा अनुगत ज्ञान होता है वह द्रव्यत्व तथा गुणत्व सामान्यएक है या अनेक ऐसे प्रश्न के उत्तरमें भाष्यकार कहते हैं कि अनुगताकारज्ञान-रूप सामान्य का लक्षण प्रत्येक व्यक्ति में विलक्षण न होने से, तथा भेद में प्रमाण न होने के कारण भी जातिपदार्थ अपने आधार-व्यक्तियों में एक ही है यह सिद्ध होता है।

पदपदार्थ—यद्यपि = यद्यपि, अपरिच्छिन्नदेशानि = अनियत देश वाले, सामान्यानि = जाति पदार्थ, भवन्ति = होते हैं, तथापि = तथापि, उपलक्षणनियमात् = व्यञ्जक के नियम से, कारणसामग्रीनियमात् च = और कारणसामग्री के नियम से भी, स्वविषयसर्वगतानि = अपने ही सम्पूर्ण विषयों में वर्तमान होते हैं। अन्तराले च = और आकाशादि रूप मध्यदेश में, संयोगसमवायवृत्त्यभावात् = संयोग तथा समवाय रूप सम्बन्ध न होने से, अव्यपदेश्यानि = व्यवहार योग्य नहीं होते। इति = इस प्रकार सामान्य पदार्थ का वर्णन है।

भाषाभाष्य—स्वविषय में ही सामान्य पदार्थ समवाय सम्बन्ध से रहता है ऐसे पूर्वकथित सिद्धान्त में नियामक का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिस किसी स्थल में उत्पन्न गौ आदि पिण्डों में गोत्वादि जातियों का सम्बन्ध होने के कारण यद्यपि गोत्वादि सामान्य नियतदेश वाले नहीं हैं, तथापि गोत्वादि सामान्यों के अभिव्यंजक उनके सास्नादिरूप अवयवों की रचनाओं के विशेषों के उन-उन व्यक्तियों में नियत होने के कारण तथा गौआदि पिण्डों के उत्पादक सामग्री के नियत होने से भी गोत्वादि जातियाँ अपने-अपने ही सम्पूर्ण गो रूप व्यक्तियों में ही रहती हैं, अर्थात् यद्यपि सम्पूर्ण जातियाँ अनियत देश होने के कारण सर्वत्र उत्पन्न होने वाले स्वविषय गो व्यक्तियों के समान वहाँ पर वर्तमान अश्वादि व्यक्तियों में भी सम्बद्ध हो सकती हैं किन्तु गोत्वजाति मात्र के अभिव्यंजक सास्नादि रूप अवयव-संस्थान के गो रूप व्यक्तियों में नियत होने के कारण गोत्वजाति का गोव्यक्तियों में ही समवाय है न कि अन्य पिण्ड अश्वादि व्यक्तियों में, अतः जातिपदार्थ स्वाधार-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्पूर्ण विषयों में ही व्याप्त है यह नियम है। एवं गोपिण्ड की उत्पादक सामग्री भी गोत्वकी अपने विषयों में ही वर्तमानता का नियामक है अतः जातियों के स्वाधार सर्वविषय में ही रहने का नियम सिद्ध होता है। यहाँ पर क्रियाशून्य होने से जाति-पदार्थ दूसरे स्थल से जाकर अपने आधार में सम्बद्ध होता है यह नहीं माना जा सकता, तो यदि पूर्वकाल में जाति वहाँ न थी तो वहाँ उत्पन्न होने वाली व्यक्ति के साथ उसका सम्बन्ध न होगा, और सम्बन्ध तो उस व्यक्ति में भी जाति का देखने में आता है, अतः सम्पूर्ण जातियाँ सर्वत्र विद्यमान होती हैं ऐसे कुछ विद्वानों के मत का निरास करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि आकाश अथवा दिशा द्रव्यरूप अन्तराल (मध्य) देशों में गोत्वादि जातियों का न संयोग न समवाय सम्बन्ध है, विना सम्बन्ध के जातियों की वर्तमानता का कोई नियामक भी नहीं है इस कारण उक्त अन्तरालप्रदेशों में गोत्वादि जातियों का व्यवहार नहीं हो सकता, अर्थात् उक्त प्रकार से कारण-सामग्री के सामर्थ्य से उत्पन्न गो आदि पिण्डों में ही गोत्वादि जाति सम्बद्ध होती है। यहाँ पर मणियों में सूत्र के समान भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में अनुगत एक आकार के न होने से सामान्यपदार्थ अतिरिक्त पदार्थ नहीं हो सकता, अथवा वह अतद्व्यावृत्ति रूप होने से अभाव रूप है इत्यादि बौद्धमत का खण्डन कन्दली आदि ग्रन्थों में स्वयं पाठकों को देख लेना चाहिये। सू० ४२ से ४७ तक ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ विशेषपदार्थनिरूपणम् ।

(५) विशेषप्रकरणम् ।

अन्तेषु भवा अन्त्याः स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषाः । विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमानाः अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः । यथाऽस्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावयवसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा गौः शुक्लः शीघ्रगतिः, पीनककुद्मान् महाघण्ट इति । तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनस्सु च अन्यनिमित्तासम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः देशकालविप्रकर्षे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति तेऽन्त्या विशेषाः ।

---

(५) विशेषपदार्थ निरूपणप्रकरण

पदपदार्थ—अन्तेषु = अन्त नित्य द्रव्यों में, भवाः = होने वाले, अन्त्याः = अन्तिम, स्वाश्रयविशेषकत्वात् = अपने आधार द्रव्यों के भेद होने से, विशेषाः = विशेष नामक पदार्थ हैं । विनाशारंभरहितेषु = नाश तथा उत्पत्ति रहित, नित्यद्रव्येषु = नित्य द्रव्य अण्वाकाशकालदिगात्ममनःसु = पृथिव्यादि चतुष्टय द्रव्यों के परमाणु तथा आकाश काल, दिशा, आत्मा एवं मनमें, प्रतिद्रव्यं = प्रत्येक द्रव्य में, एकैकशः = प्रत्येक, वर्तमानाः = वर्तमान होने वाले, अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः = अत्यन्त भेद बुद्धि के कारण होते हैं ।। यथा = जिस प्रकार, अस्मदादीनां = हम लोगों को, गवादिषु = गो इत्यादि व्यक्तियों में. अश्वादिभ्यः = अश्वादिकों से, तुल्याकृतिगुणक्रियावयवसंयोगनिमित्ता = समान आकार, गुण, क्रिया तथा अवयवों के संयोग के कारण से होने वाली, प्रत्ययव्यावृत्तिः = प्रतीत्ति का भेद दृष्टा = देखने में आता है, गौः = गौ है, शुक्लः = श्वेत रूप है, शीघ्रगतिः = शीघ्रगति वाला है, पीनककुद्मान् = स्थूल ककुद (कंधें की ठुड्ढी) वाला है, महाघण्टः = बड़े घण्टे वाला है, इति = इस प्रकार तथा = इसी प्रकार, अस्मद्विशिष्टानां = हम लोगों से विशेषता रखने वाले, योगिनां = योगियों को, नित्येषु = नित्य, तुल्याकृतिगुणेषु = समान आकार तथा रूपादिगुणाधार, परमाणुषु = पृथिव्यादि चतुष्टय द्रव्यों के परमाणुओं में, मुक्तात्ममनस्सु च = और मुक्तात्मा तथा मन में भी, अन्यनिमित्तासंभवात् = अन्य निमित्त का असंभव होने से, ये । = जिन, निमित्तेभ्यः = निमित्तों से, प्रत्याधारं = प्रत्येक परमाणु आश्रयों में, विलक्षणः = विलक्षण है, अयं = यह विलक्षणः = विलक्षण है, अयं = यह, विलक्षणः = विलक्षण है, इति = इस प्रकार, प्रत्ययव्यावृत्तिः = ज्ञानों का भेद, देशकाल-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विप्रकर्षे च = देश तथा काल की दूरी होने पर भी, परमाणौ = परमाणु में, सः एव = वही है, अयं = यह, इति = इस प्रकार, प्रत्यभिज्ञानं च = प्रत्यभिज्ञा ज्ञान भी, भवति = होता है, ते = वे, अन्त्याः = अन्त में होने वाले, विशेषाः = विशेष पदार्थ हैं ॥

भाषाभाष्य—जो पदार्थ उत्पत्ति तथा विनाश से रहित होने के कारण अन्त शब्द से वाच्य पृथिवी-जल-तेज तथा वायु के परमाणु एवं आकाश से मन पर्यन्त नित्य द्रव्यों में रहते हैं, तथा अपने आधार द्रव्यों की अपने से दूसरे द्रव्यों की स्वयं व्यावृत्ति मात्र करते हैं वें उक्त द्रव्यों के अनंत होने से अनन्त है, अर्थात् इस कथन से स्वतो व्यावर्तकत्व विशेष पदार्थों का लक्षण है यह सिद्ध होता है। इस प्रकार संक्षेप से वर्णन किये विशेषस्वरूपबोधक वाक्यका भाष्यकार स्वयं विवरण करते हैं कि विनाश तथा उत्पत्ति रहित होने से अन्त शब्द से प्रतिपादनयोग्य पृथिव्यादि चार द्रव्यों के परमाणु तथा आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन इन प्रत्येक द्रव्यों में पृथक् २ एक २ वर्तमान होकर जो परस्पर अत्यन्त भेद बुद्धि उत्पन्न करते हैं उन्हें विशेषपदार्थ कहते हैं। क्यों कि एक नित्यद्रव्य में एक ही विशेष पदार्थ से उसके आश्रय की दूसरे नित्य द्रव्य से भेद सिद्धि होने के कारण एक में अनेक विशेष पदार्थ की कल्पना निरर्थक हैं। अनेक नित्यद्रव्यों में एक विशेष पदार्थ माना जाय तो वह सामान्य रूप हो जायगा 'सर्वं वाक्यं साधारणं' सभी वाक्य अवधारणार्थक (निश्चयार्थक) होते हैं इस न्याय से नित्यद्रव्यों में ही विशेष रहते ही हैं ऐसे अवधारण से नित्यद्रव्यों में विशेषों के असम्बन्ध की व्यावृत्ति तथा नित्यद्रव्यों से भिन्न अनित्यद्रव्यों में सम्बन्ध की व्यावृत्ति से नित्यद्रव्यों में वर्तमान होने के कारण विशेष अपने से भिन्न द्रव्यादि पदार्थों से भिन्न हैं, स्वतो व्यावर्तक होने से इस अनुमान द्वारा विशेष भी एक पदार्थान्तर है यह सिद्ध होता है। यदि प्रश्न करो कि इस अनुमान से विशेष पदार्थ में उक्त हेतु तथा साध्य की व्याप्ति-सिद्धि के लिये दृष्टान्त क्या है! तो इसके उत्तर में भाष्यकार दृष्टान्त का निरूपण करते हैं कि जिस प्रकार योगिभिन्न हमारे प्राणियों को गो आदि द्रव्यों में अश्व-महिषादि पशुव्यक्तियों से समानाकार, गुण, क्रिया तथा अवयव संयोग के निमित्त से यह गो है, यह श्वेत है, यह शीघ्र चलता है, यह गर्दन पर की स्थूल ककुद नाम की टुड्डी से युक्त है, यह बड़े घण्टे वाली है, इस प्रकार गो आदि पशुओं में भेदबुद्धि होती है, उसी प्रकार हम प्राणियों के योग बल के कारण विशिष्ट प्राणि रूप योगियों को नित्य तथा समानाकार, समान गुण तथा क्रियाश्रय पृथिव्यादि चतुष्टय परमाणु तथा मुक्तात्माओं के मनों में भी अन्य निमित्त न होने से जिन निमित्तों से प्रत्येक परमाणु आदि आधारों में यह परमाणु विलक्षण है, यह भी परमाणु विलक्षण है इस प्रकार भेद ज्ञान होता है, तथा दूर देश तथा काल मे वर्तमान परमाणु में वही यह परमाणु है ऐसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि पुनरन्त्यविशेषमन्तरेण योगिनां योगजाद्धर्मात् प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्यभिज्ञानं न स्यात् ततः किं स्यान्नैवं भवति। यथा च योगजाद्धर्मादशुक्ले

प्रत्यभिज्ञा भी होती है वे अन्त्य विशेषपदार्थ हैं। यहां दृष्टान्त में 'शुक्लः' यह गुण निमित्त से, 'शीघ्रगति' यह क्रियानिमित्त से, पीनककुद्मान्' यह अवयवनिमित्त से 'घण्टावान्' यह संयोगनिमित्त के भेदबुद्धि है यह जानना। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हम लोगों को उक्त प्रकार से प्रतीतिभेद होता है उसी प्रकार परमाणुओं में योगियों को भी परमाणु व्यक्तियों के भिन्न होने के कारण परस्पर परमाणुओं में भेद ज्ञान होना चाहिये, जिस परमाणु व्यक्तियों का 'परस्परभेद' निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि वृक्ष तथा पुरुष का व्यक्तिभेद होने पर भी वृक्षादिकों में 'यह वृक्ष है अथवा मनुष्य' ऐसा संशय होता है, परमाणु व्यक्तियों के आकृति इत्यादिकों के समान होने के कारण दूसरी कोई प्रतीति निमित्त-भेद में नहीं है। और विना निमित्त के प्रतीति का भेद देखने में नहीं आता, अतः योगियों को प्रत्येक परमाणुओं में व्यक्तिभेद-ज्ञान का निमित्त जो है वही विशेषपदार्थ है, अर्थात् द्व्यणुक पर्यन्त अवयवियों का भेद परमाणु आदि रूप अवयवों के भेद से सिद्ध होगा किन्तु परमाणुओं के निरवयव होने के कारण उनका परस्पर भेद अवयव-भेद से नहीं हो सकता इस कारण उनका भेदक विशेष पदार्थ ही है, यदि परमाणुओं का परस्पर भेद न हो तो एक आकार, गुण तथा क्रियावाले पार्थिवद्रव्यों मे पट परमाणु से घट की तथा घट परमाणुओं से पट की उत्पत्ति होने की आपत्ति आ जायगी, अतः 'यह परमाणु इस परमाणु से भिन्न है, विशेष होने से' इस अनुमान से स्वयं परमाणुओं का परस्पर भेद करनेवाले विशेषपदार्थ हैं यह सिद्ध होता है। 'समानाकार-गुण-क्रियावाले परमाणु विशेष सम्बन्धी हैं, भेद ज्ञान विषय होने से, गौ इत्यादिकों के समान' इस अनुमान से परमाणुओं में विशेषों की सिद्धि होती है ऐसा व्योमवतीकार का मत है। यदि परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने से भेद ज्ञानविषयता उनमें है इसीमें क्या प्रमाण है। ऐसी शंका हो तो उसका यह उत्तर हो सकता है कि 'परमाणु आदि, भेद-ज्ञान के विषय हैं, द्रव्य होने से, गौ आदि के समान' यह अनुमान ही प्रमाण है।

पदपदार्थ—यदि = यदि, पुनः = फिर, अन्त्यविशेषं = इस उक्त अन्त्यविशेष पदार्थ के, अन्तरेण = विना, योगिनां = योगियों को, योगजात् = योग (समाधि) जन्य, धर्मात् = धर्मविशेषसे, प्रत्ययव्यावृत्तिः = ज्ञानों का भेद, प्रत्यभिज्ञानं = तथा प्रत्यभिज्ञा, न स्यात् = न हो, ततः = तो, किं = क्या, स्यात् = होगा। (उत्तर) न एवं = ऐसा नहीं, भवति = होता है। यथा च = जिस प्रकार, योगजात् = योगजन्य, धर्मात् = धर्म से, अशुक्ले = श्वेतवर्णरहित द्रव्य में, शुक्लप्रत्ययः = श्वेतवर्णज्ञान,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुक्लप्रत्ययः सञ्जायते अत्यन्तादृष्टे च प्रत्यभिज्ञानम्। यदि स्यान्मिथ्या भवेत् तथेहाप्यन्त्यविशेषमन्तरेण योगिनां न योगजाद्धर्मात् प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्यभिज्ञानं वा भवितुमर्हति अथान्त्यविशेषेष्विव परमाणुषु कस्मान्न स्वतः प्रत्ययव्यावृत्तिः कल्प्यते इति चेन्न तादात्म्यात्। इहातदात्मकेऽन्यनिमित्तः प्रत्ययो भवति यथा घटादिषु प्रदीपात् न तु प्रदीपे प्रदीपान्तरात्। यथा गवाश्वमांसादीनां स्वत एवाशुचित्वं तद्योगादन्येषां तथेहापि तादात्म्यादन्त्यविशेषेषु स्वत एव प्रत्ययव्यावृत्तिः तद्योगात् परमाण्वादिष्विति।

इति प्रशस्तपादभाष्ये विशेषपदार्थः समाप्तः॥

संजायते=उत्पन्न होता है, अत्यन्तादृष्टे च=कभी न देखे हुए पदार्थ में, प्रत्यभिज्ञाज्ञानं = प्रतिभिज्ञाज्ञान, यदि=यदि, स्यात्=हो, मिथ्या=मिथ्या भवेत्=होगा, तथा = इसी प्रकार, इह अपि = यहां भी, अन्त्यविशेषं = अन्त्यविशेषपदार्थके, अन्तरेण = विना, योगिनां = योगियों को, न = नहीं, होती, प्रत्ययव्यावृत्तिः = ज्ञान का भेद, प्रत्यभिज्ञानं वा = अथवा प्रत्यभिज्ञा, भवितु = होने के लिये, अर्हति = योग्य है। अथ = प्रश्न है, अन्त्यविशेषु इव = अन्त्यविशेषपदार्थों के समान, परमाणुषु = परमाणुओं में, कस्मात्= किस कारण, न = नहीं, स्वतः = स्वयं, प्रत्ययव्यावृत्तिः = ज्ञान का भेद, कल्प्यते = कल्पना किया जाता है, इति चेत् = यदि ऐसा कहो, न = नहीं, तादात्म्यात् = अभेद होने से, इह = यहाँ, अतदात्मकेषु = भिन्नपदार्थों में, अन्यनिमित्तकः = भिन्ननिमित्त से होनेवाला, प्रत्ययः=ज्ञान, भवति = होता है, यथा = जिस प्रकार, घटादिषु = घट इत्यादिकों में, प्रदीपात् = दीप से, नतु = नकि, प्रदीपे = एक दीपमें, प्रदीपान्तरात् = दूसरे दीपसे, यथा = जिस प्रकार, गवाश्वमांसादीनां = गौ, अश्व इत्यादि के मांस में, स्वत एव = स्वयं ही, अशुचित्वं = अशुद्धता है, तद्योगात् = उनके संयोग से, अन्येषां = दूसरे पदार्थों में, तथा = उस प्रकार, इह अपि = यहां भी, तादात्म्यात् = अभेद होने से, अन्त्यविशेषेषु = अन्त्यविशेषपदार्थों में, स्वत एव = स्वयं ही, प्रत्ययव्यावृत्तिः = ज्ञानभेद है, तद्योगात् = उनके सम्बन्ध से, परमाण्वादिषु = परमाणु आदि नित्यद्रव्योंमें, इति = इस प्रकार विशेष पदार्थ का वर्णन है।

भाषाभाष्य—इस प्रकार परमाणुओं के स्वयंव्यावर्तक विशेषपदार्थ में पूर्वपक्षी इस अभिप्राय से शंका करता है कि यदि योगियों को योगजधर्म के ही बल से विना अन्त्यविशेषपदार्थ के ज्ञानों का भेद तथा प्रत्यभिज्ञान न हो तो क्या आपत्ति आवेगी, अर्थात् योगजधर्म के सामर्थ्य से योगियों को जैसे अतीन्द्रियपदार्थों का दर्शन होता है वैसे विना विशेष के ही ज्ञानभेद तथा प्रत्यभिज्ञा भी हो जायगी। इस शंका का समाधान भाष्यकार ऐसा करते हैं कि जिस प्रकार यदि केवल योगजधर्म के सामर्थ्य से श्वेतगुणरहित द्रव्य में श्वेत है ऐसा ज्ञान हो तथा अत्यन्त अदृष्ट पदार्थ में प्रत्यभिज्ञा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हो तो वह मिथ्याज्ञान ही कहायेगा. उसी प्रकार विना विशेष के योगियों के केवल योगजधर्म के सामर्थ्य से ज्ञानों का भेद तथा प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, अर्थात् योगियों को योगजधर्म के सामर्थ्य से अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन हो सकता है, किन्तु विना-निमित्त के नहीं हो सकता। इस समाधान पर पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है कि अन्त्यविशेपपदार्थों के समान परमाणुओं में स्वयं ज्ञानों का भेद क्यों नहीं सिद्धान्ती मानता ? अर्थात् जिस प्रकार विशेषों में अनवस्थाभय से विशेषान्तर नहीं माना जाता उसी प्रकार, जब सिद्धान्ती को उन्हीं परमाणुओं में रहनेवाले विशेषों से भेद-ज्ञान मानना है तो परमाणुओं में भी विशेष मानने की क्या आवश्यकता है' तो इस आक्षेप का समाधान भाष्यकार यह करते हैं कि जिस प्रकार भिन्न पदार्थों में ही पृथक् निमित्त से ज्ञान होता है जैसे घटादि पदार्थों का उनसे भिन्न दीप से, न कि अभिन्न पदार्थ का, जैसे एक दीप का दूसरे दीप से, अर्थात् अप्रकाशस्वभाववाले घट-पटादि पदार्थों का प्रकाशस्वभाव दीपसे प्रकाश होता है न कि दीप का दीपान्तर से, किन्तु स्वयं ही, उसी प्रकार गोमांसादि स्वयं अशुचि है उसके सम्बन्ध से शुद्ध पदार्थों में अशुद्धता आती है उसी प्रकार यहाँ भी अभेद होने से अन्त्यविशेषपदार्थों में स्वयं स्वरूप से ही भेद है उनके सम्बन्ध से परमाणुओं में इस प्रकार विशेषपदार्थ वर्णनरूप चतुर्थ महाप्रकरण समाप्त है ॥ । सू० ३७ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ समवायपदार्थनिरूपणम् ।

(६) समवायप्रकरणम् ।

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां कार्यकारणभूतानामकार्यकारणभूतानां वाऽयुतसिद्धानामाधार्याधारभावेनावस्थितानामिहेदमितिबुद्धिर्यतो भवति यतश्चासर्वगतानामधिगतान्यत्वानामविष्वग्भावः स समवायाख्यः सम्बन्धः । कथम् ? यथेह कुण्डे दधीतिप्रत्ययः सम्बन्धे सति दृष्टस्तथेह तन्तुषु पटः, इह वीरणेषु कटः, इह द्रव्ये गुणकर्मणी, इह द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता, इह द्रव्ये द्रव्यत्वम्, इह गुणे गुणत्वम्, इह कर्मणि कर्मत्वम्, इह नित्यद्रव्येऽन्त्या विशेषा इतिप्रत्ययदर्शनादस्त्येषां सम्बन्ध इति ज्ञायते ।

---

(६) समवायपदार्थनिरूपणप्रकरण

पदपदार्थ—अयुतसिद्धानां = पृथक् सिद्ध न होनेवाले, आधार्याधारभूतानां = आश्रित तथा आश्रयरूप (पदार्थों का), यः = जो, सम्बन्धः = सम्बन्ध, इह प्रत्ययहेतुः = इस आधार में वह है इस प्रतीति का कारण (होता है), सः = वह, समवायः = समवाय नामक सम्बन्ध (षष्ठ पदार्थ है)। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणा = द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष पदार्थों के, कार्यकारणभूतानां = जो परस्पर कार्य तथा कारणरूप हैं, अकार्यकारणभूतानां वा = अथवा कार्यकारणरूप नहीं हैं, अयुतसिद्धानां = तथा जो पृथक् सिद्ध नहीं होते; आधार्याधारभावेन = आश्रित तथा आश्रयरूप से, अवस्थितानां = स्थित हों, इह = इस आधार में, इदं = यह आश्रित है, इति = इस प्रकार, बुद्धिः = ज्ञान, यतः = जिससे, भवति = होता है, यतः च = और जिससे, असर्वगतानां = अव्यापक, अधिगतान्यत्वानां = जिनके नाना होने का ज्ञान हुआ हो (ऐसे पदार्थों का), अविष्वग्भावः = देश के पृथक् न होने का, (ज्ञान हो), सः = वह, समवायाख्यः = समवाय नामक, सम्बन्धः = सम्बन्ध होता है । कथम् ? = कैसे ? यथा = जिस प्रकार, इह = इस, कुण्डे = कूण्डी में, दधि = दही है, इति = यह प्रत्ययः = ज्ञान, सम्बन्धे सति = कूंडी तथा दही का सयोगसम्बन्ध होने से, दृष्टः = देखा जाता है, तथा = उसी प्रकार, इह = यहाँ, तन्तुषु = सूत्रों में, पटः = वस्त्र है, इह = यहां, वीरणेषु = चटाई की शलाकाओं में, कटः = चटाई है, इह = यहां, द्रव्येषु = पृथिव्यादि द्रव्यों में, गुणकर्मणी = गुण तथा कर्म हैं, इह = यहां, गुणे = गुण में, गुणत्वं = गुणत्व जाति है, इह = यहां, कर्मणि = क्रिया में, कर्मत्वं = क्रियात्व जाति है, इह = यहां, नित्यद्रव्ये = नित्यद्रव्य में, अन्त्याः = अन्त में वर्तमान, विशेषाः =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेषपदार्थ हैं, इति = इस प्रकार के, प्रत्ययदर्शनात् = ज्ञानों के दर्शन से, अस्ति = है, एषां = उक्त पदार्थों का, सम्बन्धः = सम्बन्ध, इति = ऐसा, ज्ञायते = जाना जाता है।

भाषाभाष्य—इस प्रकार विशेष पदार्थ के निरूपण के पश्चात् क्रमप्राप्त अन्तिम समवायपदार्थ का निरूपण भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि अयुतसिद्ध (पृथक् न रहनेवाले) तथा आश्रित और आश्रयरूप पदार्थों का जो सम्बन्ध जो कि 'इसमें यह रहता है' इस ज्ञान का कारण होता है उसे समवाय कहते हैं। अर्थात् कार्यकारणरूप तथा उनसे भिन्न जो कार्यकारणरूप नहीं हैं ऐसे आश्रय तथा आश्रित पदार्थों के सम्बन्ध का नाम समवाय है इसकी व्याख्या उद्देशप्रकरण में भी हो चुकी है। यह किन-किन अयुतसिद्ध पदार्थों का यह समवायसम्बन्ध होता है तथा अयुतसिद्ध पदार्थों का क्या लक्षण है?' इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष पदार्थों में जो कार्यकारणरूप घट तथा कपालादिरूप पदार्थ हैं एवं जो कार्यकारणरूप नहीं हैं ऐसे सामान्यादि तथा तद्विशिष्ट व्यक्ति आदि पदार्थ हैं उन्हीं का समवाय होता है, अर्थात् कपालादिरूप अवयव तथा घटादिरूप अवयवि और अनित्य घटादि द्रव्य तथा उनके रूपादि गुण, एवं परमाणु आदि नित्यद्रव्य और उनमें समवेत अनित्य गुण तथा क्रिया और उसके आश्रय जो कार्यकारणरूप हैं, एवं घटत्वादि जाति तथा उनकी आश्रय व्यक्ति, और अकार्यकारण अन्त्यविशेष तथा उनके आश्रय ये सम्पूर्ण जो उद्देशप्रकरण में अयुतसिद्धपदार्थ वर्णित हैं उनका समवायसम्बन्ध ही होता है यह नियम है। तथा आश्रय और आश्रितों का भी समवायसम्बन्ध ही होता है यह भी नियम है। और नियत-देश में स्थित तथा जिनके स्वरूपा का भेद निश्चित है ऐसे पदार्थों का भी अविष्वग्भाव (अस्वतंत्रता) भी समवायसम्बन्ध होता है। इस समवाय के भाष्य में वर्णित 'इहेदमिति बुद्धिः' अर्थात् 'यहां यह है' इस समवाय के लक्षण में 'इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः' (७ अ० २ आ, २६ सूत्र) कणादोक्त सूत्र प्रमाण है, अर्थात् इह पद से अधिकरण तथा इदं पद से आधेय इन दोनों के सम्बन्ध के विना 'इहेदं' 'यहाँ यह है' यह ज्ञान नहीं हो सकता। और इस पर भाष्यकार का 'यतश्चासर्वगतानां' जिससे उपरोक्त नियतदेशस्थ भिन्नस्वरूप पदार्थों का समवाय-सम्बन्ध होता है यह भाष्य नियम की शंका का निरास करता है, क्योंकि सर्वत्र व्याप्त आकाश काल आदि पदार्थों का भी अपने शब्द इत्यादि गुणों के साथ समवाय-सम्बन्ध ही होता है। अर्थात् सर्वगत तथा असर्वगत दोनों प्रकार के पदार्थों का समवाय होने के कारण एक पक्ष में नियम नहीं हो सकता। यहाँ पर 'गो तथा अश्व' इन पदार्थों का भी स्वरूपतः भेद है पर उनका समवायसम्बन्ध नहीं होता, अतः 'अविष्वग्भावः' इस पद को भी उद्देश्यकोटि में ग्रहण करने से जो स्वरूपतः भिन्न, नियतदेशस्थित होते हुए पृथक् स्थित नहीं हैं ऐसे पदार्थों का समवाय होता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न चासौ संयोगः सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वात् अन्यतरकर्मादिनिमित्तासम्भवात् विभागान्तत्वादर्शनादधिकरणाधिकर्तव्ययोरेव भावादिति ॥

ऐसा लक्षण करने से गो तथा अश्वों के पृथक् स्थित होने से समवायसम्बन्ध नहीं हो सकता ऐसी व्योमवतीकार ने समालोचना की है। तथा 'कथं' इस भाष्य में दिये हुऐ अव्युत्पन्न पुरुष अथवा विपरीत ज्ञान वाले मनुष्य के आक्षेपविषयक प्रश्न से समवाय की सत्ता में कोई प्रमाण न होने से पूर्वोक्त समवाय का लक्षण इत्यादि सम्पूर्ण वर्णन असंगत है, ऐसी भी आलोचना की है जिसमें प्रथम पूर्वप्रदर्शित 'इहेदं' 'यहां यह है' इस बुद्धि के आश्रयविषयक होने से समवायसम्बन्ध इसका विषय नहीं हो सकता, यदि सम्बन्ध ही इस बुद्धि का निमित्त माना जाय तब भी तादात्म्य 'अभेद' ही सम्बन्ध मानना उचित है, क्योंकि सम्बन्धी के अभाव रहते सम्बन्ध का दर्शन न होने के कारण असिद्ध पदार्थों का समवाय नहीं हो सकता। यदि सिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध समवाय माना जाय तो युतसिद्धिदोष आवेगा, अतः इन तन्तुओं में पट है यह ज्ञान पटरूप आधेय से अनुरंजित तन्तुरूप आश्रयमात्र को वर्णन करने के कारण उन दोनों से भिन्न समवाय को विषय नहीं करता इसलिये समवाय में कोई प्रमाण नहीं है। जिसके समाधान में 'इहेदं' इस बुद्धि से समवाय का अनुमित्यात्मक ज्ञान से सिद्धि होती है उसमें प्रत्यक्षप्रमाण नहीं है यह भी व्योमवतीकार ने विस्तृत विचार किया है जिसे पाठक स्वयं व्योमवती में देख लें। भाष्यकार ने 'कथं' कैसे समवायसिद्धि होती है ? इस प्रश्न पर ऐसा उत्तर दिया है कि जिस प्रकार 'कूण्डी में दही है' यह ज्ञान कूंडी तथा दही के संयोगसम्बन्ध के कारण होता है, उसी प्रकार 'इन तन्तुओं में पट है' 'इन शलाकाओं में यह चटाई है' 'इस घट से नील रूप है, स्थिति क्रिया है', इन द्रव्य, गुण तथा कर्मों में सत्ता जाति है', 'इस घटद्रव्य से द्रव्यत्व जाति है', 'इस रूप गुण से गुणत्व जाति है', 'इस चलनक्रिया में कर्मत्व जाति है', 'इन नित्यद्रव्यों में अन्त्यविशेष पदार्थ हैं' इत्यादि ज्ञान होने से उक्त प्रतीतियां सम्बन्ध से उत्पन्न हैं, निश्चित विशिष्ट प्रतीतियां होने से, इस कूण्डी में दही है इस प्रतीति के समान, ऐसे अनुमानप्रमाण से अयुतसिद्धों का समवायसम्बन्ध सिद्ध होता है ॥

पदपदार्थ—न च = और नहीं है, असौ = यह, संयोगः = संयोगसम्बन्ध, सम्बन्धिनां = सम्बन्धियों के, अयुतसिद्धत्वात = पृथक् न सिद्ध होने से, अन्यतरकर्मादिनिमित्तासम्भवात् = संयोग के अन्यतर (दो में से किसी एक) इत्यादि पूर्वोक्त संयोग के कारणों का असम्भव होने से, विभागान्तत्वादर्शनात् = विभाग से नाश न दिखाने से, अधिकरणाधिकर्तव्ययोः एव = और आश्रय तथा आश्रितों का ही, भावात् = होने से, इति = इस कारण ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स च द्रव्यादिभ्यः पदार्थान्तरं भाववल्लक्षणभेदात्। यथा भावस्य द्रव्यत्वादीनां स्वाधारेषु आत्मानुरूपप्रत्ययकर्तृत्वात् स्वाश्रयादिभ्यः परस्परतश्चार्थान्तरभावः तथा समवायस्यापि पञ्चसु पदार्थेष्विहेतिप्रत्ययदर्शनात् तेभ्यः पदार्थान्तरत्वमिति। न च संयोगवन्नानात्वं भाववल्लिङ्गाविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्च तस्माद्भाववत्सर्वत्रैकः समवाय इति ॥

सः च = और वह समवाय, द्रव्यादिभ्यः = द्रव्यादि पाँच पदार्थों से, पदार्थान्तरं = अन्य पदार्थ है, भाववत् = सत्ता के समान, लक्षणभेदात् = लक्षण भिन्न होने से। यथा = जिस प्रकार, भावस्य = सत्ताजाति का, द्रव्यत्वादीनां = द्रव्यत्व गुणत्वादि जातियों का, स्वाधारेषु = अपने आश्रयों में, आत्मानुरूपप्रत्ययकर्तृत्वात् = अपने (जाति के) अनुसार प्रतीति करने से, स्वाश्रयादिभ्यः = अपने-अपने आश्रयों से, परस्परतः च = और परस्पर में भी, अर्थान्तरभावः = भिन्न पदार्थता है, तथा = उसी प्रकार, समवायस्य अपि = समवायसम्बन्ध का भी, पंचसु = द्रव्य से विशेष तक पांच, पदार्थेषु = पदार्थों में, 'इह इति' = यहां यह है, ऐसी, प्रत्ययदर्शनात् = प्रतीति दिखाने से, तेभ्यः = उक्त द्रव्यादि पदार्थों से, पदार्थान्तरत्वं = अन्य पदार्थता है, इति = इस प्रकार। न च = और नहीं है, संयोगवत् = संयोग के समान, नानात्वं = भेद, भाववत् = सत्ता के समान, लिङ्गाविशेषात् = साधक हेतु में विशेषता न होने के कारण, विशेषलिङ्गाभावात् च = भेदसाधकहेतु न होने से भी, तस्मात् = इस कारण, भाववत् = सत्ता जाति के समान, सर्वत्र = सम्पूर्ण पदार्थों में, एकः = एक ही है, समवायः = समवायसम्बन्ध, इति = इस प्रकार ॥

भाषाभाष्य—पूर्वप्रदर्शित अयुतसिद्ध अवयव तथा अवयवि इत्यादि पदार्थों का संयोग नामक सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त अवयवावयवि इत्यादि सम्बन्धिपदार्थ पृथक् सिद्ध नहीं हैं, संयोगसम्बन्ध पृथक् सिद्ध पदार्थों का ही होता है तथा पूर्वोक्त संयोग कार्य के उत्पादक दो में से किसी एक की क्रिया से, उभयक्रिया से, यथा संयोग से उत्पन्न होना रूप तीन कारणों में से कोई भी निमित्त कारण उक्त अपृथक् सिद्ध अवयवावयवि इत्यादिकों में न होने के कारण भी संयोगसम्बन्ध इनका नहीं हो सकता, अर्थात् प्रकृत में भावपदार्थ के उत्पादक कारण के सामर्थ्य से अन्यतरकर्मादिरूप निमित्त नहीं हो सकते यह सिद्ध होता है। एवं संयोग के समान विभाग से अपृथक् सिद्धपदार्थों का सम्बन्ध नष्ट न होने के कारण भी समवाय ही है न कि संयोग यह सिद्ध होता है। और समवायसम्बन्ध आश्रयाश्रित पदार्थों का ही होता है, और संयोगसम्बन्ध स्वतन्त्र ऊपर उठी हुई दो अंगुलियों के संयोग के समान स्वतन्त्र पदार्थों का ही होता है, इस कारण भी अपृथक्सिद्ध अवयवअवयवि आदि पदार्थों का समवायसम्बन्ध ही सिद्ध होता है। यदि यहाँ पर ऐसा प्रश्न हो कि 'यह समवायसम्बन्ध द्रव्यगुण आदि पांच पदार्थों से भिन्न षष्ठपदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है?' तो इस प्रश्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु यद्येकः समवायो द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिविशेषणैः सह सम्बन्धैकत्वात् पदार्थसङ्करप्रसङ्ग इति न, आधाराधेयनियमात्। यद्यप्येकः समवायः सर्वत्र स्वतन्त्रः तथाप्याधाराधेयनियमोऽस्ति। कथम्? द्रव्येष्वेव द्रव्यत्वं, गुणेष्वेव गुणत्वं कर्मस्वेव कर्मत्वमिति। एवमादि कस्मात्?

के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि सत्ताजाति के समान लक्षण भिन्न होने से समवाय भी द्रव्यादि पांच पदार्थों से पृथक् पदार्थ है। भाव (सत्ता) के समान लक्षणभेद होने से इस हेतु की स्वयं भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार सत्तारूप पर-सामान्य तथा द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वरूप सामान्यविशेषों का अपने-अपने आश्रय द्रव्यादि व्यक्तियों में 'सत् है सत् है' एवं पृथिवी, जल, तेज आदि नव द्रव्यरूप आश्रयों में 'द्रव्य है द्रव्य है', इसी प्रकार रूप, रस आदि चतुर्विंश (चौबीस) गुणों में, 'गुण है गुण है', एवं उत्क्षेपणादि पांच कर्मों में 'कर्म है कर्म है' ऐसी अपने-अपने अनुरूप जो प्रतीति होती हैं, उन प्रतीतियों के करने के कारण सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व-सामान्य का अपने-अपने आधार द्रव्य, गुण, तथा कर्मों से तथा परस्पर में भी भेद है, उसी प्रकार समवाय नामक सम्बन्ध का भी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष ऐसे पांच पदार्थों में पूर्वोक्त 'इह कुण्डे दधि' 'इस कूण्डी में दही है' इस दृष्टान्त से 'इह तन्तुषु पटः' 'इन तन्तुओं में पट है' इत्यादि प्रतीतियों के दिखाई देने के कारण द्रव्यादि पांच पदार्थों से भेद सिद्ध होता है। किन्तु यह समवायसंम्बन्ध संयोगसम्बन्ध के समान नाना (अनेक) नहीं है, क्योंकि सत्ता जाति के समान समवायसाधक लिङ्ग में कोई विशेषता नहीं है, तथा भेदसाधक कोई विशेष लिङ्ग भी नहीं है, (अर्थात् सत्ताजाति के समान समवायसम्बन्ध का भी लक्षण एक ही है, तथा समवाय का भेद (अनेकता) मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है, अतः 'सत् सत्' इत्याकारक एक ही लक्षण होने से, एवं सत्ताजाति अनेक मानने में कोई प्रमाण न होने के कारण जिस प्रकार सत्ता जाति एक ही वैशेषिक मत में सिद्ध होती है, उसी प्रकार लक्षण के एक होने तथा समवाय को नाना मानने में कोई प्रमाण न होने से समवायसम्बन्ध-नामक पदार्थान्तर भी वैशेषिकों के मत में एक ही है यह भी सिद्ध होता है।

पदपदार्थ—ननु = शंका है, यदि = यदि, एकः = एक है, समवायः = समवाय-सम्बन्ध, द्रव्यगुणकर्मणां = द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थों के, द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि-विशेषणैः = द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वादिरूप विशेषणों के, सह = साथ, सम्बन्धैक-त्वात् = समवायरूप सम्बन्ध के एक होने से, पदार्थसङ्करप्रसङ्गः = द्रव्य, गुण इत्यादि पदार्थों का परस्पर सांकर्यदोष आ जायगा, इति = ऐसा। न = नहीं, आधाराधेय-नियमात् = आश्रय तथा आश्रित का नियम होने से ॥ यद्यपि = यद्यपि, एकः = एक, समवायः = समवायसम्बन्ध, सर्वत्र = सम्पूर्ण द्रव्यादिकों में, स्वतन्त्रः = स्वतंत्र है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्वयव्यतिरेकदर्शनात् । इहेतिसमवायनिमित्तस्य ज्ञानस्यान्वयदर्शनात् सर्वत्रैकः समवाय इति गम्यते । द्रव्यत्वादिनिमित्तानां व्यतिरेकदर्शनात् प्रतिनियमो ज्ञायते । यथा कुण्डदध्नोः संयोगैकत्वे भवत्याश्रयाश्रयिभावनियमः। तथा द्रव्यत्वादीनामपि समवायैकत्वेपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदादाधाराधेयनियम इति ॥

तथापि = तो भी, आधाराधेयनियमः = आश्रय तथा आश्रित का नियम, अस्ति = है। कथं = किस प्रकार ?, द्रव्येषु एव = पृथिव्यादि नवद्रव्यों में ही, द्रव्यत्वं = द्रव्यत्व जाति है, गुणेषु एव = रूपादि चतुर्विंशति गुणों में ही, गुणत्वं = गुणत्व जाति है, कर्मसु एव = उत्क्षेपणादि पांच कर्मों में ही, कर्मत्वं = कर्मत्व जाति है, इति = ऐसा। एवं आदि = इस प्रकार इत्यादि, कस्मात् = क्यों है ?, अन्वयव्यतिरेकदर्शनात् = अन्वय तथा व्यतिरेक के दर्शन से। इह इति – यहां यह है इत्याकारक, समवायनिमित्तस्य = समवायसम्बन्ध के निमित्त से होनेवाले, ज्ञानस्य = ज्ञान का, अन्वयदर्शनात् = सम्बन्ध के दर्शन से, सर्वत्र=सम्पूर्ण स्थलों में, एकः=एक, समवायः=समवाय है, इति=ऐसा, गम्यते= ज्ञात होता है। द्रव्यत्वादिनिमित्तानां = द्रव्यत्व, गुणत्व इत्यादि निमित्तों का, व्यतिरेकदर्शनात् = गुणत्वादिकों में अभाव देखने से, प्रतिनियमः = व्यवस्था, ज्ञायते = जानी जाती है। यथा = जिस प्रकार, कुण्डदध्नोः = कूण्डी और दही का, संयोगैकत्वे = संयोगसम्बन्ध एक होने पर भी, भवति = होता है, आश्रयाश्रयिभावनियमः = आधार तथा आधेय का नियम। तथा = उसी प्रकार, द्रव्यत्वादीनां अपि = द्रव्यत्वादि जातियों का भी, समवायैकत्वेपि = समवायसम्बन्ध एक होने पर भी, व्यंग्यव्यंजकशक्तिभेदात् = व्यक्त होनेवाले तथा व्यक्त करनेवाले के सामर्थ्य के भेद से, आधाराधेयभावनियमः = आश्रय तथा आश्रित होने का नियम है, इति = इस कारण।

भाषाभाष्य—यदि सिद्धान्तमत से समवायसम्बन्ध एक ही है तो द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों का द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वादिरूप विशेषणों के साथ समवायसम्बन्ध के एक होने से द्रव्यादिपदार्थों का परस्पर में साङ्कर्यरूप दोष आ जायगा, अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों के एक समवाय के मानने पर जो द्रव्यत्वजाति का पृथिवी, जल इत्यादि नवद्रव्यों में समवायसम्बन्ध है वही रूपादि चतुर्विंशतिगुणों में गुणत्वादिकों का भी है, अतः जैसे पृथिवी में द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्यत्व है वैसे गुणादिकों में वही सम्बन्ध रहने से गुणपदार्थ भी द्रव्यत्व जातिमान् हो जायगा, एवं इसी प्रकार कर्म भी द्रव्य तथा गुण हो जायंगे इस प्रकार सङ्करदोष आ जायगा, इस प्रकार यहां पर पूर्वपक्षी की शंका है। जिसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि आश्रयाश्रित का नियम होने से यह दोष न आयेगा। क्योंकि समवाय के रहनेमात्र से द्रव्यत्व नहीं होता है किन्तु द्रव्य के समवाय होने से द्रव्यत्व जाति रहती है, और वह द्रव्य समवेतसमवायद्रव्यों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही है गुण या कर्मों में नहीं, इसी प्रकार गुणसमवेतगुणत्व चौबीस गुणों में तथा कर्म समवेत कर्मत्व पांच कर्मों में ही है अतः संकरदोष नहीं हो सकता ।

प्रदर्शित पूर्वपक्षी के आक्षेप का अनुवाद करते हुए भाष्यकार सांकर्यदोषनिवारक आधाराधेयनियमरूप हेतु का विवरण करते हैं कि यद्यपि समवायसम्बन्ध एक तथा स्वतन्त्र है, अर्थात् संयोग के समान उसके वृत्तिता (रहने का) का नियम करनेवाला दूसरा कोई सम्बन्ध अनवस्थादोष के कारण नहीं हो सकता जिससे पूर्वपक्षी ने दिखलाई हुई शंका हो सकती है, किन्तु आधार तथा आधेय का नियम होने से उक्त सांकर्यदोष नहीं हो सकता । इसी का प्रश्नपूर्वक विवरण भाष्यकार करते हैं कि नव द्रव्यों में ही द्रव्यत्व जाति है, चतुर्विंशति गुणों में ही गुणत्व जाति है तथा पांच कर्मों में ही कर्मत्व जाति है, इस प्रकार द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थरूप आधारों का क्रम से द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वजातिरूप आश्रितों के वर्तमानता का नियम है । इस पर पुनः पूर्वपक्षी शंका करता है कि 'ऐसा क्यों ? अर्थात् द्रव्यों में ही द्रव्यत्व है गुणों में ही गुणत्व इत्यादि आश्रय तथा आश्रितों का नियम सिद्धान्ती ने कैसे जाना' ? तो इस शंका का उत्तर इस प्रकार सिद्धान्तिमत से भाष्यकार देते हैं कि अन्वय तथा व्यतिरेक के दिखाने से यह नियम सिद्ध होता है, अर्थात् द्रव्यत्वजाति के निमित्त से होनेवाले ज्ञान का पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में ही अन्वय (सम्बन्ध) है और चतुर्विंशति-रूपादि गुणों से द्रव्यत्व का व्यतिरेक (अभाव) है इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक देखने से द्रव्यत्व, गुणत्व, तथा कर्मत्वादि जातियों का नियम सिद्ध होता है । यहां पर सिद्धान्ती का यह तात्पर्य है कि 'इह' इत्यादि पूर्वोक्त समवायनिमित्त से होनेवाले ज्ञान का अन्वय समान दिखान के कारण सर्वत्र समवाय एक है । यह सिद्ध होता है, तथा द्रव्यादि जातियों के निमित्तों का द्रव्यादिकों में अन्वय तथा गुणादिकों से व्यावृत्ति के दिखाने से समवाय की व्यवस्था का भेद भी ज्ञात होता है । द्रव्यत्वजाति का पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में ही समवाय है अन्यत्र नहीं इसमें क्या प्रमाण जब कि समवाय एक ही है ? इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार दृष्टान्तपूर्वक देते हैं कि जिस प्रकार कूंडी तथा दही का संयोग एक होने पर भी आश्रय तथा आश्रित का नियम है अर्थात् कूंडी ही आश्रय होती है और आश्रित दही ही होता है यह नियम है, उसी प्रकार द्रव्यत्वादि जाति तथा द्रव्यादिकों का समवाय एक होने पर भी व्यंग्य (व्यक्त होने-वाली जाति) तथा व्यंजक (व्यक्त करनेवाले व्यक्ति) के शक्तिभिन्न होने से जाति तथा व्यक्तियों के भी आश्रय तथा आश्रित होने का नियम है, अर्थात् जिस प्रकार संयोग समान होने पर शक्तिभेद से दही तथा कूंडी का आधाराधेयभाव नियत है, उसी प्रकार व्यंग्य यथा व्यंजक शक्ति के भिन्न होने के कारण समवाय एक ही होनेपर भी द्रव्यत्वादिजाति यथा पृथिवी आदि द्रव्यों का भी आश्रयाश्रितभाव भी नियमित है : अतः द्रव्यत्व की अभिव्यक्त करनेवाली शक्ति द्रव्यों में ही है न कि गुणादिकों में यह अभिप्राय सिद्धान्ती का है ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्बन्ध्यनित्यत्वेऽपि न संयोगवदनित्यत्व भाववदकारणत्वात् । यथा प्रमाणतः कारणानुपलब्धेर्नित्यो भाव इत्युक्तम् तथा समवायोऽपीति । न ह्यस्य किञ्चित् कारणं प्रमाणत उपलभ्यते इति । कया पुनर्वृत्त्या द्रव्यादिषु समवायो वर्तते । न संयोगः सम्भवति तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । नापि समवायस्तस्यैकत्वात् न चान्या वृत्तिरस्तीति । न तादात्म्यात् । यथा द्रव्यगुणकर्मणां सदात्मकस्य भावस्य नान्यः सत्तायोगोऽस्ति । एवमविभागिनो वृत्त्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति तस्मात् स्वात्मवृत्तिः । अत एवातीन्द्रियः सत्तादीनामिव प्रत्यक्षेषु वृत्त्यभावात् स्वात्मगतसंवेदनाभावाच्च । तस्मादिह बुद्ध्यनुमेयः समवाय इति ॥

इति प्रशस्तपादभाष्ये समवायपदार्थः समाप्तः ।

पदपदार्थ—सम्बन्ध्यनित्यत्वे अपि = सम्बन्धियों के अनित्य होने पर भी, न = नहीं है, संयोगवत् = संयोग के समान, अनित्यत्वं = अनित्यता है, भाववत् = सत्ता के समान, अकारणत्वात् = कारण न होने से । यथा = जिस प्रकार, प्रमाणतः = प्रमाण से, कारणानुपलब्धेः = कारण के उपलब्ध न होने से, नित्यः = नित्य है, भावः = सत्ता, इति उक्तम् = ऐसा कहा है, तथा = उसी प्रकार, समवायः = समवाय, अपि = भी, इति = इस कारण । नहि = क्योंकि नहीं, अस्य = इस समवाय का, किञ्चित् = कोई, कारणं = कारण, प्रमाणतः = प्रमाण से, उपलभ्यते = उपलब्ध होता, इति = इस प्रकार । कया = किस, पुनः = किन्तु, वृत्त्या = सम्बन्ध से, द्रव्यादिषु = द्रव्यगुण इत्यादिकों में, समवायः = समवाय, वर्तते = रहता है । न = नहीं, संयोगः = संयोगसम्बन्ध, सम्भवति = हो सकता, तस्य = उसके, गुणत्वेन = गुण होने से, द्रव्याश्रितत्वात् = द्रव्याश्रित होने से । न अपि = और नहीं (हो सकता), समवायः = समवायसम्बन्ध भी, तस्य = उसके, एकत्वात् = एक होने से । न च = और नहीं है, अन्या = दूसरी, वृत्तिः = सम्बन्ध, इति = इस प्रकार । न = नहीं, तादात्म्यात् = तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध से । यथा = जिस प्रकार, द्रव्यगुणकर्मणां = द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों को, सदात्मकस्य = सत्तारूप, भावस्य = जाति का, न = नहीं, अन्यः = दूसरा, सत्तायोगः = सत्ता का सम्बन्ध, अस्ति = है, एवं = इसी प्रकार, अविभागिनः = विभागरहित, वृत्त्यात्मकस्य = सम्बन्धरूप, समवायस्य = समवाय की, न = नहीं है, अन्या = दूसरी, वृत्तिः = सम्बन्ध, अस्ति = है । तस्मात् = इस कारण, स्वात्मवृत्तिः = स्वस्वरूपसम्बन्ध है । अतएव = इसी कारण, अतीन्द्रियः = अतीन्द्रिय है, सत्तादीनां इव = सत्ता आदि जातियों के समान, प्रत्यक्षेषु = प्रत्यक्षपदार्थों में, वृत्त्यभावात् = न रहने से, स्वात्मगतसंवेदनाभावात् च = तथा अपने स्वरूप का अनुभव न होने से भी, तस्मात् = इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम्।
चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः॥
इति प्रशस्तपादविरचितं द्रव्यादिषट्पदार्थभाष्यं समाप्तम्॥

कारण, इह बुद्ध्यनुमेयः = 'इह' यहां इत्यादि पूर्वोक्त ज्ञान से अनुमान योग्य है। समवायः = समवाय, इति = इस प्रकार समवाय है॥ इति = इस प्रकार, प्रशस्तपादभाष्ये = प्रशस्तपाद नामक भाष्य में, समवायपदार्थः = समवाय नामक पदार्थ, समाप्तः = समाप्त है॥ योगाचारविभूत्या = योगसमाधि से उत्पन्न ऐश्वर्य से, यः = जिसने, तोषयित्वा = प्रसन्न कर, महेश्वरम् = परमात्मा को। चक्रे = निर्माण किया, वैशेषिकं = वैशेषिक नामक, शास्त्रं = दर्शनशास्त्र, तस्मै = उस, कणभुजे = कणादमुनि को, नमः = प्रणाम है। इति = इस प्रकार, प्रशस्तपादविरचितं = प्रशस्तपाद का रचा हुआ, द्रव्यादिषट्पदार्थभाष्यं = द्रव्यादि षट्पदार्थों का भाष्य, समाप्तम् = समाप्त है॥

भाषाभाष्य—उक्तरूप समवायसम्बन्ध संयोगसम्बन्ध के समान नित्य है अथवा अनित्य? इस सन्देह को निवारण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह समवायसम्बन्ध सम्बन्धियों के अनित्य होने पर भी संयोगसम्बन्ध के सामान अनित्य नहीं है, क्योंकि सत्ताजाति के समान कारणशून्य होने से। इस हेतु का स्वयं भाष्यकार दृष्टान्त दिखलाते हुए व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार किसी प्रमाण से कारण की उपलब्धि न होने से सत्ताजाति नित्य है यह कहा गया है, उसी प्रकार समवाय का भी प्रमाण से कारण उपलब्ध नहीं होता, अतः समवाय नित्य है। अर्थात् सम्बन्धियों के नष्ट होने से संयोगसम्बन्ध का नाश होना युक्त है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति में सम्बन्धी समवायिकारण होते हैं, और समवायसम्बन्ध के सम्बन्धी कारण नहीं होते, किन्तु केवल सम्बन्धी होते हैं, क्यों कारण नहीं होते यह ऊपर कह आये हैं, इस कारण समवाय के सम्बन्धियों का नाश होने पर भी समवाय का नाश नहीं होता, क्योंकि सत्ताजाति के समान यह दूसरे आश्रयों में रहता ही है। यहाँ पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है कि 'किस सम्बन्ध से द्रव्यादि पदार्थों में समवाय रहता है? संयोगसम्बन्ध गुण होने के कारण द्रव्याश्रित होने से नहीं हो सकता न समवायसम्बन्ध ही हो सकता है, क्योंकि वह एक है, और इनसे भिन्न कोई सम्बन्ध है नहीं, तस्मात् द्रव्यादि पदार्थों में किस सम्बन्ध से समवाय रहेगा'? इस शंका का समाधान करते हुए प्रशस्तदेव कहते हैं कि तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध से रहने के कारण यह शंका नहीं हो सकती, अर्थात् वृत्ति (सम्बन्ध) के अभाव से यह समवाय नहीं रहता यह नहीं हो सकता, क्योंकि सम्बन्धरूप होने से यह स्वयं ही रहता है। जिस प्रकार द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों के 'सत्' 'सत्' इस रूप अनुगमबुद्धि के कारण सत्ताजाति में दूसरी सत्ताजाति का सम्बन्ध नहीं है, इसी प्रकार विभागरहित सम्बन्धरूप समवाय का अन्य सम्बन्ध नहीं है, अतः यह स्वयं वर्तमान होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है तथा इसी कारण सत्ता आदि जातियों के समान प्रत्यक्ष पदार्थों में न रहने से, और स्वरूप का अनुभव न होने से भी वैशेषिकमत में समवाय अतीन्द्रिय है अर्थात् जिस प्रकार सत्ता द्रव्यत्व इत्यादि जातियों के प्रत्यक्ष पदार्थों में रहने से सत्ता आदि जातियों का संयुक्तसमवायसंनिकर्ष से इन्द्रियों से ग्रहण होता है, इस प्रकार समवाय का संयुक्तसमवायसंनिकर्ष नहीं हो सकता, अतः समवाय अतीन्द्रिय है एवं जिस प्रकार इन्द्रिय से संयोग का ग्रहण होता है उस प्रकार समवाय का नहीं होता, क्योंकि समवायसम्बन्ध के सम्बन्धियों की पिण्ड (समुदित) रूप से उपलब्धि होती है, इसी लिये कहा है कि परस्परोपसंश्लेशः = परस्पर पिण्ड (समुदित) रूप मिश्रण, भिन्नानां = भिन्न-भिन्न पदार्थों का, यत्कृतः = जिसके कारण, भवेत् = होता है। समवायः = समवाय नामक सम्बन्ध, सः = वह, विज्ञेयः = जानना, स्वातंत्र्यप्रतिरोधकः = जो स्वतन्त्रता का प्रतिबन्धक है। इस कारण 'इह' 'यहाँ यह है' इत्यादि पूर्वोक्त समवाय के बुद्धि से समवाय अनुमानप्रमाण से ही वैशेषिकमत में सिद्ध होता है। क्योंकि गुणादिविशिष्टबुद्धि विशेषण, गुण तथा विशेष्य द्रव्यादिकों के सम्बन्ध को विषय करती है, विशिष्टबुद्धि होने से, 'दण्डवाला पुरुष' इस बुद्धि के समान इस अनुमान से पूर्वोक्त रीति से संयोगादि सम्बन्ध न होने के कारण अतिरिक्त समवाय नामक सम्बन्ध सिद्ध होता है। सू० ३०७, ३०८, ३०९, ३२१।

इस प्रकार प्रशस्तपाद नामक भाष्य में षष्ठ समवाय पदार्थ का वर्णन समाप्त हुआ। जिन महर्षिप्रवर कणाद मुनि ने योगसमाधिबल से पाणिनि मुनि के समान महेश्वर को प्रसन्न कर वैशेषिक दर्शनशास्त्र की रचना की उन कण-कण भोजन करि वास्तविक ब्राह्मणवृत्ति वाले महर्षिप्रवर को प्रणाम है। इस प्रकार निर्विघ्न भाष्य समाप्त होने के कारण भाष्य के अन्त में भी प्रशस्तदेव ने परम आस्तिकता को प्रकट करने के लिए अन्त में भी मङ्गलाचरण किया है। अतः इस भाषाभाष्य के अन्त में—

यत्कृपालेशमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विलयं याति तद्वन्दे गुरुपादाम्बुजद्वयम्॥

अर्थात् जिन गुरुओं की कृपाकटाक्ष से प्राणी जन्ममरणरूप संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है, उस गुरुचरणरूप दो कमलों को प्रणाम करता हूँ। इस अन्तिम गुरुचरणस्मरणरूपमङ्गल से भाषाभाष्य को समाप्त करता हूँ। आशा है, पाठकगण इसके आश्रय से वैशेषिकदर्शन का यथेष्ट यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर मेरे इस प्रयास को पूर्ण तथा सफल करेंगे।

बार-बार उन गणेश को सादर करहुं प्रणाम।
जिनके कृपाकटाक्ष से भाषाभाष्यरच्यो॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ

* **आपस्तम्बधर्मसूत्रम्।** हरदत्त मिश्र कृत 'उज्ज्वला' टीका, ए. चिन्नस्वामी शास्त्री कृत भूमिका, टिप्पणी, शब्दानुक्रमणिका, डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय कृत हिन्दी टीका। (का. 93)
* **कातीयेष्टिदीपकः दर्शपौर्णमासपद्धतिः।** नित्यानन्द पंत पर्वतीय कृत। (का. 20)
* **कृतितत्त्वसंग्रहः।** विज्ञानेश्वर उपनाम तूफानी शर्मा कृत। सं. रामचन्द्र झा। (का. 181)
* **कृत्यसारसमुच्चयः।** अमृत नाथ झा कृत। गंगाधर मिश्र कृत भूमिका, नोट्स, अनुक्रमणिका, परिशिष्टादि। (का. 129)
* **गोभिलगृह्यसूत्रम्।** मुकुन्द झा बक्शी कृत संस्कृत टीका, डॉ. सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी टीका। (का. 118)
* **चतुर्वर्गचिन्तामणिः।** श्रीहेमाद्रि विरचितः। सम्पादकाः—भरतचन्द्र शिरोमणिः, यज्ञेश्वर भट्टाचार्यः स्मृतिरक्षम्, कामाख्यानाथ तर्कवागीशेन प्रमथनाथः तर्कभूषणम् च। सप्त भाग-विभक्तचतुःखण्डात्मक सम्पूर्ण ग्रन्थः, प्र. खण्डः दानखण्डम्, द्वि. खण्डः व्रतखण्डम् (1-2), तृ. खण्डः परिशेषखण्डम्-श्राद्धकल्पः (1-2),परिशेषखण्डम् (काल निर्णयः), चतुर्थ खण्डः प्रायश्चितखण्डम्। (1-4 खण्ड) 7 भागों में सम्पूर्ण। (का. 235)
* **नारद स्मृति।** 'तिलोत्तमा' संस्कृत एवं हिन्दी टीका, टिप्पणी आदि। डॉ. व्रजकिशोर स्वैन। (चौ.सं.भ. 16)
* **याज्ञवल्क्यस्मृतिः।** योगीश्वर याज्ञवल्क्य कृत। विज्ञानेश्वर कृत 'मिताक्षरा' संस्कृत टीका। उमेश चन्द्र पाण्डेय कृत 'प्रकाश' हिन्दी टीका। नारायण मिश्र कृत भूमिका। आचाराध्याय , व्यवहाराध्याय एवं सम्पूर्ण। (का. 178)
* **योगवासिष्ठ सार** । हिन्दी व्याख्या। व्याख्याकार- स्वामी प्रखर प्रज्ञानन्द सरस्वती । सुनियोजक - डॉ. राजकुमार उपाध्याय 'मणि' (का. 305)
* **वर्षकृत्यदीपकः** कालनिर्णय-व्रतोद्यापन सहितः। नित्यानन्द पंत पर्वतीय कृत। (का. 96)
* **विवेकचूड़ामणि** । श्री आद्यशंकराचार्य विरचित। संस्कृत मूल व हिन्दी व्याख्यासहित। व्याख्याकार-स्वामी प्रखर प्रज्ञानन्द सरस्वती (का. 318)
* **शुल्बसूत्रम्।** कात्यायन कृत। 'कर्कभाष्य' 'महिधरवृत्ति' सम्पादक गोपाल शास्त्री नेने तथा अनन्तराम शास्त्री डोंगरे। (का. 120)
* **श्राद्धविवेकः।** रुद्रधर कृत। अनन्तराम शास्त्री डोंगरे कृत नोट्स आदि। (का.122)
* **स्मार्त्त यज्ञदीपिका।** यज्ञप्रयोजन-पुरश्चरण पञ्चांग-मण्डप पूजनादि होमदेव प्रतिष्ठा-न्यासान्तक्रम संवलिता, पूजनादि-नियम निर्देशपरिशिष्टसहिता सम्पादक-डॉ. कैलाश चन्द्र दवे। (का. 271)
* **The Ceremony of Sacred Thread** (Upanayana). A Study on Its Social Significance. Dr. B.K. Swain (MIS 17)

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
पो.बा. नं. 1139, के. 37/116, गोपाल मन्दिर लेन, गोलघर,
(समीप मैदागिन) वाराणसी - 221001 (भारत)
टैलीफोन : 2333445, टेलीफैक्स : 0542-2335930
E-mail : cssvns@sify.com

ISBN : 978-93-81608-02-9

मूल्य : रु. 250.00

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi